ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रवचन सुधा

भाग - 5

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित प्रवचनसार परमागम
पर हुए परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती
प्रवचनों का शब्दशः हिन्दी अनुवाद
(गाथा 105 से 126 तक)

अनुवादक

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ - भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति : 1000 प्रति
(पूज्य बहिनश्री की सम्यक्त्व जयन्ती दिनाँक 28 मार्च 2011 के अवसर पर)

न्यौछावर राशि : 25 रुपये

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर-364001
  फोन : (0278) 423207 / 2151005
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुम्बई) :** (022) 26161591
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (033) 24752697
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद):(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15-सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीज इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं – प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि – तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है – वह यहाँ कहते हैं। अत: यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी ? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों के उद्धार के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार 'पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती

गुरुदेवश्री की वाणी भगवान का विरह भुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निस्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। इस पंचम भाग में कुल 24 प्रवचन हैं। जिसमें गाथा-105 से 126 तक का समावेश होता है। ये गाथाएँ द्रव्य सामान्य अधिकार के शीर्षक के अन्तर्गत ली गयी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय में सरलता रहे तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1-4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरश: सलामत रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तद्र्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अत: इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरश: लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते-सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। पूर्णरूप से

प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग-5 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुनः सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्त:करणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्ततः इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें - ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

(दिनाँक 28 मार्च 2011
पूज्य बहिनश्री की सम्यक्त्व-जयन्ती)

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
१	१०५	११५,	१
२	१०६	११५, ११६, ११७	११
३	१०७	११७, ११८	४८
४	१०८	११८, ११९,	७१
५	१०९	११९, १२०	८६
६	११०	१२०	१०१
७	१११	१२०, १२१	१०८
८	११२	१२२, १२३	१३३
९	११३	१२३, १२४	१५४
१०	११४	१२५, १२६, १२७, १२८	१८१
११	११५	१२८, १२९	२३०
१२	११६	१३०, १३१	२५८
१३	११७	१३२	२९१
१४	११८	१३३, १३४	३०९
१५	११९	१३५	३४२
१६	१२०	१३६	३६२
१७	१२१	१३७	३७९
१८	१२२	१३७, १३८, १३९	३९६
१९	१२३	१३९	४१९
२०	१२४	१३९, १४०	४२३
२१	१२५	१४०, १४१	४४८
२२	१२६	१४१, १४२	४६०
२३	कलश–७	१४३	४९४
२४	कलश–८	१४३	५०७

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

प्रवचन सुधा

(प्रवचनसार प्रवचन)

भाग - ५

ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

(द्रव्यसामान्य अधिकार)

गाथा - १०५

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति -

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। १०५।।

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम्।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता।। १०५।।

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्; सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु- सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्; सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनानन्यत्वात्।।१०५।।

एवं स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षणं भवन्ति इति कथनमुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम्। अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्त दर्शयति - **ण हवदि जदि सद्दव्वं** परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति। किं कर्तृ। परमात्मद्रव्यं। तदा **असद्धुव्वं होदि** असदविद्यमानं भवति ध्रुवं निश्चितम्। अविद्यमानं सत् **तं कह दव्वं** तत्परमात्मद्रव्यं कथं भवति, किंतु नैव। स च प्रत्यक्षविरोधः। कस्मात्। स्वसंवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात्। अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेऽप्यस्तीति चेत्, तत्र विचार्यते - यदि केवलज्ञानदशनगुणाविनामूतस्वकीय-स्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्वं नास्ति, स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति। अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वा- संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशरूपेणाभिन्नं तिष्ठति तदा संमतमेव। अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह-सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्येति। परिहारमाह-सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न संभवति, वृक्षाभावे फलमिव। अत्र प्रस्तावै नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह - **हवदि पुणो अण्णं वा** तत्परमात्मद्रव्यं भवति पुनः किंतु सत्तायाः सकाशादन्यद्भिन्नं भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति। आचार्याः परिहारमाहु :- सत्तासमवायात्पूर्व द्रव्यं सदसद्वा, यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा, पूर्वमेवास्तित्वं तिष्ठति; अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथं सत्ता समवायं करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ता वर्तृ समवायं करोतु, न च तथा। **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्यं भवतीति। यथेदं परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतनासत्ताया अभेदव्याख्यानं कृत तथा सर्वेषां चेतनाचेतनद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यानं कर्तव्यमित्यभिप्रायः।।१०५।।

अब, सत्ता और द्रव्य अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ) नहीं होने के सम्बन्ध में युक्ति उपस्थित करते हैं —

द्रव्य न हो 'सत्' तो नियम से, वह 'असत्' हो जायेगा।
सत्ता से हो भिन्न तो, वह 'सत्' कैसे रह पायेगा?॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि **[द्रव्यं]** द्रव्य **[सत् न भवति]** (स्वरूप से ही) सत् न हो तो — (१) **[ध्रुवं असत् भवति]** निश्चय से वह असत् होगा; **[तत् कथं द्रव्यं]** (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? **[पुनः वा]** अथवा (यदि असत् न हो) तो (२) **[अन्यत् भवति]** वह सत्ता से अन्य (पृथक्) हो! (सो भी कैसे हो सकता है ?) **[तस्मात्]** इसलिए **[द्रव्यं स्वयं]** द्रव्य स्वयं ही **[सत्ता]** है।

टीका : यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत्[1] न हो तो दूसरी गति यह हो कि वह (१) असत्[2] होगा, अथवा (२) सत्ता से पृथक् होगा। वहाँ, (१) यदि वह असत् होगा तो, ध्रौव्य के असम्भव के कारण स्वयं स्थिर न होता हुआ द्रव्य का ही अस्त[3] हो जायगा; और (२) यदि सत्ता से पृथक् हो तो सत्ता के बिना भी स्वयं रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है — ऐसी सत्ता[4] को ही अस्त कर देगा।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् हो तो — (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं स्थिर रहता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है); और (२) सत्ता से अपृथक् रहकर स्वयं स्थिर (-विद्यमान) रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है — ऐसी सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) है — ऐसा स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि भाव और भाववान्[5] का अपृथक्त्व द्वारा अनन्यत्व है ॥ १०५ ॥

प्रवचन नं. ११५ **दिनाङ्क २५ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार, १०५ गाथा। जरा सूक्ष्म विषय है। लॉजिक से सिद्ध करते हैं। **अब सत्ता....** वस्तु है, उसमें सत्ता नामक गुण है। 'है' — ऐसा सत्ता नामक गुण है। (सत्ता

१. सत् = मौजूद २. असत् = नहीं मौजूद ऐसा।

३. अस्त = नष्ट। [जो असत् हो, उसका टिकना — मौजूद रहना कैसा ? इसलिए द्रव्य को असत् मानने से, द्रव्य के अभाव का प्रसंग आता है, अर्थात् द्रव्य ही सिद्ध नहीं होता।]

४. सत्ता का कार्य इतना ही है कि वह द्रव्य को विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्ता से भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ता का प्रयोजन ही नहीं रहता, अर्थात् सत्ता के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

५. भाववान् = भाववाला। [द्रव्य भाववाला है और सत्ता उसका भाव है। वे अपृथक् हैं, इस अपेक्षा से अनन्य हैं। पृथक्त्व और अन्यत्व का भेद जिस अपेक्षा से है, उस अपेक्षा को लेकर उनके विशेषार्थ आगामी गाथा में कहेंगे, उन्हें यहाँ नहीं लगाना चाहिए, किन्तु यहाँ अनन्यत्व को अपृथक्त्व के अर्थ में ही समझना चाहिए।]

नामक गुण) न हो तो वह वस्तु ही न रहे। आत्मा, परमाणु आदि में सत्ता नामक गुण है। वह **सत्ता और द्रव्य अर्थांतर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ)...** नहीं है। सत्ता भिन्न है और द्रव्य भिन्न है — ऐसा नहीं है। सत्ता गुण है और द्रव्य, गुणी है, फिर भी वे भिन्न नहीं हैं। (वे भिन्न पदार्थ) **नहीं होने के विषय में युक्ति प्रस्तुत करते हैं** — १०५ (गाथा)

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता।। १०५।।

द्रव्य न हो 'सत्' तो नियम से, वह 'असत्' हो जायेगा।
सत्ता से हो भिन्न तो, वह 'सत्' कैसे रह पायेगा?॥

यह सब तो लॉजिक से है। भाई! बनिये के व्यापार से अलग प्रकार है।

टीका - यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो... क्या कहते हैं? यह आत्मा... यह एक-एक परमाणु (आदि) वस्तुएँ अपने स्वरूप से ही यदि अस्तित्व नहीं रखती हो, उनके स्वरूप से ही सत्ता न हो, निज स्वरूप से ही उनमें सत्पना न हो, आहा...हा...! **तो दूसरी गति यह हो...** क्या कहा, समझ में आया? वस्तु जो है आत्मा, यह परमाणु —इसमें यदि द्रव्य, स्वरूप से ही सत् न हो; अपने से ही सत्तारूप — अस्तिरूप न हो... (सत् अर्थात्) अस्ति (न हो) तो दूसरी गति क्या होगी? **कि (१) वह असत् होगा... 'है'** वह वस्तु अपने स्वरूप से है — ऐसा न हो तो वस्तु का अभाव हो जाए। आहा...हा...! **अथवा (२) सत्ता से पृथक् होगा।** या असत् हो जाए या सत्ता से द्रव्य अलग हो जाए। द्रव्य स्वयं से — स्वरूप से सत्ता (स्वरूप) न होवे तो सत्ता से द्रव्य अलग हो जाए। आहा...हा...!

(१) यदि वह असत् होगा तो, ध्रौव्य के असम्भव के कारण स्वयं स्थिर न होता हुआ... यदि वस्तु है, वह असत् होवे, सत्तास्वरूप न होवे, अस्तित्वपने के गुणवाली न होवे तो वह असत् होगी। **तो, ध्रौव्य के असम्भव के कारण...** स्थिर रहना — उसके अभाव के कारण **स्वयं स्थिर न होता हुआ...** द्रव्य ही स्वयं स्थिर नहीं (रहेगा)। **द्रव्य का ही अस्त होगा...** वह वस्तु नष्ट हो जाएगी। कुछ समझ में आया? (यह सब) न्याय के विषय हैं। यह प्रवचनसार!

कहते हैं, जो वस्तु है, वह वस्तु स्वयं से सत्ता न हो – स्वयं से अस्तिरूप न हो तो सत् है, वह दूसरा हो जाएगा; सत् से द्रव्य दूसरा हो जाएगा। ऐसा स्वयं से न हो तो उसका अस्त ही हो जाएगा। आहा...हा... ! **द्रव्य का ही अस्त हो जाएगा...** 'है' — ऐसा द्रव्य यदि स्वयं से 'है' — (ऐसा) न हो तो द्रव्य का नाश होगा। आहा...हा... !

(२) यदि सत्ता से पृथक् हो... (अर्थात्) वस्तु जो है भगवान आत्मा या परमाणु, (वह) उसके सत्ता नामक गुण से यदि पृथक् हो... आ...हा... ! **तो सत्ता के बिना भी स्वयं रहता हुआ...** सत्ता के बिना भी स्वयं टिकता हुआ.... सत्ता से अस्तिपने हुआ और यदि सत्ता के बिना (टिकता) होवे तो सत्ता के बिना भी स्वयं से टिकता हुआ... आहा...हा... ! **इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है...** कि वह टिकता तत्त्व है, वह सत् है। सत् (है, वह) स्वयं से सत् है और ऐसा न होवे तो **सत्ता के बिना भी...** (स्वयं रहता हुआ) **इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है....** सत्ता का प्रयोजन यह है कि द्रव्य स्वयं अपने से है। यदि उस सत्ता को न मानें तो द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा। अस्तित्व ही नहीं रहेगा। 'है'... 'है', वह सत्ता से है। सत्ता से इनकार करे तो वस्तु अस्त हो जाएगी। आहा...हा... ! समझ में आया ?

ऐसी सत्ता को ही अस्त कर देगा। अर्थात् क्या कहते हैं ? द्रव्य स्वयं वस्तु स्वयं से स्व-रूप से सत् न हो तो सत्तारहित वह चीज ऐसे नष्ट हो जाएगी; वह द्रव्य ही नहीं — ऐसा होगा। सत्ता है तो द्रव्य है — ऐसी यदि सत्ता न माने और सत्ता भिन्न माने तो द्रव्य के अस्तित्व का ही निषेध हो जाएगा। द्रव्य के अस्तित्व की ही नास्ति हो जाएगी। आहा...हा... !

किन्तु यदि द्रव्य, स्वरूप से ही सत् हो तो... अब (कहते हैं कि) स्वयं अपने से सत् हो, सत्ता — सत् है — सत्तागुण भी स्वयं से ही सत् है — वस्तु स्वयं से ही सत् है। प्रत्येक परमाणु स्वयं से सत् है। आहा...हा... ! **तो (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं स्थिर रहता हुआ....** उस द्रव्य में सत्ता है, इसलिए स्वयं ही स्वयं से रहता हुआ... आहा...हा... ! **द्रव्य उदित होता है...** अर्थात् द्रव्य की सिद्धि होती है — ऐसा है। बनियों को व्यापार (के कारण फुरसत नहीं मिलती)। ऐसी ये सब बातें दूसरे प्रकार की हैं।

यहाँ सत्तागुण — अस्तित्वगुण... सत्ता कहो या अस्तित्व (कहो, दोनों एक ही है।) वह और आत्मा (दोनों) अभेद है। यदि (अभेद) न हो तो अस्तित्व के बिना, सत्ता के गुण बिना द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा। आहा...हा...! समझ में आया? और उस सत्ता का इतना ही प्रयोजन था। कितना? कि द्रव्य टिका रहे। द्रव्य टिका रहे — यह सत्ता का प्रयोजन था। आ...हा...हा...! भगवान आत्मा या परमाणु (आदि) छह द्रव्य हैं, (उसमें सत्ता का) प्रयोजन इतना था कि वे टिके रहें। अत: सत्ता न हो तो टिके रहें — ऐसा उसका (प्रयोजन) नहीं रहता। सत्ता से अत्यन्त भिन्न द्रव्य हो (अर्थात्) द्रव्य में सत्ता न हो तो उस सत्ता से भिन्न द्रव्य नहीं रहता। आ...हा...हा...!

प्रश्न : यह सब समझने का क्या काम है?

समाधान : यह वस्तु का काम है — वस्तुस्थिति ऐसी है। **'है'** — गुण और गुणी। (वे) गुण और गुणी एक न्याय से अतद्भाव से (हैं, यह अब बाद की गाथा में) कहेंगे। यहाँ तो अतद्भाव (होने पर भी) वह (द्रव्य से) अनन्य है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। वह वस्तु है, वह सत्ता है न? **'है'** वह **'है'** से — उसके कारण द्रव्य टिक रहा है परन्तु (यदि) वह सत्ता ही उसमें न हो तो वह टिकना ही उसमें नहीं रह सकेगा। आहा...हा...!

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् हो... वस्तु स्वयं से ही है — सत् है! सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा स्वयं से सत् है। आहा...हा...! **तो (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण...** स्वयं से सत्तावाला सत् है, इसलिए ध्रौव्य के सद्भाव के कारण **स्वयं रहता हुआ...** स्वयं की सत्ता है; सत्ता नाम का गुण स्वयं में है, इसलिए वह ध्रुवरूप से रहता हुआ। यह पढ़ तो गये होंगे या नहीं? कभी तुमने पढ़ा है या नहीं? **द्रव्य उदित होता है....** द्रव्य **(सिद्ध होता है)...** क्या कहा? कि यदि यह तत्त्व है, वह स्वरूप से ही हो, अपने स्वरूप से ही सत् हो, तब तो वह स्वयं स्वयं से ही ध्रुव रहे; उसे दूसरे रखे तो रहे (— ऐसा नहीं)। (क्योंकि) सत्ता तो उसका गुण है, अर्थात् सत्तासहित है, अस्तित्वसहित है। अस्तित्वगुण सहित है, इस कारण अस्तित्वगुण के कारण उसका ध्रुवपना टिका रहता है और यदि अस्तित्वगुण भिन्न है और आत्मा / द्रव्य भिन्न है, तब तो अस्तित्वगुण के बिना आत्मा का अभाव हो जाएगा। सत्ता, सत्ता रहती नहीं, असत्ता हो जाती है। आहा...हा...! सूक्ष्म (आया)। ९३ (गाथा से) यह सब सूक्ष्म आता है।

'ज्ञेय अधिकार'! ज्ञेय, भगवान ने ज्ञेय देखे, उनका ऐसा स्वरूप है। उनकी मर्यादा कितनी, कैसे है — वह बतलाते हैं। मर्यादा से विपरीत, अधिक या कम-अधिक या विपरीत (माने तो) वह विपरीत श्रद्धा है। आहा...हा... !

ध्रौव्य के सद्भव के कारण स्वयं रहता हुआ... द्रव्य सिद्ध होता है। अर्थात् वस्तु, सत्ता गुण से है, इसलिए द्रव्य स्वयं ही सिद्ध होता है (कि) 'है'। यदि सत्तागुण न हो तो वह द्रव्य सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? **और (२) सत्ता से अपृथक् रहकर...** (अर्थात्) द्रव्य... द्रव्य। वस्तु जो है आत्मा और परमाणु, वह सत्ता से अपृथक् अर्थात् अभेद रहकर **स्वयं स्थिर (विद्यमान) रहता हुआ....** स्वयं टिकता हुआ **इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है — ऐसी सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है...** सत्ता का प्रयोजन इतना ही है कि स्वयं अपने को प्रगट करे; स्वयं से प्रगट करे — यह सत्ता का प्रयोजन है; अत: सत्ता और आत्मा एक है। सत्ता और आत्मा भिन्न है — (ऐसा नहीं)। अभी एक अपेक्षा से ऐसा कहा, हाँ! फिर दूसरी अपेक्षा अभी आएगी। हीरा-माणिक के व्यापार -धन्धे के कारण ऐसा (समझने की) फुरसत लोगों को कहाँ है? (व्यापार में तो) लाखों रुपये पैदा हों, बाहर भी दिखे, लोग माने कि आ...हा...हा... ! पैसेवाला है! आहा...हा... ! पैसेवाला किसे कहना?

यहाँ तो सत्तावाला द्रव्य है... आ...हा...हा... ! इतना सिद्ध करना है, वरना तो सत्ता और द्रव्य (के बीच) प्रदेशभेद नहीं है परन्तु संज्ञाभेद से भेद-अन्यत्व भी है। आहा...हा... ! **सत्ता से...** द्रव्य...द्रव्य! सत्ता से द्रव्य **अपृथक् रहकर....** (अर्थात्) अलग नहीं रहकर **स्थिर (विद्यमान) रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन...** (अर्थात्) सत्ता का (प्रयोजन) द्रव्य स्वयं स्थिर रहे — ऐसा सत्ता का प्रयोजन है। वह सत्ता स्वयं से ही होवे तो वह बराबर — उचित बैठे — ऐसा कहते हैं। लॉजिक — न्याय सूक्ष्म बहुत! साधारण बुद्धि में तो कुछ समझ में भी नहीं आवे — तत्त्व अन्दर क्या है?

आत्मा है, परन्तु कहते हैं कि आत्मा में सत्ता नाम का गुण न हो तो आत्मा है — ऐसा नहीं रह सकता और वह सत्ता के अभाव में असत् हो जाएगा। आहा...हा... ! और सत्ता से यदि द्रव्य होगा, तब तो सत्ता से स्थिर द्रव्यपना, उसके कारण — स्वयं के कारण

ध्रुवपना रहेगा और सत्ता का स्वरूप ऐसा है, इसलिए वह द्रव्य अस्तिपने सिद्ध होगा। सत्ता और द्रव्य की सत्ता और सत्ता के कारण द्रव्य — ऐसा हो तो उसका — द्रव्य का — पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होगा, वरना पदार्थ का साबितपना नहीं होगा। आहा...हा...!

इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) है... वस्तु स्वयं ही सत्ता — अस्तित्वगुण से है। प्रत्येक द्रव्य अपने अस्तित्ववाले सत्तागुण से है। आ...हा...! **ऐसा स्वीकार करना चाहिए...** लो! **ऐसा स्वीकार करना चाहिए** — ऐसा कहते हैं। पर के कारण नहीं। वैसे सत्ता नाम का गुण न हो तो भी (द्रव्य) नहीं — ऐसा होता है; इसलिए सत्ता नाम का गुण है, उससे ध्रुव का टिकना होता है, इससे द्रव्य की प्रसिद्धि होती है; इसलिए द्रव्य स्वयं से सत् है — ऐसा सिद्ध होता है। आ...हा...हा...!

मुमुक्षु : सिद्ध करना तो कोर्ट में होता है, यहाँ कहाँ से आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ भगवान की कोर्ट है! यह वीतराग की कॉलेज है। आहा...हा...! कहाँ धन्धे (के कारण) फुरसत (लेता है)? मुम्बई जैसे में तो... मोहनगरी! पूरे दिन धमाल है! आहा...हा...! आज (एक भाई के) समाचार आये हैं कि ऐसा का ऐसा है, अच्छा नहीं, बेसुध है। बीच में तो आया था कि अच्छा है। (अभी) ऐसा का ऐसा है, बेसुध है। आहा...हा...! ऐसा का ऐसा शरीर कमजोर पड़ता जाता है। आहा...हा...! यहाँ भी आत्मा चैतन्यस्वरूप भिन्न है — ऐसे साध्य (भान) रहित जीव को भी असाध्य ही कहा जाता है। क्या कहा?

यह भगवान आत्मा अन्दर अनन्त गुणों को पिण्ड है। प्रभु! उसका जिसे साध्य (भान) नहीं है, जिसे उस सिद्धि का पता नहीं है, वे सब असाध्य हैं। आहा...हा...! उसे असाध्यता का रोग लागू पड़ा है। आ...हा...हा...! वह कितने काल से है? तो (कहते हैं कि) वह तो अनन्त काल से है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अब आपके जैसे डॉक्टर मिले तो रोग भागे।

पूज्य गुरुदेवश्री : टाइम आ गया अब। आहा...हा...! शरीर के परमाणुओं का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है और उन परमाणुओं में अस्तित्व न हो तो परमाणु टिक नहीं सकते। द्रव्य ही सिद्ध नहीं होगा परन्तु परमाणु स्वयं से — सत्ता से है — उसके सत्ता

नामक गुण से स्वयं हो तो द्रव्य सिद्ध होगा। उसका ध्रुवपना सिद्ध होगा — स्वयं से ध्रुवपना सिद्ध होगा। आहा...हा...! ऐसा उपदेश मिले नहीं और बाहर में सामायिक करो और प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो... ऐसा करके मर गया। आ...हा...!

भगवान आत्मा! 'है' वह स्वयं सत्ता नामक गुण के कारण है। अकेले से हो तो सत्तारहित असत् हो जाएगा; द्रव्य नहीं — ऐसा हो जाएगा। आहा...हा...! न्याय समझ में आता है? आत्मा है, परमाणु है, वह 'है' नाम की सत्ता यदि द्रव्य में न हो तो यह द्रव्य 'है' — ऐसा टिकना वहाँ नहीं रहेगा। टिकना नहीं रहेगा तो द्रव्य का ही अभाव होगा। आहा...हा...! **इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) है...** देखा? द्रव्य स्वयं ही सत्ता है। **ऐसा स्वीकार करना चाहिए।**

क्योंकि भाव और भाववान का अपृथक्त्व द्वारा अनन्यपना है। दूसरा अलग आएगा, हाँ! (अब बाद की गाथा में) इस अपेक्षा से दूसरी अलग अपेक्षा आयेगी। अभी तो यहाँ इतना सिद्ध करना है कि सत्ताभाव और सत्ता का धारक द्रव्य — भाववान **(इन दोनों का) अपृथक्त्व द्वारा अनन्यपना है।** दोनों अलग नहीं है; इस प्रकार अन्यपना नहीं, अनन्यपना है। सत्ता और द्रव्य का अनन्यपना है; अन्य-अन्यपना नहीं; अनन्यपना है, अन्यपना नहीं। आहा...हा...! (मूल शास्त्र में) नीचे (अर्थ दिया है) 'सत्ता का कार्य इतना ही है कि वह द्रव्य को विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्ता से भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ता का प्रयोजन ही नहीं रहता अर्थात् सत्ता के अभाव का प्रसंग आता है।' अब (इसके) नीचे (भाववान् का अर्थ किया है)। भाववान = भाववाला (द्रव्य भाववान है और सत्ता उसका भाव है, वे अपृथक् हैं, पृथक् नहीं)... अपृथक् अर्थात् अलग नहीं है। (इस अपेक्षा से अनन्य हैं... अनन्य हैं अर्थात् एकमेक हैं। पृथक्त्व और अन्यत्व का भेद जिस अपेक्षा से है, उस अपेक्षा को लेकर उसके विशेषार्थ आगामी गाथा में कहेंगे... यहाँ जो कहते हैं कि (सत्ता और द्रव्य) अपृथक् हैं, वह वहाँ (दूसरी गाथा में) गुणभेद करके पृथक् हैं — ऐसा सिद्ध करेंगे। पृथक् अर्थात् अतद्; अतद्भाव — अन्य है — ऐसा सिद्ध करेंगे। पृथक् (अर्थात्) तो प्रदेश भिन्न है, उसे पृथक् सिद्ध करेंगे परन्तु सत्ता और आत्मा के बीच में अन्यपना है, अनन्य नहीं, क्योंकि द्रव्य है, उसका नाम द्रव्य है और गुण है,

उसका नाम गुण है — ऐसे नामभेद आदि से अन्यपना है। आहा...हा...! अतद्भावरूप से अन्यपना है; अतद्भावरूप से पृथक्पना नहीं। ऐसा है, उसमें याद किसे रखना? (यह) आयेगा। (आगामी) गाथा में कहेंगे — वे अर्थ यहाँ नहीं लगाना चाहिए। बाद में अर्थ मैं आयेगा कि सत्ता अन्य है, द्रव्य अन्य है; पृथक्पने नहीं परन्तु जो भाव गुणी का है, वह भाव गुण का नहीं; जो भाव गुण का है, वह भाव गुणी का नहीं; इसलिए इस अपेक्षा से सत्ता गुण को अन्यत्व अर्थात् अन्य-अन्य कहते हैं। वहाँ अन्य कहेंगे। यहाँ अन्यत्व कहते हैं, वहाँ भिन्न कहेंगे। ऐसा है। विचारे लोगों को वीतरागमार्ग सुनने को नहीं मिला और ऐसे के ऐसे जिन्दगी चली जाती है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा जो सत्ता से है, इससे दोनों अनन्य है, एकमेक है; फिर भी अब के अर्थ में — दूसरी गाथा में ऐसा आयेगा कि सत्ता और द्रव्य में अन्यपना है। जो भाव द्रव्य का है, वह भाव गुण का नहीं, जो भाव गुण का है, वह भाव द्रव्य का नहीं; इसलिए दोनों के बीच अतद्भाव के कारण अन्यपना भी कहा जा सकता है। आहा...हा...! **इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्य (सत्ता) है — ऐसा स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि भाव और भाववान का...** भाववान भगवान आत्मा और सत्ता उसका भाव दोनों का अपृथक्पना है; अलग नहीं है। अनन्यपना है, अन्यपना नहीं। अनन्य-एकमेक है। आहा...हा...! १०५ (गाथा में) इतना तक सिद्ध किया। अब १०६ गाथा।

यह तो ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है। भाई! अन्य तो दया पालो, झूठ नहीं बोलना, शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, छह पर्वों में हरितकाय नहीं खाना, कन्दमूल नहीं खाना, चौविहार करना (— ऐसा कुछ होवे तो) समझ में तो आवे। इसमें क्या समझ में आये? धूल! यह तो अनादि का अज्ञान है। आहा...हा...! पर का त्याग करता हूँ और पर का ऐसा करता हूँ... यह तो मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा..!

यहाँ तो सत्तागुण को भी अन्य है, ऐसा आगामी गाथा में सिद्ध करेंगे। इस गाथा में तो अनन्यपना सिद्ध किया है, वरना तो यह द्रव्य है — ऐसा सिद्ध नहीं होता। सत्तागुण के बिना आत्मा का अस्तित्व ध्रुव है, वह सिद्ध नहीं होता। इस कारण से सत्ता से द्रव्य का अस्तित्व है — ऐसा अनन्यपना / एकमेक का कहा परन्तु अब उसमें जरा अन्तर है, वह अन्तर अब डालेंगे। आहा...हा...! ●●

गाथा - १०६

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति -

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।। १०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम्।। १०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात्, शुक्लोत्तरीयवत्। तथा हि - यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः। एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसत्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव, गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात्, शुक्लोत्तरीयवदेव। तथा हि - यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति; यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूप च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं; तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः।।१०६।।

अथ पृथक्त्वलक्षणं किमन्यलक्षणं च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति-**पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तं** पृथकत्वं भवति पृथक्त्वाभिधानो भेदो भवति। किंविशिष्टम्। प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्वं भिन्नप्रदेशत्वम्।

किंवत्। दण्डदण्डिवत्। इत्थंभूतं पृथक्त्वं शुद्धात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोर्न घटते। कस्द्धेतोः। भिन्नप्रदेशाभावात्। कयोरिव। शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव। **इदि सासणं हि वीरस्स** इति शासनमुपदेश आज्ञेति। कस्य। वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थकरपरमदेवस्य। **अण्णतं** तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्म-द्रव्यंशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वं भिन्नत्वं भवति। कथंभूतम्। **अतब्भावो** अतद्भावरूपं संज्ञालक्षणप्रयोजनादि-भेदस्वभावम्। यथा प्रदेशरूपेणाभेदस्तथा संज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु, को दोष इति चेत्। नैवम्। **ण तब्भवं होदि** तन्मुक्तात्मद्रव्यं शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति। **कधमेगं** तन्मयत्वं हि किलैकत्वलक्षण; सज्ञादिरूपेण तन्मयत्वाभावे कथमेकत्वं, किंतु नानात्वमेव। यथेदं मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि संज्ञादिरूपेण नानात्वं कथितं तथैव सर्वद्रव्याणां स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यथः।।१०६।।

अब, पृथक्त्व का और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते हैं —

प्रदेश से यदि भिन्नता तो, 'पृथक्त्व' जिन उपदेश है।
अन्यत्व अतद्भाव है, तो एक रूप कैसे बने?॥

अन्वयार्थ - [**प्रविभक्तप्रदेशत्वं**] विभक्तप्रदेशत्व वह [**पृथक्त्वं**] पृथक्त्व है, [**इति हि**] ऐसा [**वीरस्य शासनं**] वीर का उपदेश है। [**अतद्भावः**] अतद्भाव (उस रूप न होना) वह [**अन्यत्व**] अन्यत्व है। [**न तत् भवत्**] जो उसरूप न हो [**कथं एकम् भवति**] वह एक कैसे हो सकता है? (कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है और द्रव्य सत्तारूप नहीं है, इसलिए वे एक नहीं हैं।)

टीका - विभक्त प्रदेशत्व (भिन्न प्रदेशत्व) पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी में विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है — शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति। वह इस प्रकार है कि जैसे — जो शुक्लत्व के-गुण के -प्रदेश हैं, वे ही वस्त्र के-गुणी के-हैं, इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है; इसी प्रकार जो सत्ता के-गुण के-प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य के-गुणी के-हैं, इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

ऐसा होने पर भी उनमें (— सत्ता और द्रव्य में) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। अतद्भाव[1] अन्यत्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और

---

१. अतद्भाव = (कथंचित्) उसका न होना; (कथंचित्) उसरूप न होना (कथंचित्) अतद्रूपता। द्रव्य कथंचित् सत्तारूप से नहीं है और सत्ता कथंचित् द्रव्यरूप से नहीं है, इसलिए उनके अतद्भाव है।

द्रव्य के है ही, क्योंकि गुण और गुणी के तद्भाव[१] का अभाव होता है — शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति। वह इस प्रकार है कि — जैसे एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आनेवाला और अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण है, वह समस्त इन्द्रियसमूह को गोचर होनेवाला ऐसा वस्त्र नहीं है; और जो समस्त इन्द्रियसमूह को गोचर होनेवाला वस्त्र है, वह एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला ऐसा शुक्लत्व गुण नहीं है, इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है; इसी प्रकार, किसी[२] के आश्रय रहनेवाली, निर्गुण[३], एक गुण की बनी हुई, विशेषण[४], विधायक[५] और वृत्तिस्वरूप[६] जो सत्ता है, वह किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य[७], विधीयमान[८] और वृत्तिमानस्वरूप[९] ऐसा द्रव्य नहीं है, तथा जो किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है, वह किसी के आश्रित रहनेवाली,

---

१. तद्भाव = उसका होना, उसरूप होना, तद्रूपता।

२. सत्ता द्रव्य के आश्रय से रहती है, द्रव्य को किसी का आश्रय नहीं है। [जैसे, घड़े में घी रहता है, उसी प्रकार द्रव्य में सत्ता नहीं रहती (क्योंकि घड़े में और घी में तो प्रदेशभेद है) किन्तु जैसे आम में वर्ण गंधादि हैं, उसी प्रकार द्रव्य में सत्ता है।]

३. निर्गुण = गुणरहित [सत्ता निर्गुण है, द्रव्य गुणवाला है। जैसे आम वर्ण, गंध, स्पर्शादि गुणयुक्त है, किन्तु वर्णगुण कहीं गंध, स्पर्श या अन्य किसी गुणवाला नहीं है, क्योंकि न तो वर्ण सूंघा जाता है और न स्पर्श किया जाता है। और जैसे आत्मा ज्ञानगुणवाला, वीर्यगुणवाला इत्यादि है, परन्तु ज्ञानगुण कहीं वीर्यगुणवाला या अन्य किसी गुणवाला नहीं है; इसी प्रकार द्रव्य अनन्त गुणोंवाला है, परन्तु सत्ता गुणवाली नहीं है। (यहाँ, जैसे दण्डी दण्डवाला है, उसी प्रकार द्रव्य को गुणवाला नहीं समझना चाहिये; क्योंकि दण्डी और दण्ड में प्रदेशभेद है, किन्तु द्रव्य और गुण अभिन्नप्रदेशी हैं।)

४. विशेषण = विशेषता; लक्षण; भेदक धर्म।

५. विधायक = विधान करनेवाला; रचयिता।

६. वृत्ति = होना, अस्तित्व, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य।

७. विशेष्य = विशेषता को धारण करनेवाला पदार्थ; लक्ष्य; भेद पदार्थ - धर्मी [जैसे, मिठास, सफेदी, सचिक्कणता आदि मिश्री के विशेष गुण हैं, और मिश्री इन विशेष गुणों से विशेषित होती हुई अर्थात् उन विशेषताओं से ज्ञात होती हुई, उन भेदों से भेदित होती हुई एक पदार्थ है; और जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि आत्मा के विशेषण हैं और आत्मा उन विशेषणों से विशेषित होता हुआ (लक्षित, भेदित, पहचाना जाता हुआ) पदार्थ है, उसी प्रकार सत्ता विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है। (यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि विशेष्य और विशेषणों के प्रदेशभेद नहीं हैं।)]

८. विधीयमान = रचित होनेवाला। (सत्ता इत्यादि गुण, द्रव्य के रचयिता हैं और द्रव्य उनके द्वारा रचा जानेवाला पदार्थ है।)

९. वृत्तिमान = वृत्तिवाला, अस्तित्ववाला, स्थिर रहनेवाला। (सत्ता वृत्तिस्वरूप अर्थात् अस्तित्वस्वरूप है और द्रव्य अस्तित्व रहनेस्वरूप है।)

निर्गुण, एक गुण से निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप ऐसी सत्ता नहीं है, इसलिए उनके तद्‌भाव का अभाव है। ऐसा होने से ही, यद्यपि सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (—अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है तथापि, उनके सर्वथा एकत्व होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि तद्‌भाव एकत्व का लक्षण है। जो उसरूप ज्ञात नहीं होता वह (सर्वथा) एक कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता; परन्तु गुण-गुणी-रूप से अनेक ही है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ - भिन्नप्रदेशत्व वह पृथक्त्व का लक्षण है, और अतद्‌भाव वह अन्यत्व का लक्षण है। द्रव्य में और गुण में पृथक्त्व नहीं है, फिर भी अन्यत्व है।

प्रश्न : जो अपृथक् होते हैं, उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है?

उत्तर : उनमें वस्त्र और शुभ्रता (सफेदी) की भाँति अन्यत्व हो सकता है। वस्त्र के और उसकी शुभ्रता के प्रदेश भिन्न नहीं हैं, इसलिए उनमें पृथक्त्व नहीं है। ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र आँखों से ही दिखाई देती है, जीभ, नाक आदि शेष चार इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती, और वस्त्र पाँचों इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इसलिए (कथंचित्) वस्त्र, वह शुभ्रता नहीं है और शुभ्रता, वह वस्त्र नहीं है। यदि ऐसा न हो तो वस्त्र की भाँति शुभ्रता भी जीभ, नाक इत्यादि सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए वस्त्र और शुभ्रता में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है, यह सिद्ध होता है।

इसी प्रकार द्रव्य में और सत्तादि गुणों में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है; क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होने पर भी द्रव्य में और गुण में संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होने से (कथंचित्) द्रव्य, गुणरूप नहीं है और गुण वह द्रव्यरूप नहीं है॥ १०६॥

प्रवचन नं. ११५ का शेष **दिनाङ्क २५ जुलाई १९७९**

अब, पृथक्त्व का और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते हैं — अर्थात् क्या? पृथक्त्व आत्मा से, प्रत्येक द्रव्य से जो भिन्न चीज है, जिसके प्रदेश अलग हैं, उसे यहाँ तक पृथक्पना कहते हैं। आत्मा और यह परमाणु इन दोनों के बीच पृथक्पना है क्योंकि इनके प्रदेश अलग हैं और आत्मा के प्रदेश अलग हैं। फिर भी अनन्यपना है (ऐसा) लक्षण

स्पष्ट करेंगे। फिर भी वह गुण और गुणी — ऐसा भेद होने पर भी, वे अन्य-अन्य हैं, भेद है। भले ही सत्ता को और द्रव्य को अभेद है (— ऐसा सिद्ध किया), अभेद सिद्ध करने पर भी, सत्ता और द्रव्य के बीच भेद है। सत्ता अकेला अस्तिपने रहती है (और) द्रव्य तो अनन्त गुणों के अस्तिपने है; इसलिए सत्ता और द्रव्य के नामभेद से, लक्षण भेद से अन्यपना है। पहले अन्यपना नहीं — ऐसा सिद्ध किया। आहा...हा... ! ऐसा है। कितनों को ही तो कान में पहली बार (यह बात) पड़ती हो, कभी कुछ पता नहीं चलता। ऐसा पढ़े वहाँ लोग इकट्ठे किस प्रकार हों ? ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... (ऐसा कहे तो) दूसरे लोग प्रसन्न हों। यह कहते हैं कि परन्तु तेरे आत्मा के अतिरिक्त तेरी सत्ता के अतिरिक्त दूसरे की सत्ता में तेरा कोई अधिकार नहीं है। आहा...हा... ! देश की सेवा करना, भूखे को आहार देना... यह तेरा अधिकार नहीं है। (ऐसा यहाँ) कहते हैं। आहा...हा... !

मुमुक्षु : अपने असंख्य प्रदेश हैं, वह सच्चा देश है।

पूज्य गुरुदेवश्री : असंख्य प्रदेश अपने हैं; अन्य स्त्री, पुत्र के प्रदेश अलग हैं। फिर भी कहते हैं न कि मेरे हैं, मेरे। उससे यहाँ इनकार करते हैं। जिसके प्रदेश अलग, उसकी वस्तु अलग।

यहाँ तो (कहते हैं कि) सत्ता के और द्रव्य के प्रदेश एक हैं। प्रदेश की अपेक्षा से पृथक्‌पना नहीं, परन्तु द्रव्य और गुण अथवा द्रव्य और सत्ता — ऐसे संज्ञाभेद से दो नामभेद पड़ते हैं, उसे अन्यपना कहा जाता है — ऐसा मार्ग !

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।। १०६ ।।

प्रदेश से यदि भिन्नता तो, 'पृथक्त्व' जिन उपदेश है।
अन्यत्व अतद्‌भाव है, तो एक रूप कैसे बने ?॥

जिन वीर का उपदेश यह — त्रिलोकनाथ परमात्मा महावीरदेव (आदि) अनन्त तीर्थंकर। ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है।

टीका - विभक्तप्रदेशत्व... अर्थात् जिनका क्षेत्र और प्रदेश ही अलग है। इस

परमाणु का क्षेत्र और इस आत्मा का क्षेत्र अलग है। आहा...हा...! दूसरे आत्माओं का और इस आत्मा का क्षेत्र अलग है। इस परमाणु का क्षेत्र और इस आत्मा का क्षेत्र अलग है। वैसे ही एक आत्मा के (प्रदेश) और दूसरे आत्मा के प्रदेश अलग हैं। आहा...हा...! **विभक्तप्रदेशत्व (भिन्नप्रदेशत्व) पृथक्त्व का लक्षण है...** कहते हैं कि भिन्न प्रदेश, वह पृथक्त्व का लक्षण है। भिन्न है, वह भिन्न है। जैसे आत्मा से परमाणु अत्यन्त भिन्न है, शरीर आदि; कर्म के परमाणु आदि, आत्मा से भिन्न है और कर्म तथा शरीर से भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न है। दोनों के प्रदेश अलग हैं — दोनों का क्षेत्र अलग है। आहा...हा...! इसलिए उनके भाव भी भिन्न हैं। आहा...हा...!

विभक्तप्रदेशत्व (भिन्नप्रदेशत्व) पृथक्त्व का लक्षण है... आत्मा के प्रदेश और परमाणु के प्रदेश, यह भिन्नपना — पृथक्पना (है, इसमें) इस भिन्नपने का पृथक्त्व लक्षण है। ये अलग-अलग हैं। **वह तो सत्ता और द्रव्य में सम्भव नहीं है,....** क्या कहा? जब एक द्रव्य के प्रदेश से दूसरे द्रव्य के प्रदेश पृथक् है — ऐसे आत्मा और सत्ता के प्रदेश पृथक् हैं, यह सम्भवित नहीं है। जो आत्मा के प्रदेश हैं, वे ही सत्ता के हैं, उनके प्रदेश अलग नहीं हैं। आहा...हा...! **विभक्तप्रदेशत्व (भिन्नप्रदेशत्व) पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी में विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है...** सत्ता, ज्ञान आदि गुण और गुणी द्रव्य इनके भिन्न प्रदेश का अभाव होता है। किसकी तरह? (अब) दृष्टान्त देते हैं।

शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति। वह इस प्रकार है कि जैसे - जो शुक्लत्व के -गुण के प्रदेश हैं, वे ही वस्त्र के.... प्रदेश हैं। वे **गुणी के हैं,....** देखो! यह वस्त्र है। अब इस वस्त्र के जो प्रदेश हैं, वे ही यह श्वेत है, उसके यह प्रदेश हैं, श्वेत के वे ही प्रदेश हैं, श्वेत के प्रदेश अलग और वस्त्र के प्रदेश अलग हैं — ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! भेद — सूक्ष्म भेद करते हैं। यह भेदज्ञान की बात है। आहा...हा...! पर से तो पृथक् है, इसलिए अलग है परन्तु गुण-गुणी का भेद भी भेद पड़ा, इस अपेक्षा से अन्य है; इसलिए इसे अभेद पर नजर करने की है। आहा...हा...! यह क्या कहा? जिसके प्रदेश भिन्न हैं — ऐसे द्रव्य से तो दृष्टि उठाना चाहिए परन्तु जिसके प्रदेश एक हैं, फिर भी

अन्यत्वपना है (वह) उसके लक्षण से है। जो द्रव्य है, वह सत्ता नहीं और जो सत्ता है, वह द्रव्य नहीं। वरना दो के नाम अलग क्यों पड़ेंगे ? आहा...हा... ! ऐसा अन्यत्व द्रव्य और सत्व के बीच है, तथापि दृष्टिवन्त को दो अन्यत्व भिन्न न करके द्रव्य पर दृष्टि करना, यह प्रयोजन है। आहा...हा... ! समझ में आए ऐसा है। धीरे से (कहा जाता है)। (देह छूटे तब) आत्मा निकल जाता है। (तब) यह प्रदेश तो यहीं पड़े रहते हैं। यह मिट्टी ! इसके समस्त प्रदेश — अंश पृथक् हैं। इसकी सत्ता के प्रदेश अलग (और) आत्मभगवान की सत्ता के प्रदेश अलग। आहा...हा... !

गुण और गुणी में विभक्तप्रदेशत्व का अभाव.... होने से **शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति। वह इस प्रकार है कि जैसे - जो शुक्लत्व के गुण के प्रदेश....** यह जो श्वेतगुण के प्रदेश हैं, वे ही वस्त्र के (प्रदेश) हैं। वस्त्र के प्रदेश अलग और इस श्वेत (गुण के प्रदेश) अलग — ऐसा है ? **वे ही वस्त्र के-गुणी के-हैं, इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है;....** श्वेतपने को और वस्त्रपने को प्रदेश अर्थात् क्षेत्रभेद नहीं है। **इसी प्रकार जो सत्ता के गुण के प्रदेश हैं....** आहा...हा... ! सत्ता — अस्तित्व — सत्तागुण के जो प्रदेश हैं, वे ही आत्मा के प्रदेश हैं। **वे ही द्रव्य के — गुणी के हैं,....** आहा...हा... ! रात्रि में पूछेंगे तो जवाब आएगा या नहीं इसमें ? आहा...हा... !

जैसे, श्वेत वस्त्र है, उसमें श्वेत तो एक ही गुण है और यह वस्त्र है। यद्यपि श्वेत तो पर्याय है परन्तु अभी (दृष्टान्त में इस प्रकार लेते हैं)। फिर भी उस श्वेत (गुण के) प्रदेश और वस्त्र के प्रदेश दोनों एकमेक हैं। ऐसे सत्ता के और द्रव्य के प्रदेश एकमेक है। सत्ता के प्रदेश अलग और आत्मा के प्रदेश अलग, ऐसे परमाणु में परमाणु के प्रदेश अलग और परमाणु का द्रव्य अलग — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! धीरे से तो कहा जाता है, भाई ! यह तो मूल सत्ता की बात है। मूल का अस्तित्व जो है, वह अस्तित्व सत्ता के कारण है। सत्ता का इतना प्रयोजन था कि वह रहे, टिक सके, अब यदि उस सत्ता को आत्मा से भिन्न कर दो तो सत्ता का जो प्रयोजन है टिकना, वह तो नहीं रहेगा। आहा...हा... ! आहा...हा... ! **सत्ता के-गुण के प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य के-गुणी के हैं, इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।**

ऐसा होने पर भी.... अब बात बदलते हैं। **ऐसा होने पर भी उनमें (— सत्ता**

और द्रव्य में) अन्यत्व है,... (अर्थात्) अन्यपना है। आहा...हा...! द्रव्य अर्थात् सत्तागुण और द्रव्य सत्तावान्। गुण, भाव और आत्मा, भाववान्; उनके प्रदेश अलग नहीं फिर भी द्रव्य और गुण के बीच अन्यत्वपना है क्योंकि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : स्वरूपभेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों वस्तु भेद (अलग) है। आहा...हा...! पृथक्‌प्रदेश नहीं परन्तु अन्यत्व है। अन्यपना अर्थात् जैसा द्रव्य है, वह गुण है परन्तु उस गुण के प्रदेश (और) द्रव्य के प्रदेश एक हैं — इस अपेक्षा से पृथक् नहीं, तथापि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है — इतने भाव की अपेक्षा से अन्यपना भी है। गुणी से गुण अन्य है और गुण से गुणी अन्य है। आहा...हा...! ऐसा बहियों में नहीं आता। अभी तो सम्प्रदाय में नहीं चलता — ऐसी सूक्ष्म बात कौन करे? आहा...हा...! एक तो समझ सके नहीं, बापू! वस्तु यह है।

आत्मा 'है' ऐसा जो उसे स्वीकारना है तो कहते हैं कि सत्ता नामक गुण के कारण उसका ध्रुवपना है; इसलिए वह अलग नहीं, प्रदेश अलग नहीं। 'आत्मा है' — छह बोल में (श्रीमद् के छह पद के पत्र में) आता है न? आत्मा है वह नित्य है। 'है', 'नित्य है' परन्तु सत्तागुण के कारण (नित्य) है। सत्तागुण का प्रयोजन (जो द्रव्य) 'है', (उसे टिकाये रखना वह है)। वह सत्तागुण यदि अलग रह जाये तो द्रव्य सिद्ध है, वह द्रव्य किसी प्रकार साबित नहीं होगा। आहा...हा...!

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पहले कहा था, भाई! सूक्ष्म है। (बात) है तो लॉजिक से परन्तु अब अभी दुनिया को ऐसी कहाँ पड़ी है? मरकर कहाँ जाऊँगा? आहा...हा...! देह छूटकर कहाँ जाऊँगा? आहा...हा...! बहुत सों को तो तिर्यंच में अवतार होगा, बहुत से तो पशु होंगे। सम्यग्दर्शन नहीं, पुण्य के परिणाम ऐसे नहीं कि सच्चा सत् समागम चार-चार घण्टे हमेशा हों या पठन अथवा श्रवण (हो) तो पुण्य भी बँधे। वह भी नहीं मिलता। घण्टे भर कभी किसी को सुनने जाये तो वह सब उलटी प्ररूपणा सुने, मिथ्यात्व का पोषण। आहा...हा...! अरे...रे...! इससे कहाँ जाना? भाई!

यहाँ तो परमात्मा (कहते हैं कि) सत्ता नाम का गुण है। आत्मा में, परमाणु में अस्तित्व (गुण है)। उस गुण और गुणी के प्रदेश अलग नहीं हैं। फिर भी गुणी और गुण — दो अन्यत्वरूप से है। प्रदेशपने की अपेक्षा से एकरूप है परन्तु उनके भाव और इस भाववान के भाव, यह गुणी और यह गुण — इस अपेक्षा से अन्यपना भी है। देखो, यह सिद्धान्त!

ऐसा होने पर भी... ऐसा होने पर भी, अर्थात्? जो वस्तु है, वह सत्ता से है। सत्ता से ध्रुवरूप टिक रही है। यदि सत्ता से उसे भिन्न सिद्ध करो तो फिर ध्रुवपना, टिकना किसके कारण (होगा)? सत्ता का प्रयोजन तो इतना ही है कि कायम रहना। अब यदि सत्ता भिन्न ठहराओगे तो वहाँ कायम रहना नहीं रहता। इसलिए वह सत्ता और आत्मा पृथक् नहीं है। फिर भी, ऐसा निश्चित करने पर भी, दो के बीच अन्यपना है। आहा...हा...! जरा ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है। (भाई!) ऐसा है या नहीं? आहा...हा...!

यह शरीर है, देखो! इस शरीर में इसके परमाणुओं में अस्तित्वगुण — सत्ता न हो तो वे परमाणु किस प्रकार टिक सकेंगे? सत्ता के बिना किस प्रकार टिक सकेंगे? इसलिए वह सत्ता और उन परमाणुओं के प्रदेश एक हैं, अभेद हैं। वैसे ही आत्मा है, उसमें सत्ता नाम का एक गुण है, इस गुण के बिना उसका ध्रुवपना किस प्रकार कायम रहेगा? सत्ता नहीं, अस्तित्व की शक्ति नहीं तो अस्तिरूप रहना कैसे होगा? आहा...हा...! इस अपेक्षा से गुणी और गुण के बीच पृथक्पना नहीं परन्तु अन्यपना है। आहा...हा...! वह कहते हैं, देखो!

(उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। फिर भी गुणी — भगवान आत्मा और सत्ता गुण — दो के बीच **अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है।** दो अन्य — पृथक् हैं, वैसा एक अन्यत्व लक्षण है। आहा...हा...! गुण और गुणी भिन्न है — ऐसा उनका अन्यत्व लक्षण है। गुण है, वह कहीं गुणी नहीं हो जाता और गुणी है, वह कहीं गुण नहीं हो जाता।

आहा...हा...! मुनियों ने ऐसा कहा है!! आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों ने ऐसी टीका की है! आनन्द में रहनेवाले, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले! विकल्प आया और ऐसी टीका हो गयी! आहा...हा...! फिर भी प्रभु कहते हैं, हम तो अपने ज्ञान में हैं। इस टीका

में — (टीका) के करने में हम नहीं आये हैं। यह टीका का विकल्प है, उसमें भी नहीं आये हैं। आहा...हा...! तब कोई कहता है, यह तो निर्मानपने का कथन है। (नहीं) यह वस्तु के स्वरूप का कथन है। आहा...हा...! टीका (करते समय भी) हम तो स्वरूप में गुप्त हैं। हमारा (स्वरूप) बाह्य नहीं आया है। विकल्प आया वह भी हम नहीं तो बाहर आकर टीका को (वह तो किस प्रकार होगा?) आहा...हा...! यह (टीका) हमसे नहीं हुई है। आहा...हा...! यहाँ तो थोड़ा सा काम करे तो उसका अभिमान चढ़ जाता है कि हमने यह काम किया और हमने ये काम किया और ऐसा किया... सब मर जाने के रास्ते हैं! आहा...हा...! सत्य है, वह सत्य से टिक सकेगा, यह नहीं समझ में आए; इसलिए असत्य समझे और उसके कारण (सत्य) टिका रहे (—ऐसा नहीं है), इस प्रकार सत्य नहीं टिकता, बापू! वह परिभ्रमण में जाएगा। आहा...हा...! सत्य नहीं टिके इसलिए?

वस्तु सत्‌चिदानन्द प्रभु! उसकी सत्ता और आत्मा को भिन्नता नहीं, इसलिए सत्ता है, वह द्रव्य है और सत्ता है, उसका प्रयोजन अस्तित्व रहना, वह है। अतः द्रव्य का अस्तित्व उसके कारण रहा है — ऐसा होने पर भी... राग, द्वेष और पुण्य-पाप की बात नहीं। अभी सत्ता की बात है। आहा...हा...! फिर भी भगवान आत्मा गुणी है — भाववान है और सत्ता, वह भाव है — ऐसा दो के बीच ऐसा अन्यत्व है। पृथक्‌प्रदेश का अन्यत्व नहीं परन्तु पृथक्‌भाव का अन्यत्व है। आहा...हा...! ऐसा कौन सा उपदेश?! यह 'लाडनूँ' में मिले ऐसा नहीं है। आहा...हा...! परमात्मा के श्रीमुख से निकली हुई वाणी है। आहा...हा...! मुनियों — दिगम्बर सन्तों ने भी गजब काम किया है! विकल्प आया, इसलिए उसमें उन्हें रुकना पड़ा। आहा...हा...! विकल्प आया।

पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं न, भाई! पद्मप्रभमलधारिदेव! इसकी टीका करनेवाले हम तो कौन? हम मन्दबुद्धि! यह तो परम्परा चली आयी है, उसकी टीका होती है। आहा...हा...! धन्य मुनिराज! इस टीका के करनेवाले कौन? हमारा मन अभी इस ओर लगा करता है कि कुछ हो... हो... हो... परन्तु यह टीका हमसे नहीं हुई है। इस टीका के परमाणुओं की पर्याय उस समय उसके द्रव्य-पर्याय को पहुँचती है और टीका होती है। आहा...हा...! परमाणु उस समय की पर्याय को — उस टीका की पर्याय को पहुँचते हैं।

इस कारण टीका होती है। आहा...हा... ! और वह पर्याय, उसके द्रव्य और गुण से वह पर्याय होती है। हमसे नहीं और हम (उसके रचनेवाले) नहीं। आहा...हा... ! कठिन पड़े, बात सुनी नहीं, इसलिए कठिन पड़े। आहा...हा... ! यह तो वकीलों की जाति की बात है। व्यापारियों को तो यह तर्क (समझना कठिन पड़ता है)। आहा...हा... !

क्या कहा ? देखो ! **ऐसा होने पर भी.....** अर्थात् ? सत्ता नाम का गुण और आत्मा भाववान — गुणी — ऐसा उनमें अन्यत्व होने पर भी, आहा...हा... ! **उनमें (— सत्ता और द्रव्य में) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। ऐसा होने पर भी....** (ऐसा जो कहा), वह तो पूर्व का (कहा वह) गया कि द्रव्य और गुण एक है ऐसा होने पर भी.... ऐसा। द्रव्य-गुण एक है — ऐसा होने पर भी, दोनों के प्रदेश एक हैं — ऐसा होने पर भी, आहा... ! **उनमें (— सत्ता और द्रव्य में) अन्यत्व है,....** गुण और गुणी — दो एकरूप नहीं; प्रदेशभेद नहीं, परन्तु गुण-गुणी का भाव एकरूप नहीं। आहा...हा... ! अरे..रे... ! जहाँ गुण से गुणी भी अन्यत्व (रूप) है, गुणी से गुण अन्यत्व (रूप) है तो फिर शरीर कर्म और ये सब चीजें — बंगला, मकान, और यह तो कहीं अन्यत्वरूप रह गयीं — प्रदेशभेद से अन्यत्व रह गया। जिनके प्रदेशभेद नहीं, फिर भी वह अन्यत्व है ! आहा...हा... ! क्योंकि सत्ता नाम का गुण है और गुणी स्वयं है। भले सत्ता से उसे सिद्ध किया, ऐसा होने पर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण (भेद से) गुण और गुणी में भेद है; इसलिए उन दो के बीच अन्यत्व है। आहा...हा... ! तो (फिर) यह स्त्री-पुत्र, पैसा, व्यापाररूप से अनन्यपना कहाँ आया ? आहा...हा... ! यह मन्दिर बनाना और पूजा-भक्ति करना, कहते हैं कि यह तो अन्यपना है। अन्यपने को (तू) अनन्य कैसे कर सकेगा ? आहा...हा... ! ऐसी बात है। होश उड़ जाए ऐसा है। हम ऐसा करते हैं और हम ऐसा करते हैं... दो लाख रुपये दिये और पाँच लाख (दिये), अभी (एक भाई ने) पाँच लाख दिये न ?

मुमुक्षु : पैसेवाले पैसा दें, तो ही काम चल सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं, पैसे से काम नहीं चलता। जो तत्त्व है, उसकी पर्याय को वह द्रव्य पहुँचता है और उससे काम चलता है। कारीगर उसे नहीं पहुँचता, कारीगर उसकी पर्याय को पहुँचता है। आहा...हा... ! और वह पर्याय द्रव्य और गुण से

उत्पन्न होती है, वह पर्याय पर से उत्पन्न होती है — ऐसा नहीं है। बहुत अन्तर, भाई! ऐसा वीतराग का स्वरूप होगा? जिनेश्वरदेव की यह वाणी है, बापू! आहा...हा...!

जिनके प्रदेश भिन्न हैं, उनकी तो क्या बात करें? परन्तु जिनके — गुण-गुणी के प्रदेश एक हैं, उन्हें भी अन्यत्वपना लागू पड़ता है। आहा...हा...! आहा...हा...! है? **क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है।** सत्ता, गुण और आत्मा, गुणी — इन दो के बीच अन्यत्व लक्षण का सद्भाव है। अन्यत्व के लक्षण का दोनों के बीच सद्भाव है। आहा...हा...! अन्यत्व का सद्भाव है। उसमें (—अगली गाथा में) एकत्व का सद्भाव था। आहा...हा...! यह कभी पढ़ा है या नहीं? गजब बात है! बापू! क्या हो? आहा...हा...!

कहते हैं कि तू आत्मा है, प्रभु! और आत्मा है तो वह आत्मा सत्ता से है। सत्ता न हो तो आत्मा का अस्तित्व — ध्रुवपना नहीं रह सकता — ऐसा होने पर भी, ऐसा होने पर भी गुण-गुणी के भेद का अन्यत्व लक्षण उसे लागू पड़ता है। **अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है।** आहा...हा...! **अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है।** है? (मूल शास्त्र में नीचे अतद्भाव का अर्थ दिया है)। **अतद्भाव = (कथंचित्) उसका न होना; (कथंचित्) उसरूप न होना (कथंचित्) अतद्रूपता। द्रव्य कथंचित् सत्तारूप से नहीं है और सत्ता कथंचित् द्रव्यरूप से नहीं है,....** चीर-चीर कर बात कहाँ ले गये? दूसरे का कुछ कर सकूँ और दूसरे में जाने की बात तो कहीं रह गयी। वह तो है नहीं, तेरी कल्पना है आहा...हा...! परन्तु सत्ता नाम का गुण है और आत्मा गुणी है, इस अपेक्षा से कथंचित् अन्यत्पना भी है। प्रदेश एक होने पर भी भाव-भेद से भिन्न है तो अन्यत्व भी लागू पड़ता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत, भाई!

'ज्ञेय अधिकार' बहुत सरस है! जगत के ज्ञेयों का ऐसा स्वभाव है। जाननेयोग्य अनन्त ज्ञेय हैं। वे सभी ज्ञेय स्वयं से अस्ति है, जिससे सत्ता गुण से अभिन्न है परन्तु गुण और गुणी के नाम और लक्षण से अन्यत्व भी है। समझ में आया? अन्यपना नहीं और अनन्यपना भी है परन्तु किस अपेक्षा से? प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए अन्यपना नहीं परन्तु दो के भाव में भेद है, इसलिए अनन्यपना है। आहा...हा...!

अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। क्या कहा? पहले ऐसा कहा कि **अन्यत्व के**

लक्षण का सद्भाव है। और (फिर ऐसा कहा कि) **अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है।** अतद्भाव। है ? 'वह' नहीं। कथंचित प्रकार से गुण, वह गुणी नहीं और गुणी, वह गुण नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें। सभी एम.ए. की और डॉक्टर की, एल.एल.बी. के वकीलों की पूछ लगाते हैं, उसमें ऐसा कहीं नहीं आता। आहा...हा...! यह तो थोड़ी...थोड़ी... थोड़ी धीरे-धीरे समझने जैसी बात है, बापू! (विशेष कहेंगे)

प्रवचन नं. ११६ **दिनाङ्क २६ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार' १०६ गाथा! दूसरा पेराग्राफ। सूक्ष्म है यह। **ऐसा होने पर भी...** अर्थात् ? यह आत्मा है (और) सत्तागुण है। परमाणु है, उसमें वर्ण, रस, गन्ध गुण है। उसमें भी सत्ता (गुण) है, परन्तु सत्तागुण है, वह द्रव्य नहीं है और द्रव्य है, वह एक सत्तागुण नहीं है — ऐसा दो के बीच अतद्भाव अन्यत्व है। 'वह' नहीं, इस प्रकार अतद्भावरूप अन्यत्व है; पृथक्त्व (रूप से) अन्यत्व नहीं। अर्थात् क्या ? शरीर, वाणी, कर्म आदि स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी आदि तो पृथक् प्रदेश हैं। पृथक् प्रदेश हैं; इसलिए अन्य है। यहाँ आत्मा में अस्तित्वगुण है, उस गुण को और आत्मा को प्रदेशभेद नहीं होने पर भी गुण, वह द्रव्य नहीं है (और) द्रव्य, वह गुण नहीं है। गुण, द्रव्य के आश्रय रहते हैं, इसलिए दो के बीच अतद्भाव है और अतद्भाव के कारण द्रव्य और गुण को अन्यत्व कहा जाता है — अन्यपना है — ऐसा कहा जाता है। कहो, सुना ?

यह शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, मकान तो आत्मा के प्रदेश से भिन्न है — पृथक् प्रदेश है और इससे वे अन्यत्व हैं। उनमें नहीं यह आत्मा (और) इस आत्मा में नहीं वे। आहा...हा...! परन्तु आत्मा में एक सत्ता — अस्तित्व नाम का गुण है। (यदि) अस्तित्व न होवे तो उसका 'है' पना नहीं रह सकता। अस्तित्व है, वह सत्तागुण के कारण है, फिर भी सत्तागुण और द्रव्य के बीच अतद्भाव है। (अर्थात्) जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं, क्योंकि गुण है, वह आत्मा — द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें धर्म के नाम की! कहाँ पड़ी है दुनिया को ? आहा...हा...! मरकर कहाँ जाऊँगा ? आहा...हा...! देह की स्थिति क्षण में एकदम छूट जाती है। जाए भटकने!

यह तत्त्व अन्दर है, वह किस प्रकार है ? — उसका — यथार्थ पदार्थ का ज्ञान कराते हैं, अर्थात् वास्तव में तो भेदज्ञान कराते हैं। पर पृथक् है, वह अन्य है; इसलिए उससे पृथक् सिद्ध किया और आत्मा में सत्तागुण है, फिर भी प्रदेशभेद नहीं, परन्तु वह अन्य है; इसलिए इसे गुणभेद पर दृष्टि नहीं रखना। आहा...हा...! यह शैली कहना चाहते हैं। वस्तु-गुणी जो है, अनन्त गुण जिसके आश्रय से रहे हैं, उसकी दृष्टि करने से सबसे समेटकर उसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे धर्म की शुरुआत होती है। आहा...हा...!

ऐसा होने पर भी... अर्थात् ? आत्मा और उसकी सत्ता (के बीच) प्रदेशभेद नहीं है — ऐसा होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है — ऐसा होने पर भी, **उनमें (सत्ता और द्रव्य में) अन्यत्व है....** आहा...हा...! सत्ता नाम का गुण है — अस्तित्व... अस्तित्व और आत्मा अनन्त गुण का धारक है तो दो के बीच प्रदेशभेद नहीं है — दो के क्षेत्र अलग नहीं हैं — दो का निवास — रहना, वह अलग नहीं है, परन्तु दो का भाव भिन्न है। आहा...हा...! धर्म करने में ऐसा (समझने का) क्या काम होगा ? यह भेदज्ञान कराते हैं। बापू! जैसे पर से पृथक्-अन्य कहा। अब, यहाँ गुण और गुणी की पृथक्ता तो नहीं परन्तु अन्यत्व है। ऐसा स्वरूप है परन्तु अन्यत्व हे, वह भेद है। आहा...हा...! इसलिए उसे अभेददृष्टि — द्रव्य पर दृष्टि कराने को गुण का अतद्भाव — अन्य है, वह छूट जाता है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...!

द्रव्य अर्थात् आत्मा। उसमें सत्ता (या) ज्ञान, दर्शन कोई (भी) गुण। वह गुण जो है, और गुणी जो आत्मा, (इन) दो के बीच प्रदेश-क्षेत्र भेद नहीं होने पर भी अतद्भावरूप (भेद है)। अतद् (अर्थात्) 'वह' नहीं (अर्थात्) गुण, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह गुण नहीं; इस प्रकार अतद्भावरूप अन्यत्व है, फिर भी वह अन्यत्व आश्रय करने योग्य नहीं है। आहा...हा...! दूसरे द्रव्यों में तो स्वयं स्वतः (परिणमन) होता है। इसे तो — जीव को तो आश्रय करना है न ? आहा...हा...!

क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है.... किसे ? आत्मा को और सत्ता को; परमाणु को और सत्ता को; उनमें अन्यत्व लक्षण का सद्भाव है। अन्यपना है — ऐसे लक्षण की वहाँ अस्ति है। आहा...हा...! समयसार ऊँचा (उत्कृष्ट) है परन्तु यह

प्रवचनसार भी बहुत ऊँची चीज है!! ज्ञेय अधिकार! यह सम्यक्त्व का अधिकार है।

सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु है, वे तो अन्य हैं। उन अन्य में से कोई वस्तु मेरी नहीं (— ऐसा वह मानता है)। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पुत्र-पुत्रियाँ कोई चीज उसकी नहीं है। इतने से हद नहीं है। अब इसमें रहनेवाला ज्ञानगुण है। यह गुण है, वह द्रव्य के आश्रय से है; इसलिए उस गुण और द्रव्य के बीच अतद्भाव (है, अर्थात्) 'वह' भाव नहीं। गुणभाव, वह द्रव्यभाव नहीं; द्रव्यभाव, वह गुणभाव नहीं — ऐसा अतद्भाव का अन्यपना सिद्ध होता है। आहा...हा...! लोगों को बाहर से (सुनने को नहीं मिलता), बेचारों की जिन्दगी चली जाती है। अन्दर वस्तु क्या है — इसका पता नहीं पड़ता। पूरे दिन पाप के धन्धे के पोटले बाँधते हैं। आ...हा...! बीस वर्ष का हो तो साठ-सत्तर वर्ष तक इस धन्धे की मजदूरी करे, उसमें यह आत्मा क्या, और गुण क्या और गुणी क्या? (— इसका निर्णय करने का समय नहीं मिलता)। आहा...हा...!

प्रश्न : व्यापार-धन्धा करते हुए यह सीखा तो जा सकता है न?

समाधान : व्यापार-धन्धा धूल में... वह तो होना होगा तो होगा। वह आत्मा से कहाँ होता है? आहा...हा...! विकल्प करे, बाकी धन्धे की क्रिया यह कर सके (— ऐसा नहीं है)। उसकी भी समय-समय की अवस्था (होती है)। धन्धे में जो परमाणु है — पैसे के, मकान के, माल के (परमाणु है), उस माल की जिस समय में जो पर्याय (होनी) है, वह वहाँ होनी है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : रोटी जिस समय होनी है, उस समय होनी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तब ही होनी है।

प्रश्न : बहिनें पकाये नहीं तो?

समाधान : पकावे नहीं, परन्तु वह हो, (उस समय) विकल्प होता है, उचित निमित्त होता है। उचित निमित्त होता है, परन्तु उचित निमित्त है, इसलिए वहाँ (कार्य) होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है, भाई! इसमें कहाँ तुम्हारे रुपयों में कहीं सूझ पड़े ऐसा है? आहा...हा...! एक-एक बोल कितना गहरा उतारा है।

क्योंकि (उनमें) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। आत्मा और सत्ता — दो

के बीच अथवा आत्मा और ज्ञानगुण के बीच अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। दोनों एक नहीं — ऐसे अन्यत्व लक्षण को वहाँ अस्ति है। गुण और गुणी के बीच अन्यत्व का सद्भाव — अस्ति है। आहा...हा...! **अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है।** 'वह' नहीं। सत्ता, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह सत्ता नहीं — ऐसा अतद्भाव है। अतद्भाव (का अर्थ मूल शास्त्र में नीचे दिया है)। कथंचित् 'वह' नहीं होना वह; कथंचित उस रूप नहीं होना; कथंचित् अतत्पना [द्रव्य (कथंचित्) सत्तारूप नहीं और सत्ता (कथंचित्)] द्रव्यरूप नहीं, इसलिए उन्हें अतद्भाव है।] कहो, ऐसा किसी दिन पढ़ा था? भाई! वहाँ बहियाँ बहुत पलटता है। हीरे में हैरान... हैरान... (होता है)।

आहा...हा...! चैतन्य हीरा! जिसमें गुण और गुणी की भेदता भी लक्ष्य में लेने योग्य नहीं है। आहा...हा...! क्या समाते हैं! प्रभु! तू आत्मा है न! और वह आत्मा अनन्त गुण का एकरूप है तो (द्रव्य है वह) अनन्त गुण का आश्रय है। गुण के आश्रय से द्रव्य नहीं; द्रव्य के आश्रय से गुण है; फिर भी गुण और द्रव्य दोनों के बीच अतद्भाव है। गुण है, वह द्रव्य नहीं है और द्रव्य है, वह गुण नहीं है। आहा...हा...हा...! यहाँ तक अतद्भाव लेते हैं। भले ही अतद्भाव अन्य का — अन्यत्व का कारण है, क्योंकि गुण अन्य है, द्रव्य अन्य है। प्रदेशभेद में तो वस्तु ही अत्यन्त पृथक् है। आहा...हा...! यह नोट, क्या कहलाती है तुम्हारी? तख्ती! तख्ती के प्रत्येक रजकण की उसके समय से वह-वह पर्याय होती है। उस-उस परमाणु का सत्ता गुण और द्रव्य (उनमें) वास्तव में उस परमाणु की सत्ता और (के बीच) अतद्भाव है। भले ही परमाणु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है परन्तु वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और परमाणु - दो के बीच एक भाव नहीं है, अतद्भाव है। अतद्भाव है, इतना अन्यत्व है। आहा...हा...! समझ में आवे ऐसा तो है। भाषा तो सादी है परन्तु कभी सुना न हो, इसलिए लोगों को कठिन पड़ती है। दया पालो, व्रत करो, इच्छामि पडिकम्मण.... ईहीया, वीहीया... जाओ! तस्सउत्तरीकरणेण.... अर्थ का पता नहीं होता। अरे...रे...!

अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। गुण, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह गुण नहीं — ऐसा जो अतद्भाव, वह अन्यत्व — अन्यपने का लक्षण है। इस प्रकार अन्यता है। प्रदेश भेद से भले अन्यता नहीं है परन्तु इस प्रकार अन्यता है। **वह तो सत्ता और द्रव्य**

के है ही... सत्ता नाम का गुण है और द्रव्य है, वह गुणी है। इन (दो) के बीच इतना तो अतद्भाव लक्षण — अन्यत्वपना तो सिद्ध होता है। आहा...हा...!

क्योंकि गुण और गुणी के.... ज्ञान, सत्ता आदि जो गुण और द्रव्य के **तद्भाव का अभाव होता है...** 'उस' भाव का दो के बीच अभाव होता है। आहा...हा...! (तद्भाव अर्थात्) उस रूप होना; गुण का द्रव्यरूप होना और द्रव्य का गुणरूप होना। आहा...हा...! ऐसी बातें! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। बापू! धर्म-शैली ऐसी है। आहा...हा...! यह तो धीरजवान का काम है। आहा...हा...!

कहते हैं कि जिनके पृथक् प्रदेश हैं, वे तो अन्य हैं; उन्हें और तुझे तो कोई सम्बन्ध नहीं। आहा...हा...! परन्तु तुझमें रहनेवाला सत्तागुण और आत्मा — दो के बीच एक भाव नहीं है। जो गुण है, उसरूप द्रव्य नहीं है और जो द्रव्य है, उसरूप गुण नहीं है। इस प्रकार **तद्भाव का अभाव होता है...** दो में तद्भाव का अभाव होता है। सत्ता, वह द्रव्य और द्रव्य, वह सत्ता — ऐसे तद्भाव का दो के बीच में अभाव है। आहा...हा...! ऐसा वहाँ कलकत्ता में कहीं मिले — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! तू अकेला प्रभु है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अकेले में भी गुण और गुणी की अन्यता है। आहा...हा...!

पृथक् प्रदेश यह शरीर, वाणी, कर्म, इज्जत, पुत्र-पुत्रियाँ तो कहीं अन्य हैं। वे आत्मा के हैं ही नहीं। आहा...हा...! परन्तु आत्मा में जो ज्ञान और सत्तागुण हैं, उन्हें और आत्मा के तद्भाव का अभाव सिद्ध (होता है)। आहा...हा...! जो सत्ता है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह सत्ता नहीं — ऐसा दो के बीच (अतद्भाव है)। वैसे (ही) ज्ञान है, वह आत्मा नहीं और आत्मा है, वह ज्ञान नहीं। ऐसे ही आनन्द हैं, वह आत्मा नहीं और आत्मा है, वह आनन्द नहीं — ऐसा तद्भाव का अभाव है। (अर्थात्) 'यह' वह 'यह' है और 'यह' वह 'यह' है — ऐसे भाव का वहाँ अभाव है। आहा...हा...! दुकान में यह नहीं चलता, स्त्री-पुत्र के बीच यह बात कभी नहीं चलती; उपाश्रय जाए तो यह बात नहीं मिलती। आहा...हा...!

मुमुक्षु : दिगम्बर मन्दिर में जाए, वहाँ भी नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कहाँ है, सब बातों में फेरफार (हो गया है)। दिगम्बर में बहुत फेरफार कर दिया है।

आ...हा...! यह वस्तु है, वह पर का स्पर्श नहीं करती। जो स्व-चीज है, वह शरीर, कर्म को स्पर्श नहीं करती; इसलिए वह तो पृथक्-अन्यत्व है, परन्तु आत्मा और गुण तो स्पर्शित है, फिर भी दो के बीच तद्भाव का अभाव है। गुण, वह आत्मा और आत्मा, वह गुण — ऐसे तद्भाव का अभाव है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म है!

प्रश्न : यह न जाने तो कुछ आपत्ति है?

समाधान : परन्तु यह न जाने तो इसे गुणभेद पर दृष्टि रहेगी। पर (पदार्थ) अन्य हैं — ऐसा नहीं जाने तो उन पर दृष्टि रहेगी और गुण तथा द्रव्य — दो भिन्न-भिन्न है — ऐसा न माने तो उसे गुणभेद की — गुण-गुणी के भेद की दृष्टि रहेगी। आ...हा...! यह तो वीतराग के वचन हैं! उनके एक-एक वचन पर... आहा...हा...!

तद्भाव का अभाव होता है.... अब दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त से समझाते हैं कि **शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति....** शुक्लत्व अर्थात् श्वेतपना। यह वस्त्र का श्वेतपना और वस्त्र। श्वेतपने और वस्त्र की भाँति। **वह इस प्रकार है कि जैसे एक चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला और अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला शुक्लत्वगुण....** क्या कहते हैं? पर श्वेतगुण है, वह अकेले आँख का विषय रहा, दूसरी किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं। यह सफेद है, वह आँख का विषय है, दूसरी किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है और यह वस्त्र है, वह समस्त इन्द्रियों का विषय है। दो (भाव) में अन्तर पड़ गया। समझ में आया?

फिर से — **शुक्लत्व और वस्त्र की भाँति (वह इस प्रकार है -) जैसे एक चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला....** चक्षु इन्द्रिय के विषयरूप आनेवाला, कौन? सफेद गुण। **और अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला....** सफेद गुण आँख इन्द्रिय के विषयगम्य होता है परन्तु दूसरी इन्द्रियों के गम्य नहीं होता। सफेदपना नाक से ज्ञात होता है? आहा...हा...! वस्त्र का श्वेतपना जो है, वह आँख इन्द्रिय का — एक का ही विषय है, दूसरी समस्त इन्द्रियों का विषय वह नहीं है। आहा...हा...! दृष्टान्त कैसा दिया, देखो न! **अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला शुक्लत्वगुण है, वह समस्त इन्द्रियसमूह को गोचर....** कौन? वस्त्र। **समस्त इन्द्रियसमूह को गोचर**

होनेवाला ऐसा वस्त्र नहीं है.... क्या कहा ? यह जो श्वेतगुण है, वह एक चक्षु इन्द्रिय का विषय है, दूसरी समस्त (इन्द्रियों का) विषय नहीं है और वस्त्र है, वह समस्त इन्द्रियों का विषय है। स्पर्श, रस, गन्ध सबका विषय है; इसलिए वस्त्र और श्वेतपने में अतद्भावरूप अन्यत्व है; पृथक् प्रदेशरूप अन्यत्व नहीं।

मुमुक्षु : अतद्भाव प्रमाणित करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो के बीच अतद्भाव है। सफेदी है, (वह) एक इन्द्रिय से ज्ञात होती है और दूसरी इन्द्रियों से वह ज्ञात नहीं होती। आँखें बन्द करो तो नाक से ज्ञात होगी ? और यह वस्तु (वस्त्र) है, वह पाँच इन्द्रियों से ज्ञात होती है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! **शुक्लत्वगुण है, वह समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होनेवाला ऐसा वस्त्र नहीं है....** आ...हा...हा... ! सफेद रंग एक इन्द्रिय को गम्य है, वह दूसरी समस्त इन्द्रियों को गम्य नहीं है और वस्त्र है, वह समस्त इन्द्रियों को गम्य है; इसलिए वस्त्र और शुक्लत्व में अतद्भावरूप अन्यत्व है। शुक्लत्व, वह वस्त्र और वस्त्र, वह शुक्लत्व है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! यह वकीलों का विषय व्यापारियों को आ गया। आहा...हा... ! यह तो दृष्टान्त दिया, हाँ ! (सिद्धान्त) सिद्ध करने का।

सत्ता नाम का गुण अथवा ज्ञान आदि गुण और आत्मा, दो के भाव तद्भाव नहीं है; दो के तद्भाव का अभाव है। क्यों ? (क्योंकि) वस्त्र की सफेदी है, वह एक इन्द्रिय से ज्ञात होती है, दूसरी इन्द्रियों से नहीं और वस्त्र है, वह समस्त इन्द्रियों से ज्ञात होता है, इसलिए उसमें अतद्भाव है। सफेदी और वस्त्र को तद्भाव नहीं है, दो के बीच तद्भाव का अभाव है। समझ में आया ? वस्त्र का दृष्टान्त लोगों को समझ में आता है कि यह (सफेदी) है, वह आँख से जानी जाती है। कान से जानी जाती है ? यह पूरा वस्त्र तो कान से (भी) जाना जाता है। आँख बन्द करे (तो) ऐसे जानने में आता है, पवन से जानने में आता है, स्पर्श से ज्ञात होता है। आहा...हा... ! ऐसा उपदेश कहाँ (सुनने को मिलता है) ? आहा...हा... ! ऐसी बात है। इसे गरज नहीं, इसलिए सूक्ष्म लगता है। सूक्ष्म नहीं, सत्य है। परम सत्य की स्थिति (की) ऐसी ही मर्यादा है। ऐसी सत्य की मर्यादा जिस प्रकार है, तदनुसार नहीं समझे तो सत्य ज्ञान नहीं होता। सत्य ज्ञान नहीं होगा तो सत्य स्वरूप की ओर

ढल ही नहीं सकेगा। आहा...हा... ! सत्यस्वरूप प्रभु ! जैसा सत् है, उसकी तरफ वह झुक नहीं सकेगा। आहा...हा... ! असत्य ज्ञान से कहीं सत्य की तरफ झुक सकेगा ? आहा...हा... !

और जो समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होनेवाला वस्त्र.... समस्त पाँच इन्द्रियों के समूह को ज्ञात होनेवाला वस्त्र, **वह एक चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला ऐसा शुक्लत्वगुण नहीं है...** वस्त्र से शुक्लत्वगुण क्यों पृथक् पड़ा ? (क्योंकि) एक (चक्षु) इन्द्रिय का विषय है और दूसरी इन्द्रियों का विषय नहीं है तथा वस्त्र समस्त इन्द्रियों का विषय है, इसलिए दोनों को भिन्नता है। आहा...हा... ! अरे... ! गुण-गुणी की भिन्नता ! गजब बात है ! अभी तो यह स्त्री, पुत्र, शरीर मेरा नहीं है (— ऐसा मानने में) इसे पसीना उतरता है। यह (शरीर) तो जड़, मिट्टी, धूल है। इसको जो समय-समय पर्याय होती है, वह इससे है और जहाँ-तहाँ यह मुझसे होती है (— ऐसा मानता है)। मैंने ऐसा किया... मैंने शरीर का ऐसा किया, शरीर के द्वारा काम किया... शरीर के द्वारा काम किया... आहा...हा... !

मुमुक्षु : थप्पड़ मारनी हो तो शरीर के द्वारा ही मारी जाती है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : थप्पड़ कौन मारे ? वह तो परमाणु की पर्याय होनी (हो) वही होती है; (आत्मा) थप्पड़ मार नहीं सकता। वह परमाणु की पर्याय उस प्रकार होनी हो, वह होती है और इसे स्पर्श नहीं करती। थप्पड़ इसे — गाल को स्पर्श नहीं करती। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है !

जो स्वयं स्वयं से है, वह दूसरे के अभाव-स्वरूप है; स्वयं से भावस्वरूप है, दूसरे से अभावस्वरूप है — अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव (हो, वह) इसे छूता कहाँ है ? आहा...हा... ! कठिन बात ! बहुत कठिन, बापू ! आ...हा... ! हीरा को आत्मा स्पर्श नहीं करता — ऐसा कहते हैं। आत्मा (तो) नहीं, परन्तु हाथ स्पर्श नहीं करता।

मुमुक्षु : उसका क्या काम है, पैसा आता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा किसके पास आता है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : उसके मालिक के पास।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे का मालिक था कब ? पैसे का मालिक पैसा है। आहा...हा... !

परमाणु का वर्णगुण है, वह परमाणु में अन्यभाव है — अतद्भाव है। उस परमाणु में यह स्पर्श है, स्पर्श — ठण्डा, गर्म — उस स्पर्श और परमाणु के बीच में अतद्भाव है, क्योंकि स्पर्श एक इन्द्रिय का विषय है और पूरा तत्त्व है, वह पाँचों इन्द्रिय का विषय है, इसलिए **तद्भाव का अभाव है।** परन्तु अतद्भावरूप से निषेध है (अर्थात्) पृथक् प्रदेशरूप से (निषेध है), परन्तु तद्भावरूप से तद्भाव का अभाव होने पर भी — भिन्न -भिन्नभाव होने पर भी उनका अभाव वह उसका स्वरूप है। आहा...हा... ! इसमें समझ में आया ? ऐसी बात कहाँ... धर्म करना है, उसमें ऐसी बात क्या करनी ? परन्तु धर्म कौन करता है ? तुझे पता है ? आ...हा... ! धर्म करनेवाला क्या करता है ? धर्म करनेवाला परपदार्थ के सन्मुख नहीं देखता और अपने में गुणभेद को नहीं करता। वह धर्म करता है, उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है और वह धर्म करता है। आहा...हा... ! धर्म तो पर्याय में होता है न ? आहा...हा... ! तो वह पर्याय कहाँ झुकती है ? उसका लक्ष्य कहाँ जाता है ? ध्येय किसे बनाती है ? यदि वह पर को ध्येय बनावे, तब तो अज्ञान है। अब पर्याय स्वयं है, उसमें आत्मा और ज्ञानगुण दोनों भिन्न हैं — ऐसा यदि पर्याय में लक्ष्य करे तो विकल्प उठता है, क्योंकि दो (में) अतद्भाव है। आहा...हा... ! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं... परन्तु जब गुण और आत्मा, भले तद्भाव के अभाव से अन्यरूप कहे जाते हैं, तथापि (उसका) लक्ष्य छोड़कर एक द्रव्य पर — ज्ञायक पर दृष्टि करे तो सत्य हाथ आये। अब ऐसा कहाँ (सुनने मिले) ? आहा...हा... ! मुम्बई जैसे शहर में ऐसी बात होवे तो (ऐसा लगे कि) क्या कहते हैं यह ?

अन्य समस्त इन्द्रियों के समूह को गोचर न होनेवाला ऐसा शुक्लत्वगुण नहीं है, इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है;.... किसे ? वस्त्र को और श्वेत स्वभाव को — सफेद गुण को तद्भाव का अभाव है। आहा...हा... ! एक-एक शब्द का अर्थ धीरे से तो होता है। आहा...हा... ! पर से भिन्न है - ऐसा निर्णय करने का भी अवसर न ले, वह कब आत्मा में — अन्तर में जाएगा ? आहा...हा... !

आहा...हा... ! प्रभु ! मेरा स्वरूप ही पर से अत्यन्त (भिन्न है)। कर्म के प्रदेश भिन्न,

आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए कर्म के उदय से आत्मा को राग होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह बड़ा विवाद। यहाँ तो कर्म का पहले से निषेध किया है। भाई! संशय हो, वह जीव की अपनी भूल है, वह कर्म के कारण — दर्शनमोह के कारण संशय होता है — ऐसा नहीं है। संशयभाव आत्मा के आश्रित होता है, तथापि संशयभाव और आत्मा दो (में) अतद्भाव है। आहा...हा...!

इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है;.... किसके? सफेदपना और वस्त्रपना। सफेदपना और वस्त्रपना दोनों एक नहीं हैं क्योंकि सफेदपना एक इन्द्रिय का विषय हुआ और वस्त्र पाँच इन्द्रिय का विषय हुआ। श्वेतपना आँख के विषय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिया का विषय नहीं रहा, इसलिए भावभेद हो गया। समझ में आया? एक इन्द्रिय का विषय रहा, चार इन्द्रिय का नहीं हुआ और वस्त्र है, वह पाँचों ही इन्द्रिय का विषय है। इसलिए दो के बीच इस प्रकार से अतद्भाव है। अतद्भाव — अन्यत्वरूप से जानने में आता है। प्रदेशभेद का अन्यत्व अलग और इस अतद्भाव का अन्यत्व अलग है। आहा...हा...! यह भाषा तो सादी है। इसमें संस्कृत और व्याकरण (ऐसा कुछ नहीं है)। बहिनों-लड़कियों को पकड़ में आवे ऐसा है। नहीं?

आ...हा...! इसे एक बार हल्का बना दे। पर मेरा है, यह बोझ उठा दे। आहा...हा...! हल्का तो है परन्तु मान्यता के कारण यह मेरा... यह मेरा... यह पैसा मैं ठीक से कमा सकता हूँ, पैसे को खर्च कर सकता हूँ, लड़के को ठीक से पढ़ा सकता हूँ, घर की व्यवस्था सुव्यवस्थित रखूँ तो रहे... आहा...हा...! लड़की को भी ठिकाने लगाना हो तो ध्यान रखकर (ठिकाने लगा सकता हूँ)। वर कैसा है, घर कैसा है, ससुराल कैसा है? — यह व्यवस्था ध्यान रखे तो ठिकाने पड़े... यह सब भ्रमणा है। भारी जगत यह, भाई! आहा...हा...! फिर भी इन चीजों में रहा दिखे परन्तु इनसे भिन्नपने आत्मा भासित हुआ हो फिर भी संयोग हो, संयोग संयोग के कारण होते हैं। आहा...हा...! इन्द्रिय के विषय भी संयोग में होते हैं। हैं पृथक् परन्तु संयोग में आते हैं। आहा...हा...! तथापि अन्दर दृष्टि में भेद होता है कि मैं तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप चेतन अभेद हूँ। गुण और गुणी के भेद से भी विकल्प उठते हैं; इसलिए वह मैं नहीं। आहा...हा...! भाई! ऐसा सूक्ष्म है।

अरे...रे... ! हमारे 'हीराजी महाराज' थे, बेचारे चले गये। कान में बात पड़ी नहीं, उसकी अपेक्षा अभी भाग्यशाली जीव हैं। आहा...हा... ! छियालीस वर्ष की दीक्षा ! बारह वर्ष की उम्र में ली, शान्त मनुष्य, गम्भीर ! हजार-दो हजार लोगों के बीच व्याख्यान दे, अरे...रे... ! यह शब्द कान में नहीं पड़े। आहा...हा... ! पर से पृथक् है, तब वे कहे नहीं, पर की दया पाल सकते हैं, पर की दया पालना वह अहिंसा और वह ज्ञान का सार है। अब उसका क्या करना ? कहो ? यहाँ तो (कहते हैं कि) पर की दया तो पालन नहीं कर सकता क्योंकि पर है, वह प्रदेश से पृथक है। प्रदेश से पृथक् है, इसलिए उसकी दया तो यह पालन नहीं कर सकता परन्तु इसमें जो दया का भाव आता है... आहा...हा... ! उस भाव को और द्रव्य को भी अतद्भाव है, वह एकरूप नहीं। आहा...हा... ! उसका (लक्ष्य) भी छोड़कर गुण और आत्मा की दृष्टि (करे), पहला तो विकार था। राग को जाननेवाला यह ज्ञान है और मैं आत्मा हूँ, इन दो के बीच भी अतद्भाव है। आहा...हा... ! अतद्भाव !

उन्मग्न, निमग्न पहले आ गया, नहीं ? पर्यायदृष्टि से देखें तो गुण और गुणी भिन्न है (ऐसा भेद) उन्मग्न-नजर में पड़ता है। द्रव्यदृष्टि से देखें.... आहा...हा... ! तो वहाँ उड़ जाता है — भेद भी उड़ जाता है। आहा...हा... ! उन्मग्न-निमग्न आ गया था न ? कैसी बात ! वहाँ सिद्धान्त यह है कि पर्यायदृष्टि से देखे तो (भेद) ऊपर दिखता है, तो विकल्प आता है। आहा...हा... ! उसे पर्याय से — अवस्था के भेद से देखे कि यह राग है, यह मेरा है, वहाँ तो विकल्प उठता है। आहा...हा... ! परन्तु पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि से देखे तो निमग्न — डूब जाता है — भेद भी डूब जाता है। आहा...हा... ! अभेदपना प्रसिद्ध में आता है। अभेदपना इसे दृष्टि में आता है, इसका नाम धर्म है। अरे... ! कहाँ पहुँचना ? अमृत बहाया है ! पंचम काल के सन्तों ने तो अमृत बहाया है ! आहा...हा... ! भाव कहने के आशय में (अमृत बहाया है) !

(यहाँ) कहते हैं — अतद्भाव है, फिर भी पृथक् प्रदेश नहीं। आहा...हा... ! परन्तु इस अतद्भाव में पृथक् प्रदेश नहीं, तथापि अतद्भाव को देखने की दो दृष्टि है। पर्यायदृष्टि से देखे तो अतद्भाव — ऐसा पृथक्त्व भासता है और द्रव्यदृष्टि से — द्रव्यार्थिकनय से

देखे तो वह निमग्न (होता है)। आहा...हा...! पहले उन्मग्न था (उसमें) पर्याय आदि निमग्न हो जाती है। द्रव्य में अभेद हो जाती है। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या है।

उनके तद्भाव का अभाव है; इसी प्रकार, किसी के आश्रय रहनेवाली,.... यह फिर सूक्ष्म आया! सत्ता जो है, वह द्रव्य के आश्रित रहती है। द्रव्य है, वह किसी के आश्रित नहीं रहता है। है? **इसी प्रकार, किसी के आश्रय रहनेवाली,....** आहा...हा...! (अर्थात्) द्रव्य के आश्रय रहनेवाली। **निर्गुण...** (अर्थात्) गुण में गुण नहीं है। आहा...हा...! **'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'** तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है। द्रव्य के आश्रय से गुण में परन्तु **निर्गुणा गुणाः** — गुण के आश्रय से गुण नहीं है। बहुत कठिन काम! आहा...हा...! अभी इसके पहलू कठिन! उसका प्रयोग और अनुभव तो अलौकिक बात है। आहा...हा...!

निर्गुण,... क्या कहा? (मूल शास्त्र में नीचे अर्थ दिया है) निर्गुण = गुणरहित [सत्ता निर्गुण है, द्रव्य गुणवाला है। जैसे आम वर्ण, गंध, स्पर्शादि गुणयुक्त है, किन्तु वर्णगुण कहीं गंध, स्पर्श या अन्य किसी गुणवाला नहीं है, क्योंकि न तो वर्ण सूंघा जाता है और न स्पर्श किया जाता है। और जैसे आत्मा ज्ञानगुणवाला, वीर्यगुणवाला इत्यादि है, परन्तु ज्ञानगुण कहीं वीर्यगुणवाला नहीं है। आहा...हा...! ज्ञानगुण वह ज्ञानगुण है। वीर्यगुण नहीं। (अन्य किसी गुणवाला नहीं है; इसी प्रकार द्रव्य अनन्त गुणोंवाला है, परन्तु सत्ता गुणवाली नहीं है।) (यहाँ, जैसे दण्डी दण्डवाला है उसी प्रकार द्रव्य को गुणवाला नहीं समझना चाहिये;....) यह क्या कहा? लकड़ीवाला और लकड़ी ये दो अत्यन्त भिन्न चीज है — ऐसा यहाँ नहीं समझना। वे तो पृथक् प्रदेश हैं। ऐसा यहाँ गुण और गुणी के बीच नहीं समझना परन्तु मात्र गुण, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य वह गुण नहीं, इतना अतद्भाव है। आहा...हा...! (जैसे दण्डी दण्डवाला है, उसी प्रकार द्रव्य को गुणवाला नहीं समझना चाहिये; क्योंकि दण्डी और दण्ड में प्रदेशभेद है, किन्तु द्रव्य और गुण अभिन्नप्रदेशी हैं।) आहा...हा...!

मुमुक्षु : भाव अन्य है परन्तु क्षेत्र अन्य नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षेत्र वही है — एक ही है। गुण और द्रव्य का क्षेत्र एक ही है। पर्याय है, वह फिर बाद की बात। अभी वह बात नहीं है। यहाँ तो गुण और द्रव्य के बीच

की बात है। आहा...हा... ! अनेकान्त मार्ग वस्तु के स्वरूप में है, वह इस प्रकार है, हाँ ! अनेकान्त अर्थात् अनेक अन्त — धर्म उसमें है। वह किस प्रकार अनेकान्त है। उसमें नहीं और दूसरे प्रकार से अनेकान्त सिद्ध करना कि पर का भी कर सकता है, वह तो उसमें है नहीं। उसमें है नहीं वहाँ से उसे अनेकान्त कैसे लागू पड़ेगा ? आहा...हा... !

आत्मा में यह सत्ता नाम का गुण है, वह निर्गुण है (अर्थात्) उसमें गुण नहीं है। स्वयं गुण है परन्तु उसमें दूसरे गुण नहीं हैं। **एक गुण की बनी हुई,....** है, सत्ता एक ही गुण की बनी हुई है। **विशेषण,....** अर्थात् विशेषता, लक्षण, भेदक धर्म। भेद धर्म है — विशेष भेद धर्म है। सत्ता को और आत्मा को विशेष अलग प्रकार है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **विधायक (रचयिता) है...** गुण है, वह तो द्रव्य को रचनेवाला है। द्रव्य है, वह गुण को रचनेवाला नहीं। है ? विधान करनेवाला, रचयिता है। गुण है, वह द्रव्य को बतलाता है; इसलिए उसका रचनेवाला है। द्रव्य उसे रचनेवाला है, गुण रचनेवाला नहीं है। गुण, द्रव्य को रचनेवाला नहीं है। आहा...हा... ! है ? विधान करनेवाला रचयिता। **विधायक....** (रचनेवाला) **और वृत्तिस्वरूप....** वृत्तिस्वरूप अर्थात् वर्तना अस्ति। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य। **ऐसी जो सत्ता है....** इतने बोल विशेषण (के) किये। सत्तागुण निर्गुण है, एक गुण की बनी हुई है, विशेषण है (अर्थात्) वह द्रव्य का विशेषण है और विधायक है — रचयिता है और वृत्तिस्वरूप है। है न ? वृत्तिस्वरूप (अर्थात्) वर्तना।

ऐसी जो सत्ता है, वह किसी के आश्रय बिना रहनेवाला.... अब द्रव्य कैसा है ? **किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला....** पहले गुण की बात की। आहा...हा... ! सत्ता नाम का गुण है, वह निर्गुण है (अर्थात्) गुण में गुण नहीं है। एक गुण की बनी हुई है, विशेषण है, विधायक — रचयिता है। वृत्तिस्वरूप ऐसी सत्ता है। बस, वहाँ यह बात पूरी (हो गयी)। **वह किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला,....** (अर्थात्) द्रव्य। द्रव्य कैसा है ? किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला द्रव्य है। आहा...हा... ! **गुणवाला,...** है। पहले (सत्ता) निर्गुण थी। एक गुण निर्गुण (था) उसमें दूसरा गुण नहीं था। यह द्रव्य तो गुणवाला है। आहा...हा... ! **अनेक गुणों से निर्मित,....** है। यह अनादि से अनेक गुणों से निर्मित — रचित है।

विशेष्य,... है न! विशेष्य = 'विशेषता को धारण करनेवाला पदार्थ;' है। खास विशेष्य है — ऐसा। लक्ष्य; भेद पदार्थ — धर्मी [जैसे, मिठास, सफेदी, सचिक्कणता आदि मिश्री के विशेष गुण हैं, और मिश्री इन विशेष गुणों से विशेषित होती हुई अर्थात् उन विशेषताओं से ज्ञात होती हुई, उन भेदों से भेदित होती हुई एक पदार्थ है; और जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि आत्मा के विशेषण हैं और आत्मा उन विशेषणों से विशेषित होता हुआ (लक्षित, भेदित, पहचाना जाता हुआ) पदार्थ है, उसी प्रकार सत्ता विशेषण है.... आहा...हा...! द्रव्य के लक्षण से सत्ता का लक्षण भिन्न है। और द्रव्य विशेष्य है। द्रव्य विशेष्य है- सामान्य है और गुण है वह विशेष है। आहा...हा...! सूक्ष्म सब, बहुत सूक्ष्म! आहा...हा...! लोग बाहर से दया पाली और यह किया और वह किया... पूजा की और भक्ति की... (ऐसा) मानकर चले जानेवाले हैं। बहुत अधिक बनिये तो मरकर पशु में जानेवाले हैं। क्योंकि मांसादि (खाते) नहीं, पुण्य भी नहीं — दो-चार घण्टे हमेशा सत्समागम ही नहीं होता और सत्समागम किसका करना? तथा किसके समागम में पढ़ना और विचारना? दो-चार (घण्टे पढ़े), तो पुण्य भी बँधे। एकाध घण्टा मिले उसमें ऐसे कुसंगी मिलें कि मिथ्यात्व का पाप बँधता है। अब इसे कहाँ से उद्धार (होवे)? आहा...हा...! है?

किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप ऐसा द्रव्य नहीं है,... लो! है? जो किसी के आश्रय से नहीं रहता — ऐसा द्रव्य नहीं है। ऐसा वृत्तिमानस्वरूप ऐसा द्रव्य नहीं है। **तथा जो किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है, वह किसी के आश्रित रहनेवाली, निर्गुण, एक गुण से निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप ऐसी सत्ता नहीं है,....** कठिन पड़े ऐसा है। जो एक सत्ता है, वह एक गुणवाली है और वह द्रव्य के आश्रय से है और द्रव्य है, वह अनन्त गुणवाला है, वह किसी के आश्रय से नहीं है; इसलिए दो के बीच अतद्भाव है अर्थात् 'यह' भाव 'वह' नहीं है। इतना अतद्भाव का अन्यत्व अन्दर है।

तथा जो किसी के आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है, वह किसी के आश्रित रहनेवाली,.... सत्ता **निर्गुण, एक गुण से निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप ऐसी सत्ता नहीं है,....** यह द्रव्य है, वह सत्ता नहीं और सत्ता है, वह द्रव्य नहीं। आहा...हा...!

प्रश्न : दोनों अनादि अनन्त हैं तो कौन किसका रचयिता ?

समाधान : रचयिता कौन ? रचित है — ऐसा कहा जाता है। यह लोग छह द्रव्य से रचित है — ऐसा कहा जाता है। कथन ऐसा आता है। रचित अर्थात् बना हुआ है — ऐसा। बना हुआ अर्थात् ऐसा है। यह लोक भी छह द्रव्य से रचित है — ऐसा बोला जाता है। पंचास्तिकाय ! है, ऐसा। इस प्रकार है। आहा...हा...! यह तो उसमें आया नहीं ? छहढाला में ! किसी ने लोक को बनाया नहीं, किसी ने धारण नहीं कर रखा। आता है न ? वस्तु है वह है। आहा...हा...!

यहाँ तो वस्तु का गुण और वस्तु यह भी वस्तुत: एकरूप नहीं है। दो के लक्षण (अलग हैं) और भिन्नपना है। इतना दो के बीच अन्यत्व है परन्तु पर के प्रदेश भिन्न हैं। उनका अन्यपना और यह अन्यपना दूसरे प्रकार का है। आहा...हा...! **इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है...।**

ऐसा होने से ही, यद्यपि सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (-अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है.... सत्ता को और द्रव्य को एक पदार्थपना है। **तथापि, उनके सर्वथा एकत्व होगा — ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए;....** सर्वथा एकत्व है — सत्ता और द्रव्य सर्वथा एकत्व है — **ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए;....** आहा...हा...! **क्योंकि तद्भाव एकत्व का लक्षण है।** तद्भाव = उसका होना। वह एकत्व का लक्षण है। आहा...हा...! देखा ! तद्भाव, वह एकत्व का लक्षण है। **जो उसरूप ज्ञात नहीं होता, वह सर्वथा एक कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता...** सर्वथा एक नहीं है। **परन्तु गुण-गुणीरूप से अनेक ही है — ऐसा अर्थ है।** गुण और गुणी के भेद से अतद्भाव अन्यत्व है — ऐसा समझना चाहिए। अत्यन्त अन्यत्व नहीं,

प्रदेश एक है; इसलिए एकदम भिन्न नहीं है — ऐसा नहीं। पर्यायदृष्टि से देखने पर भिन्नरूप है, द्रव्यदृष्टि से देखने पर अभिन्न है। है ? आहा...हा...! सब विषय सूक्ष्म! अभ्यास नहीं होता।

मुमुक्षु : आप सबसे हाँ करवाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात कही जाती है, वह बात बैठती है या नहीं ? आहा...हा...! जो वस्तु है, वह तो अनन्त गुण स्वरूप है और एक गुण है, वह तो निर्गुणस्वरूप है। निर्गुण अर्थात् गुण में गुण नहीं है, और द्रव्य तो अनन्त गुणवाला है। निर्गुण और गुणवाले को अतद्भाव है, भेदभाव है, फिर भी ऐसा भेदभाव नहीं है कि उसके प्रदेश अलग और आत्मा के प्रदेश अलग — ऐसा नहीं है।

(विशेष कहेंगे!)

प्रवचन नं. ११७ दिनाङ्क २७ जुलाई १९७९

(प्रवचनसार) १०६ गाथा। भावार्थ से लो। है न ? **भावार्थ - भिन्नप्रदेशत्व, वह पृथक्त्व का लक्षण है,....** क्या कहा ? कि आत्मा के प्रदेश और दूसरे शरीर के और कर्म के प्रदेश भिन्न हैं। इससे पृथक् है, इसलिए भिन्न हैं। **भिन्नप्रदेशत्व, वह पृथक्त्व का लक्षण है,....** भले ही यह अपनी ज्ञान की पर्याय में अनन्त को जाने, तथापि उस अनन्त को जानता है, वह अपने प्रदेश में रहकर जानता है; दूसरे के प्रदेश को स्पर्श किये बिना जानता है। आ...हा...हा...! जिनके पृथक् प्रदेश हैं, उन्हें जानता अवश्य है; जानने पर भी पृथक् प्रदेशरूप अन्य को अन्यरूप रखकर जानता है। आहा...हा...! जाना, इसलिए आत्मा में बात आ गयी (— ऐसा नहीं)। आत्मा जाननेवाला है, इसलिए परपदार्थ के प्रदेश के — क्षेत्र में गया — ऐसा नहीं। जरा न्याय का विषय तो है। भाई! आहा...हा...!

मुमुक्षु : वेदान्त में तो ऐसा है कि दूसरे में गये बिना ज्ञात कैसे हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ वही बात है न ? जाए कहाँ ? इसीलिए तो कहा — भिन्न प्रदेश हैं — आत्मा के प्रदेश और लोकालोक के प्रदेश भिन्न हैं। वह लोकालोक को जाने — इस कारण इसके जानने में वह चीज आ नहीं गयी तथा उस चीज में जानना वहाँ गया

नहीं। आहा...हा...! ऐसा भिन्न (पना), वह पृथक्त्व का लक्षण है **और अतद्भाव, वह अन्यत्व का लक्षण है।** अर्थात् गुण और गुणी, आत्मा और ज्ञान — यह अतद्भाव है (अर्थात्) ज्ञानभाव, वह आत्मा नहीं और आत्मा, वह ज्ञानमय नहीं, इतना अतद्भाव है। वह **अतद्भाव, वह अन्यत्व का लक्षण है।** अन्यपना जो (पहले में) भी कहा (था) परन्तु पृथक्प्रदेश है, वह अत्यन्त अन्यत्व है और आत्मा में उसके ज्ञानगुण (आदि हैं) उन्हें अतद्भावरूप (अन्यत्व है)। जो द्रव्य है, वह गुण नहीं (और) गुण है, वह द्रव्य नहीं; इसलिए वह अतद्भावरूप अन्य है। आत्मा और उसके गुण अतद्भाव की अपेक्षा अन्य है और दूसरे के प्रदेश व दूसरे की चीज आत्मा की अपेक्षा से अत्यन्त पृथक् भिन्न है। बनियों को ऐसा कहीं सुनने को नहीं मिलता। आहा...हा...!

भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... पदार्थ, अनन्त क्षेत्र और अनन्त काल को जानता है; इसलिए वह अन्य पदार्थ के प्रदेश यहाँ आ गये — ऐसा नहीं है तथा यह ज्ञान अनन्त को जानने पर भी अपने प्रदेश से पृथक् होकर अन्य को जानने जाता है — ऐसा नहीं है।

भिन्नप्रदेशत्व, वह पृथक्पने का लक्षण है और अतद्भाव, वह अन्यत्व का लक्षण है द्रव्य में और गुण में पृथक्त्व नहीं है.... आत्मा और (उसके) गुण; परमाणु और उसके वर्ण, रस, गन्ध, गुण को पृथक्त्व नहीं है। पृथक्त्व तो भिन्न द्रव्य के साथ होता है। अन्यत्व तो स्वयं में भी होता है और पृथक्त्व पर में होता है। यह क्या कहा? यह आत्मा वस्तु है, उसे, अनन्त परपदार्थ हैं, वे सब पृथक् प्रदेश हैं; इसके प्रदेश और उनके प्रदेश एक नहीं हैं और आत्मा के गुण और आत्मा के प्रदेश एक हैं। एक होने पर भी अतद्भाव है। गुण, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह गुण नहीं। इस प्रकार दो के बीच अतद्भावपने का अन्यत्व सिद्ध होता है - ऐसा है। आहा...हा...! कितना बँटवारा किया!

अन्य पदार्थ भगवान तीर्थंकरदेव हों और उनकी वाणी हों, वह इस आत्मा के प्रदेश से उनके भिन्न प्रदेश हैं। भगवान के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए पृथक् प्रदेशरूप अन्य है। आहा...हा...! यह मन्दिर, मूर्ति और यह सब आत्मा से पृथक् प्रदेशरूप भिन्न है। आहा...हा...! ऐसी वीतराग की बात है। आत्मा (और) यह पृथक् प्रदेश है (जिनके) — ऐसे अनन्त

द्रव्य, उन्हें जानने का काम करे तो भी वे अपने प्रदेश में रहकर जानते हैं। वे पर के प्रदेश में नहीं जाते तथा परपदार्थ यहाँ नहीं आते, इतना पर से पृथक्त्व है। वह पर का मुख्य लक्षण है और आत्मा के अन्दर (अथवा) प्रत्येक द्रव्य में उसका गुण और गुणी — द्रव्य, यह द्रव्य है, यह गुण है, इस प्रकार उन्हें अतद्भाव है — उसरूप नहीं (अर्थात्) गुण है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह गुण नहीं — ऐसा अतद्भाव है। (इस) अतद्भाव की अपेक्षा से अन्यपना है। पृथक् प्रदेश नहीं। पृथक प्रदेश का अन्यत्व और अतद्भाव का अन्यत्व दोनों अलग बात हैं। आहा...हा...! ऐसी बात सुनने को फुरसत भी नहीं मिलती। पृथक् प्रदेश और अतद्भाव और....

अतद्भाव अर्थात् वह भाव नहीं। द्रव्य है, वह ज्ञान नहीं और ज्ञान है, वह द्रव्य नहीं, यह अतद्भाव है। अतद्भाव की अपेक्षा से द्रव्य और गुण का अन्यत्व है। पृथक्प्रदेश की अपेक्षा से पर का अन्यत्व है — पर के साथ अन्यत्व है। अतद्भाव (अर्थात्) यह नहीं — द्रव्य, वह गुण नहीं और गुण वह द्रव्य नहीं — ऐसे अतद्भाव की अपेक्षा से द्रव्य को गुण को अन्यत्व है। समझ में आया?

मुमुक्षु : इसका प्रयोजन समझ में नहीं आता।

समाधान : अन्दर यह प्रयोजन है, सबेरे कहा था न? कि परपदार्थ पृथक्प्रदेश है, उनसे तो लक्ष्य छोड़ दे; तुझमें भी गुण और आत्मा दो के बीच अतद्भाव अन्यत्व है परन्तु (उस) गुण और गुणी के भेद का लक्ष्य छोड़ दे। आहा...हा...! और आत्मा एक ज्ञायकभावस्वरूप है, उस पर दृष्टि दे तो तुझे सत्य हाथ आयेगा। कहो, समझ में आया? आहा...हा...! किसे पड़ी है? आहा...हा...! अभी तो सच्चा ज्ञान (होना मुश्किल पड़ता है)। सम्यक् (तो बाद में होगा) परन्तु सच्चा — जैसा है, वैसा ज्ञान होना, यह भी कठिन! ज्ञान हुआ, इसलिए उसे सम्यक्त्व होगा — ऐसा कुछ नहीं। आहा...हा...!

प्रश्न : इसका ज्ञान हुए बिना होगा या नहीं?

समाधान : ऊपरी थोड़ा होगा ही, जैसे तिर्यंच को होता है परन्तु उसे गुण और गुणी और अतद्भाव और ऐसा सब नहीं, फिर भी दृष्टि द्रव्य पर है, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : ऊपरी-ऊपरी होगे.... होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपरी नहीं, ज्ञान — भान है। अन्दर भान है, इसलिए पृथक् करके यह तद्भाव और यह अतद्भाव — ऐसा ख्याल नहीं है परन्तु वस्तु अत्यन्त गुण से अभेद है, अनन्त... अनन्त... गुण से वस्तु प्रभु अभेद एक है — ऐसी दृष्टि होने पर तिर्यंच को भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। आहा...हा... ! ऐसा है।

(यहाँ कहते हैं कि) **द्रव्य में और गुण में पृथक्त्व नहीं है....** (अर्थात्) प्रदेश से - क्षेत्र से पृथक्त्व नहीं। है ? **फिर भी अन्यत्व है।** दो लाईन में सब समाहित कर दिया है। **फिर भी अन्यत्व है।** आहा...हा... ! शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश, गाँव तो कहीं रह गये। कहते हैं वह तो अन्य हैं। इनके प्रदेश अन्य हैं, इसलिए वे अत्यन्त अन्य हैं, उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, आहा...हा... ! मात्र तुझमें गुणी और गुण का भेद, अर्थात् (आत्मा में) अनन्त गुण भरे हैं और आत्मा अनन्त गुण का धारक द्रव्य है, इतना अतद्भाव (अर्थात्) गुण, वह द्रव्य नहीं। द्रव्य, वह गुण नहीं — इतना अतद्भावरूप अन्यत्व है। वह भी छोड़कर... आहा...हा... ! ऐसी बात है। लोगों को फिर बेचारों को पता नहीं पड़ता (क्योंकि) सूक्ष्म बात है। बाहर में चढ़ा दिया — एक घण्टे पूजा कर लो, दर्शन कर लो, हो गया... जाओ... ! अरे... प्रभु ! ऐसा अवसर कब मिलेगा ? संसार का अभाव किये बिना इसके चौरासी के अवतार मिटे — ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

प्रश्न : जो अपृथक् होते हैं, उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है ? क्या प्रश्न है कि जिनमें अपृथक्त्व हो (अर्थात्) आत्मा और आत्मा के गुण में अपृथक्त्व है, पृथक् नहीं। आत्मा और ज्ञानगुण, आत्मा और सत्तागुण, आत्मा और आनन्दगुण के अपृथक्त्व है, पृथक्त्व नहीं, अलगपने नहीं। अपृथक् हों उनमें अन्यपना कैसे सम्भव है ? जिनके प्रदेश अभिन्न हैं — अपृथक् हैं, उनमें भिन्नपना कैसे सम्भव है ? यह तो तुमने आत्मा के अन्दर भिन्नपना सिद्ध किया, दूसरे से भिन्नपना सिद्ध किया, यह तो भले (सिद्ध किया)। देव, शास्त्र और गुरु भी पृथक्रूप से अन्य है, आहा...हा... ! यह तो भले (सिद्ध किया) परन्तु आत्मा में गुण और गुणी में पृथक्त्व नहीं, फिर भी तुम उन्हें अन्यपना सिद्ध करते हो, यह क्या है ? — ऐसा प्रश्न है। **जो अपृथक् होते हैं...** आत्मा और गुण के प्रदेश पृथक् नहीं।

ज्ञान, दर्शन, आनन्द के प्रदेश और द्रव्य के प्रदेश — क्षेत्र, अंश पृथक् नहीं है तो **अपृथक् होते हैं, उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है ?** जो पृथक् ही नहीं, अत्यन्त प्रदेश भिन्न नहीं... आहा...हा... ! उनमें इसे अन्यपना कैसे सम्भव है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

उत्तर – उनमें वस्त्र और शुभ्रता (सफेदी) की भाँति अन्यत्व हो सकता है। वस्त्र और सफेदी दो के बीच अन्यपना है। सफेदी उसका गुण है और वस्त्र वह गुणी है। उस गुणी और गुण के बीच अन्तर है। (ऐसा) अन्यपना हो सकता है। आहा...हा... ! **वस्त्र के और उसकी शुभ्रता के प्रदेश भिन्न नहीं हैं,...** वस्त्र के और वस्त्र के सफेद गुण के प्रदेश भिन्न नहीं हैं। आहा...हा... ! **इसलिए उनमें पृथक्त्व नहीं है। ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र....** आँख का ही विषय है। **और वस्त्र पाँचों...** इन्द्रियों का विषय है; इसलिए भाव में भेद है। आहा...हा... ! सफेदपना आँख का विषय है और पूरा वस्त्र है, वह पाँचों इन्द्रिय का विषय है, इस अपेक्षा से उन दोनों के बीच अतद्‌भाव है। भले प्रदेश भिन्न नहीं परन्तु अतद्‌भाव है। जो गुण है, वह गुणी नहीं और गुणी है, वह गुण नहीं। आहा...हा... ! ऐसी सूक्ष्म बात ! हेतु तो अन्दर द्रव्य का अभेदपना सिद्ध करना यह है। पर से तो भिन्न पड़ा ही है, उसका कुछ त्याग-ग्रहण करने का नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! अनन्त पर हैं, उन पर के प्रदेश भिन्न हैं, उसमें उसका त्याग-ग्रहण करने का नहीं है; मात्र तुझमें जो कुछ... आहा...हा... ! रागादि होते हैं, (उनके) प्रदेश एक हैं, इसलिए उन्हें इसके कहे जाते हैं परन्तु राग का भाव और आत्मा का भाव दो भाव भिन्न हैं, अतद्‌भाव है; इसलिए इसे राग की दृष्टि छोड़कर ज्ञायक की दृष्टि करना, इस अपेक्षा से गुणी और गुण में अन्यत्व है। आहा...हा... ! अब यहाँ तो कहते हैं कि पर की दया पालो तो धर्म (होता है)। यहाँ तो कहते हैं कि पर के तो प्रदेश भेद हैं, उसका यह क्या करेगा ? आहा...हा... ! पर की दया (पालने को कहते हैं परन्तु उस पर के) तो प्रदेशभेद है। तेरे प्रदेश से उसके प्रदेश अलग हैं — क्षेत्र भिन्न है, उसका क्या करे ? आहा...हा... ! शरीर के प्रदेश और आत्मा के प्रदेश दोनों भिन्न हैं तो आत्मा के प्रदेश शरीर के प्रदेश का क्या करे ? आहा...हा... ! वाणी के प्रदेश और आत्मा के प्रदेश भिन्न है, इसलिए वाणी का आत्मा क्या करेगा ? कर्म के (प्रदेश) और आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए कर्म का आत्मा क्या

करे ? उसी प्रकार कर्म, आत्मा का क्या करे ? क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आहा...हा... ! बहुत सरस ! अनादि की सूक्ष्म शल्य रह जाती है। वस्तु जिस प्रकार है, उस प्रकार उसे नहीं समझकर, अपनी कल्पना से बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध से कुछ लाभ होता है — ऐसा अन्दर मानकर बैठा है, क्योंकि स्वयं कौन है ? उसे नहीं जानता। आहा...हा... !

यहाँ तो गुण और गुणी जाने तो भी कहते हैं कि दो के बीच अतद्भाव है। पर के साथ तो सम्बन्ध नहीं, आहा...हा... ! इसलिए पर की दया पालना या मन्दिर बनाना, या मन्दिर के दर्शन किये, इसलिए धर्म पर्याय होती है — ऐसा है ही नहीं। आहा...हा... ! तब यह सब लाखों (रुपये) खर्च किये, यह २६ लाख का मकान (—परमागम मन्दिर) बनाया, लो ! (सब) व्यर्थ गया ? उससे कुछ धर्म नहीं ? जिसके प्रदेश भिन्न, उसका अस्तित्व अत्यन्त भिन्न, उसे तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। आहा...हा... ! अतद्भाव की अपेक्षा से वह अन्यत्व है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भाषा तो सादी है (परन्तु) लोगों को दरकार (गरज) चाहिए न ! अरे...रे ! आ...हा... !

ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र आँखों से ही दिखाई देती है, जीभ, नाक आदि शेष चार इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती। (अर्थात्) वस्त्र और सफेदी में अन्तर डाला। सफेदी एक ही इन्द्रिय से ज्ञात होती है और दूसरी इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होती। इसलिए सफेदी और वस्त्र के बीच भिन्नता हुई — अतद्भाव हुआ। पृथक्त्व भले नहीं आहा...हा... ! कहाँ ले गये ! गुण-गुणी का भेद अतद्भाव है ! आहा...हा... ! अन्यत्व है, दो के बीच अन्यत्व है। पृथक्प्रदेशत्व की अपेक्षा अन्यत्व नहीं परन्तु भाव की अपेक्षा से वहाँ अन्यत्व है। आहा...हा... ! जो गुण — भाव है, वह गुणी का भाव नहीं और जो गुणी का भाव है, वह गुण का (भाव) नहीं। आहा...हा... ! वहाँ तक जा ! उस अतद्भाव को छोड़ दे। पृथक् प्रदेशवाले द्रव्य हैं, उन्हें तू छोड़ दे। पंच परमेष्ठी को भी छोड़ दे, आहा...हा... ! परन्तु तेरे प्रदेश में, तेरे ही प्रदेश में जो ज्ञान आनन्द गुण है, उनमें भी वस्त्र के दृष्टान्त से भाव भेद है। वस्त्र है, उसका सफेदपना आँख का विषय है और वह दूसरी गन्ध का विषय नहीं और पूरा जो श्वेतवस्त्र है, वह पाँचों इन्द्रिय का विषय है; इसलिए दोनों में अन्तर है। दो में एकपना माने तो विपरीत है। आहा...हा... !

वस्त्र पाँचों इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इसलिए (कथंचित्) वस्त्र वह शुभ्रता नहीं है .... कथंचित अर्थात् भाव की अपेक्षा से। वस्त्र से पृथक् श्वेतपना नहीं है **और शुभ्रता वह वस्त्र नहीं है।** श्वेतपना वह वस्त्र नहीं है और वस्त्र वह श्वेतपना नहीं है। आहा...हा...! क्योंकि श्वेतपना वह एक विषय — आँख से ही ज्ञात होता है और पूरा वस्त्र है, वह तो सबसे ज्ञात होता है — स्पर्श से, गन्ध से (सबसे ज्ञात होता है)। इसलिए दो के बीच — सफेदी और वस्त्र के बीच अतद्भाव है। अतद्भाव की अपेक्षा से वह अन्य है। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री-पुत्र तो कहीं अन्य रह गये; मकान, कीर्ति, पैसा और यह वकालात (करना) यह अन्य में चला गया, कहते हैं। अन्य में और पृथक् प्रदेश में (गया)। उसे और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! मेरा पुत्र अच्छा हुआ और मेरी पुत्री ठिकाने पड़ी। लड़के होशियार हुए... क्या है यह ?

प्रश्न : लड़के ठोठ हुए ऐसा कहना ?

समाधान : लड़के ही कब थे ? लड़के का आत्मा अलग, उसका शरीर अलग, तुम्हारे शरीर से उसका शरीर अलग, तुम्हारी आत्मा से उसकी आत्मा अलग — ऐसा है।

मुमुक्षु : लड़के आवें, तब लड़कों को समझाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सबको समझने का है। आहा...हा...!

प्रभु तो ऐसा कहना चाहते हैं कि तेरे तत्त्व को और दूसरे अन्य तत्त्व को कुछ सम्बन्ध नहीं है। जिनके प्रदेश भिन्न — क्षेत्र भिन्न, जिनके भाव भिन्न, जिनका द्रव्य भिन्न (उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं)। आहा...हा...! किसकी आशा से तू धर्म करेगा ? पर की आशा से ? पर तो भिन्न है। देव-गुरु-शास्त्र से मुझे लाभ होता है, यह बात इसमें नहीं रहती। आहा...हा...! परमेश्वर के प्रदेश, पंच परमेष्ठी के प्रदेश अलग हैं, तेरे प्रदेश अलग हैं; दोनों का क्षेत्र अलग है। अब भाव की बात रही तो भाव के प्रदेश तो एक हैं, तेरे भाव के और आत्मा के (प्रदेश एक हैं)। उनके भाव के और आत्मा के प्रदेश एक हैं परन्तु भाव और भाववान के बीच पृथक्त्व नहीं, किन्तु अतद्भावपना है। अतद्भावपने द्वारा अन्य है। आहा...हा...! ऐसी बातें! दुकान पर जाये तो ए...ई...! तुम्हारे धमाधम! यह मैंने किया और उसका यह किया और उसका यह किया। तुम्हें आता नहीं, यह पड़ गया और यह टुकड़े

हो गये, अमुक हुआ.... परन्तु पर के प्रदेश अलग हैं, उन्हें द्रव्य छूता भी नहीं तो उन्हें तोड़े और रखे — यह बने कैसे? आहा...हा...! एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत आत्मा में नहीं है क्योंकि तिनके के प्रदेश अलग हैं और प्रभु के प्रदेश अलग हैं। आहा...हा...!

एक आत्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत से, सिद्ध भगवान से भी पृथक्! आहा...हा...! पंच परमेष्ठी से पृथक्, तू स्वयं ही अन्दर पंच परमेष्ठी स्वरूप है। आहा...हा...! और वह भाव तथा भाववान — अनन्त ज्ञान, सर्वज्ञपना, और आत्मा — दो के बीच भी अतद्भाव है। आहा...हा...! क्या कहा यह! आत्मा में सर्वज्ञपना हुआ, उस सर्वज्ञपने और आत्मा के प्रदेश एक हैं, तथापि सर्वज्ञपना, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य, वह सर्वज्ञपना नहीं। दो के बीच भाव में अतद्भाव है। 'यह भाव वह' है — ऐसा नहीं। 'यह भाव वह' नहीं — ऐसा है। ऐसा सुनने की लोगों को कठिनता पड़ी है। बाहर से लेकर — यह भक्ति-पूजा और प्रातः वस्त्र बदलना और भगवान को पानी डाले और स्वाहा करे, वह तो शुभभाव है। उस शुभभाव के और आत्मा के प्रदेश एक हैं परन्तु भाव भिन्न हैं। यह विकारी भाव है और आत्मा अविकारी त्रिकाल भिन्न है और अविकारी परिणाम — दशा है, उसके भी आत्मा के साथ प्रदेश भिन्न नहीं, फिर भी उनमें अतद्भावरूप से है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावरूप भाव अन्य है, इससे अतद्भाव (अर्थात्) 'वह' भाव नहीं, इस अपेक्षा से उसे अन्य कहा गया है। आहा...हा...! देखो, यह ज्ञेयस्वरूप है! इस ज्ञेयस्वरूप की इस प्रकार यथार्थ प्रतीति करना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सारा सम्यग्दर्शन का विषय है। आहा...हा...! अब मूल की बात तो पता नहीं चले और ऊपर के पत्ते तोड़े तो पत्ते वापस पन्द्रह दिन में उग जाएँगे। आहा...हा...!

(कथंचित्) वस्त्र वह शुभ्रता नहीं है और शुभ्रता वह वस्त्र नहीं है। यदि ऐसा न हो तो वस्त्र की भाँति शुभ्रता भी जीभ, नाक इत्यादि सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए वस्त्र और शुभ्रता में अपृथक्त्व होने पर भी.... पृथक नहीं होने पर भी। **अन्यत्व है...** वस्त्र को और सफेदी को अपृथक्पना होने पर भी प्रदेश भिन्न नहीं, इसलिए अपृथक है, तथापि अन्यपना है। आहा...हा...! अभी

तो सत्य बात की मस्करी करके मूर्ख उड़ा देते हैं कि लो! यह निश्चयाभास! नहीं कुछ व्यवहार करना (और) नहीं निश्चय। आगरा में एक बार बोले थे। आगरा में एक पण्डित (नहीं था) ? व्याख्यान सुनने के बाद पण्डित बोला था कि अद्भुत बात, करना-धरना कुछ नहीं (और) आनन्द! अरे... ! आगरा का कोई था। वह बोला था। व्याख्यान हुआ, सुना (फिर कहने लगा) अद्भुत बात, करना-धरना कुछ नहीं (और) आनन्द करना। अरे! प्रभु! तू क्या करता है। आहा...हा... !

भगवन्त! तेरे सिवाय जिसके प्रदेश ही भिन्न हैं, उनमें तेरा अधिकार कुछ नहीं, तुझमें गुण-गुणी का अधिकार है... आहा...हा... ! तथापि वह गुणी और गुण दो एक भाव है — ऐसा नहीं है। दोनों के भाव भिन्न हैं। आहा...हा... ! अरे! बाह्य वस्तु तो कहीं (रह) गयी। यह बात सिद्ध करते हैं। यह वार्ता नहीं, आहा...हा... ! यह तो सिद्धान्त — मन्त्र हैं! भगवन्त! तू आत्मा और ज्ञान दो नाम पड़े यह संज्ञा, लक्षण से भिन्न हुआ। गुण अनन्त है, द्रव्य एक है। द्रव्य का नाम द्रव्य और गुण का नाम गुण है। यह नाम भेद हो गया। आहा...हा... ! संज्ञा, संख्या, लक्षण से भेद है। द्रव्य का लक्षण गुणों का आश्रय है, गुण का लक्षण स्वयं स्व-पने है अर्थात् ज्ञान जाननेपने, दर्शन-श्रद्धापने है इत्यादि। आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **इसलिए वस्त्र और शुभ्रता में अपृथक्त्व....** अर्थात् प्रदेश अपेक्षा से पृथक्पना नहीं.... **होने पर भी अन्यत्व है यह सिद्ध होता है।** यह तो दृष्टान्त दिया था, कहते हैं। आहा...हा... ! काम बहुत कठिन! पानी आवे और अनाज पके — ऐसा नहीं होता (यह) कहते हैं। परवस्तु से परवस्तु में कुछ नहीं होता, यह तो तेरी चीज में भी हम भेद बतलाते हैं क्योंकि द्रव्य और गुण ऐसे नाम पड़े, द्रव्य वह अनन्त गुण का रूप है, गुण अनन्त हैं, दोनों के बीच अतद्भाव है। अतद् अर्थात् उसरूप भाव नहीं, ऐसा। गुण है वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है वह गुण नहीं — ऐसा उसरूप भाव नहीं, इसलिए अतद्भाव। 'वह' भाव नहीं, इसलिए अतद्भाव, फिर भी उस अतद्भाव के कारण गुणी और गुण को अन्यत्व कहा जाता है। (दोनों के बीच) पृथक्पना नहीं है, अतद्भावपना है; इसलिए उन्हें अन्यत्व कहा जाता है। ऐसी बात (समझने के लिए) फुरसत नहीं मिलती, (इसलिए) लोगों को कठिन लगता है! मूल वस्तु है, यह तो मूल चीज!

आहा...हा... ! सम्पूर्ण गुणगुणी भेद को उठा दिया, परचीज को उत्थापी... आहा...हा... ! पर को और तुझे तो कोई सम्बन्ध नहीं आहा...हा... ! अंगुली हिलाना या दाल-भात खाना, कप निकालना, यह कुछ तेरे सम्बन्धी नहीं। आहा...हा... ! जिनके प्रदेश भिन्न उसमें तू कर क्या सकता है ? उसे स्पर्श नहीं करता और कर क्या सकता है ? आहा...हा... !

पानी गर्म होता है तो पानी के प्रदेश अलग हैं और अग्नि के प्रदेश अलग हैं तो ये पृथक् प्रदेश हैं। पृथक् प्रदेश हैं, इसलिए वे अन्य हैं और अन्य से अन्य का हो — ऐसा कैसे हो सकता है ? आहा...हा... ! वह स्वयं अपने से गर्म हुआ है, फिर भी वह गर्म और ठण्डे का भाव तथा द्रव्य दो के बीच भी अतद्भावरूप अन्यत्व है। आहा...हा... ! ऐसा उपदेश! मूल मुद्दे की बात है, मूल रकम की बात है। यह दर्शन की बात है न ? यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है न ? उसे इस प्रकार का ख्याल आकर प्रतीति करना चाहिए — ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार द्रव्य में और सत्तादि गुणों में अपृथक्त्व होने पर भी... वस्तु को (और) सत्ता आदि सभी (गुणों) — ज्ञान-दर्शन आदि अपृथक्त्व अर्थात् पृथक् (नहीं) होने पर भी **अन्यत्व है;....** अपृथक्त्व होने पर भी — भिन्न नहीं होने पर भी अन्यत्व है। आहा...हा... ! **क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होने पर भी द्रव्य में और गुण में संज्ञा....** (अर्थात्) नामभेद आया न ? द्रव्य का नाम द्रव्य; गुण का नाम गुण। **संख्या...** (अर्थात्) द्रव्य एक गुण अनन्त। **लक्षण...** (अर्थात्) द्रव्य के आश्रय से गुण, गुण का आधार, वह द्रव्य और निर्गुणागुणा — गुण के आश्रय से गुण नहीं। द्रव्य के आश्रय से गुण अवश्य; गुण के आश्रय से गुण (नहीं, इतना) भेद पड़ गया। आहा...हा... !

संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होने से (कथंचित्) द्रव्य गुणरूप नहीं है। आहा...हा... ! अतद्भाव की अपेक्षा से कथंचित् (कहा है)। प्रदेशपने से तो एक है। गुण और आत्मा के प्रदेश तो एक ही है परन्तु कथंचित् अर्थात् गुण और गुणी भाव से एक नहीं है। इस अपेक्षा से कथंचित भिन्न है। द्रव्य, गुणरूप नहीं है, और गुण, द्रव्यरूप नहीं है। आहा...हा... ! यह १०६ (गाथा पूरी हुई)। अब १०७! ●●

गाथा - १०७

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति -

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो।।१०७।।

सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव च पर्याय इति विस्तारः।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः।।१०७।।

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्त्रग्दाम हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यत्ते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्त्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकम्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्त्रग्दाम्नि यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः, तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः।।१०७।।

अथातद्भावं विशेषेण विस्तार्थ कथयति - **सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो** सद्द्रव्यं संश्च गुणः संश्चैव पर्याय इति सत्तागुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तारः। तथा हि - यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुणः सं प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। शुक्लो हार इति शुक्लं सूत्रमिति शुक्लं मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा तैस्त्रिभिः प्रदेशाभेदेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्। तद्भावस्येति कोऽर्थः। हारसूत्रमुक्ताफलानां शुक्लगुणेन सह तन्मयत्वं प्रदेशाभिन्नत्वमिति। तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुणः स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते। सत्तालक्षणः परमात्मपदार्थ इति सत्तालक्षणः केवलज्ञानादिगुण इति सत्तालक्षणः सिद्धपर्याय इति भण्यते। यश्च परमात्मपदार्थः केवलज्ञानादिगुणः सिद्धत्वपर्याय इति तैश्च त्रिभिः (प्रदेशाभेदेन ?) शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम्।

तद्भावस्येति कोऽर्थः। परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणां शुद्धसत्तागुणेन सह संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमिति। **जो खलु तस्स अभावो** यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुटं संज्ञादिभेदविवक्षायामभावः **सो तदभावो** स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते। स च तदभावः किं भण्यते। **अतब्भावो** न तद्भा-वस्तन्मयत्वम् किंच अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः इत्यर्थः। तद्यथा - यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्रं वा मुक्ताफलं वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति। एवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते। स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते। अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति। तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा, मुक्तजीवकेवलज्ञानादिगुणसिद्ध-पर्यायशब्दैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति। इत्येवं परस्परं प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेदः स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते। स च तदभावः पुनरपि किं भण्यते। अतद्भावः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थः। यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेदः स्थापितस्तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्रायः।१०७।

अब, अतद्भाव को उदाहरण द्वारा स्पष्टरूप से बतलाते हैं —

सत् द्रव्य, सत् पर्याय, सत् गुण, सत्त्व का विस्तार है।
अन्योन्य में जु अभाव, वो तद्रूप अतद् भाव है॥

अन्वयार्थ - [**सत् द्रव्यं**] 'सत् द्रव्य' [**सत् च गुणः**] 'सत् गुण' [**च**] और [**सत् च एव पर्यायः**] 'सत् पर्याय' — [**इति**] इस प्रकार [**विस्तारः**] (सत्तागुण का) विस्तार है। [**यः खलु**] (उनमें परस्पर) जो [**तस्य अभावः**] 'उसका अभाव' अर्थात् 'उसरूप होने का अभाव' है [**सः**] वह [**तदभावः**] 'तद्-अभाव' [**अतद्भावः**] अर्थात् अतद्भाव है।

टीका - जैसे एक मोतियों[१] की माला 'हार' के रूप में, 'सूत्र' (धागा) के रूप में और 'मोती' के रूप में — (त्रिधा) तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक 'द्रव्य', द्रव्य के रूप में, 'गुण' के रूप में और 'पर्याय' के रूप में — तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

---

१. मोतियों की माला = मोती का हार, मौक्तिकमाला।

और जैसे एक मोतियों की माला का शुक्लत्व गुण, 'शुक्ल हार', 'शुक्ल धागा', और 'शुक्ल मोती', — ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्य का सत्तागुण 'सत् द्रव्य', 'सत् गुण', और 'सत्पर्याय' — ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

और जिस प्रकार एक मोतियों की माला में जो शुक्लत्वगुण है, वह हार नहीं है, धागा नहीं है या मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है, वह शुक्लत्व गुण नहीं है — इस प्रकार एक-दूसरे में जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है, वह 'तद् -अभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है, जो अन्यत्व का कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्तागुण है, वह द्रव्य नहीं है, अन्यगुण[१] नहीं है, या पर्याय नहीं है; और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है, वह सत्तागुण नहीं है — इस प्रकार एक-दूसरे में जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है, वह 'तद्-अभाव'[२] लक्षण 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्व का कारण है।

भावार्थ - एक आत्मा का विस्तारकथन में 'आत्मद्रव्य' के रूप में 'ज्ञानादिगुण' के रूप में और 'सिद्धत्वादि पर्याय' के रूप में — तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

और एक आत्मा के अस्तित्वगुण को 'सत् आत्मद्रव्य', 'सत् ज्ञानादिगुण' और 'सत् सिद्धत्वादि पर्याय' — ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है; इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

और एक आत्मा का जो अस्तित्वगुण है, वह आत्मद्रव्य नहीं है, (सत्तागुण के बिना) ज्ञानादिगुण नहीं है, या सिद्धत्वादि पर्याय नहीं है; और जो आत्मद्रव्य है, (अस्तित्व के सिवाय) ज्ञानादिगुण है या सिद्धत्वादि पर्याय है, वह अस्तित्वगुण नहीं है — इस प्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है, जिसके कारण उनमें अन्यत्व है। इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

---

१. अन्यगुण = सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कोई भी गुण।

२. तद्-अभाव = उसका अभाव; (तद्-अभाव = तस्य अभावः) तद्भाव अतद्भाव का लक्षण (स्वरूप) है; अतद्भाव अन्यत्व का कारण है।

इस प्रकार इस गाथा में सत्ता का उदाहरण देकर अतद्भाव को स्पष्टतया समझाया है।

यहाँ इतना विशेष है कि जो सत्ता गुण के सम्बन्ध में कहा है, वह अन्य गुणों के विषय में भी भलीभाँति समझ लेना चाहिए। जैसे कि सत्ता गुण की भाँति एक आत्मा के पुरुषार्थ गुण को 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य' 'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण' और 'पुरुषार्थी सिद्धत्वादि पर्याय' — इस प्रकार विस्तरित कर सकते हैं। अभिन्नप्रदेश होने से इस प्रकार विस्तार किया जाता है, फिर भी संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि भेद होने से पुरुषार्थगुण को तथा आत्मद्रव्य को, ज्ञानादि अन्य गुण और सिद्धत्वादि पर्याय को अतद्भाव है, जो कि उनमें अन्यत्व का कारण है॥ १०७॥

प्रवचन नं. ११७ का शेष **दिनाङ्क २७ जुलाई १९७९**

अब अतद्भाव को उदाहरणपूर्वक.... स्पष्टरूप से दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो।। १०७।।

सत् द्रव्य, सत् पर्याय, सत् गुण, सत्त्व का विस्तार है।
अन्योन्य में जु अभाव, वो तद्रूप अतद् भाव है॥

आ...हा...हा...! आचार्यों ने कितनी करुणा करके कितना स्पष्ट करने के लिए (टीका की है)! फिर भी कहते हैं कि हम कर्ता नहीं, हाँ! इस टीका के कर्ता हम नहीं क्योंकि अक्षर के प्रदेश भिन्न हैं, हम भिन्न हैं, दोनों भिन्न हैं। अक्षर के प्रदेश और आत्मा के प्रदेश दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। अक्षर हम नहीं बनाते, प्रदेश भिन्न के कर्ता हम नहीं हैं। आहा...हा...! हम आत्मा द्वारा जानने का काम करते हैं, उसमें भी आत्मा और गुण ऐसा दो में भी अतद्भाव के कारण अन्यत्व है... आहा...हा...! तो लिखने की क्रिया तो फिर कहाँ रह गयी! आहा...हा...! रट रखने से यह चले - ऐसा नहीं है, हाँ! अन्दर इसे बैठाना चाहिए। आहा...हा...!

टीका - जैसे एक मोतियों की माला.... (अर्थात्) मोती की माला **'हार' के**

रूप में, 'सूत्र' (धागा) के रूप में और 'मोती' के रूप में — (त्रिधा) तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है,.... एक मोती की माला को हार के रूप में उसे हार भी कहा जाता है, उसमें धागा है और मोती है। (इस प्रकार) तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है। **उसी प्रकार एक 'द्रव्य', द्रव्य के रूप में, 'गुण' के रूप में और 'पर्याय' के रूप में — तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।** ओ...हो...हो... ! एक ही आत्मा या कोई भी द्रव्य — सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय, (वह) सत् का विस्तार है। अन्दर है न यह ? आहा...हा... ! सत् द्रव्य — अनन्त गुण का एकरूप, अनन्त गुण और उनकी पर्याय। द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्। आहा...हा... ! **उसी प्रकार एक 'द्रव्य', द्रव्य के रूप में, 'गुण' के रूप में और 'पर्याय' के रूप में — तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।**

और जैसे एक मोतियों की माला का शुक्लत्व गुण,.... आहा...हा... ! **'शुक्ल हार', 'शुक्ल धागा', और 'शुक्ल मोती',....** मोती की माला का शुक्लत्व गुण इतना, शुक्लत्व गुण (अर्थात्) सफेद मोती (की माला का) शुक्लत्व गुण — ऐसा शुक्ल हार — सफेद हार, सफेद धागा, सफेद मोती, **ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है,....** आहा...हा... ! माला वही है परन्तु उसमें मोती की सफेदाई भिन्न गिनने में आती है, यह अपेक्षा से (बात की है) आहा...हा... ! तीन भिन्न कहा न ? सफेद हार, सफेद धागा, सफेद मोती। आहा...हा... ! **ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।**

उसी प्रकार एक द्रव्य का सत्तागुण.... एक ही द्रव्य का सत्तागुण। **'सत् द्रव्य',...** अब सत्तागुण अकेला ही लिया, हाँ ! एक द्रव्य का सत्तागुण इतनी बात। वह **'सत् द्रव्य', 'सत् गुण', और 'सत्पर्याय' — ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।** आहा...हा... ! यह क्या कहा ? मोती की माला अर्थात् हार है। उसे भी तीन प्रकार से जाना जाता है। एक तो सफेद हार है, सफेद धागा है, सफेद मोती है। तीन प्रकार हुए न ? हार है तो एक; उसे तीन प्रकार से (बतलाते हैं)। इसी प्रकार भगवान आत्मा ! आ...हा...हा... !

और जिस प्रकार एक मोतियों की माला में जो शुक्लत्वगुण है, वह हार

नहीं है,... आहा...हा...! परद्रव्य है, वह तो आत्मा में नहीं; वह तो तीनों काल नास्ति है। आहा...हा...! यह तो अभी दृष्टान्त है। **शुक्लत्वगुण है, वह हार नहीं है,....** शुक्लत्वगुण है, वह **धागा नहीं है....** या शुक्लत्वगुण है, वह **मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है....** परसपर (लिया है)। **इस प्रकार एक-दूसरे में जो 'उसका अभाव'....** इस प्रकार एक-दूसरे को जिनका अभाव **अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है....** आहा...हा...! श्वेतपना हाररूप हो जाए, हार अकेला श्वेतरूप हो जाए और सफेद धागा है, वह हाररूप हो जाए और मोतीरूप हो जाए — ऐसा नहीं होता। आहा...हा...! अब द्रव्य के भाग किए। आहा...हा...!

वह 'तद्-अभाव' लक्षण.... सफेदी को, मोती को और हार को तद् अभाव लक्षण **अतद्भाव है,....** तद्-अभाव लक्षण.... **'तद्-अभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है,....** सफेद, वह हार नहीं और हार, वह सफेद (गुण) नहीं इतना उनमें अन्तर है न? इस प्रकार तद्-अभाव लक्षण है। तद्-अभाव (अर्थात्) यह भाव वह द्रव्य नहीं और द्रव्य वह भाव नहीं (ऐसा) **'तद्-अभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है,....** उसे अतद्भाव कहते हैं। आहा...हा...! कितनों ने ही तो यह पढ़ा भी नहीं होगा। पुस्तक (घर में) रखी होगी।

मुमुक्षु : पढ़े तो समझ में आये — ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ! समझ में नहीं आये। ठीक! समझ में नहीं आवे तो विद्यालय नहीं जाते? समझ में नहीं आवे, इसलिए विद्यालय जाते हैं या नहीं? कि ये क्या कहलाता है? क, ख, ग, घ,..... हम कुछ नहीं समझते। ट, ठ, द, ध, न,.... यह क्या? जाते हैं या नहीं? समझने के लिए जाना पड़ता है या नहीं? आहा...हा...!

कि जो (अतद्भाव) अन्यत्व का कारण है;.... आ...हा...! क्या बात सिद्ध की है!! गुण और गुणी के बीच तद्-अभाव लक्षण (वह) अतद्भाव। तद्-अभाव लक्षण है न? धागे में हार नहीं, हार में धागा नहीं, सफेदी में हार नहीं; भिन्न-भिन्न है। **'तद्-अभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है,....** आहा...हा...! **जो अन्यत्व का कारण है।...** अन्यत्व का कारण है। आहा...हा...! यह गुण अलग और आत्मा अलग — ऐसा अन्यत्व। आत्मा में सत्द्रव्य, सत्गुण, सत्पर्याय है, तथापि तीन में अन्यत्व है। द्रव्य और

गुण के बीच, गुण और पर्याय (के बीच) अतत्पना है। आहा...हा...! वैसे तो ऐसा है कि सत्‌द्रव्य, सत्‌गुण, सत्‌पर्याय, यह सत का विस्तार है; तथापि द्रव्य, वह गुण नहीं; गुण, वह पर्याय नहीं; पर्याय, वह गुण नहीं; गुण, वह द्रव्य नहीं। आहा...हा...! भेदज्ञान कहाँ तक ले गये हैं!! पर से तो पृथक् किया परन्तु अपने में जो गुण-गुणी का भेद है, उसे भी अलग किया। आहा...हा...! उसे भी छोड़! आहा...हा...! अन्दर भगवान आत्मा निर्विकल्परूप, अभेदरूप विराजमान है, उस पर दृष्टि कर, उसका आदर कर, उसका स्वीकार और सतकार कर, तब उस चीज का आदर होने पर तुझे सत्य दर्शन होगा। जैसा वह स्वरूप है, वैसा तुझे दर्शन होगा और प्रगट होगा। सम्यक् अर्थात् सत्य। दर्शन अर्थात् श्रद्धा। आहा...हा...! तब सत्य दिखेगा, तब सत्य की श्रद्धा होगी। जैसा अखण्ड सत्य है, ऐसा दिखेगा, तब सत्य श्रद्धा में आयेगा। आहा...हा...!

इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्तागुण है, वह द्रव्य नहीं.... सत्ता — अस्तित्वगुण है, वह एक है। वह द्रव्य नहीं है, द्रव्य अनन्त गुणरूप है। आहा...हा...! **अन्य गुण नहीं...** सत्तागुण है, वह अन्य गुणरूप नहीं। सत्तागुण, सत्तागुणरूप से है; सत्तागुण ज्ञान, दर्शन, आनन्दरूप नहीं; सत्तागुण द्रव्यरूप नहीं और सत्तागुण अन्य गुणरूप भी नहीं। आहा...हा...! इसी तरह ज्ञानगुण द्रव्यरूप नहीं, वैसे ज्ञानगुण सत्ता आदि दूसरे गुणरूप भी नहीं। आहा...हा...! प्रत्येक गुण की भिन्नता है। इसमें तो भाई! थोड़ा समय लेकर निवृत्ति से अभ्यास करे तो बैठे ऐसा है। आ...हा...! यह कोई लौकिक पढ़ाई नहीं है। आहा...हा...!

जो सत्तागुण है, वह द्रव्य नहीं है, अन्यगुण नहीं है,... आहा...हा...! सत्तागुण वह सत्तागुण है, अन्यगुण नहीं। आहा...हा...! गुण-गुण के बीच भी अतद्भाव है। आहा...हा...! द्रव्य और गुण के बीच अतद्भाव; गुण और गुण के बीच अतद्भाव। आहा...हा...! पूर्ण अस्तित्व! और वह **पर्याय नहीं....** सत् गुण — सत्तागुण जो है, वह द्रव्य नहीं, अन्य गुण नहीं और पर्याय नहीं। वह स्वयं गुण है परन्तु अन्य गुणरूप वह नहीं है। और अन्य पर्यायरूप नहीं है। आहा...हा...! यह पुस्तक पढ़ी न हो, उसे कुछ बात बैठना (कठिन है)। पहला सरल पड़े — लोगस्स पूज जोय गरे... आहा...हा...!

जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है, वह सत्तागुण नहीं है.... द्रव्य है, अन्य गुण

या पर्याय है, वह सत्तागुण नहीं है। अन्य गुण (अर्थात्) सत्ता के अतिरिक्त दूसरा कोई भी गुण अन्यगुण नहीं है। **अन्य गुण या पर्याय है, वह सत्तागुण नहीं है — इस प्रकार एक-दूसरे में जो 'उसका अभाव'....** आहा...हा...! एक-दूसरे को अभाव (अर्थात्) **'तद्रूप होने का अभाव' है....** सत्ता ज्ञानरूप नहीं; सत्ता द्रव्यरूप नहीं; सत्ता पर्यायरूप नहीं। आनन्दगुण द्रव्यरूप नहीं; आनन्दगुण, ज्ञानरूप नहीं; आनन्दगुण, पर्यायरूप नहीं। आहा...हा...! इसका नाम भेदविज्ञान कहलाता है। सूक्ष्म... सूक्ष्म...! पर से (तो) भिन्न परन्तु तेरे गुण से भी — एक गुणभेद से भी द्रव्य पृथक्! अब, भेदपना छोड़ दे! आहा...हा...! इन समस्त गुणों का एकरूप वह द्रव्य है। उस द्रव्य को गुण नहीं कहा जाता, गुण को द्रव्य नहीं कहा जाता और गुण को पर्याय नहीं कहा जाता। आहा...हा...! (क्योंकि) तद्रूप होने का अभाव है। **एक-दूसरे में जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है वह 'तद्-अभाव' लक्षण....** तद्-अभाव लक्षण (अर्थात्) यह भाव वह यह नहीं — ऐसा तद्-अभाव लक्षण.... एक-दूसरे के बीच तद्-अभाव लक्षण। आहा...हा...! ऐसा **अतद्भाव है।...** दो के बीच तद्-अभाव लक्षण, एक-दूसरे में तद्-अभाव लक्षण, वह **'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्व का कारण है।** जो अन्यत्व का कारण है। आहा...हा...! द्रव्य से गुण अन्य, गुण से द्रव्य अन्य। आहा...हा...!

भावार्थ - एक आत्मा का विस्तारकथन में 'आत्मद्रव्य' के रूप में 'ज्ञानादिगुण' के रूप में और 'सिद्धत्वादि पर्याय' के रूप में — तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। आहा...हा...! सभी द्रव्य द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से (रहे हुए हैं)। आहा...हा...! जब देखो तब उसके समय में — अवसर में जो पर्याय होती है, वह पर्याय उस पर्यायरूप है; गुण वह गुणरूप है; और द्रव्य वह द्रव्यरूप है। आहा...हा...! गुण के कारण पर्याय है — ऐसा नहीं, यहाँ तो (यह कहना है)। आहा...हा...! दो के बीच अतद्भाव है न! वह अतद्भाव लक्षण दो के बीच का अभाव सिद्ध करता है।

आ...हा...! आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा! वह ज्ञानस्वरूप नहीं और ज्ञानस्वरूप, वह आनन्दस्वरूप नहीं। आहा...हा...! ऐसा (एक-दूसरे के) बीच का अभाव सिद्ध

करते हैं। **और एक आत्मा के अस्तित्व गुण को 'सत् आत्मद्रव्य', 'सत् ज्ञानादिगुण' और 'सत् सिद्धत्वादि पर्याय' — ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है; इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।** जगत् में जितने पदार्थ हैं, वे सब इस प्रकार समझना चाहिए। आहा...हा...! एक परमाणु इस अंगुली में है, (वह) एक परमाणु और दूसरे परमाणु के बीच प्रदेशभेद है; इसलिए पृथक् अन्यत्व है। आहा...हा...! यह अंगुली है, उसमें एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् अन्यत्व है, क्योंकि एक परमाणु का प्रदेश भिन्न, दूसरे का भिन्न, इसलिए प्रदेश पृथक्त्वरूप अन्य है। अब परमाणु में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है, वह परमाणु वे वर्ण, गन्ध, रस नहीं और वर्ण, गन्ध वह परमाणु नहीं, उनमें दो के बीच अतद्भावरूप अभाव है, वह सिद्ध होता है। आहा...हा...! यह रंग, गुण, परमाणु नहीं और परमाणु, रंग नहीं। आहा...हा...! और वह गुण द्रव्यरूप है, गुणरूप है, पर्यायरूप है। जैसे सत्तागुण लिया, वैसे प्रत्येक गुण द्रव्यरूप है, गुणरूप है और पर्यायरूप है। आहा...हा...! वह गुण अकेला गुणरूप ही है — ऐसा नहीं है। वह गुण द्रव्यरूप है, अन्य गुणरूप नहीं और पर्यायरूप नहीं, इतना अन्तर है। वह गुण, गुणरूप नहीं अर्थात् यह किस अपेक्षा से? कि दूसरे गुणरूप नहीं। वह द्रव्य, द्रव्यरूप नहीं, वह गुण गुणरूप नहीं (अर्थात्) दूसरे गुणरूप नहीं और उस गुण की पर्याय है, उस पर्यायरूप नहीं। आहा...हा...! **ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है; इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।**

(विशेष कहेंगे)

प्रवचन नं. ११८ दिनाङ्क २८ जून १९७९

प्रवचनसार, १०७ गाथा का भावार्थ। **एक आत्मा को....** जरा अटपटी (बात है)। पर से तो भिन्न बताया है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कुछ (सम्बन्ध) नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को नहीं करता; इसलिए पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध है नहीं। अब, अपने में तीन प्रकार करते हैं।

आत्मा को... **एक आत्मा का विस्तारकथन में 'आत्मद्रव्य' के रूप में....**

आत्मवस्तु है। वस्तु, उसे द्रव्यरूप से **'ज्ञानादिगुण' के रूप में...** यह द्रव्य,वह गुण नहीं, अतद्भाव है न! इसलिए **'ज्ञानादिगुण' के रूप में और 'सिद्धत्वादि पर्याय' के रूप में....** यहाँ सिद्ध की पर्याय (ली है वरना) सम्यग्दर्शन पर्याय, चारित्र पर्याय इत्यादि (सभी पर्यायें ली जा सकती हैं)। **रूप में — तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।** जैसे एक द्रव्य में तीन प्रकार वर्णन किये हैं कि द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न... आहा...हा...! अतद्भाव (स्वरूप से) है। (अर्थात्) द्रव्य में गुण नहीं, गुण में द्रव्य नहीं, गुण में पर्याय नहीं। एक दूसरे के बीच अतद्भाव है, 'यह' भाव 'वह' नहीं। द्रव्यभाव वह गुणभाव नहीं, गुणभाव वह पर्यायभाव नहीं। आहा...हा...! एक के अन्दर! पर के साथ की तो यहाँ बात नहीं। इस प्रकार गुण का वर्णन किया जा सकता है — ऐसा सब द्रव्यों में समझना चाहिए।

जैसे परमाणु — तो द्रव्यरूप में परमाणु है, उसके वर्ण, गन्ध, रसरूप में गुण है और उसकी हरी, काली आदि पर्यायें; इस प्रकार एक परमाणु में ही (तीनों) अभिन्न होने पर भी, प्रदेश से अभिन्न होने पर भी इस प्रकार वर्णन समझा जा सकता है — ऐसा स्वरूप है। लो! पर के साथ कुछ नहीं। अब रहा एक के भीतर; चाहे तो परमाणु हो, चाहे तो आत्मा (हो)। शेष चार (द्रव्य) तो ठीक। आहा...हा...!

चार द्रव्यों में भी यही है। धर्मास्तिकाय कहीं दूसरे को चलाने की पर्याय करावे — ऐसा नहीं है। ऐसे ही अधर्मास्तिकाय दूसरे को स्थिर करावे — ऐसा नहीं है। वैसे ही काल दूसरे को बदलावे — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! नियमसार में आता है कि काल न हो तो दूसरे में परिणमन नहीं होगा। लो! ऐसा आता है! यह तो कालद्रव्य की सिद्धि करने के लिए (कथन किया है)। कालद्रव्य न हो तो पर में परिणमन नहीं होगा — ऐसा पाठ है। वह तो मात्र कालद्रव्य को सिद्ध करने के लिए कहा है। वरना एक द्रव्य की पर्याय दूसरी पर्याय करे, एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय करे, यह तीन काल में नहीं होता। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत!

मुमुक्षु : बड़े लोग तो बहुतों का काम करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील होकर (इन्होंने कोर्ट में) बहुतों को जिताया था! (इन

भाई ने) बहुत रुपये इकट्ठे किये हैं। कौन करे? भाई! जो एक द्रव्य है, वह दूसरे द्रव्य को क्षेत्र से बदल सके, काल से बदल सके, या भाव से (बदल) सके (—ऐसा) कुछ नहीं होता। आहा...हा...! उसकी बात तो एक और रह गयी कि आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता, इसलिए आत्मा शरीर की पर्याय नहीं करता। गजब बात है। यह हाथ चले, यह अंगुली चले, रोटी टूटे.... तो कहते हैं कि रोटी टूटती है, उसे हाथ स्पर्श नहीं करता। टूटती है वह उसकी — रोटी की पर्याय है। (रोटी को) हाथ स्पर्श नहीं करता, हाथ आत्मा को स्पर्श नहीं करता, आत्मा हाथ को स्पर्श नहीं करता — ऐसा पर से तो इस प्रकार ही भिन्न है। सभी द्रव्यों में, अनन्त द्रव्यों में (इस प्रकार है)। आहा...हा...! जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ सन्मुख अनन्त निगोद के जीव हैं, जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं वहाँ! फिर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! इसी प्रकार एक अंगुल के असंख्य भाग में निगोद के अनन्त जीव हैं। सम्पूर्ण लोक प्रमाण वहाँ सभी जगह भरे हैं परन्तु एक निगोद का जीव दूसरे निगोद के जीव को स्पर्श नहीं करता और एक-एक जीव को दो-दो शरीर साथ में हैं — तैजस और कार्मण। उस तैजस कार्मणशरीर को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता। तैजस (शरीर में) भी अनन्त परमाणु हैं। उनमें एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। वह तो मानो मुख्य वस्तु है। आहा...हा...!

अब, यहाँ तो एक तत्त्व में अतद्भाव कैसे है? वह सिद्ध करते हैं। एक तत्त्व और दूसरे तत्त्व के बीच को अत्यन्ताभाव है, उसके साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं है परन्तु एक द्रव्य के बीच प्रदेश वही के वही होने पर भी, उसमें 'वह' भाव 'यह' नहीं (अर्थात्) द्रव्यभाव, वह गुण नहीं और गुणभाव, वह पर्याय नहीं — ऐसा अतद्भाव सिद्ध करते हैं। आहा...हा...! आया न! **एक आत्मा का विस्तारकथन में 'आत्मद्रव्य' के रूप में 'ज्ञानादिगुण' के रूप में....** यहाँ तो सत्ता का बोल आया था। सत्ता भिन्न है — ऐसे ज्ञानादि गुण **और 'सिद्धत्वादि पर्याय'....** ऐसा। नीचे एक आत्मद्रव्य है, वह द्रव्यरूप में उसके त्रिकाली ज्ञानादिगुण हैं, वे गुणरूप में और उसकी मिथ्यात्वादि दशा है, वह पर्यायरूप में पर से भिन्न है। पर से भिन्न है परन्तु यहाँ स्वयं द्रव्य है, वह पर्याय नहीं और पर्याय है, वह द्रव्य नहीं। आहा...हा...!

पर्याय में जो मिथ्यात्व पर्याय है, वह दर्शनमोह के कारण नहीं परन्तु वह पर्याय है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह पर्याय नहीं। आहा...हा... ! ऐसे एक आत्मा नहीं तीन प्रकार से धर्म की पर्याय का विचार करे तो आत्मा द्रव्यरूप में है, ज्ञानादि त्रिकाल गुणरूप में है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायरूप में पर्याय है, वह पर्याय, गुणरूप में नहीं; गुण, द्रव्यरूप में नहीं; द्रव्य, पर्यायरूप में नहीं। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म है।

और एक आत्मा के अस्तित्वगुण को.... यहाँ सत्ता ली है। सत्ता — अस्तित्व गुण है न ? (वह) प्रदेश से तो अभेद है। एक आत्मा में सत्ता गुण को, सत्ता आत्मद्रव्य, सत्ता ज्ञानादि गुण और सत्ता सिद्धात्वादि पर्याय **ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है;....** ऐसा नीचे (के गुणस्थान में) एक आत्मा को सत्ता द्रव्यरूप से, सत्ता गुणरूप से... आहा...हा... ! है न ? दूसरे ज्ञानादि गुणरूप से, हाँ! वे गुण तो हैं, इन गुणों को ज्ञानादिरूप से भी एक दूसरे में अभाव है और सत्ता को, सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई तो पर्यायरूप से उसे वर्णन किया जाता है। ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय हुई वह अस्तित्व पर्याय के साथ है। वह पर्याय है, पर्याय में अस्तित्व है, वह अस्तित्वगुण में वह अस्तित्व नहीं है। गुण का अस्तित्व है, वह द्रव्य के अस्तित्व में नहीं है। द्रव्य की सत्ता है, वह गुण की सत्ता में नहीं है। गुण की सत्ता है, वह पर्याय की सत्ता में नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म बहुत ! मार्ग बहुत सूक्ष्म !

और एक आत्मा का जो.... सत्तागुण है। अस्तित्व अर्थात् सत्तागुण, **वह आत्मद्रव्य नहीं है,....** वह एक ही सत्तागुण है, वह कहीं आत्मद्रव्य नहीं है। आत्मा तो अनन्त गुणस्वरूप है। सत्तागुण वह **(सत्ता गुण के बिना) ज्ञानादिगुण नहीं है,....** सत्तागुणरूप में सत्ता है (परन्तु) सत्तागुण, द्रव्यसत्तारूप में नहीं, सत्तागुण ज्ञानदर्शन की सत्तारूप में नहीं; सत्ता, सत्ता से है। ज्ञानादि अनन्त गुण है, उसरूप सत्ता नहीं। आहा...हा... ! ऐसा विषय-गाथा ! पूरा तत्त्व का विषय है। एकदम भिन्न-भिन्न वस्तु बताते हैं। पर से तो भिन्न है परन्तु एक में भी भिन्न-भिन्न द्रव्य-गुण-पर्याय ! आहा...हा... ! एक में भी जब सत्ता द्रव्य, सत्ता के अतिरिक्त दूसरे ज्ञानादि गुण और उनकी पर्याय... आहा...हा... ! एक दूसरे में अभाव है — अतद्भाव है तो पर के साथ की तो क्या बात करना। आहा...हा... !

चाहे जिस संयोग में, चाहे जिस क्षेत्र में, चाहे जिस काल में हो, परन्तु प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण और पर्याय में है। जीव नारकी में है — ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहा...हा...! जीव, देव में है — ऐसा कहना व्यवहार है। देव के क्षेत्र में, नारकी के क्षेत्र में जीव है — ऐसा कहना व्यवहार है। आहा...हा...! श्रेणिक राजा नरक में है — ऐसा कहना व्यवहार है परन्तु उनकी नारकी की गति की जो योग्यता है, उस पर्याय में वह है परन्तु वह गुण में नहीं और वह द्रव्य में नहीं; जो पर्याय में है, वह गुण में नहीं और वह द्रव्य में नहीं। आहा...हा...! ऐसा है। बहुत से ऐसा कहते हैं न कि श्रेणिक राजा नरक में गये, सम्यक्त्वी हैं, क्षायिक सम्यक्त्वी! तीर्थंकर नामकर्म बाँधा है। अब वह तो पूर्व में आयु बँध गयी थी, उसके कारण नरक में गये हैं। यहाँ इनकार करते हैं। आयुकर्म की पर्याय में आयुष्य पर्याय थी, वहाँ जाने के लिए जो ऐसी (पर्याय) थी वह स्वयं की पर्याय से वहाँ गति करते हैं। आयुकर्म तो निमित्तमात्र है, उस निमित्त से इसमें कुछ नहीं होता। आ...हा...हा...!

शास्त्र में ऐसा कथन आता है... आनुपूर्वी नाम की एक नामकर्म की प्रकृति है। जैसे, बैल को नाथ डालते हैं और खींचते हैं ऐसे आनुपूर्वी प्रकृति नरक में ले जाने के लिए खेंचती है। देव में ले जाने के लिए, मनुष्य में ले जाने के लिए (खींचती है)। यहाँ तो कहते हैं कि आनुपूर्वी एक चीज थी, यह बतलाया। वरना तो उस समय स्वयं की जो गति करने की योग्यता (रूप) पर्याय है, उसके कारण गति करते हैं, आनुपूर्वी के कारण नहीं। आहा...हा...! बहुत भेदज्ञान! पर से तो भेदज्ञान परन्तु अपने तीन में भी भिन्न-भिन्न अतद्भाव! आहा...हा...! कभी सुना भी नहीं होगा। सम्प्रदाय में जन्में (इसलिए ऐसा मानते हैं कि हम) जैन हैं (और) जैन परमेश्वर तत्त्व की (बात) क्या कहते हैं? — इसका पता नहीं पड़ता। आहा...हा...! फुरसत नहीं न फुरसत! धन्धा करना, स्त्री-पुत्र को सम्हालना, व्यापार सम्हालना, या (यह समझना)? न सम्हाले तो (नुकसान) हो जाये।

मुमुक्षु : व्यापार न करे तो सब दुकानें बन्द हो जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? वह जड़ की पर्याय के समय में वह पर्याय होगी। उन परमाणुओं की पर्याय में जिस प्रकार गति होनेवाली है, वह पर्याय होगी। वह पर्याय दूसरे के साथ है, उससे वहाँ पर्याय होती है — ऐसा तो है ही नहीं, परन्तु इसकी जो पैसा

लेने-देने आदि की पर्याय होती है, वह पर्याय, द्रव्य नहीं है और पर्याय, गुण नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्मरूप से विचार करना चाहिए। भाई ! यह तो प्रभु का मार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने ज्ञान में देखा और कहा है। आहा...हा... ! है यह ? तीसरा पैराग्राफ !

और एक आत्मा का जो अस्तित्वगुण है... एक आत्मा का जो सत्तागुण है, **वह आत्मद्रव्य नहीं है,....** वह एक ही गुण आत्मद्रव्य नहीं है। **(सत्तागुण के बिना) ज्ञानादिगुण नहीं है,....** सत्ता, सत्तागुण है परन्तु सत्ता के अतिरिक्त जो ज्ञान, आनन्दगुण है, वह सत्तागुण नहीं है। सत्तागुण से ज्ञानादि गुण सब अलग हैं। आहा...हा... ! प्रवचनसार पढ़ा है कभी ? फुरसत कहाँ है ? पढ़े तो ऐसा समझ में आये ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : आपकी उपस्थिति में भलीभाँति समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपस्थिति तो स्वयं की है, उसमें समझ में आता है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : तो भी पाठशाला जाना पड़ता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाठशाला जाता है कौन ? जीवद्रव्य की ऐसी पर्याय हो तो जाये। शरीर की पर्याय की योग्यता हो तो शरीर पर्याय जाये। आहा...हा... ! इस अध्यापक के पास जाना है, इसलिए उसके कारण गया — शरीर के कारण गया है और शरीर आत्मा के कारण वहाँ गया है — ऐसा नहीं है। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु : पाठशाला का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि हमें आपके पास आना पड़ता है न। आप ही कहते हो कि यह कॉलेज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त से तो ऐसा कहा जाता है न ! हमारी धूलीशाला का मास्टर था, (तब) छह वर्ष की उम्र थी, पहले धूली (शाला में जाते थे)। फिर पहली कक्षा में जाते। धूलीशाला में धूल में गिनती सिखाते और ऐसे पैसे नहीं थे, कुछ अच्छा-बुरा हो, दहाड़ा हो, लगन हो, तो उसे दे, तो उसे चले। लड़का हो तो उसका काम चले, यह सिखने से। जड़भरत मास्टर था, उसका लड़का साधारण पढ़ा हुआ। एक एकम एक.... धूल में सिखाते थे। यहाँ तो कहते हैं कि अंगुली के कारण वह गिनती अन्दर हुई नहीं है (क्योंकि) अंगुली ने धूल को स्पर्श नहीं किया है — ऐसी बात, प्रभु की बात...

यह सत्, सत् है, उसे सत्‌रूप से जानना। जिस प्रकार सत् है, उस प्रकार से सत्य को सत्यरूप से जानना। सत् को असत्‌रूप से गड़बड़ करेगा तो चौरासी के अवतार में भटकना पड़ेगा, मर जाएगा। आहा...हा...! यहाँ खम्मा... खम्मा... होती हो, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये हों... आहा...हा...! वह मरकर भाई! सूअर की कूख में जाएगा। माँसादि न खाये, शराब (न पिये तो) सूअर की कूख में जाएगा और विष्टा खाएगा! आहा...हा...! बापू! ऐसा अनन्त बार हो गया है। आहा...हा...! इसने दीर्घ विचार नहीं किया, दीर्घ सूत्री नहीं हुआ; अकेला वर्तमान में ही रुक गया है, बस! परद्रव्य से भिन्न हूँ — ऐसा निर्णय नहीं किया और अन्तर में द्रव्य, वह गुण नहीं और गुण, वह पर्याय नहीं, इसका भी निर्णय नहीं किया। आहा...हा...!

एक आत्मा का जो अस्तित्वगुण है वह आत्मद्रव्य नहीं है, (सत्तागुण के बिना) ज्ञानादिगुण नहीं है,.... सत्तागुण है, वह ज्ञानगुण नहीं; सत्तागुण है, वह दर्शनगुण नहीं। आहा...हा...! और वह सत्तागुण है, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय आदि नहीं। (यहाँ) यह सिद्धत्व की पर्याय ली है परन्तु सत्तागुण है, वह सम्यग्दर्शन की और सम्यक्‌चारित्र की पर्याय नहीं है। आहा...हा...! जो ज्ञानगुण की पर्याय है, वह सत्तागुण की पर्याय नहीं है और सत्तागुण की पर्याय, वह ज्ञानगुण की पर्याय नहीं है। आहा...हा...! एक साथ सम्यग्दर्शन और ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अरे...! एक साथ अनन्त गुण का अंश व्यक्त — प्रगट होता है। 'सर्व गुणांश वह सम्यक्त्व!' उस अनन्त गुण के पिण्ड की जहाँ दृष्टि और अनुभव हुआ तो जितने गुण की संख्या है, उनका एक अंश व्यक्त (हुआ)। परन्तु एक पर्याय है, वह दूसरी पर्याय की नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : फिर भी सत्ता, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्ता सत्ता में व्यापक है। द्रव्य सत्, सत्तारूप से। गुण सत् (सत्तारूप से).... यह आया न! वह गाथा तो चलती है यह। यह गाथा है **सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ** सत् द्रव्य, वह सत् गुण नहीं और सत् गुण, वह सत् द्रव्य नहीं; सत् गुण वह सत् पर्याय नहीं। सूक्ष्म बात है भाई! यह तो अधिकार जो आवे तब (उसका स्पष्टीकरण होता है)। आहा...हा...!

सत्ता नाम का गुण है और यहाँ सम्यक्त्व पर्याय हुई तो उस सत्तागुण की पर्याय से सम्यक्त्व की पर्याय नहीं; सम्यक्त्व की पर्याय, सम्यक्त्व की पर्याय के कारण है, सत्तागुण के कारण नहीं। दूसरे प्रकार से कहें तो श्रद्धागुण जो त्रिकाल है, आत्मा जो त्रिकाल है और श्रद्धागुण है तो श्रद्धागुण है, वह आत्मद्रव्य का श्रद्धागुण; आत्मद्रव्य उस श्रद्धागुणरूप नहीं और श्रद्धारूप गुण है और उसकी पर्याय है, वह दूसरे गुण के कारण सम्यग्दर्शन की पर्याय है — ऐसा नहीं है। किसी गुण को कोई गुण सहायक नहीं है, दूसरे द्रव्य को दूसरे द्रव्य की सहायता तो नहीं... आहा...हा... ! एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की सहायता तो नहीं परन्तु आत्मा में और परमाणु में जो अनन्त गुण रहे हैं तो वह एक गुण दूसरे गुण को सहायक नहीं है। आहा...हा... ! उसका अस्तित्व — सत्ता भिन्न-भिन्न है। आहा...हा... ! सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट हुई, इसलिए सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, इसलिए अनन्त आनन्द का स्वाद आया, यह सम्यग्दर्शन पर्याय (हुई) इसलिए (आनन्द का स्वाद) आया ऐसा नहीं है। वह पर्याय अलग है, प्रत्येक पर्याय भिन्न है, प्रत्येक गुण भिन्न है और गुण तथा द्रव्य भिन्न है। आहा...हा... ! ऐसा विस्तृत !

आचार्यों ने काम किया है न ! आहा...हा... ! जंगल में रहकर नग्न मुनि ! मुनि तो नग्न ही थे, दिगम्बर ही मुनि थे। श्वेताम्बर तो उसमें से दो हजार वर्ष बाद निकले। जैनदर्शन में तो अनादि से अकेले नग्न-मुनि ही होते हैं। अनादि से अनन्त काल वस्त्रसहित मुनिपना, वह मुनिपना नहीं।

मुमुक्षु : उनके शास्त्र में तो ऐसा लिखा है कि हमारे में से दिगम्बर निकले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जो कहे न, मनुष्य तो चाहे जो कहे, अनादि-अनन्त सत्य यह है। इसमें से श्वेताम्बर दो हजार वर्ष पहले निकले हैं और स्वयं की दृष्टि से शास्त्र बनाये हैं, उसमें यह सब घोटाले डाले हैं। आहा...हा... ! वहाँ तो वस्त्रों के पोटले के पोटले लिखे हैं और यहाँ (दिगम्बर शास्त्रों में तो कहते हैं कि) एक वस्त्र का टुकड़ा रखे और मुनिपना पाने तो निगोद में जायेगा। उसे साधु माने तो वह निगोद में जायेगा। आहा...हा... ! वस्त्रसहित साधुपना मानेगा, वह निगोद में जानेवाला है और उसे जो माननेवाला है कि 'यह साधु है', वह निगोद में जानेवाला है। आहा...हा... ! कठोर बात बापू ! काम बहुत

कठिन! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह तो अनादि भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव ने देखा, जाना वैसा कहा है। दूसरा तो सब कल्पित बनाया है। श्वेताम्बर लोगों ने सभी शास्त्र कल्पित बनाये हैं, उनकी श्रद्धा अनुसार तो गृहीतमिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! ऐसा कठोर काम पड़े। सबको अच्छा मनवाकर लोग इकट्ठे करने हैं? लोग अधिक इकट्ठे हों। आहा...हा...! सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्य को त्रिकाल सत्यरूप ही है।

यहाँ तो (कहते हैं कि) पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं, आहा...हा...! वस्त्र का टुकड़ा रखे और अन्दर चारित्र हो — ऐसा नहीं है, कहते हैं। यह तो मानो भिन्न पड़ गया परन्तु चारित्रगुण की पर्याय है, यह चारित्रगुण है, वह चारित्र की पर्याय है — ऐसा नहीं है और चारित्रगुण है, वह चारित्र का द्रव्य है, वह है परन्तु भिन्न है। द्रव्यरूप चारित्र गुणरूप चारित्र, पर्यायरूप चारित्र — ऐसी बात है। आहा...हा...! उसकी दशा में पंच महाव्रत का विकल्प होता है, परन्तु उसे वह बन्ध का कारण मानता है और नग्नदशा हो, वह तो निमित्तरूप नग्नदशा (होती है)। यह मैंने नहीं की और मुझसे नग्नदशा नहीं हुई। आहा...हा...! क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को (स्पर्श नहीं करता)। (इसलिए यह) वस्त्र त्याग सकता है, लंगोटी छोड़ सकता है — ऐसा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ सकता नहीं है, आहा...हा...! ऐसी बात है।

यहाँ तो एक गुण में भी गुण, द्रव्य नहीं और द्रव्य, गुण नहीं और गुण, पर्याय नहीं ऐसा तीन के बीच (अतद्भाव है)। — 'वह' भाव 'यह' भाव नहीं और 'यह' भाव 'वह' भाव नहीं। आहा...हा...! गजब बातें! परमात्मा के अतिरिक्त जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ केवली द्वारा कथित बात सन्त कहते हैं। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। आ...हा...! कठोर लगे परन्तु क्या हो? भाई! दूसरे को दुःख लगे, हम यह सब करते हैं (वह) खोटा? भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, सामायिक करते हैं, प्रतिक्रमण (करते हैं).... सब मिथ्यात्वसहित है। आहा...हा...! दिगम्बर में रहकर भी विकल्प उठे, उसे सामायिक माने कि हम सामायिक करने बैठे हैं (तो वह भी) मिथ्यात्व है, भाई! आहा...हा...! आ...हा...!

एक आत्मा का जो अस्तित्वगुण है, वह आत्मद्रव्य नहीं है, (सत्तागुण के बिना) ज्ञानादिगुण नहीं है, या सिद्धत्वादि पर्याय नहीं है;.... अपने को तो यहाँ

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र पर थोड़ा अधिक उतारना है। गड़बड़ इसमें है न! सम्यग्दर्शन की पर्याय, स्वद्रव्य के लक्ष्य से स्वतन्त्ररूप से षट्कारक के परिणमन से होती है। षट्कारक के परिणमन से सम्यग्दर्शन होता है, उसका लक्ष्य भले ही द्रव्य पर हो परन्तु है स्वतन्त्ररूप षट्कारक का परिणमन। वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, सम्यक्श्रद्धा जो त्रिकाल है, उस रूप नहीं है। जो त्रिकाल श्रद्धा गुण है, उसकी यह पर्याय है न? फिर भी वह पर्याय श्रद्धागुणरूप नहीं है; पर्याय, पर्यायरूप है; गुण, गुणरूप है; द्रव्य, द्रव्यरूप है — ऐसा है। आहा...हा...! ऐसा सुनने के लिए भी लोग कहाँ निवृत्त हैं? जिन्दगी चली जाती है ऐसी व्यर्थ ही व्यर्थ है। **इस प्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है,....** है? **जिसके कारण उनमें अन्यत्व है।** अतद्भाव के कारण अन्यत्व है। पृथक् प्रदेश के कारण पर का अन्यत्व है परन्तु अपने में असंख्य प्रदेश में पृथक् — प्रदेश भिन्न नहीं होने पर भी अतद्भावरूप अन्यत्व है। 'वह भाव नहीं' ऐसा अन्यत्व है। गुण से पर्याय अन्यत्व है, गुण से द्रव्य अन्यत्व है, द्रव्य से गुण अन्यत्व है। अतद्भाव की अपेक्षा से उन्हें अन्यत्व कहा जाता है। उनके प्रदेश भिन्न नहीं होने पर भी... आहा...हा...! जिनके प्रदेश भिन्न हैं — इस आत्मा के (प्रदेश) और इस शरीर के परमाणु तो भिन्न-भिन्न हैं। आहा...हा...! आत्मा, शरीर को हिला नहीं सकता, होंठ को हिला नहीं सकता, रोटी के टुकड़े कर नहीं सकता, दाँत को ऐसे कर नहीं सकता। आहा...हा...!

मुमुक्षु : पेट में दाँत नहीं है तो चबाना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाँत का काम दाँत की पर्याय में है। दाँत की पर्याय जो है, उसकी सत्ता है, उस दाँत के जो परमाणु हैं, उसमें वह सत्ता द्रव्य है, उसकी शक्ति में सत्तागुण है, उससे दूसरे गुण हैं उस रूप सत्ता नहीं है और उसकी एक समय की सत्ता की पर्याय सत्तारूप है। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है। ऐसा वीतराग का मार्ग है। अन्य कहते हैं कि छहकाय की दया पालना... बापू! तू कौन है? कितनी मर्यादा में है? दूसरे कौन हैं? कितनी मर्यादा में हैं? उसका यथार्थ ज्ञान (होना), वह तेरी दया है। जैसा है वैसा जानना, यह तेरी दया है और जैसा है, वैसा नहीं जानना, वह तेरी हिंसा है। आहा...हा...! ऐसा है। ये सभी गाथाएँ सूक्ष्म हैं, तो भी समझ में आवे ऐसी है।

इस प्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है, जिसके कारण.... अर्थात् 'वह भाव नहीं' उसके कारण **उनमें अन्यत्व है....** द्रव्य, गुणभाव नहीं; गुणभाव, द्रव्यभाव नहीं; गुणभाव, पर्यायभाव नहीं — इस अपेक्षा से — अतद्भाव की अपेक्षा से — 'वह' भाव 'यह' नहीं, इस अपेक्षा से अन्यत्व है। यह गुण वह द्रव्यरूप नहीं; यह गुण वह पर्यायरूप नहीं, यह गुण वह दूसरे गुणरूप नहीं; इस प्रकार अतद्भाव है। 'उसरूप' भाव नहीं, इसकी अपेक्षा से अन्यत्व है। पृथक् परमाणु एक-एक द्रव्य अलग है, उसकी बात (नहीं)। वह तो पृथक् (प्रदेश से) भिन्न है। आहा...हा...! अद्भुत काम! शीशपैन की नोंक निकाल नहीं सकता — ऐसा कहते हैं। कलम से लिख नहीं सकता, बोल नहीं सकता; बोलने की जड़ की अवस्था है, वह तो पृथक्रूप में गया। यहाँ अतद्भावरूप से अन्यत्व की बात चलती है। दूसरे तो पृथक् प्रदेश ही है, इसलिए अन्यत्व है; अतः उनके साथ तो कुछ बात ही नहीं है। आहा...हा...! यह तो अतद्भाव (अर्थात्) 'यह' भाव 'वह' नहीं 'यह' 'वह नहीं' — ऐसे अतद्भाव की अपेक्षा से एक-दूसरे के प्रदेशभेद न होने पर भी, अन्यत्वपना कहा जाता है। आहा...हा...! है या नहीं इसमें? देखो न! यह सोनगढ़ का लिखा हुआ नहीं है (फिर लोग) सोनगढ़ का एकान्त है (— ऐसा) एकान्त कहकर निकाल देते हैं। अरे... भाई! सुन तो सही, प्रभु! आहा...हा...! एकान्त किसे कहना? अनेकान्त किसे कहना? (तुझे) इसका पता नहीं है। आहा...हा...!

इसी प्रकार सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जैसे एक सत्तागुण का कहा कि सत्ता और द्रव्य भिन्न, सत्ता का गुण भिन्न और सत्ता की पर्याय सत्ता से भिन्न; इस प्रकार समस्त द्रव्यों में सझना। **इस प्रकार इस गाथा में सत्ता का उदाहरण देकर...** सत्ता का उदाहरण दिया है। ऐसा ज्ञान, दर्शन, आनन्द (या) कोई भी गुण, वह गुण द्रव्यरूप से, वह गुण, गुणरूप से, वह गुण पर्यायरूप से भिन्न-भिन्न है। आहा...हा...! **सत्ता का उदाहरण देकर अतद्भाव को स्पष्टतया समझाया है।**

यहाँ इतना विशेष है कि जो सत्तागुण के सम्बन्ध में कहा है, वह अन्य गुणों के विषय में भी भलीभाँति समझ लेना चाहिए। जैसे कि सत्तागुण की भाँति एक आत्मा के पुरुषार्थगुण को.... आहा...हा...! वीर्यगुण लेना है, वीर्य! आत्मा में अनादि

–अनन्त एक पुरुषार्थगुण है। आ...हा...! **पुरुषार्थगुण को 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य'....** पुरुषार्थगुण को पुरुषार्थी आत्मद्रव्य! आहा...हा...! पुरुषार्थगुण को अन्य गुण से भिन्नपना **'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण'....** है? **एक आत्मा के पुरुषार्थगुण को 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य' 'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण'....** उनसे दूसरा गुण लेना। **और 'पुरुषार्थी सिद्धत्वादि पर्याय'....** आहा...हा...! ऐसे ही सम्यक्त्व की पर्याय में श्रद्धागुण है। आत्मा में श्रद्धागुण है, सम्यक्त्व पर्याय है। यह श्रद्धागुण है, वह आत्मारूप है। यह श्रद्धागुण है, वह अन्य गुणरूप नहीं है और जो श्रद्धागुण है, वह एक समय की पर्यायरूप नहीं है। सम्यक्त्व की पर्यायरूप श्रद्धागुण नहीं है — इस प्रकार श्रद्धागुण पर्यायरूप नहीं है और पर्याय श्रद्धागुणरूप नहीं है, और श्रद्धागुण एक द्रव्यरूप नहीं है। आहा...हा...! ऐसा है। यह तो सामने अधिकार आया हो तब चले न? खींच कर ऊपर से लिया जाए तो झट बैठे नहीं। यह तो इसमें कथन है इसलिए (स्पष्टता होती है)। आहा...हा...!

अरे...रे...! इसने कुछ गरज नहीं की कि मेरा क्या होगा? आँख बन्द करके चौरासी के अवतार में चला जाएगा। सत्य की शरण नहीं ले और सत्य है, उस प्रकार (नहीं माने तो भटक कर मरेगा) सत्य को सत्यरूप से, वस्तु को वस्तुरूप से रख। श्रीमद् कहते हैं। श्रीमद् में एक वाक्य है, वस्तु को वस्तुरूप से रख, तू कुछ फेरफार मत कर। आहा...हा...! जिस प्रकार द्रव्य है, उस प्रकार रख। जिस प्रकार गुण है, उस प्रकार रख। जिस प्रकार पर्याय है, उस प्रकार रख। आहा...हा...! यहाँ तो (अभी) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करे, इसका ही पूरा विवाद है। अन्य स्थानकवासी में तो यह आता है न? कि 'दया वह की बेलड़ी, दया वह दु:ख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया के प्रमाण।' वह पर की दया। पर की दया तीन काल में कर नहीं सकता। आहा...हा...! उससे धर्म मानकर इसे मुक्ति करनी है। (परन्तु) पर की दया का भाव है, वही राग है। आहा...हा...! राग है वह आत्मा के स्वरूप की हिंसा है। 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में है। अमृतचन्द्राचार्य! यह तो वीतराग के सिद्धान्त हैं। भाई! कल्पित नहीं, यह कोई कल्पित बनाया हुआ (नहीं है) कि मेल न खाये, यह तो चारों ओर से देखो तो सत् का सतपना खड़ा रहता है। आहा...हा...!

यहाँ इतना विशेष है कि जो सत्तागुण के सम्बन्ध में कहा है, वह अन्य गुणों के विषय में भी भलीभाँति समझ लेना चाहिए। जैसे कि सत्ता गुण की भाँति एक आत्मा के पुरुषार्थगुण को 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य'.... आहा...हा... ! पुरुषार्थी द्रव्य ! **'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण' और 'पुरुषार्थी सिद्धत्वादि पर्याय' — इस प्रकार विस्तरित कर सकते हैं।** आहा...हा... ! ऐसे एक श्रद्धा नाम का गुण है, वह श्रद्धा द्रव्यरूप से वर्णन की जाती है, वह श्रद्धा अन्य गुणरूप से नहीं और वह श्रद्धा सम्यक्त्व की पर्यायरूप से नहीं। आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन की पर्याय.... श्रद्धागुण है, वह तो कायम है (और) पर्याय तो एक समय की अवस्था है, इसलिए वह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं, पर्याय की पर्याय है। आहा...हा... !

सत्तागुण की भाँति एक आत्मा के पुरुषार्थगुण को 'पुरुषार्थी आत्मद्रव्य' 'पुरुषार्थी ज्ञानादिगुण'.... अर्थात् अपने अलावा अन्य गुण, **और 'पुरुषार्थी सिद्धत्वादि पर्याय' — इस प्रकार विस्तरित कर सकते हैं।** विस्तरित कर सकते हैं। **अभिन्नप्रदेश होने से...** परन्तु उस-उस द्रव्य के और गुण तथा पर्याय के प्रदेश अभिन्न हैं। जैसे एक द्रव्य के प्रदेश से दूसरे द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं, वे तो सर्वथा अत्यन्त अभाव है, इस प्रकार यहाँ नहीं है। यहाँ तो — तीनों के प्रदेश अखण्ड है, अभेद है — ऐसे (अभिन्न) **प्रदेश होने से इस प्रकार विस्तार किया जाता है, फिर भी संज्ञा....** द्रव्य का नाम द्रव्य, गुण का नाम गुण, पर्याय का नाम पर्याय (इसका नाम संज्ञा)। **लक्षण...** द्रव्य का लक्षण द्रव्य का आश्रय, गुण का लक्षण गुण का अपना स्वतन्त्र, पर्याय का लक्षण स्वतन्त्र। आ....हा... ! **संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि....** प्रयोजन (अर्थात्) द्रव्य का प्रयोजन, गुण का आश्रय रहना वह, गुण का गुणपने रहना वह पर्याय का पर्याय — द्रव्य के आश्रय पर्याय रहे वह, (पर्याय का प्रयोजन) ऐसा। **प्रयोजनादि भेद होने से पुरुषार्थगुण को तथा आत्मद्रव्य को,....** आहा...हा... ! **ज्ञानादि अन्य गुण और सिद्धत्वादि पर्याय को अतद्भाव है,....** दोनों के बीच अतद्भाव है। आहा...हा... ! ज्ञानगुण है, वह दर्शनगुण नहीं और ज्ञान की पर्याय है, वह ज्ञानपने नहीं। आहा...हा... ! ज्ञानगुण है, वह उसकी पर्यायपने नहीं। समकित — श्रद्धा नामक का त्रिकाल गुण है, (वह) उसकी वर्तमान समकित पर्यायरूप

नहीं; वह समकित पर्याय उस त्रिकाली श्रद्धा-गुणरूप नहीं और वह द्रव्यरूप नहीं। आहा...हा...!

यह तो आँख का मोतियाबिन्द उतारना हो, उसकी बात है। दूसरी आँख का मोतियाबिन्द उतारने जानेवाले हैं न? आहा...हा...! आँख में अवरोध पड़ गया, कहते हैं तेरी दृष्टि में ज्ञान में ज्ञान का अवरोध पड़ गये हैं। आहा...हा...! फिर भी वह अज्ञान की पर्याय मिथ्यात्व-अज्ञानरूप है। वह गुणरूप नहीं हुई, द्रव्यरूप नहीं हुई। आहा...हा...! भूल हुई है, वह भूलपने की पर्याय में है, और जिसकी भूल हुई है वह गुण है, वह गुणरूप है, उसमें भूल नहीं है और वह भूल, द्रव्य में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा है। यह तो किस प्रकार का उपदेश! इसमें कहाँ छह काय जीव की (दया पालना) सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, रात्रि में चारों आहार का त्याग करना, यह तो इसमें कुछ आया नहीं।

भाई! तू क्या कर सकता है, वह तो पहले समझ! तेरी करने की मर्यादा क्या है? तेरी करने की मर्यादा तेरी पर्याय में है। तेरी करने की मर्यादा पर को कुछ भी कर सके, उस तेरी मर्यादा में तू नहीं है। आहा...हा...! दुकान पर बैठे, प्रतिदिन हजारों की आमदनी होती हो और पाँच, दस-दस हजार, बीस हजार की बिक्री होती हो क्या कहलाते हैं तुम्हारे वह? लकड़ी का... गल्ला! वह ऐसा भरे, पहले यह नहीं था न? नोट नहीं थे, रोकड़-रुपये (थे)। हमारे (दुकान में) छोटा गल्ला रखते, हाडफो (समझे) क्या कहा? हाडफा को क्या कहा? गल्ला! वह रखते, उसमें कभी तो वह गल्ला रुपयों से भर जाता, उस दिन! यह तो सत्तर वर्ष पहले की बात है। एक बार नगद रुपयों से भर जाए (इतना) बिक्री हो गई हो तो (भर जाए), तब ऐसे प्रसन्न होता है... ओ...हो...हो...! आज तो तीन सौ रुपये आ गये! तीन सौ रुपये रोकड़... रोकड़! उस समय (कागज के नोट) कहाँ थे? सब भ्रम है।

मुमुक्षु : आत्मा खो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खो जाता है, आहा...हा...! किस रास्ते चढ़ जाता है? अज्ञान के रास्ते चढ़ जाता है। आहा...हा...! सत्य का रास्ता छोड़कर अज्ञान के पन्थ में चला जाता

है। पता नहीं इसे, हाँ! नग्न साधु हो तो भी (असत्य के) पन्थ में चढ़ जाता है, यह दया, दान की राग की क्रिया है, वह धर्म है, वह मुझे धर्म का कारण है (— ऐसा माननेवाले) मिथ्यात्वभाव में चढ़ गये हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है।

(यहाँ कहते हैं कि) **इस प्रकार विस्तरित कर सकते हैं। अभिन्नप्रदेश होने से इस प्रकार विस्तार किया जाता है, फिर भी संज्ञा-लक्षण-प्रयोजनादि भेद होने से पुरुषार्थगुण को तथा आत्मद्रव्य को,....** आहा...हा...! वीर्यगुण और आत्मद्रव्य को... वीर्यगुण को और ज्ञानादि अनन्त गुणों को... आहा...हा...! पुरुषार्थगुण है, उसके साथ ज्ञानदर्शन, आनन्दगुण है, तथापि उसे **अन्य गुण और सिद्धत्वादि पर्याय को...** या (अन्य) गुण की पर्याय को **अतद्भाव है,....** तीनों के बीच अतद्भाव है। वह यह नहीं, वह यह नहीं, वह यह नहीं। आहा...हा...! पर्याय वह गुण नहीं; गुण वह द्रव्य नहीं; द्रव्य वह गुण नहीं; द्रव्य वह पर्याय नहीं; आहा...हा...! (ऐसा) **अतद्भाव है, जो कि....** अतद्भाव तीनों में जो अतद्भाव कहा कि पर्याय, गुण नहीं है; गुण, द्रव्य नहीं है; द्रव्य, गुण नहीं है — ऐसा जो अतद्भाव कहा (वह) **उनमें अन्यत्व का कारण है।** उस अतद्भाव में भिन्न-भिन्न चीज है, यह कारण है, वह अन्यत्व है। पृथक् प्रदेश है, उसका अन्यत्व है, वह तो अत्यन्त भिन्न है। एक द्रव्य को और दूसरे द्रव्य को पृथक् प्रदेश है, वह अन्यत्व तो अलग है परन्तु इस प्रकार अतद्भाव की अपेक्षा से उसे अन्यत्वपना है, पृथक् प्रदेश नहीं होने पर भी, आहा...हा...! ऐसा जैनधर्म होगा! लोगों ने सब जैनपना उड़ा दिया।

कहते हैं — एक दूसरे के भावरूप नहीं (होना) यह अतद्भाव हुआ, यही अन्यत्व है बस! यह अन्यत्व है। दूसरा पर का अन्यत्व तो प्रदेशभेद से है — अत्यन्त पृथक्। यह अतद्भाव की अपेक्षा से अन्यत्व है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म कथन आया। ●●

गाथा - १०८

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति -

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।१०८।।

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः।।१०८।।

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः, एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेः। न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवलक्षणोऽभावोऽतद्भावः। एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्। तथा हि - यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्। यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात्। यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं, तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात्। ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः।।१०८।।

अथ गुणगुणिनोः प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव संज्ञादिभेदरूपमतद्भावं दृढयति - **जं दव्वं तं ण गुणो** यद्द्रव्यं स न गुणः, यन्मुक्तजीवद्रव्यं स शुद्धः सन् गुणो न भवति। मुक्तजीवद्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थः। **जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो** योऽपि गुणः स न तत्त्वं द्रव्यमर्थतः परमार्थतः, यः शुद्धसत्तागुणः स मुक्तात्मद्रव्यं न भवति। शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं न भवतीत्यर्थः। **एसो हि अतब्भावो** एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भावः। उक्तलक्षण इति कोऽर्थः। गुणगुणिनोः संज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावः। **णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो** नैवाभाव इति निर्दिष्टः। नैव अभाव इति कोऽर्थः। यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्यं वाच्यं

न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशैरपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्नं भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्यः पुद्गलद्रव्यं भिन्नं सद्रव्यान्तरं भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्यं सत्तागुणाद्भिन्नं सत्पृथग्द्रव्यान्तरं प्राप्नोति। एवं किं सिद्धम्। सत्तागुणरूपं पृथग्द्रव्यं मुक्तात्मद्रव्यं च पृथगिति द्रव्यद्वयं जातं, न च तथा। द्वितीयं च दूषणं प्राप्नोति - यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथेव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नम्य सुवर्णत्वगुण-स्याप्यभावः, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्या-भाववस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभावः इत्युभयशून्यत्वं प्राप्नोति। यथेदं मुक्तजीवद्रव्ये संज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः।।१०८।।

अब, सर्वथा अभाव वह अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते हैं —

जो द्रव्य है, वह गुण नहीं, जो गुण, नहीं वह द्रव्य है।
परमार्थ से यह अतद्भाव, 'अभाव' नहीं जिनवर कहे॥

अन्वयार्थ – **[अर्थात्]** स्वरूप अपेक्षा से **[यद् द्रव्यं]** जो द्रव्य है **[तत् न गुणः]** वह गुण नहीं है, **[यः अपि गुणः]** और जो गुण है **[सः न तत्त्वं]** यह द्रव्य नहीं है। **[एषः हि अतद्भावः]** यह अतद्भाव है; **[न एव अभावः]** सर्वथा अभाव, वह अतद्भाव नहीं है; **[इति निर्दिष्टः]** ऐसा (जिनेन्द्रदेव द्वारा) दरशाया गया है।

टीका – एक द्रव्य में, जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है; जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है — इस प्रकार जो द्रव्य का गुणरूप से अभवन (न होना) अथवा गुण का द्रव्यरूप से अभवन, वह अतद्भाव है; क्योंकि इतने से ही अन्यत्वव्यवहार (अन्यत्वरूप व्यवहार) सिद्ध होता है। परन्तु द्रव्य का अभाव गुण है, गुण का अभाव द्रव्य है — ऐसे लक्षणवाला अभाव, वह अतद्भाव नहीं है। यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्य को अनेकत्व आ जायगा, (२) उभयशून्यता (दोनों का अभाव) हो जायगी, अथवा (३) अपोहरूपता आ जायगी। इसी को समझाते हैं —

(द्रव्य का अभाव, वह गुण है और गुण का अभाव, वह द्रव्य; ऐसा मानने पर प्रथम दोष इस प्रकार आयगा —)

(१) जैसे चेतनद्रव्य का अभाव, वह अचेतनद्रव्य है; अचेतनद्रव्य का अभाव,

वह चेतनद्रव्य है — इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव, वह गुण; गुण का अभाव, वह द्रव्य — इस प्रकार एक द्रव्य के भी अनेकत्व आ जायगा। (अर्थात् द्रव्य के एक होने पर भी उसके अनेकत्व का प्रसंग आ जायगा।)

(अथवा उभयशून्यत्वरूप दूसरा दोष इस प्रकार आता है —)

(२) जैसे सुवर्ण का अभाव होने पर सुवर्णत्व का अभाव हो जाता है और सुवर्णत्व का अभाव होने पर सुवर्ण का अभाव हो जाता है — इस प्रकार उभयशून्यत्व — दोनों का अभाव हो जाता है; उसी प्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव और गुण का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जायगा — इस प्रकार उभयशून्यता हो जायगी। (अर्थात् द्रव्य तथा गुण दोनों के अभाव का प्रसंग आ जायगा।)

(अथवा अपोहरूपता नामक तीसरा दोष इस प्रकार आता है —)

(३) जैसे पटाभावमात्र ही घट है, घटाभावमात्र ही पट है, (अर्थात् वस्त्र के केवल अभाव जितना ही घट है, और घट के केवल अभाव जितना ही वस्त्र है) इस प्रकार दोनों के अपोहरूपता है, उसी प्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण और गुणाभाव मात्र ही द्रव्य होगा — इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुण में भी) अपोहरूपता[१] आ जायगी, (अर्थात् केवल नकाररूपता का प्रसङ्ग आ जायगा।)

इसलिए द्रव्य और गुण का एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व[२] चाहनेवाले को यथोक्त ही (जैसा कहा वैसा ही) अतद्भाव मानना चाहिये॥ १०८॥

प्रवचन नं. ११८ का शेष **दिनाङ्क २८ जून १९७९**

अब, सर्वथा अभाव वह अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते हैं — अतद्भाव कहा इसलिए सर्वथा भिन्न है। दूसरे प्रदेश में है, ऐसा यह भिन्न नहीं है। यह कहते हैं। १०८ (गाथा)।

---

१. अपोहरूपता = सर्वथा नकारात्मकता; सर्वथा भिन्नता। (द्रव्य और गुण में एक-दूसरे का केवल नकार ही हो तो 'द्रव्य गुणवाला है' 'यह गुण इस द्रव्य का है' — इत्यादि कथन से सूचित किसी प्रकार का सम्बन्ध ही द्रव्य और गुण के नहीं बनेगा।)

२. अनपोहत्व = अपोहरूपता का न होना; केवल नकारात्मकता का न होना।

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो।।१०८।।

जो द्रव्य है, वह गुण नहीं, जो गुण, नहीं वह द्रव्य है।
परमार्थ से यह अतद्भाव, 'अभाव' नहीं जिनवर कहे॥

इतनी अपेक्षा से उसे अतत्पना कहा, दूसरे प्रकार से अतत्पना है नहीं। पर की अपेक्षा से देखो तो अतत्पना नहीं। आत्मा और परद्रव्य को जैसे अत्यन्त भिन्नता है — ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो वह भाव यह नहीं इस अपेक्षा से अतत्पना है। आहा...हा...! तुम तो पहले से दिगम्बर हो। तो यह पढ़ा नहीं तुमने? यह कोई अभी का नहीं है, यह पुस्तक तो पहले से है। कुन्दकुन्दाचार्य! आहा...हा...! १०८ (गाथा)।

टीका - एक द्रव्य में, जो द्रव्य है वह गुण नहीं है; जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है — इस प्रकार जो द्रव्य का गुणरूप से अभवन.... (अर्थात्) द्रव्य का गुणरूप नहीं रहना **अथवा गुण का द्रव्यरूप से अभवन....** द्रव्य का गुणरूप से अभवन और गुण का द्रव्यरूप से अभवन — दो की अपेक्षा से (बात है)। **वह अतद्भाव है;....** वह अतद्भाव है। **क्योंकि इतने से ही अन्यत्वव्यवहार (अन्यत्वरूप व्यवहार) सिद्ध होता है।** आहा...हा...! कितना स्पष्ट किया है! क्योंकि इतने से ही अर्थात् द्रव्य का (अस्तित्व) गुणरूप नहीं और गुण का (अस्तित्व) द्रव्यरूप नहीं है। इतने से ही अन्यत्व व्यवहार — अन्यत्व प्रकार का व्यवहार — अन्यत्वरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

परन्तु द्रव्य का अभाव गुण है,... ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **द्रव्य का अभाव गुण है, गुण का अभाव द्रव्य है — ऐसे लक्षणवाला अभाव, वह अतद्भाव नहीं है।** ऐसे लक्षणवाला (अभाव) अतद्भाव नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! जैसे परद्रव्य का अन्यत्व अत्यन्त भिन्न किया, वैसा अन्यत्व इसमें नहीं है। द्रव्य बिल्कुल गुणरूप नहीं और गुण पर्यायरूप नहीं (ऐसा नहीं है)। यह तो भाव की अपेक्षा से अतत्त्वपना कहा, (सर्वथा अभाव) **वह अतद्भाव नहीं है।**

यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्य को अनेकत्व आ जायगा,.... आहा...हा...!

(यदि ऐसा हो तो) सत्ताद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, दर्शन(द्रव्य), (ऐसे) अनन्त गुण के अनन्त द्रव्य आयेंगे। अनन्त गुण है तो अनन्त द्रव्य आयेंगे। **एक द्रव्य को अनेकत्व आ जायगा,....** अथवा **(२) उभयशून्यता....** (अर्थात्) दोनों का नाश होगा। गुण, द्रव्य नहीं; द्रव्य, गुण नहीं, यह तो दोनों का नाश हो जाएगा। आहा...हा... ! सूक्ष्म तो (है) **गुण का अभाव द्रव्य है — ऐसे लक्षणवाला अभाव वह अतद्भाव नहीं है। यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्य को अनेकत्व आ जायगा,....** (आगे) स्पष्टीकरण करेंगे। **(२) उभयशून्यता (दोनों का अभाव) हो जायेगी, अथवा (३) अपोहरूपता आ जायेगी।** (अर्थात्) एक दूसरे का अत्यन्त त्याग (होगा)। अत्यन्त त्याग (अर्थात्) द्रव्य को गुण का त्याग, गुण को द्रव्य का त्याग। आहा...हा... ! यह गाथा ही पूरी सूक्ष्म है। कहाँ थोड़ा अन्तर पड़ता है, और कहाँ अन्तर मिटता है ? यह समझाते हैं। आहा...हा... !

द्रव्य (वह) गुण नहीं, गुण (वह) पर्याय नहीं, गुण (वह) द्रव्य नहीं — इस अपेक्षा से उन्हें अतद्भाव — अन्यत्व सिद्ध होता है। दूसरे प्रकार से देखने जाओ कि सर्वथा द्रव्य, वह गुण नहीं और गुण वह द्रव्य नहीं, सर्वथा भिन्न है तो उसमें दोष आयेगा। आहा...हा... ! गुण है वह द्रव्य है तो अनन्त गुण है वह द्रव्य है, तब तो अनन्त गुणों का नाश होकर एक द्रव्य ही रहेगा। आहा...हा... ! और या अनन्त गुण हैं, वे द्रव्य हैं — ऐसा कहने से अनन्त गुण गुणरूप से नहीं रहेंगे, द्रव्य द्रव्यरूप से नहीं रहेगा, दोनों की शून्यता हो जाएगी। आहा...हा... ! **इसी को समझाते हैं।**

(द्रव्य का अभाव वह गुण है और गुण का अभाव वह द्रव्य; वह ऐसा मानने पर प्रथम दोष इस प्रकार आयेगा —)

(१) जैसे चेतनद्रव्य का अभाव वह अचेतनद्रव्य है,... ठीक है। **अचेतनद्रव्य का अभाव वह चेतनद्रव्य है — इस प्रकार उनके अनेकत्व है....** गुण का अभाव वह द्रव्य और द्रव्य का अभाव वह गुण — ऐसा आवे तो दोनों की शून्यता हो जाएगी और या अन्य द्रव्य हो जायेंगे। अनन्त गुण हैं, वे अनन्त द्रव्य हो जायेंगे। आहा...हा... ! **उसी प्रकार द्रव्य का अभाव वह गुण, गुण का अभाव वह द्रव्य — इस प्रकार एक द्रव्य के भी अनेकत्व आ जायगा।....** अनन्त गुण हैं वे द्रव्य हो गये — अनन्त द्रव्य हो गये।

(अर्थात् द्रव्य के एक होने पर भी उसके अनेकत्व का प्रसंग आ जायगा।) आहा...हा... !

यह पहला बोल कहा। दूसरा बोल (विशेष कहेंगे) !

प्रवचन नं. ११९ **दिनाङ्क २९ जून १९७९**

प्रवचनसार, गाथा १०८। इसमें नीचे से चलता है। **(उभयशून्यत्वरूप दूसरा दोष....)** आता है, वह (लेना है)। फिर से लेते हैं। **(द्रव्य का अभाव, वह गुण है और गुण का अभाव, वह द्रव्य; ऐसा मानने पर प्रथम दोष इस प्रकार आयेगा।)** फिर से लिया है। द्रव्य है, उसका अभाव वह, गुण है (–ऐसा नहीं है)। अन्यत्व कहा (वह) ठीक है। द्रव्य और गुण को अन्यत्व (है, वह) ठीक है परन्तु द्रव्य का अभाव, वह गुण और गुण का अभाव, वह द्रव्य – यह बात मिथ्या है। इसमें दोनों की शून्यता हो जाती है। **(द्रव्य का अभाव, वह गुण है और गुण का अभाव, वह द्रव्य; ऐसा मानने पर प्रथम दोष इस प्रकार आयेगा।)** यह कहते हैं।

(१) जैसे चेतनद्रव्य का अभाव, वह अचेतनद्रव्य है, अचेतनद्रव्य का अभाव, वह चेतनद्रव्य है.... आहा...हा... ! चेतनद्रव्य है, उसका अभाव, (वह) अचेतनद्रव्य है। कर्म, शरीर, वाणी, मन, सब अचेतन अभाव है। अचेतनद्रव्य का अभाव, वह चेतनद्रव्य है – ऐसा सिद्ध हो। **इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव, वह गुण; गुण का अभाव, वह द्रव्य – इस प्रकार एक द्रव्य के भी अनेकत्व आ जायेगा। (अर्थात् द्रव्य के एक होने पर भी उसके अनेकत्व का प्रसंग आ जायगा।)** द्रव्य, वह गुण नहीं है – ऐसा कहा। इस प्रकार अन्यत्व है परन्तु द्रव्य का अभाव, वह गुण और गुण का अभाव, वह द्रव्य (यदि ऐसा होवे तो) दोनों सत्य सिद्ध नहीं होंगे, दोनों की शून्यता होगी। ऐसी बातें! आचार्यों ने बात सिद्ध करने के लिए कितनी (स्पष्टता की है)।

कारण कि द्रव्य है, वह तो अनन्त गुण का पिण्ड है। अब यह गुण है, वह द्रव्य कहें तब तो गुण है, वह तो तद्भाव भिन्न है और द्रव्य है, वह तद्भाव भिन्न है। तद्भाव भिन्न

है – इस अपेक्षा से अतद्भाव है परन्तु अतद्भाव ऐसा नहीं कि एक-दूसरे का अत्यन्त अभाव (होवे) – ऐसा अन्यत्व नहीं है। आहा...हा...! यह तो सब न्याय के ग्रन्थ हैं।

(अथवा उभयशून्यत्वरूप दूसरा दोष इस प्रकार आता है)

(२) जैसे सुवर्ण का अभाव होने पर.... स्वर्णपना (अर्थात्) गुण उसका (स्वर्णपने का) **अभाव हो जाता है।....** स्वर्ण अर्थात् द्रव्य **सुवर्ण का अभाव होने पर सुवर्णत्व का अभाव हो जाता है और सुवर्णत्व का अभाव होने पर सुवर्ण का अभाव हो जाता है – इस प्रकार उभयशून्यत्व – दोनों का अभाव हो जाता है; उसी प्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव.....** आहा...हा...! द्रव्य से गुण अत्यन्त अभाव (स्वरूप) है – ऐसा कहे तो दोनों की शून्यता आती है। आहा...हा...! **द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव हो जायेगा....** यदि द्रव्य अत्यन्त भिन्न (होवे) और गुण अत्यन्त भिन्न (होवे) तो द्रव्य का भी अभाव होता है। आहा...हा...! (क्योंकि) गुण स्वभाववाला द्रव्य है और द्रव्य का अत्यन्त अभाव कहो तो गुण का अभाव हो जायेगा और गुण का अभाव कहो तो द्रव्य का अभाव हो जायेगा। कहो, व्यापारी को यह न्याय पकड़ में आता है? आहा...हा...!

(यहाँ पर) सिद्ध तो ऐसा करना है कि तीन, तीन है – द्रव्य, गुण और पर्याय; इस अपेक्षा से अन्यत्वपना है कि द्रव्य, वह गुण नहीं; गुण, वह पर्याय नहीं; पर्याय, वह गुण नहीं। इस अपेक्षा से उनका अन्यत्वपना है परन्तु द्रव्य का अभाव, वह गुण और गुण का अभाव, वह द्रव्य – ऐसा नहीं है। भाई! यह तुम्हारी बहियों में कहीं नहीं आता होगा, सम्प्रदाय में भी अभी चलता नहीं है। आहा...हा...!

सिद्ध यह करना है कि गुण है, उसका भाव, द्रव्य से अतद्भाव है। जैसा वह गुणभाव है, वैसा द्रव्यभाव है – ऐसा नहीं है क्योंकि द्रव्यभाव एकरूप है, गुणभाव अनेकरूप है। आहा...हा...! परन्तु अत्यन्त अभाव लेने जाये तो द्रव्य के अभाव से गुण भी नहीं रहेंगे और गुण के अभाव में द्रव्य भी नहीं रहेगा। उसका अतद्भावरूप से अन्यत्व कहा गया है परन्तु फिर भी एक-दूसरे में अत्यन्त अभावरूप अन्यत्व मानोगे तो दोनों की शून्यता होगी। समझ में आया? व्यापारी को ऐसा तो कभी आया नहीं होगा, लोहे के व्यापार में यह सब आता है? आहा...हा...!

यहाँ तो (ऐसा कहना है कि) परद्रव्य से तो अत्यन्त अभाव है परन्तु प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य और गुण है, (इन) दो के बीच अतद्भाव है। अतद्भाव की अपेक्षा से इन्हें अन्यत्व कहा जाता है परन्तु द्रव्य में सर्वथा गुण नहीं है और गुण में द्रव्य नहीं है (यदि ऐसा कहो) तब तो दोनों का अभाव हो जायेगा। समझ में आया? आहा...हा...! आचार्यों ने जगत् को करुणा करके एक-एक शब्द... टीका (करके बोध दिया है)। अप्रमत्तदशा में रहना, ध्यान में रहना.... आहा...हा...! उसमें फिर यह विकल्प आया (तो)... आहा...हा...! भव्य के हित के लिए टीका (रच गयी)।

अथवा **उभयशून्यता हो जायेगी....** अर्थात् दोनों का अभाव हो जायेगा - द्रव्य, गुण दोनों का अभाव हो जायेगा। द्रव्य से गुण अत्यन्त पृथक् और गुण से द्रव्य पृथक् होवे तो दोनों का अभाव हो जायेगा। ऐसे दोनों भिन्न हैं - ऐसा नहीं है। मात्र इस भावरूप वह नहीं है (अर्थात्) द्रव्य के भावरूप गुणभाव नहीं है और गुण के भावरूप द्रव्यभाव नहीं है, इतना अतद्भाव का अन्यत्व सिद्ध करना है परन्तु गुण से द्रव्य सर्वथा भिन्न और द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न होवे तो दोनों की शून्यता हो जायेगी। द्रव्य, गुण के बिना नहीं होता और गुण, द्रव्य के बिना नहीं होता। सत्य है?

(अथवा अपोहरूपता नामक तीसरा दोष....) आता है। **(३) जैसे पटाभावमात्र ही घट है,....** वस्त्र के पूर्ण अभावपने घट है। **(अर्थात् वस्त्र के केवल अभाव जितना ही घट है,....** घड़ा **और घट के केवल अभाव जितना ही वस्त्र है) इस प्रकार दोनों के अपोहरूपता है,....** (आती है)। दोनों के बीच का निषेध आवे, त्याग आवे। द्रव्य को गुण का त्याग और गुण को द्रव्य का त्याग (आता है)। आहा...हा...! **उसी प्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण हो....** द्रव्य के अभावमात्र ही गुण अलग रहें। जैसे, पट से अत्यन्त पृथक् घट है। इसी प्रकार द्रव्य से गुण अत्यन्त पृथक् रहेंगे। आहा...हा...! और **गुणाभाव मात्र ही द्रव्य....** हो; गुण के अभावमात्र ही अकेला द्रव्य अलग हो। **इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुण में भी) अपोहरूपता आ जायगी,....** नकारता आयेगी, सर्वथा नकारपना आ जायेगा। सर्वथा नकार, सर्वथा भिन्न (पना आयेगा) (परन्तु) ऐसा नहीं होता है। कथंचित् तद्भाव को भिन्न गिनकर कथंचित् कहा है। तद्भावपने नहीं यह

गिनकर उसे भिन्न कहा है परन्तु अत्यन्त गुण के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण सर्वथा कहो तो दोनों की शून्यता हो जायेगी। द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकेंगे और गुण के बिना द्रव्य नहीं रह सकेगा। आहा...हा... ! ऐसा कहीं तुम्हारे व्यापार में आता है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : कोर्ट में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोर्ट में आता है, वह तो वकीलों का है न ? यह तो व्यापारी को मैं कहता हूँ। आहा...हा... !

(यहाँ) सिद्ध क्या करना है ? कि जो वस्तु है, वह द्रव्य है और उसके ज्ञानादि, सत्ता आदि गुण हैं, अब यदि इन दो के बीच सर्वथा अभाव मानो अर्थात् द्रव्य के अभावरूप से गुण और गुण के अभावरूप से द्रव्य (मानो) तो दोनों का नकार (निषेध) हो जायेगा, दोनों शून्य हो जायेंगे। द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकेंगे और गुण के बिना द्रव्य नहीं रह सकेगा। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इस प्रकार दोनों को अपोहरूपता है, उसी प्रकार द्रव्याभाव मात्र ही गुण.... (अर्थात्) वस्तु के अभाव मात्र ही अकेला ज्ञानगुण पृथक्, जिसे द्रव्य को और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यदि ऐसा कहने जाओ तो दोनों बात का अभाव हो जायेगा। आहा...हा... ! आचार्यों को करुणा की कृपा आयी है न ! जगत् के ऊपर करुणा बरसती है, अरे...रे... ! प्राणियों ! जिस प्रकार वस्तु है, उसे समझो और समझने के बाद अन्तर से पर से भेद करो और अभेद की दृष्टि को खिलाओ ! अभेददृष्टि को खिलाओ ! आहा...हा... ! ऐसी बात की है।

यह तो जिसे संसार का भय लगा हो, चौरासी के अवतार का डर लगा हो.... आहा...हा... ! उसके लिये यह बात है। जिसे भव का अभाव करने का भाव हो... आहा...हा... ! उसे इस प्रकार जो कहा है, उस प्रकार (समझे) तो भव का अभाव होता है, इसमें से कम अधिक विपरीत (समझे तो) नहीं। आहा...हा... !

जैसे शरीर का अत्यन्त अभाव, वह आत्मा और आत्मा का अत्यन्त अभाव, वह शरीर.... ठीक है ? इस शरीर का अत्यन्त अभाव, वह आत्मा और आत्मा का अत्यन्त अभाव, वह शरीर। इस प्रकार द्रव्य का अत्यन्त अभाव, वह गुण और गुण का अत्यन्त

अभाव, वह द्रव्य (-ऐसा) करने जाये तो दोनों का नाश होगा। कहो, समझ में आया? आहा...हा...! अरे! दिगम्बर सन्तों ने तो जगत को कल्याण करने का मार्ग (बतलाकर निहाल किया है)। निहालकरण है यह! आहा...हा...! उन वैष्णवों में, स्वामी नारायण में कहते हैं कि स्वामी नारायण ने निहालकरण किया है। उस काठी को माँस (खाने के) दोष से छुड़ाया। ब्रह्मचारी पक्का; उसमें कुछ फेरफार नहीं, इसलिए उसके कारण (बाहर में) छाप (प्रसिद्धि) बहुत हुई, पक्का ब्रह्मचारी मनुष्य, हाँ! एक कठियाड़ी थी, वह साथ बैठी थी, तथापि उसे (कुछ विकल्प) बिल्कुल नहीं परन्तु वस्तु का पता नहीं, इसलिए (क्या होवे)? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि... आहा...हा...! भगवान आत्मा जैसे परद्रव्य से अभावस्वरूप है, वैसे अपने गुण से अत्यन्त अभावस्वरूप है और द्रव्य है, वह गुण से अत्यन्त अभावस्वरूप है; जैसे वस्त्र से घड़ा अत्यन्त अभावस्वरूप है; घड़े से वस्त्र अत्यन्त अभावस्वरूप है - ऐसा यदि यहाँ अभावस्वरूप होवे, तब तो शून्य हो जाये। आहा...हा...! समझ में आया?

ध्यान रखे तो (समझ में आवे ऐसा है) भाषा तो सादी है। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू! आहा...हा...! सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ को वाणी आयी, गणधरों ने रची, उसका यह नमूना रहा है! आहा...हा...! ऐसा नहीं समझना कि अभी साधारण पंचम काल है और अमुक है, इसलिए नहीं (समझ में आयेगा।) भगवान की साक्षात् वाणी है! आहा...हा...! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की वाणी है, प्रभु!

तुझे पर से अत्यन्त भिन्न बताया, यह तो सत्य है परन्तु तुझे गुण से द्रव्य को अतद्भावरूप से बतलाया परन्तु इससे तू ऐसा मान ले कि गुण है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह गुण नहीं तो बड़ा दोष आयेगा। गुण के बिना द्रव्य की सिद्धि नहीं होगी और द्रव्य के बिना गुण की सिद्ध नहीं होगी। बात साधारण नहीं है। आहा...हा...! जंगल निवासी सन्तों ने जगत को.... आहा...हा...! जाहिर करके जागृत करते हैं! प्रसिद्ध करके जागृत करते हैं, प्रभु! तू पर से तो त्रिकाल भिन्न! कर्म से, शरीर से, वाणी से, और कहते हैं कि देव-गुरु हैं, उनसे भी तू अत्यन्त भिन्न है। आहा...हा...!

(घट और पट का दृष्टान्त कहा, वैसे यदि तू) द्रव्य के विषय में माने तो ऐसा नहीं

है। हमने अन्यत्व अवश्य कहा है (कि) द्रव्य, वह गुण नहीं है, गुण, वह द्रव्य नहीं है - ऐसा अतद्भावरूप से अन्यत्व कहा है। 'उस' भाव नहीं, 'उस' भाव नहीं - इस अपेक्षा से द्रव्यभाव, वह गुणभाव नहीं है, गुणभाव वह द्रव्यभाव नहीं है। इस अपेक्षा से हमने अतद्भावरूप से अन्यत्व कहा है परन्तु उसका अर्थ तू ऐसा ले जाये कि गुणमात्र का अभाव, वह द्रव्य और द्रव्यमात्र का अभाव, वह गुण है तो दोनों की शून्यता हो जायेगी। यह तो सब लॉजिक - न्याय है! भगवान के कायदे हैं! सरकार के लिखे हुए कायदे वकील करते हैं। यह तो प्रभु के कायदे हैं।

वस्तु की मर्यादा इस प्रकार है, इस प्रकार से मर्यादा का ज्ञान यथार्थ (रीति से) न आवे, तब तक स्वभावसन्मुख नहीं ढला जा सकता। आहा...हा...! जिस प्रकार से उसकी मर्यादा भेद-अभेद की अपेक्षा से है (उस प्रकार से समझना चाहिए)। अतद्भाव की अपेक्षा से अन्यत्व है और गुण के बिना अकेला द्रव्य नहीं रहता तथा द्रव्य के बिना अकेले गुण नहीं रहते, इस अपेक्षा से दोनों भाव वहाँ एकसाथ हैं। आहा...हा...! आहा...हा...! दोनों भाव एकसाथ हैं। द्रव्यभाव के बिना गुणभाव नहीं होता और गुणभाव के बिना द्रव्यभाव नहीं होता तथा फिर भी द्रव्यभाव और गुणभाव के बीच अतद्भावरूप अन्यत्व तो कहा है। आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ है! बापू! आहा...हा...!

दिगम्बर सन्त तो केवलज्ञान के मार्गानुसारी हैं! यह रास्ता ही केवलज्ञान होने का है। आहा...हा...! केवलज्ञानी का कहना है, बड़े पुरुष का वचन है! आहा...हा...! परमात्मा त्रिलोक के नाथ का कथन, प्रभु का आया वेण! आहा...हा...! उसका निषेध नहीं होता। आहा...हा...! तू चाहे जैसी चतुराई में चढ़ गया हो परन्तु इस प्रकार (समझ) नहीं होवे तो तेरी चतुराई काम नहीं आवेगी। आहा...हा...! वहीं का वहीं समा जा! गुण है, उसे द्रव्य में मिला दे! आहा...हा...! है भले ही अतद्भाव परन्तु गुण, द्रव्य में मिला दे, आहा...हा...! तब तुझे द्रव्यदृष्टि होकर जैसा सम्यक्-सत्य है - ऐसी सत्य दृष्टि प्रगट होगी। आहा...हा...!

सबेरे आया था भेदविज्ञान, यह प्रथम मूल कारण ही यह है। आहा...हा...! भेद -विज्ञान ही मूल कारण है। यह तो आत्मा का आश्रय लेना, इसका अर्थ ही यह हुआ कि पर से भिन्न पड़कर आश्रय लेना, इसका भेदज्ञान ही मूल कारण है। भले ही **भूदत्थमस्सिदो**

खलु – भूतार्थ का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन होता है (– ऐसा कहा)। वहाँ भी भेदविज्ञान ही आया है। आहा...हा...! पर से भिन्न और स्वभाव से अभिन्न की दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ भी पर से भिन्न और स्व से अभिन्न की बात आयी, क्योंकि अनन्त द्रव्य है, अनन्त द्रव्य है और एक-एक द्रव्य में गुण भेद और द्रव्य भेद है। आहा...हा...! परन्तु जैसा अन्य से भेद / अभाव है, वैसा गुण और द्रव्य के बीच अभाव नहीं है। आहा...हा...! क्या करुणा से बात करते हैं! आहा...हा...! है तो सादी परन्तु बहुत ऊँची!! आहा...हा...!

दोनों को अपोहता (होगी) अर्थात् दोनों में निषेधता हो जायेगी। **उसी प्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण और गुणाभाव मात्र ही द्रव्य होगा – इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुण में भी) अपोहरूपता आ जायेगी,....** अर्थात् सर्वथा नकार, सर्वथा पृथक्ता आ जायेगी। सर्वथा पृथक्ता आ जायेगी, सर्वथा एक-दूसरे का त्याग है (–ऐसा होगा)। द्रव्य को गुण का त्याग, गुण को द्रव्य का त्याग – ऐसा हो जायेगा। आहा...हा...!

परवस्तु का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। परमाणु से लेकर भगवान आदि छह द्रव्यों का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं – ऐसा तो उसका स्वभाव है। ऐसा जो गुण है, वह गुण और गुणी के बीच अतद्भाव है। आहा...हा...! पर – भगवान त्रिलोकनाथ से तेरी पृथक्ता है, वह तो बिल्कुल अभावस्वरूप है, सर्वथा अभावस्वरूप है। ऐसे ज्ञान, वह आत्मा नहीं और आत्मा, वह ज्ञान नहीं – ऐसा उनमें सर्वथा अभाव नहीं है। वह तो अतद्भाव है – यह द्रव्यभाव है, वह गुणभाव नहीं; गुणभाव है, वह द्रव्यभाव नहीं और पर्यायभाव है, वह गुणभाव नहीं – इतनी अपेक्षा से भाव को भिन्न कहा है। यदि सर्वथा भिन्न करने जायेगा तो नहीं रहेगा द्रव्य, नहीं रहेंगे गुण, नहीं रहेंगी पर्यायें। आहा...हा...! साधारण लोगों को यह बात (साधारण लगती है) परन्तु साधारण नहीं, प्रभु! आहा...हा...! अत्यन्त अन्दर भिन्नता और स्वभावभाव भिन्न है (–ऐसा) दो बतलाना है। पर से अत्यन्त भिन्नता और अन्दर के द्रव्य-गुण के साथ सर्वथा अभाव नहीं परन्तु अतद्भावरूप से अन्यत्व अवश्य है। उसे भी तू निकाल डाले तो नहीं चलेगा। उसी प्रकार गुण-गुणी के अतद्भावरूप से अन्यत्व कहा, उसी प्रकार दो के बीच सर्वथा अभाव कर डालेगा तो वह भी नहीं होगा। आहा...हा...! कहो, यह प्रवचनसार पढ़ा है या नहीं? तुम तो फुरसत में हो। आहा...हा...!

(केवल नकाररूपता का प्रसङ्ग आ जायगा।) इसलिए द्रव्य और गुण का एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहनेवाले को.... आहा...हा...! कथंचित् प्रकार से द्रव्य और गुण का एकपना, अशून्यत्वपना और अनपोहत्व – अत्यागपना **चाहनेवाले को यथोक्त ही (जैसा कहा वैसा ही) अतद्भाव मानना चाहिये।** यहाँ अन्तिम यह बात सिद्ध की है। अतद्भाव इस प्रकार मानने योग्य है। किस प्रकार ? कि (जो) द्रव्य है, वह भाव और गुण है, वह भाव और दो (भावों के) बीच अतद्भाव है – इतना, परन्तु इन दो के बीच में अत्यन्त अभाव है (–ऐसा नहीं)। अतद्भाव है, वह अलग बात है और सर्वथा अभाव है, वह अलग बात है। सर्वथा अभाव में तो द्रव्य भी नहीं रहेगा और गुण भी नहीं रहेगा। गुण के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण होवे तो दोनों शून्य हो जायेंगे। आहा...हा...! कितने न्याय दिये हैं! लोग बाहर के क्रियाकाण्ड में जुड़ गये हैं परन्तु वास्तविक तत्त्व जो अन्दर ज्ञान में – भाव में जिस प्रकार है, (उस प्रकार से) भासन होना चाहिए – ऐसा भासित हुए बिना उसे उसकी प्रतीति नहीं होती। आहा...हा...! जिस प्रकार भेद-अभेद है, उस प्रकार भासन न हो, तब तक उसे सत्य की प्रतीति नहीं होती है। आहा...हा...! वहाँ इसके क्रियाकाण्ड जरा भी काम नहीं आयेंगे। आहा...हा...!

मुमुक्षु : क्रियाकाण्ड में कुछ विचार नहीं करना पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रियाकाण्ड में विचार करने का क्या होता है ? धूल! मजदूरी है, क्लेश है, क्लेश (समयसार में) निर्जरा अधिकार में लिया है न ? कलश है, कलश... क्लेश करो तो करो (ऐसा) श्लोक है। आहा...हा...! यह क्लेश है (समयसार, कलश १४२)।

प्रभु! तू राग से तो अत्यन्त अभावस्वभाव है; गुण से अत्यन्त अभावस्वभाव नहीं; गुण से तो अतद्भाव है परन्तु राग से तो अत्यन्त अभावस्वभावस्वरूप है। आहा...हा...! समझ में आया ? शरीर से तो अत्यन्त अभावस्वभावस्वरूप है; इसलिए शरीर की क्रिया कुछ भी तुझसे होती है या शरीर तुझे कुछ भी क्रिया में मददरूप होता है, यह बिल्कुल नहीं है क्योंकि दो के बीच में अत्यन्त अभाव-स्वभाव है। इसी प्रकार गुण और द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव-स्वभाव नहीं है, मात्र भाव में अन्तर है, वह अतद्भाव कहा कि द्रव्य, वह

गुण नहीं; गुण वह द्रव्य नहीं परन्तु इतने मात्र से ऐसा मान ले कि अतद्भाव है, इसलिए वस्तु ही अत्यन्त पृथक् है – द्रव्य भी पृथक् और गुण भी पृथक्.... तो दोनों की शून्यता हो जायेगी। बापू! तेरी नजर अभेद में नहीं जायेगी। आहा...हा...!

दूसरे प्रकार से (कहते हैं कि) गुण को (और) गुणी को दोनों को अतद्भाव कहा, तथापि वे भिन्न नहीं हैं। द्रव्य परिणमते हुए गुण साथ में परिणमते हैं, भाई! आता है न? चिद्विलास में? भाई! चिद्विलास में! गुण परिणमते हुए द्रव्य परिणमता नहीं। यदि तुम द्रव्य से गुण अत्यन्त भिन्न ही कहो तो गुण परिणमते हुए द्रव्य परिणमित नहीं होता। आहा...हा...! चिद्विलास में आता है। द्रव्य परिणमते हुए गुण साथ ही परिणमते हैं। कारण कि द्रव्य अखण्ड पिण्ड है, वह परिणमते हुए गुण परिणमता है। आहा...हा...! दो के बीच अतद्भाव होने पर भी, दो के बीच अत्यन्त अन्यत्व का – अभाव का अभाव है; इसलिए द्रव्य परिणमते हुए गुण परिणमते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड है, इसलिए द्रव्य परिणमे तो गुण तो परिणमे ही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य परिणमे तो गुण (परिणमे)। गुण परिणमे तो द्रव्य परिणमे – ऐसा नहीं। द्रव्य परिणमते हुए गुण परिणमते हैं क्योंकि अनन्त गुण का आश्रय द्रव्य है, उनका आधार द्रव्य है; इसलिए द्रव्य परिणमते हुए, गुण परिणमते हैं। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन की पर्याय होने पर भी, वह द्रव्य परिणमता है, आहा...हा...! त्रिकाली ध्रुवस्वरूप हूँ – ऐसी द्रव्य पर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन की पर्यायरूप द्रव्य परिणमित होता है। आहा...हा...! उसमें समस्त गुण का परिणमन आ गया। जितने गुण हैं, उतने अंश में व्यक्तरूप प्रगट परिणमते हैं। आहा...हा...! द्रव्य परिणमते हुए... द्रव्य पर दृष्टि देने पर, द्रव्य का आश्रय लेने पर, द्रव्य परिणमते हुए उसके अनन्त गुण हैं, वे परिणमते हैं; इसलिए वह द्रव्य परिणमते हुए, दृष्टि द्रव्य में रखने पर जितने अनन्त गुण हैं, उनकी शक्ति की व्यक्तता का अंश प्रगट परिणमता है। आहा...हा...! ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : द्रव्य परिणमता है या पर्याय परिणमती है।

समाधान : द्रव्य परिणमता है। अभी द्रव्य परिणमता है, यह कहना है। **'द्रविती इति द्रव्यं'** परिणमती है पर्याय परन्तु अभी तो द्रव्य से द्रव्य परिणमता है। (अकेला) गुण

नहीं परिणमता, इतना सिद्ध करना है। परिणमती है तो पर्याय; द्रव्य-गुण तो कूटस्थ हैं। यहाँ ऐसा लेना है न? आहा...हा...! गुण परिणमते हुए द्रव्य परिणमता है - ऐसा नहीं। चिद्विलास में है, बात सत्य है।

दूसरी एक बात कि - सम्पूर्ण चैतन्य द्रव्य है, उस पर जहाँ दृष्टि पड़ती है, तो द्रव्य परिणमता है। द्रव्य परिणमता है, इसलिए कोई भी गुण परिणमित हुए बिना नहीं रहता। एक द्रव्य पर दृष्टि पड़ने पर.... आहा...हा...! द्रव्य और गुण अत्यन्त अभाव (स्वरूप) नहीं हैं, इसलिए अतद्भावरूप से भले ही कहा; बिल्कुल अभाव नहीं है, इसलिए द्रव्यदृष्टि होने पर जितने द्रव्य में गुण हैं, उन सबका परिणमन आंशिक व्यक्त-प्रगट होता है। आहा...हा...! कोई गुण बाकी नहीं रहता। आहा...हा...! ऐसा है।

यह तो दूसरों को ऐसा लगता है कि 'कुछ करना पड़ेगा या नहीं?' परन्तु यह करना नहीं है? ऐसी सत्य वस्तु यह है; इस प्रकार निर्णय करना वह वस्तु (करना) नहीं है? आहा...हा...! मूल चीज तो यह है - पर से भेदज्ञान करना और सम्यग्दर्शन करना यह तो मूल चीज है। आहा...हा...! मूल की खबर बिना पत्ते तोड़ा करे, मूल नहीं तोड़े तो ये पत्ते ऐसे के ऐसे वापस सुरक्षित रहेंगे। स्त्री, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, अकेला हो गया... नग्न हुआ... मिथ्यात्व है, इसलिए वापस वैसा का वैसा हो जायेगा, यह कसाईखाना लगायेगा। आहा...हा...! और सम्यग्दृष्टि वर्तमान में अव्रत में पड़ा हो, छियानवें हजार स्त्रियों में पड़ा होने पर भी, वह केवलज्ञान पायेगा। इसका साराँश (यह कि वह सब) छोड़कर केवलज्ञान पायेगा। आहा...हा...! जिसका मूल त्याग करना है, वहाँ यह त्याग हुआ। किसका? मिथ्यात्व का। आहा...हा...! सम्यक्स्वभाव का आश्रय-द्रव्य का आश्रय जहाँ लिया, वहाँ मूल मिथ्यात्व का त्याग हो गया। आहा...हा...! और यह बाह्य का त्याग अनन्त बार किया परन्तु कोई मूल त्याग नहीं हुआ। आहा...हा...! ऐसी बात है। लोगों को जँचे या न जँचे... प्रभु के घर की तो यह बात है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **इसलिए द्रव्य और गुण का एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहनेवाले को यथोक्त ही (जैसा कहा वैसा ही) अतद्भाव मानना चाहिये।** इस प्रकार अतद्भाव मानना (चाहिए); सर्वथा एक-दूसरे में अभाव है - ऐसा नहीं मानना। इस प्रकार कहा तद्नुसार मानना। ●●

गाथा - १०९

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति -

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं।। १०९।।

यः खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्टः।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम्।। १०९।।

द्रव्य हि स्वभावे नित्यमवतिष्टमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम्। स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः। य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते। यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, द्रव्यवृत्तिर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनात्। द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः। स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्ध्यति।।१०९।।

एवं द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा, पृथकत्वलक्षणातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणयोः कथनेन द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं च चतुर्थीति द्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पञ्चमस्थल गतम्। अथ सत्ता गुणो भवति, द्रव्यं च गुणी भवतीति प्रतिपादयति - **जो खलु दव्वसहावो परिणामो** यः खलु स्फुटं द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्न-समस्तमनोरथरूप-विकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूपः स्वस्थभावस्तस्योत्पादः, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्ययः, तदुभयाधारभूतजीवत्वं ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-जीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणामः **सो गुणो** स गुणो भवति। स परिणामः कथंभूतः सन्गुणो भवति। **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रयं तिष्ठत्यस्तित्वं चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीति चेत्। `उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति वचनात्। एवं सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थः। इति गुणव्याख्यानं गतम्। **सद्वट्ठिदं सहावे दव्व त्ति** सदवस्थिनं

स्वभावे द्रव्यमिति। द्रव्यं परमात्मद्रव्यं भवति। किं कर्तृ। सदिति। केन। अभेदनयेन। कथंभूतम्। सत् अवस्थितम्। क। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे। **जिणोवदेसोयं** अयं जिनोपदेश इति 'सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो' इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेवेदं व्याख्यानम्, गुणकथनं पुनरधिकमिति तात्पर्यम्। यथेदं जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति।।१०९।।

अब, सत्ता और द्रव्य का गुण - गुणीपना सिद्ध करते हैं —

परिणाम द्रव्यस्वभाव सत्, गुण से वह अविशिष्ठ है।
स्वभावस्थित द्रव्य सत् है, ये ही जिन उपदेश है॥

अन्वयार्थ - **[यः खलु]** जो, **[द्रव्यस्वभावः परिणामः]** द्रव्य का स्वभावभूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है **[सः]** वह (परिणाम) **[सदविशिष्टः गुणः]** '**सत्**' से अविशिष्ट (सत्ता से अभिन्न है ऐसा) गुण है। **[स्वभावे अवस्थितं]** 'स्वभाव में अवस्थित (होने से) **[द्रव्यं]** द्रव्य **[सत्]** सत् है' — **[इति जिनोपदेशः]** ऐसा जो (९९ वीं गाथा में कथित) जिनोपदेश है **[अयम्]** वही यह है। (अर्थात् ९९ वीं गाथा के कथन में से इस गाथा में कथित भाव सहज ही निकलता है।)

टीका — द्रव्य स्वभाव मं नित्य अवस्थित होने से सत् है — ऐसा पहले (९९ वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया है और (वहाँ) द्रव्य का स्वभाव परिणाम कहा गया है। यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है वही '**सत्**' से अविशिष्ट (अस्तित्व से अभिन्न ऐसा — अस्तित्व से कोई अन्य परिणाम नहीं ऐसा) गुण है।

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत ऐसा जो अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा 'सत्' शब्द से कहा जाता है, उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है; क्योंकि द्रव्य की वृत्ति[१] (अस्तित्व) तीन प्रकार के समय को स्पर्शित करती होने से (वह वृत्ति-अस्तित्व) प्रतिक्षण उस-उस स्वभावरूप परिणमित होती है।

(इस प्रकार) प्रथम तो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम) अस्तित्वभूत ऐसी द्रव्य की वृत्तिस्वरूप होने से, '**सत्**' से अविशिष्ट,

---

१. वृत्ति = वर्तना; अस्तित्व रहना वह; टिकना वह।

द्रव्यविधायक (द्रव्य का रचयिता) गुण ही है। इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुणगुणीपना सिद्ध होता है॥ १०९॥

प्रवचन नं. ११९ का शेष **दिनाङ्क २९ जून १९७९**

अब, सत्ता और द्रव्य का गुण — गुणीपना सिद्ध करते हैं। १०९ (गाथा)। मूल बात तो यह है कि आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही है। भले दूसरे गुण हैं परन्तु यह असाधारण एक ही गुण है; इसलिए इस ज्ञानस्वरूप का सत्य (ज्ञान) जिस प्रकार है (उस प्रकार करना चाहिए)। यह गुण-गुणी के भेदरूप से अतद्भाव कहा, तथापि सर्वथा अन्यत्व नहीं है; इस कारण उस द्रव्य पर दृष्टि देने से गुण का परिणमन होता है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। आहा...हा...! अरे! अनन्त गुण का परिणमन हो.... सम्यग्दर्शन अर्थात् 'सर्व गुणांश वह समकित' आहा...हा...! यह द्रव्य और गुण को सर्वथा अभाव माने तो द्रव्य पर दृष्टि देने से गुण की प्रगटता-व्यक्तता नहीं होगी। आहा...हा...! गुण और द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव माने तो द्रव्य पर दृष्टि होने पर गुण की व्यक्तता का अंश नहीं आयेगा। आहा...हा...! और द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से द्रव्य और गुण दो के बीच भले ही अतद्भाव है परन्तु दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है — ऐसा नहीं है; इसलिए उस द्रव्य की दृष्टि होने पर गुण का परिणमन होने से अनन्त गुणों का अंश प्रगट होता है। परिणमन में पूरी दशा पलट जाती है। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु : फिर भी आप गुण की दृष्टि तो छुड़ाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अतद्भाव है, (इसलिए) अत्यन्त अभाव है — ऐसा नहीं है। अतद्भाव कहा और अन्यत्व कहा, गुण और द्रव्य के बीच अतद्भाव और अन्यत्व कहा तो सर्वथा पृथक् है (— ऐसा नहीं है)। जिस प्रकार दूसरे द्रव्य सर्वथा अन्यत्व हैं; अन्यत्व कहो या भिन्न कहो (दोनों एकार्थ हैं), उसी प्रकार आत्मा और गुण को सर्वथा अन्यत्व मानो तो दोनों वस्तुएँ नहीं रहती, क्योंकि द्रव्यदृष्टि होने पर, द्रव्य और गुण अभेद है; इसलिए अनन्त गुण का निर्मल परिणमन होकर और व्यक्त होकर परमानन्द के अंश के साथ ज्ञान, सम्यक् वीर्य — पुरुषार्थ (आदि) सभी गुण आंशिक प्रगट हो जायेंगे। आहा...हा...! ऐसा

प्रभु का मार्ग है। सत्य ही ऐसा है। आहा...हा...! सत्य को कुछ भी ढीला या पौने सोलह आने करो तो घर में मिथ्यात्व शल्य रहेगा। आहा...हा...!

अब, सत्ता और द्रव्य का गुण - गुणीपना सिद्ध करते हैं — ऐसे एक-एक गुण (करके) प्रत्येक गुण लेना।

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं ति जिणोवदेसोयं।। १०९।।

परिणाम द्रव्यस्वभाव सत्, गुण से वह अविशिष्ठ है।
स्वभावस्थित द्रव्य सत् है, ये ही जिन उपदेश है॥

आहा...हा...! कुन्दकुन्दाचार्य कहते-कहते भी (ऐसा कहते हैं कि) भगवान ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! कहते हैं तो स्वयं! आहा...हा...! कितनी निर्मान्ता! जिनका उपदेश ऐसा है। प्रभु! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की वाणी ऐसी है। कुन्दकुन्दाचार्य कहें वे स्वयं स्वतन्त्र पूर्ण कह सकते हैं, तथापि कहते हैं कि जिन (देव) का उपदेश, वीतराग का ऐसा उपदेश है। बापू! आहा...हा...!

परिणाम द्रव्यस्वभाव सत्, गुण से वह अविशिष्ठ है।
स्वभावस्थित द्रव्य सत् है, ये ही जिन उपदेश है॥

टीका - द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से सत् है.... द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से सत् है। देखो! सत्ता को और द्रव्य को एक सिद्ध किया है। द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित है; इसलिए सत् है। **ऐसा पहले (९९ वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया है....** ९९ (गाथा)। अपने-अपने अवसर में परिणाम होता है। द्रव्य का उत्पाद-व्यय और ध्रुव परिणाम... वहाँ तीन परिणाम लिये थे। उत्पाद-व्यय और ध्रुव, द्रव्य के तीन परिणाम लिये थे। आहा...हा...! इस बात को याद करते हैं।

उत्पाद-व्यय और ध्रुव, ये तीन परिणाम हैं। परन्तु किसके? द्रव्य, जो परिणामी हैं उसके। आहा...हा...! परिणामी जो द्रव्य है, उसके उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीन परिणाम हैं। इसलिए 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सत् द्रव्य लक्षणं' (कहा है)। **द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से सत् है — ऐसा पहले (९९ वीं गाथा में) प्रतिपादित**

किया गया है और (वहाँ) द्रव्य का स्वभाव..... अब, देखो ! (क्या कहते हैं ? द्रव्य का स्वभाव) **परिणाम कहा गया है।** देखा ? उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों परिणाम हैं - ऐसा कहना है। अंश कहा था न ? उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों पर्याय विशेष है, ऐसा कहा था। वह पर्याय आश्रित तीन (अंश) है और पर्याय, द्रव्य आश्रित है - ऐसा कहा था। आहा...हा... ! समझ में आया ?

फिर से, जो उत्पाद, व्यय और ध्रुव परिणाम हैं, वह परिणाम, द्रव्य का स्वभाव, परिणाम कहा गया है। आहा...हा... ! द्रव्य का स्वभाव... आहा...हा... ! परिणाम कहा गया है। **यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है....** द्रव्य का स्वभावभूत अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रुव, इन तीनों को यहाँ परिणाम कहना है, क्योंकि तीनों को पर्याय कहा था न ? ये तीन पर्याय हैं, ये तीन, पर्याय के आश्रित हैं और पर्याय, द्रव्य के आश्रित है। आहा...हा... ! इस सब में तो वकालात का काम होगा या नहीं ? बनियों के लिये तो यह शास्त्र है, बनियों को-व्यापारवाले को जैनपना मिला आहा...हा... !

मुमुक्षु : बनिये तो सब बुद्धिवाले होते हैं, इसलिए पैसा कमाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी कुछ (नहीं) कमाते। उसे सब खोट जाती है। यह कमाई वह जैन।

द्रव्य की दृष्टि होने पर उत्पाद, व्यय और ध्रुव परिणाम से है — ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन का परिणाम होता है, वहाँ यह लाभ है। मिथ्यात्व का परिणाम जाता है, सम्यक्त्व का परिणाम होता है और ध्रुवपने का अंश रहता है, यह तीन द्रव्य के परिणाम हैं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बहुत परन्तु, बापू ! आहा...हा... ! द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से द्रव्य के तीन परिणाम हैं। यहाँ पर की तो बात है ही नहीं; इसके स्वयं के तीन परिणाम हैं — उत्पाद, व्यय और ध्रुव ये परिणाम हैं। पहले यह आ गया है। नहीं ? उत्पाद, व्यय और ध्रुव पर्याय -आश्रित है। पर्याय कहो या परिणाम कहो (दोनों एक ही है) आहा...हा... ! और वे परिणाम, द्रव्य-आश्रित है। आहा...हा... ! वे पर्याय द्रव्य-आश्रित है। ठीक !

द्रव्य का स्वभाव, परिणाम कहा गया है। आहा...हा... ! वह पर के कारण परिणमता है — ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। **द्रव्य का स्वभाव, परिणाम कहा गया**

है। क्या कहा ? द्रव्य का स्वभाव ही परिणाम कहा गया है। उसका परिणमना कहीं दूसरे के कारण है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! क्या एक-एक न्याय! **द्रव्य का स्वभाव, परिणाम कहा गया है।**

यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है वही 'सत्' से अविशिष्ट.... है। वह अस्तित्व सत्ता से अभिन्न है। आहा...हा...! जीवद्रव्य लो, हम तो यहाँ जीवद्रव्य (लेते हैं वरना) है तो छहों द्रव्यों की बात, परन्तु जीवद्रव्य को जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणाम हैं, वे अस्तित्व के कारण हैं। है न ? सत् से पृथक् नहीं ऐसा वह अभिन्न अस्तित्व है। कोई दूसरा नहीं ऐसा गुण है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव कोई दूसरी चीज नहीं है। अस्तित्व गुण का ही वह रूप है, आहा...हा...! जो सत्ता है, वह अस्तित्व गुण है, उसके उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन परिणाम हैं और सत्ता है, वह द्रव्य के (साथ) अभेद है। अतद्भाव कहा, वह तो अपेक्षा से (कहा है), वरना तो अभेद है; इसलिए द्रव्य का परिणमन होने पर उत्पाद, व्यय और ध्रुव का परिणाम परिणमता है। आहा...हा...! समझ में आया ? भाई! ऐसा तुम्हारे लोहे के व्यापार में नहीं आयेगा। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! आहा...हा...! सन्तों ने तो सरल करके बतलाया है। आहा...हा...!

वहाँ ९९ (गाथा में) **द्रव्य का स्वभाव परिणाम कहा गया है। यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम....** कहा गया था। **वही 'सत्' से....** अस्तित्व से अभिन्न है। इस सत्ता गुण से उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत् है; इसलिए सत् से वे अभिन्न हैं। जो उत्पाद-व्यय-ध्रुवपरिणाम कहे थे, वे सत् हैं, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' है, उस सत् से वे परिणाम पृथक् नहीं है। आहा...हा...! तुम तो पुराने दिगम्बर हो, तो भी सुना नहीं ? नहीं ? आहा...हा...!

क्या कहते हैं कि पहले द्रव्य का स्वभाव परिणाम (कहा गया है)। परिणाम, हाँ! परिणाम - पर्याय! द्रव्य, वह गुण नहीं और गुण, वह द्रव्य नहीं - ऐसा अतद्भाव तो कहा था परन्तु वह कोई दो के बीच अत्यन्त अभाव नहीं है - ऐसा यहाँ द्रव्य का परिणाम है, वह उसके सत् से अत्यन्त अभिन्न है, सत् से पृथक् नहीं है, सत्ता से पृथक् नहीं है। आहा...हा...! अस्तित्व से द्रव्य परिणाम, उत्पाद-व्यय पृथक् नहीं है - ऐसी जहाँ द्रव्य

की दृष्टि करते हैं, वहाँ सत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणमते हैं, वहाँ तीनों (का) परिणमन होता है; इसलिए वहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणाम उत्पन्न होते हैं। आहा...हा...!

यह दिगम्बर के चौपड़े (शास्त्र) हैं। घर के चौपड़े (बहीखाते) सुबह-शाम फिराते हो। आहा...हा...! मध्यस्थता से जरा सुनें, विचारे तो सत्य की बात इसे बैठे और बैठने पर इसकी दृष्टि द्रव्य पर जाये तो परिणमन हुए बिना नहीं रहे, क्योंकि सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणामवाली है। आहा...हा...! वह सत्ता और द्रव्य अभेद है, प्रदेश से तो दोनों अभेद है। आहा...हा...! इस कारण सत्ता-अस्तित्व को कारण द्रव्य में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं - उत्पाद, व्यय और ध्रुव। आहा...हा...!

यहाँ तो यह लेना है कि द्रव्यस्वभाव में सत्ता गुण है, वह कहीं सर्वथा भिन्न नहीं है; इस कारण सत्ता और द्रव्य (के बीच) भले ही भावभेद-अतद्भाव कहा, तथापि उस द्रव्य की दृष्टि होने पर सत्तागुण जो उसके साथ हैं, उसके तीन प्रकार के परिणाम होते हैं; इसलिए द्रव्य के ही तीन प्रकार के परिणाम हुए। आहा...हा...! सत्ता के तीन परिणाम कहे क्योंकि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् है (और) यह सत् है, वह द्रव्य का लक्षण है - ऐसा कहा। आहा...हा...! थोड़ी कठिन बात है। यह तो मुद्दे की रकम की बात है। आहा...हा...!

द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है, वही 'सत्' से.... (अर्थात्) अस्तित्व से अभिन्न है, द्रव्य में सत्ता गुण है — अस्तित्वगुण है, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणाम कहे, वे परिणाम अस्तित्व से अभिन्न है। अस्तित्व से द्रव्य अभिन्न है, वैसे वे परिणाम भी अस्तित्व से अभिन्न है। **(अस्तित्व से अभिन्न ऐसा — अस्तित्व से कोई अन्य परिणाम नहीं ऐसा) गुण है।** सत्ता — अस्तित्व नाम का गुण है, वह परिणमता है तो सत्ता नाम का गुण कोई दूसरा नहीं। तीन रूप परिणमता है अर्थात् सत्तागुण स्वयं परिणमता है। परिणमता है, इसलिए दूसरा कोई गुण है (—ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

(अस्तित्व से अभिन्न ऐसा — अस्तित्व से कोई अन्य परिणाम नहीं ऐसा) गुण है। यह क्या कहना चाहते हैं ? कि अस्तित्व गुण है और यह उत्पाद, व्यय और ध्रुव परिणाम हुए क्योंकि तीन हुए। उत्पाद, व्यय और ध्रुव परिणाम हुए तो सत्तागुण से ये कोई भिन्न नहीं है। सत्ता गुण से द्रव्य भिन्न है, और सत्ता गुण से यह उत्पाद-व्यय के परिणाम

भिन्न नहीं है। आहा...हा...! कठिन पड़े ऐसा है, भाई! व्यापार के कारण फुरसत नहीं मिलती। आहा...हा...! क्या अमृत वाणी है भगवान की! ऐसी बात कहीं (नहीं है)। आहा...हा...! अमृत बरसाया है! एक-एक शब्द में न्याय के भण्डार भरे हैं! आहा...हा...!

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत ऐसा जो अस्तित्व.... दूसरा पैराग्राफ। **द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत....** (अर्थात्) टिकना वह। वर्तना, अस्तिरूप रहना वह। **ऐसा जो अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा....** इस अस्तित्व को द्रव्यप्रधान कथन द्वारा **'सत्' शब्द से कहा जाता है,....** यह क्या कहा? कि द्रव्य के स्वरूप का जो अस्तित्व अर्थात् अस्ति-स्वरूप की अस्तिभूत सत्ता, ऐसा जो अस्तित्व, वह द्रव्यप्रधान कथन द्वारा (अर्थात्) वस्तु की मुख्यता के कथन द्वारा उसे **'सत्' शब्द से कहा जाता है,....** आहा...हा...! और **उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है;....** यह उत्पाद-व्यय-ध्रुव हुए, ये अस्तित्वगुण से भिन्न नहीं हैं, ये अस्तित्वगुण के स्वभावभूत परिणाम हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत्तागुण के — अस्तित्वगुण के ही ये परिणाम हैं। आहा...हा...! लोग पढ़ते नहीं, शास्त्र का स्वाध्याय करते नहीं, फिर एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... ऐसा कहते हैं... आहा...हा...! भाई! यह तो भगवान के शास्त्र हैं! यह तो अमृत के शास्त्र हैं! आहा...हा...! अमृत के झरने कैसे झरें — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! क्योंकि अस्तित्वगुण द्रव्य से अलग नहीं है, इसलिए अस्तित्वगुण के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। आहा...हा...! **(उस अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है;....** ये (परिणाम) सत्ता नामक गुणभूत ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव सत्ता नाम के गुणभूत ही है। क्या कहा समझ में आया? आहा...हा...!

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत.... अर्थात् टिकना। **ऐसा जो अस्तित्व....** अर्थात् सत्ता, वह **द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा 'सत्' शब्द से कहा जाता है,....** द्रव्य स्वयं सत् — ऐसा कहा जाता है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सत् द्रव्य लक्षणं' इसे सिद्ध करते हैं। आहा...हा...! जो उमास्वामी ने सूत्र कहे हैं, आहा...हा....! वस्तु के स्वरूप की अस्तिभूत ऐसी जो सत्ता उसे **द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा....** अस्तित्व का कथन भी द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा **'सत्' शब्द से कहा जाता है, उससे अविशिष्ट (उस**

अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है;.... उस अस्तित्व से अलग नहीं — ऐसा गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत उत्पाद-व्यय का परिणाम है। आहा...हा... !

अस्तित्व को द्रव्य की प्रधानता से कहें तो कहते हैं कि उस अस्तित्व का जो द्रव्यस्वभाव है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य का ही स्वभाव है। समझ में आया ? अस्तित्व गुण का द्रव्यप्रधान कथन कहें तो अस्तित्व से उत्पाद-व्यय-ध्रुव है — ऐसा न कहकर द्रव्य से वे उत्पाद-व्यय-ध्रुव है (— ऐसा कहा जाता है) समझ में आया ? आहा...हा... ! आया न ? द्रव्य के स्वरूप की अस्ति ऐसा जो अस्तित्व, उसे द्रव्य की मुख्यता से कथन करने पर सत्तागुण से नहीं परन्तु सत्तागुण को द्रव्य की मुख्यता से कथन करने पर **'सत्' शब्द से कहा जाता है,....** इसलिए उससे अलग नहीं है। (अर्थात् कि) अस्तित्व से अनन्य ऐसा **गुणभूत ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है;....** वह अस्तित्व से अलग नहीं — ऐसा उत्पाद, व्यय और ध्रुव का परिणाम अभेद है। सत्ता नाम के गुण से उत्पाद, व्यय और ध्रुव सत्ता से अभिन्न है और यह सत्ता का द्रव्य प्रधानता से कथन है। द्रव्य प्रधानता से कथन करके सत्ता की — उत्पाद-व्यय-ध्रुव की बात की है। आहा...हा... ! है ?

क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकार के समय को.... आहा...हा... ! द्रव्य की अस्ति.... आहा...हा... ! **(भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों काल को) स्पर्शित करती होने से....** आहा...हा.... ! वर्तमान परिणमति है, भूत (काल) में परिणमित हो गयी और (भविष्य में) परिणमेगी, यह सत्ता का उत्पाद-व्यय और ध्रुव, वह सत्ता को द्रव्य प्रधानता से कहने पर सत्ता ही समय परिणमित हुई है — ऐसा कहा जाता है। **(वह वृत्ति-अस्तित्व) प्रतिक्षण उस-उस स्वभावरूप परिणमित होती है।** प्रतिसमय परिणमित होती है। उत्पाद-व्यय लेना है न ? वह सत्ता द्रव्यप्रधान कथन से कहें तो प्रतिसमय-प्रतिक्षण नयी-नयी अवस्था होती है, वह उसका स्वभाव है। यह द्रव्यप्रधान कथन है। द्रव्य से कहो या सत्ता से कहो; सत्ता से उत्पाद-व्यय-ध्रुव प्रतिसमय परिणमते हैं परन्तु द्रव्य की मुख्यता से कहें तो सत्ता में द्रव्य आ गया है अर्थात् द्रव्य ही प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप से परिणमित होता है।

विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १२० **दिनाङ्क ३० जून १९७९**

(प्रवचनसार गाथा १०९) अन्तिम पैराग्राफ है। **(इस प्रकार) प्रथम तो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है....** क्या कहते हैं ? कि उत्पाद, व्यय और ध्रुव होता है, वह द्रव्य का परिणाम है। जो प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रुव अपने-अपने अवसर में होते हैं, वह द्रव्य के ही परिणाम हैं। वे परिणाम किसी से हुए हैं या किसी से होते हैं या किसी से बदल जाते हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! **और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम) अस्तित्वभूत ऐसी द्रव्य की वृत्तिस्वरूप....** (अर्थात्) द्रव्य की अस्ति। द्रव्य में जो अस्तित्व नाम का सत्तागुण है, उसके **अस्तित्वभूत ऐसी द्रव्य की....** अस्तिस्वरूप। **होने से, 'सत्' से अविशिष्ट,....** सत् और वह गुण — उत्पाद, व्यय-ध्रुवरूप सत् दोनों पृथक् नहीं हैं, दोनों एक हैं। जैसे परद्रव्य का अत्यन्त पृथक्पना है, उसी प्रकार यह पृथक् नहीं है। पहले कह गये थे न ? कि द्रव्य और सत्ता (के बीच) अतद्भाव है, अतद्भावरूप से अन्यत्व है — ऐसा कहा था, तथापि वह अतद्भाव है परन्तु है तो वह तद्भावस्वरूप, वह द्रव्य की ही सत्ता है, द्रव्य का ही गुण है। आहा...हा... ! वह द्रव्य का विशिष्ट **ऐसा द्रव्यविधायक (द्रव्य का रचयिता)....** है। अर्थात् द्रव्य सत्तास्वरूप ही है, द्रव्य, सत्तास्वरूप ही है। आहा...हा... ! उसकी सत्ता के स्वरूप में जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है, वह सत्ता से भिन्न नहीं है और सत्ता द्रव्य से भिन्न नहीं है — ऐसी व्याख्या है। जरा पढ़ाई करनी पड़ेगी न ?

ऐसी द्रव्य की अस्तिस्वरूप होने के कारण **सत् से अविशिष्ट,....** सत् से पृथक् नहीं — ऐसा द्रव्य को रचनेवाला सत्तागुण ही है। द्रव्य को रचनेवाला सत्ता-अस्तित्व, वह उसका गुण ही है। यहाँ अस्तित्व की बात ली है। **इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुणगुणीपना सिद्ध होता है।** सत्ता, गुण है; द्रव्य, गुणी है, इस प्रकार गुणी का ही गुण है और गुण, गुणी का है, गुणी का वह गुण है। आहा...हा... ! और उस गुण के अस्तित्व के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणाम होते हैं। द्रव्य के ही (परिणाम हैं) — ऐसी बात है, बहुत स्पष्ट किया है।

एक परिणाम दूसरा कोई द्रव्य नहीं करता, इसलिए यह सब सिद्ध करते हैं। चाहे जिस प्रसंग में प्रत्येक द्रव्य अपनी अस्तिवाले गुण से भिन्न नहीं है; इसलिए वह अस्तिवाला जो गुण है, उसके परिणाम उत्पाद, व्यय और ध्रुव है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणाम सत्ता से भिन्न नहीं है और सत्ता से गुणी भिन्न नहीं है। गुणी का यह गुण है और उस गुण का उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणाम है। व्यापारी को फुरसत नहीं और ऐसी सूक्ष्म बात! भाषा तो सादी है।

यहाँ सिद्ध तो यह करना है कि जो परिणाम होता है, वह तो उसकी सत्ता के कारण होता है और वह सत्ता, गुणी का गुण है तथा वह सत्ता, उत्पादव्ययध्रुवयुक्त है; इसलिए उस सत्ता का परिणमन, वह द्रव्य का ही परिणमन है।

प्रश्न - एक गुण का परिणमन, वह सम्पूर्ण द्रव्य का परिणमन?

समाधान - दूसरे गुण का भी तद्नुसार, तीसरे गुण का भी तद्नुसार। यहाँ तो एक सत्तागुण की व्याख्या की है। आहा...हा...! ऐसी ही ज्ञानगुण लो, ज्ञानगुण भी अस्तिवाला तत्त्व है, उस गुणी से गुण कहीं पृथक् नहीं है और ज्ञानगुण में भी उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणाम होते हैं, यह तो एक सत्तागुण की बात की है। ऐसे अनन्त गुण की अस्ति, उस गुणी के वे गुण... उन गुणों में अस्तित्वपना है और उसके कारण उनमें उत्पाद-व्यय और ध्रुव परिणाम होता है, उस उत्पाद, व्यय और ध्रुव परिणाम से द्रव्य पृथक् नहीं है। आहा...हा...! बहुत बात की! शब्द थोड़े परन्तु बहुत गम्भीर बात की है! भाई! इसमें कहीं ऊपर-ऊपर से समझ में आवे ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने अनन्त द्रव्य पृथक् देखे हैं। उन अनन्त द्रव्यों में उस द्रव्य का अस्तित्व, उस अस्तित्वपने का गुण, वह गुणी से पृथक् नहीं है और वह अस्तित्वपने का गुण उत्पाद, व्यय और ध्रुवपरिणाम से पृथक् नहीं है, उस अस्तित्वपने के गुण का ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव है। आहा...हा...! समझ में आया?

तीन बात की हैं। द्रव्य है, वह सत्तासहित है, अस्तित्वगुणसहित है, और वह गुण है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवपरिणाम सहित है। इसलिए वह सत्तागुण से पृथक् नहीं तो सत्ता का परिणमन भी द्रव्य से पृथक् नहीं है। आहा...हा...! लो, ऐसे बनियों को यह सब याद रखना... आहा...हा...!

इसमें बात तो यह सिद्ध करनी है प्रभु! तू स्वयं आत्मा है और आत्मा के अनन्त गुण उनकी अस्ति रखते हैं। उस गुणी के गुण अस्ति रखते हैं और उस गुणी के गुण प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमते हैं। आहा...हा...! तीनों पर्याय ली है न? उत्पाद, व्यय और ध्रुव को परिणाम कहा है — पर्याय कही है। आहा...हा...! अर्थात् दूसरा द्रव्य उसे नये प्रकार से उत्पादपने परिणमावे, उसका प्रवाह तोड़ दे (ऐसा नहीं होता है)। आहा...हा...! भगवान आत्मा या कोई भी द्रव्य, उसकी अस्तिवाले गुणों के उत्पाद-व्यय-ध्रुव का जो प्रवाह है, वह गुण से पृथक् नहीं है और वह गुण, गुणी से पृथक् नहीं है; इसलिए उस प्रवाह को कोई तोड़ सके, कोई पर्याय आगे-पीछे कर सके.... आहा...हा...! यह नहीं है — ऐसा कहते हैं। है थोड़ा सा परन्तु माल बहुत भरा है! आचार्य के हृदय में बहुत माल है! आहा...हा...! पूरी दुनिया छान ली है।

अनन्त द्रव्य, अनन्तरूप से स्वयं से कायम कैसे रहें? जिसे पर के अस्तित्व की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयं ही अस्तित्ववाली गुणवाली वस्तु है और वह अस्तित्ववाला गुण स्वयं ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमता है अर्थात् उसके परिणमन के लिए दूसरे किसी द्रव्य की आवश्यकता पड़े (—ऐसा नहीं है)। उचित योग्य निमित्त भले हो — ऐसा पहले कह गये हैं। उचित निमित्त! उचित निमित्त है परन्तु वह तो यहाँ परिणमन के काल में है। वह उचित निमित्त आया, इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणमा — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? बात तो बहुत सूक्ष्म है! दया पालना, व्रत करना, अपवास करना, सीधा-सादा था.... भटकने का! सब मिथ्यात्व का पोषक था, क्योंकि सामने द्रव्य है, वह भी गुण से (वह द्रव्य है) और वह गुण भी उत्पाद-व्यय-ध्रुव से है और इस कारण उसके उत्पाद, व्यय और ध्रुव, वे सत्ता से भिन्न नहीं और वह सत्ता, वह सत्द्रव्य से भिन्न नहीं है, इसलिए दूसरे का कुछ भी कर सके या दूसरे को स्पर्श कर सके (— यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है)। आहा...हा...!

पहले यह आ गया है कि वस्तु है, वह सत्तागुणवाली अस्तित्वरूप है और ऐसे सभी गुण अस्तित्वरूप है और अस्तित्वगुण है, (साथ में) दूसरे गुण भी उनके उत्पाद, व्यय, ध्रुववाले हैं; वे कोई भी गुण उत्पाद, व्यय, ध्रुवरहित नहीं होते और उत्पाद, व्यय, तथा ध्रुव

है, वे सत्ता के हैं — वे गुण के हैं और वह गुण, गुणी का है। इसलिए उसके परिणमन में किसी दूसरे का कारण है नहीं — ऐसी उनकी बात आ गयी है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : गर्भितरूप से आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर से तत्त्व से, न्याय से आ गया। आहा...हा... ! अरे...रे... ! क्या वाणी है न ! प्रवचनसार ! वीतराग की दिव्यध्वनि का सार ! आहा...हा... ! अनन्त को भिन्न बँटवारा कर दिया, भले अनन्त (द्रव्य) हो परन्तु किसी द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव में किसी द्रव्य के उत्पाद-परिणमन बनावे, यह (वस्तुस्थिति) नहीं है, क्योंकि उसकी सत्ता से ही वह गुणी है, और गुणी की वह सत्ता है तथा वह सत्ता स्वयं ही उत्पाद-व्यय -ध्रुववाली है; इसलिए अब उसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणमन के लिये किसी दूसरे द्रव्य की अपेक्षा (नहीं है)। उचित निमित्त हो, परन्तु इस परिणमन के लिये — इसके लिये परिणमन करे ऐसा निमित्त है — ऐसा नहीं है। भाई ! ऐसी बातें हैं। व्यापारी पूरे दिन सिरपच्ची में पड़े हों और यह तो निवृत्ति... निवृत्ति... मस्तिष्क एकदम ऐसा काम करे... आहा...हा... ! कि क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न अवस्था होती है, इसलिए किसी दूसरे तत्त्व के अस्तित्व के कारण है ? या भिन्न-भिन्न अवस्था, वह सत्ता का अपना उत्पाद-व्यय और ध्रुव गुण है, उसके कारण होता है ? आहा...हा... !

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का संयोग होने पर दूसरी अवस्था दिखती है, इसलिए कहते हैं कि तुझे ऐसा लगता है कि इस संयोग से अवस्था बदली है (परन्तु) ऐसा नहीं है — यह कहना है। आहा...हा... ! बहुत समाहित कर दिया ! वह उसमें, तू तुझमें ! संयोग से तू देखने लगे कि यह अग्नि आयी, इसलिए पानी गर्म हुआ... उचित निमित्त आया, इसलिए पानी गर्म हुआ — ऐसा नहीं है। इस अग्नि में सत्ता नाम का गुण है और उष्ण नाम का गुण है, वह भी उत्पाद-व्यय और ध्रुववाला है तो वह ठण्डी अवस्था में से गर्म अवस्था हुई, वह उसके उत्पाद के कारण हुई है। आहा...हा... ! वह उचित निमित्त है, इसलिए हुई है (—ऐसा नहीं है) क्योंकि उचित निमित्त है, वह भी सत्तावाला तत्त्व है और उसमें भी उसकी सत्ता, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप होती है और उस सत्ता से उत्पाद-व्यय-ध्रुव पृथक् नहीं है और वह सत्ता उसके द्रव्य से पृथक् नहीं है। यह समझ में आता है ? थोड़ी

बात है परन्तु गम्भीर है! आहा...हा...! बहुत भेदज्ञान कराया! बँटवारा कर दिया... बँटवारा! आहा...हा...!

चाहे जैसे संयोग में एकदम दूसरी पर्याय दिखे, जैसे पानी की ठण्डी अवस्था थी और एकदम उष्ण दिखे, इससे तुझे ऐसा लगे कि अग्नि का संयोग है, इसलिए (उष्ण) हुई (तो) ऐसा नहीं है। वह तो अग्नि का सत्ता नाम का गुण है अथवा उष्णता नाम का गुण है, वह स्वयं ही उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होकर उष्ण हुआ है (पानी स्वयं उष्ण अवस्थारूप से परिणमित हुआ है) अग्नि के कारण नहीं। आहा...हा...! गाथा में बहुत समाहित किया है।

शरीर में रोग आया, वह उसका सत्ता नाम का गुण है; इसलिए उसमें उत्पाद -व्यय-ध्रुव है; अतः (रोग) हुआ। अब वह उत्पाद दूसरे किसी कारण से हुआ है — ऐसा नहीं है और उस उत्पाद को कोई इस प्रकार का दवा का उत्पाद आवे, इसलिए उसका (रोग का) उत्पाद बदल जाता है (—ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! शास्त्र में भाषा आवे, दवा से ऐसा होता है... यह सब बातें निमित्त से कथन है। आहा...हा...!

यहाँ तो एक गुण, वह उत्पाद-व्यय के परिणमनसहित ही होता है; इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि यह संयोग आया, इसलिए यह पर्याय हुई तो वह उसकी सत्ता और उसके गुण के उत्पाद-व्यय-ध्रुव उससे हुए, यह तो तूने माना नहीं। समझ में आया? यहाँ तीन लाईन में अन्दर इतना भरा है। आहा...हा...! इसमें तुमने पढ़ा क्या होगा वहाँ? भाई!

मुमुक्षु : आपके बिना अर्थ समझ में आये ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्याज निकालने में कैसे विश्वास होता है? आहा...हा...!

यहाँ तो गजब बात की है न! सत्, सत्ता उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं परिणमन... आहा...हा...! उस-उस द्रव्य का, उस-उस गुण का, उस-उस गुण के उत्पाद, व्यय और ध्रुव, वह गुण के ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव हैं और वह गुण गुणी का गुण है; इसलिए गुणी स्वयं ही उस प्रकार उत्पाद-व्यय, ध्रुवरूप परिणमा है। आहा...हा...! संयोगों को मत देख।

यहाँ तो लोगों को ऐसा लगता है कि यह संयोग आये और एकदम पलटना हुआ। इसलिए संयोग से हुआ — ऐसा नहीं है। अभी यहाँ सुनने में आता है और अन्दर ज्ञान होता है, वह सुनने का संयोग आया, इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ, यह यहाँ इनकार करते हैं। उस

ज्ञान में सत्ता-अस्तित्व नाम का गुण है और ज्ञान भी 'है' न? वह 'है' उसका उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप से ज्ञान का परिणमन होता है, उसके कारण उसके ज्ञान की पर्याय का उत्पाद है। सुनने के शब्द के कारण वहाँ (ज्ञान के) उत्पाद की पर्याय है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

प्रश्न : यह तो उपादान की बात हुई, व्यवहार से क्या?

समाधान : उपादान नहीं... उसकी-वस्तु की स्थिति ही यह है। उचित निमित्त भले हो, परन्तु उस काल में स्वयं ही स्वयं के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्ता परिणमती है और सत्तागुण गुणी का है, इसलिए सत्ता का परिणमन है, वह गुणी का परिणमन है, संयोग का नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है, जँचना कठिन पड़ती है।

मुमुक्षु : जँचे तो समाधान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति यह है। यहाँ बतलाने का हेतु तो यह है कि किसी भी तत्त्व की एकदम बदलती अवस्था देखकर, संयोग आया इसलिए बदलती अवस्था हुई — ऐसा नहीं है। पहले ऐसा था और फिर ऐसा कैसे हुआ? पहले यह ज्ञान की पर्याय नहीं थी और यहाँ (बैठने के बाद) ज्ञान की पर्याय आ गयी... सुनने में से ऐसी हुई उसका कारण क्या? आहा...हा...! (कहते हैं कि) उसका ज्ञानगुण और सत्ता के परिणमन का गुण ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है; इस कारण उसके गुण का उत्पाद-व्यय-ध्रुव से वह परिणमन हुआ है और वह गुण, गुणी का — द्रव्य का है; इसलिए वह द्रव्य का ही परिणमन है, दूसरे का है नहीं। आहा...हा...! अब इसमें पर की दया और पर की हिंसा व मन्दिर बनाना, रथयात्रा (निकालना यह तो कहीं रह गया)। आहा...हा...! कठिन बापू!

कोई भी द्रव्य, उस-उस काल में संयोग भले विविध प्रकार के आवें, इससे यहाँ विविध प्रकार की पर्याय हुई — ऐसा नहीं है। उस क्षण में ही उसके उत्पाद का, व्यय का, ध्रुव का — सत्ता का परिणमन गुण है, इसलिए होती है। वह गुण, गुणी का है तो गुणी उसरूप परिणमा है। आहा...हा...! संयोग उसरूप परिणमे हैं और संयोगों के कारण (गुण) परिणमे हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

यह तो जँचे ऐसा है। **इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुणगुणीपना सिद्ध होता है।** आहा...हा...! ●●

गाथा - ११०

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति -

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।११०।।

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता।।११०।।

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्; यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा। अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते। न वर्तत एव। तर्हि द्रव्यं सत्ताऽस्तु स्वयमेव।।११०।।

अथ गुणपर्यायाभ्यां सह द्रव्यस्याभेदं दर्शयति - **णत्थि** नास्ति न विद्यते। स कः। **गुणो त्ति व कोई** गुण इति कश्चित्। न केवलं गुणः **पज्जाओ त्तीह वा** पर्यायो वेतीह। कथम्। **विणा** विना। किं विना। **दव्वं** द्रव्यम्। इदानी द्रव्यं कथ्यते। **दव्वत्तं पुण भावो** द्रव्यत्वमस्तित्वम्। तत्पुनः किं भण्यते। भावः। भावः कोऽर्थः। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसद्भावः। **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्यं भवतीति। तद्यथा-मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्यायः केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्यं विना नास्ति, न विद्यते। कस्मात्। प्रदेशाभेदादिति। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक शुद्धसत्तारूपं मुक्तात्मद्रव्यं भवति। तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थः। यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्याया भ्यां सहाभेदव्याख्यानं कृतं तथा यथासंभवं सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति।११०।।

अब, गुण और गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं —

जग में कोई गुण, कोई पर्याय, द्रव्य बिन होती नहीं।
द्रव्यत्व है वह भाव इससे, स्वयं द्रव्य ही सत्त्व है॥

अन्वयार्थ - **[इह]** इस विश्व में **[गुणः इति वा कश्चित्]** गुण ऐसा कुछ **[पर्यायः इति वा]** या पर्याय ऐसा कुछ **[द्रव्यं विना नास्ति]** द्रव्य के बिना (द्रव्य से पृथक्) नहीं होता; **[द्रव्यत्वं पुनः भावः]** और द्रव्यत्व वह भाव है (अर्थात् अस्तित्वं गुण है); **[तस्मात्]** इसलिए **[द्रव्यं स्वयं सत्ता]** द्रव्य स्वयं सत्ता (अस्तित्व) है।

टीका - वास्तव में द्रव्य से पृथग्भूत (भिन्न) ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ नहीं होता; जैसे — सुवर्ण से पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नहीं होता तदनुसार। अब, उस द्रव्य के स्वरूप की वृत्तिभूत जो 'अस्तित्व' नाम से कहा जानेवाला द्रव्यत्व वह उसका 'भाव' नाम से कहा जानेवाला गुण ही होने से, क्या वह द्रव्य से पृथक्रूप वर्तता है? नहीं ही वर्तता। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो॥ ११०॥

प्रवचन नं. १२० का शेष **दिनाङ्क ३० जून १९७९**

अब, गुण और गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं। अभेद सिद्ध करके और अत्यन्त गुण और गुणी एक ही हैं — ऐसा नहीं है। **गुण और गुणी के अनेकत्व का खण्डन करते हैं।** आहा...हा...! ११० (गाथा)

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता॥ ११०॥

जग में कोई गुण, कोई पर्याय, द्रव्य बिन होती नहीं।
द्रव्यत्व है वह भाव इससे, स्वयं द्रव्य ही सत्त्व है॥

आहा...हा...! दिगम्बर आचार्य! कुन्दकुन्दाचार्य! आहा...हा...! प्रचुर स्वसंवेदन में स्थित हैं, प्रचुर आनन्द के संवेदन में स्थित हैं और ऐसी टीका हो गयी है! आहा...हा...! उसका तात्पर्य यह है कि कोई भी पर्याय होने के काल में संयोग पर दृष्टि मत कर। संयोग आये, इसलिए यहाँ हुआ (—ऐसा मत देख)! आहा...हा...! घर बैठा था, तब दूसरे परिणाम थे और भगवान के दर्शन किये तब दूसरे परिणाम आये, इसलिए वे परिणाम संयोग से आये — ऐसा नहीं है। वे परिणाम उस समय में सत्तागुण का ऐसा ही उत्पाद होने

का समय था, वह हुआ है। सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हुई है और वह सत्ता द्रव्य से पृथक् नहीं है, इसलिए द्रव्य स्वयं ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हुआ है। आहा...हा...! भगवान के कारण शुभभाव नहीं हुआ — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! और वह शुभभाव हुआ, उस समय सातावेदनीय (कर्म की प्रकृति) बँधी, वह इस शुभभाव के कारण नहीं — ऐसा कहते हैं। तू संयोग से मत देख! आहा...हा...! वे सातावेदनीय के जो परमाणु हैं, वह अस्ति है, वह सत्ताधारक है और उस सत्ता का उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमन है; इस कारण उस समय कर्मपने की पर्याय उसके सत्तागुण के कारण (हुई है) और (वह) गुण, गुणी का / द्रव्य का है; इसलिए द्रव्य के कारण वे परिणाम स्वयं (कर्मरूप हुए हैं)। आत्मा ने राग किया, इसलिए सातावेदनीय हुई या असातावेदनीय हुई — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अमुक कारणों से सातावेदनीय बँधती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें हैं। उसके लिए तो यह बात की जाती है। वे सब कथन हैं। निमित्त क्या? उचित निमित्त कौन था? वह निमित्त (बतलाते हैं) परन्तु उसके कारण वे परिणाम हुए हैं (—ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! गजब बात है!

तीर्थंकर गोत्र का शुभभाव हुआ, वह उसकी सत्ता की उत्पत्ति की पर्याय का काल है, इससे वह तीर्थंकर गोत्र बँधा — ऐसा नहीं है। तीर्थंकर के गोत्र के जो परमाणु बँधे, उनका जो सत्तागुण है, वह उस प्रकार कर्म की पर्यायरूप होने का — उत्पादरूप, व्ययरूप, ध्रुवरूप वह सत्तागुण वहाँ कर्म का है। वह कर्म ही उस प्रकार परिणमित हुआ है। आहा...हा...! ऐसी बात है। आहा...हा...! ११० (की टीका)।

टीका — **वास्तव में द्रव्य से पृथग्भूत (भिन्न) ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ नहीं होता;....** है? पर्याय भिन्न-भिन्न प्रकार की लगती है, इसलिए वे कोई पृथक् है — ऐसा नहीं है। द्रव्य की पर्याय एकदम बदलाववाली लगे.... पहले समय मति-श्रुत, दूसरे समय केवलज्ञान! समझ में आया? इससे ऐसा नहीं लगता कि संयोग अनुकूल आया, इसलिए हुआ? नहीं; वह तो उत्पाद-व्यय के परिणामरूप से केवलज्ञान होना था, उसके गुण का स्वभाव ही ऐसा है कि पूर्व की पर्याय के कारण में नहीं। आहा...हा...! (जो) केवलज्ञान की पर्याय उत्पादरूप (हुई, वह) सत्ता से-ज्ञान की

अस्ति से उत्पादरूप, व्ययरूप, ध्रुवरूप हुई है, वह स्वत: स्वयं से हुई है; कर्म का नाश हुआ या पूर्व की पर्याय के कारण, यह उत्पाद हुआ — ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! यह तो पहले १०१ (गाथा में) आ गया है कि व्यय है, वह उत्पाद के कारण नहीं; उत्पाद को व्यय की अपेक्षा नहीं, अपने व्यय की अपेक्षा नहीं तो उस उत्पाद को पर की अपेक्षा हो — ऐसा है ही नहीं। ऐसी की बात है, भाई!

पन्द्रह-पन्द्रह लाख, बीस-बीस लाख के मन्दिर बनावे, अच्छा प्रमुख व्यक्ति हो, प्रमुख ठीक हो तो वह अच्छा काम करे, इससे यहाँ इनकार करते हैं। व्यवस्थापक भलीभाँति ध्यान रखनेवाला हो तो वहाँ वह पर्याय भलीभाँति समरूप होती है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस समय उसकी उस वस्तु का सत्तागुण है या ज्ञान(गुण है) उसका परिणमन उस काल उसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप होने का है, इसलिए उस द्रव्य का ही वह परिणमन है। व्यवस्था करनेवाला है, इसलिए ऐसी व्यवस्था हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इसमें कितना बदलना पड़ेगा! पूरे दिन दुकान में बैठा हो और (माने कि मैंने) यह किया और वह किया तथा उसका किया और यह किया.... ग्राहक को ठीक से सम्हाला, आहा...हा...! मीठे बोल से ऐसा किया... आहा...हा...!

मुमुक्षु : नौकर रखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नौकर कौन रखे और कौन छोड़े? सब बातें हैं। आहा...हा...! सेठ का जो आत्मा है, उसके गुण का अस्तिपना है या नहीं? सत्ता है या नहीं? और सत्ता है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुववाली है या अकेली सत्ता ही होती है? उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् और सत्द्रव्यलक्षणं — यह सिद्ध करते हैं। उत्पादव्ययध्रुव्ययुक्तं सत् और सत्द्रव्यलक्षणं, अर्थात् किसी भी पदार्थ का जिस समय में सत्ता के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रुव होता है, वह तो उसका स्वरूप ही है। वह पर के कारण नहीं है और उस सत्ता का उत्पाद-व्यय-ध्रुव (होता है) वह द्रव्य ही है; इसलिए द्रव्य का ही वह परिणमन है। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आया? यह डॉक्टर, वकील, यह सब होशियार लोग कहलाते हैं। (कोई ऐसा कहे कि) डॉक्टर को बुलाना ही नहीं क्योंकि अपने आप (अच्छा होगा)। बुलाना या न बुलाना, वह तो उस समय बोलने की पर्याय होने की हो, वह तो होनी है। आहा...हा...!

और डॉक्टर का आत्मा भी उस समय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणमन अनुसार वह पर्याय वहाँ होती है, और आता है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम... पूरी दुनिया में से अलग पड़ जा, कहते हैं। अलग है (अलग) हो जा। (क्या?) तू संयोगों को देखकर (ऐसा कहता है कि) 'मेरी पर्याय में परिवर्तन हुआ, दूसरे की पर्याय में संयोग के कारण परिवर्तन हुआ'.... यह भूल जा। उस-उस काल में उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव का स्वभाव (परिणमता है)। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, वह परिणाम है। वह परिणाम सत्ता का परिणाम है और वह सत्ता, सत् द्रव्य की है; इसलिए वास्तव में उस द्रव्य का ही वह परिणाम है। आहा...हा... ! यह सुना नहीं होगा, तो जँचता नहीं, एकान्त लगता है... एकान्त ! आहा...हा... ! क्या हो ? भाई !

तीन लोक के नाथ केवली परमात्मा की यह वाणी है। आहा...हा... ! इस वाणी में स्वयं कुछ भी परिवर्तन करे, कम अधिक, विपरीत (करे); सत् को सत्‌रूप उस प्रकार न माने तो वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! शास्त्र के एक भी पद को या एक भी अक्षर को... आता है न ? सूत्रपाहुड़ ! भाई ! सूत्रपाहुड़ (में आता है कि) एक पद को, एक अक्षर को बदले तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! भाई ! बहुत कठिन काम है। आहा...हा... !

द्रव्य की जिस समय की जो पर्याय सत्ता के कारण हुई है, वह पर के कारण हुई — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! क्या स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा ! ऐसा सुना नहीं। आहा...हा... ! **द्रव्य से पृथग्भूत (भिन्न) ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ नहीं होता;....** ऐसा अब सिद्ध करते हैं। गुण और गुणी अलग नहीं है। इस गुण का जो उत्पाद-व्यय का परिणमन हुआ, वह द्रव्य का ही (परिणमन) हुआ है, वह द्रव्य और गुण दो अभेद है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **वास्तव में द्रव्य से पृथग्भूत (भिन्न) ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ.....** नहीं है।

जैसे — सुवर्ण से पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि... पीलापन वह गुण; कुण्डल आदि पर्याय। उस स्वर्ण से पृथक्‌भूत उसके पीलापन आदि गुण और कुण्डल आदि पर्याय **नहीं होता....** स्वर्ण के पीलापन आदि गुण और कुण्डल आदि पर्याय उस स्वर्ण से पृथक् नहीं होती। आहा...हा... ! अभी यह तो दृष्टान्त है, हाँ !

अब, उस द्रव्य के स्वरूप की वृत्तिभूत जो 'अस्तित्व' नाम से कहा जानेवाला द्रव्यत्व.... द्रव्य के स्वरूप की अस्तिवाला... अस्तित्व (अर्थात्) 'सत्ता' नाम से कहा जानेवाला जो द्रव्यत्व **वह उसका 'भाव' नाम से कहा जानेवाला गुण....** 'द्रव्यत्व' नाम का गुण। 'सत्ता' नाम का गुण — ऐसा कहा जानेवाला। **गुण ही होने से,....** 'भाव' नाम से कहा जानेवाला गुण ही होने से। **क्या वह द्रव्य से पृथक्रूप वर्तता है ?....** आहा...हा... ! वह सत्ता उत्पाद-व्ययरूप परिणमी, वह सत्ता द्रव्य से पृथक्रूप वर्तती है ? सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमी वह सत्ता, द्रव्य से पृथक्रूप वर्तती है ? आहा...हा... ! थोड़े में बहुत भरा है ! द्रव्यत्व, वह भाव कहलाता है न ? वह द्रव्य का भाव कहलाता है न ? सत्ता वह द्रव्य का भाव है। द्रव्य 'भाववाला' (कहलाता है) और गुण 'भाव' (कहलाता है)। द्रव्य भाववाला अथवा गुणवाला और भाव गुण — ऐसा कहलाता होने पर भी गुण ही होने से (उस द्रव्य से पृथक् नहीं है) भले (ऐसा कहलाये कि) इस द्रव्य का यह भाव है परन्तु भाव का अर्थ गुण ही है। आहा...हा... ! द्रव्य का अस्तित्वभाव, द्रव्य का सत्ताभाव (कहलाता है) परन्तु उस द्रव्य का सत्ताभाव वह द्रव्य ही है।

आहा...हा... ! आचार्यों ने दिगम्बर सन्तों ने (गजब) काम किया है ! लोग आग्रह छोड़कर जरा (विचार करें तो सत्य समझ में आये ऐसा है)। उन्हें बुरा लगे कि 'यह सब हमारा झूठा !' परन्तु बापू ! विचार तो कर, भाई ! आहा...हा... ! ऐसी बात की अन्यत्र कहीं गन्ध है ? यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... यहाँ कहते हैं कि तू कर... कर... करने का कहता है (परन्तु) तेरी सत्ता के परिणाम तुझमें और उसकी सत्ता के परिणाम उसमें हैं। तुझे किसका करना है ? क्योंकि वह द्रव्य सत्ता बिना है ? और वह सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रुवरहित है ? और उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्यरहित है ? आहा...हा... ! ऐसी बात है। (समझे नहीं और फिर) वाद-विवाद करे कि नहीं... इससे ऐसा हुआ, कर्म का तीव्र (उदय) आवे तब विकार होता ही है, वरना विकार है, वह स्वभाव हो जायेगा। यहाँ कहते हैं कि परन्तु विकार होने की पर्याय उस समय सत्ता नाम के गुण से उस प्रकार का अस्तित्व का परिणमन होने का है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वयं से हुआ है, कर्म के कारण नहीं। आहा...हा... ! (एक विद्वान है) वह जहाँ हो वहाँ यही डालता है कि कर्म

के कारण होता है... कर्म के कारण होता है.... कर्म के कारण होता है... ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान होता है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान में जो हीनाधिकता होती है, वह ज्ञान में सत्ता नाम का गुण है अथवा ज्ञान भी अस्तिवाला गुण है न? वह अस्तिवाला स्वयं ही उत्पाद-व्ययरूप होता है। ध्रुवपना रखकर उत्पादरूप होता है, हीन पर्याय होवे या अधिक होवे, वह अपने ही उत्पाद-व्यय से होती है; पर के कारण नहीं। आहा...हा...! (एक विद्वान् के साथ) यही बड़ा विवाद था न? उन्होंने सब पुस्तकों में लिखा कि 'सोनगढ़ का साहित्य झूठा है, सबको डुबो देगा।' आहा...हा...! उस बेचारे ने यह बात सुनी नहीं थी। आहा...हा...!

किसी भी समय कर्म का उत्पाद-व्यय उसकी सत्ता में और उसके सत् से है। यह क्या कहा? कर्म है, वह उसकी सत्ता से है और वह सत्ता उसका सत् है — द्रव्य है। इसलिए उस द्रव्य से सत्ता है और सत्ता से परिणमन है, यह सब अभेद है। आहा...हा...! इसी तरह भगवान आत्मा में विकार के परिणाम उत्पादरूप (होते हैं) वे सत्ता नामक (गुण के कारण) अथवा अस्तित्वगुण के कारण उत्पाद-व्यय परिणमता है, वह सत्तागुण का परिणाम है, वह कर्म के कारण नहीं है। हमें क्या करना? भाई! कर्म का जोर है... कर्म का जोर है... कर्म का जोर है... यह सब अत्यन्त मिथ्याभ्रम है। आहा...हा...!

द्रव्यत्व वह उसका 'भाव' नाम से कहा जानेवाला गुण ही होने से,.... सत्तागुण कहो या भाव कहो (वह गुण ही होने से) **क्या वह द्रव्य से पृथक्‌रूप वर्तता है?.....** वह गुण कहो या भाव (कहो); (क्या) वह द्रव्य से पृथक् वर्तता है? **नहीं ही वर्तता। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो।** वस्तु स्वयं ही स्वयमेव सत्ता है और वह सत्ता उत्पाद-व्ययरूप परिणमति है। आहा...हा...! शब्द थोड़े हैं परन्तु उनमें भाव बहुत भरा है। आहा...हा...! यहाँ तो सत् क्या है, उसकी बात है। बापू! यहाँ कोई पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं, यह तो सत् की स्थिति की मर्यादा... सत् की मर्यादा किस प्रकार है? (वह बतलाते हैं)। आहा...हा...! यह ११० (गाथा पूर्ण) हुई।●●

गाथा - १११

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति -

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि।।१११।।

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम्।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते।।१११।।

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम्। स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात; पर्यायाभिधेतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव। तथा हि-यदा द्रव्यमेवाभिधीयते, न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिता-भिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः, हेमवत्। तथा हि - यदा हेमैवाभिधीयते, नाङगदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौग-पद्यप्रवृत्ता - भिर्हेमनिष्पादिका-भिरन्वयशक्तिभिरङगदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्याय-निष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते, न द्रव्यं, तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभि-र्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः, हेमवदेव। तथा हि - यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम, तदाङ्गदादिपर्यायसमान-जीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका-भिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ता-भिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तिः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पात्तौ पर्याय-निष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमा-साद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यानिष्पादिकाभिस्ताभिस्ता-भिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वय-शक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन। द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पात्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेक-

व्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः, तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्याय-मात्रीक्रियेत। ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनद्यम्।। १११।।

एवं गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा, द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्यां सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थलं गतम्। अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-नयाभ्यां सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति - **एवंविहसब्भावे** एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं गुणपर्यायलक्षणं द्रव्यं चेत्यैवंविधपूर्वोक्तसद्भावे स्थितं, अथवा **एवंविहं सहावे** इति पाठान्तरम्। तत्रैवंविधं पूर्वोक्तलक्षणं स्वकीयसद्भावे स्थितम्। किम्। **दव्वं** द्रव्यं कर्तृ। किं करोति। **सदा लभदि** सदा सर्वकालं लभते। किं कर्मतापन्नम्। **पादुब्भावं** प्रादुर्भावमुत्पादम्। कथंभूतम्। **सदसब्भावणिबद्धं** सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च। काभ्यां कृत्वा। **दव्वत्थपज्जयत्थेहिं** द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यामिति। तथा हि - यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते, यदेव कटकपर्याये सुवर्ण तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाविनष्टत्वात्। यदा पुनः पर्यायविवक्षा क्रियते, कटकपर्यायात् सकाशादन्यो यः कङ्कणपर्यायः सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति, तदा पुनरसदुत्पादः। कस्मादिति चेत्। पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात्। तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते, य एव पूर्वं गृहस्थावस्था-यामेवमेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानी रामादिकेवलिपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति, तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पुरुषत्वेनाविष्टत्वात्। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते, पूर्वं सरागावस्थायाः सकाशादन्योऽयं भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणां संबन्धी निरुपरागपरमात्मपर्यायः स एव न भवति, तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पादः। कस्मादिति चेत्। पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति। यथेदं जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमिति।।१११।।

अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने में अविरोध सिद्ध करते हैं —

ऐसा द्रव्य द्रव्यार्थ अरु पर्यायार्थ से निज भाव में।
सद्भाव-असद्भावयुत, उत्पाद को निज ही करे॥

अन्वयार्थ - [**एवंविधं द्रव्यं**] ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य [**स्वभावे**] स्वभाव में [**द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां**] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों के द्वारा [**सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं**] सद्भावसंबद्ध और असद्भावसंबद्ध उत्पाद को [**सदा लभते**] सदा प्राप्त करता है।

टीका – इस प्रकार यथोदित (पूर्वकथित) सर्व प्रकार से अकलंक[१] लक्षणवाला, अनादिनिधन यह द्रव्य सत्–स्वभाव में (अस्तित्वस्वभाव में) उत्पाद को प्राप्त होता है। द्रव्य का वह उत्पाद, द्रव्य की अभिधेयता[२] के समय सद्भावसंबद्ध ही है और पर्यायों की अभिधेयता के समय असद्भावसंबद्ध ही है। इसे स्पष्ट समझाते हैं —

जब द्रव्य ही कहा जाता है — पर्यायें नहीं, तब उत्पत्तिविनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य को उत्पन्न करनेवाली अन्वयशक्तियों[३] के द्वारा, उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायों की उत्पादक उन–उन व्यतिरेकव्यक्तियों[४] को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सद्भावसंबद्ध[५] ही उत्पाद है; सुवर्ण की भाँति। जैसे — जब सुवर्ण ही कहा जाता है — बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों के द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितने स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन–उन व्यतिरेकव्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले सुवर्ण का सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है।

और जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्तिविनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली उन–उन व्यतिरेकव्यक्तियों के द्वारा, उत्पत्तिविनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को असद्भावसंबद्ध[६] ही उत्पाद है; सुवर्ण की ही भाँति। वह इस प्रकार जब

---

१. अकलंक = निर्दोष (यह द्रव्य पूर्वकथित सर्व प्रकार निर्दोष लक्षणवाला है।)

२. अभिधेयता = कहने योग्यपना; विवक्षा; कथनी।

३. अन्वयशक्ति = अन्वयरूपशक्ति। (अन्वयशक्तियाँ उत्पत्ति और नाश से रहित हैं, एक ही साथ प्रवृत्त होती हैं और द्रव्य को उत्पन्न करती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि आत्मद्रव्य की अन्वयशक्तियाँ हैं।)

४. व्यतिरेकव्यक्ति : भेदरूप प्रगटता। [व्यतिरेकव्यक्तियाँ उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती हैं, क्रमशः प्रवृत्त होती हैं और पर्यायों को उत्पन्न करती हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि तथा स्वरूपाचरण चारित्र, यथाख्यातचारित्र इत्यादि आत्मद्रव्य की व्यतिरेकव्यक्तियाँ हैं। व्यतिरेक और अन्वय के अर्थों के लिये ९९ वें पृष्ठ का फुटनोट (टिप्पण) देखें।]

५. सद्भावसंबद्ध = सद्भाव — अस्तित्व के साथ सम्बन्ध रखनेवाला, संकलित। [द्रव्य की विवक्षा के समय अन्वय शक्तियों को मुख्य और व्यतिरेकव्यक्तियों को गौण कर दिया जाता है, इसलिए द्रव्य के सद्भावसंबद्ध उत्पाद (सत्–उत्पाद, विद्यमान का उत्पाद) है।]

६. असद्भावसंबद्ध = अनस्तित्व के साथ सम्बन्धवाला-संकलित। [पर्यायों की विवक्षा के समय व्यतिरेकव्यक्तियों को मुख्य और अन्वयशक्तियों को गौण किया जाता है, इसलिए द्रव्य के असद्भावसंबद्ध उत्पाद (असत् उत्पाद, अविद्यमान का उत्पाद) है।]

बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती हैं — सुवर्ण नहीं, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकनेवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक -व्यक्तियों के द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकनेवाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त सुवर्ण के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।

अब, पर्यायों की अभिधेयता (कथनी) के समय भी, असत्-उत्पाद में पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपने को प्राप्त होती हुई पर्यायों को द्रव्य करता है (पर्यायों की विवक्षा के समय भी व्यतिरेक -व्यक्तियाँ अन्वयशक्तिरूप बनती हुई पर्यायों को द्रव्यरूप करती हैं); जैसे बाजूबंध आदि पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय-शक्तिपने को प्राप्त करती हुई बाजूबंध इत्यादि पर्यायों को सुवर्ण करता है तदनुसार। द्रव्य की अभिधेयता के समय भी, सत्-उत्पाद में द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति को प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, द्रव्य को पर्यायें (पर्यायरूप) करती हैं; जैसे सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, सुवर्ण को बाजूबंधादि पर्यायमात्र (पर्यायमात्ररूप) करती हैं।

इसलिए द्रव्यार्थिक कथन से सत्-उत्पाद है, पर्यायार्थिक कथन से असत्-उत्पाद है — यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है।

भावार्थ - जो पहले विद्यमान हो उसी की उत्पत्ति को सत्-उत्पाद कहते हैं और जो पहले विद्यमान न हो उसकी उत्पत्ति को असत्-उत्पाद कहते हैं। जब पर्यायों को गौण करके द्रव्य का मुख्यतया कथन किया जाता है, तब तो जो विद्यमान था वही उत्पन्न होता है, (क्योंकि द्रव्य तो तीनों काल में विद्यमान है); इसलिए द्रव्यार्थिक नय से तो द्रव्य को सत्-उत्पाद है; और जब द्रव्य को गौण करके पर्यायों का मुख्यतया कथन किया जाता है तब जो विद्यमान नहीं था, वह उत्पन्न होता है (क्योंकि वर्तमान पर्याय भूतकाल में विद्यमान नहीं थी), इसलिए पर्यायार्थिक नय से द्रव्य के असत्उत्पाद है।

यहाँ यह लक्ष्य में रखना चाहिए कि द्रव्य और पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं;

इसलिए पर्यायों की विवक्षा के समय भी, असत्उत्पाद में, जो पर्यायें हैं, वे द्रव्य ही हैं, और द्रव्य की विवक्षा के समय भी, सत्उत्पाद में, जो द्रव्य है वे पर्यायें ही हैं॥ १११ ॥

प्रवचन नं. १२० का शेष **दिनाङ्क ३० जून १९७९**

अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने में अविरोध सिद्ध करते हैं। क्या कहते हैं ? द्रव्य है और उत्पाद होता है। यह सत् का उत्पाद है और असत् का उत्पाद है। पहले नहीं था और नया हुआ इस अपेक्षा से असत् का उत्पाद (कहते हैं)। (उसमें) **अविरोध सिद्ध करते हैं।** उसमें विरोध नहीं है। यह क्या कहा ? द्रव्य है, उसमें 'है' उसका उत्पाद है; 'है' उसका उत्पाद है — एक बात। दूसरी बात — 'नहीं', उसका उत्पाद है। द्रव्य में था वह आया है, वह सत् है और पर्याय में नहीं था और पर्याय हुई है, वह असत् पर्याय है, दोनों में विरोध नहीं है। आहा...हा... ! असत् उत्पाद होने में अविरोध दिखाते हैं, दोनों में विरोध नहीं है — ऐसा कहना है। इस गाथा में ऊपर (शीर्षक में) इतना है ! है ? क्या कहा ?

वस्तु का सत्-उत्पाद (अर्थात्) है, वह उत्पन्न होता है और नहीं वह उत्पन्न होता है, इन दो भावों में विरोध नहीं है। है वह उत्पन्न होता है, वह सत् की अपेक्षा से (कहा है) और नहीं है वह उत्पन्न होता है, यह पर्याय की अपेक्षा से (कहा है)। पर्याय नहीं थी और उत्पन्न हुई इस पर्याय की अपेक्षा से (असत् उत्पाद कहा है)। इसमें समझ में आया ? १११ (गाथा)।

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि।। १११।।

ऐसा द्रव्य द्रव्यार्थ अरु पर्यायार्थ से निज भाव में।
सद्भाव-असद्भावयुत, उत्पाद को निज ही करे॥

आहा...हा... ! इस प्रकार का उपदेश ! क्या इसमें करना क्या ? कुछ करने का नहीं आता ? उस द्रव्य की उसकी पर्याय उससे है। यह मानना वह मान, किसी भी क्षण में विलक्षण द्रव्य देखकर.... दूसरे के द्रव्य को विलक्षण देखकर विलक्षण पर्याय तुझे दिखती

हो तो वह पर के कारण नहीं है। यह लकड़ी व्यर्थ पड़ी थी (फिर इसके ऊपर कुल्हाड़ी पड़ी और टुकड़े हुए) तो इस संयोग के कारण वहाँ पर्याय हुई — ऐसा नहीं है। कुल्हाड़ी नहीं थी तब तक लकड़ी के टुकड़े नहीं थे (परन्तु कुल्हाड़ी पड़ी और टुकड़े हुए तो) लोग संयोग से देखते हैं कि इसके कारण यह हुआ.... ज्ञानी देखते हैं कि इसकी सत्ता है, उसकी उत्पाद पर्याय इस प्रकार से (होने की) थी, तो उससे हुई है, आहा...हा...! भाई! यह तो समझ में आये ऐसा है। आहा...हा...!

शीशपेन को अच्छी क्षरी स्पर्श हुई, ऐसे क्षरी (स्पर्श) हुई तो इस संयोग से देखनेवाले ऐसा देखते हैं कि इससे होता है। यह संयोग को देखनेवाले मिथ्यादृष्टि से देखते हैं और स्वभाव की स्थिति को देखनेवाले उस समय उस सत्ता का उत्पाद उस प्रकार होने का है (वह) उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव से हुआ है (ऐसा देखते हैं)। वह चाकू से नहीं हुआ। आहा...हा...! ऐसा कौन माने ?

मुमुक्षु : जिसे सुखी होना हो वह माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ! जिसे सत्य चाहिए हो वह मानेगा, बापू! आहा...हा...! दुनिया-दुनिया की जगह चाहे जिस (प्रकार) रहे... आहा...हा...! रोटी के दो टुकड़े दाँत से होते हैं — ऐसा देखनेवाला संयोग से देखता है। यह क्या कहा ? रोटी के दो टुकड़े दाँत से होते हैं, यह संयोग से देखता है। संयोग हुआ, इसलिए यह टुकड़े हुए यह उसकी विलक्षणता संयोग से हुई — ऐसा अज्ञानी मानता है। धर्मी ऐसा मानता है कि उस रोटी के परमाणु की सत्ता उस प्रकार से वहाँ टुकड़े होने का पर्याय का उत्पाद काल है तो उत्पाद हुआ है। आहा...हा...! एकदम विलक्षणता देखी, इसलिए पर के कारण हुआ... पहले क्यों नहीं था ? यह दाँत स्पर्श हुए तब टुकड़े हुए हैं, यह संयोग को देखनेवाले उसके सत् की उस समय की उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत्ता है, उससे हुआ यह नहीं देखते हैं। आहा...हा...! ऐसा है। १११वीं (गाथा है) न ?

टीका - **इस प्रकार यथोदित....** यथा-उदित **सर्व प्रकार से अकलंक लक्षणवाला,....** आहा...हा...! (अकलंक अर्थात्) निर्दोष। (यह द्रव्य पूर्व कथित सर्व प्रकार से निर्दोष लक्षणवाला है) आहा...हा...! द्रव्य की सत्ता और सत्ता का उत्पाद

-व्यय-ध्रुव यह निर्दोष लक्षण है। क्या कहा? समझ में आया? द्रव्य का सत्तागुण और उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् तथा सत् द्रव्यलक्षणं। यह निर्दोष लक्षण है। आहा...हा...! तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है परन्तु पक्ष के कारण सूझ नहीं पड़ती, सूझ नहीं पड़ती। आहा...हा...!

इस प्रकार यथोदित.... यथा-उदित प्रगट है। **सर्व प्रकार से अकलंक लक्षणवाला, अनादिनिधन यह द्रव्य सत्-स्वभाव में (अस्तित्वस्वभाव में) उत्पाद को प्राप्त होता है।....** आहा...हा...! कितनी बात की है! **अनादिनिधन यह द्रव्य....** अर्थात् कोई भी द्रव्य, **सत्-स्वभाव में (अस्तित्वस्वभाव में)....** अपने **उत्पाद को प्राप्त होता है।....** आहा...हा...! गुरु का शिष्य नहीं और शिष्य का गुरु नहीं - ऐसा कहते हैं। गुरु से (ज्ञान) नहीं होता। गुरु का संयोग देखकर, वाणी सुनकर यह (ज्ञान) हुआ (ऐसा) संयोग को देखनेवाला है, (उसकी) दृष्टि मिथ्या है।

मुमुक्षु : गुरु का उपकार भूलने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उपकार की बात बाद में। उपकार का अर्थ फिर विनय आदि आते हैं, परन्तु पहले यह सिद्धान्त निर्णित होकर (फिर आते हैं)। यहाँ तो ऐसी बात है, बापू! आहा...हा...! (कोई ऐसा कहता है कि) तुम हमारा उपकार मानो, तुम ऐसा करो और तुम ऐसा करो और तुम यह करो.... कौन करे? बापू! सुन न भाई! आहा...हा...! यही यह लिखते हैं न? चौदह ब्रह्माण्ड का चित्र आता है न? यह **जीवानाम परस्पर उपग्रहः** जीव को परस्पर उपग्रह है। गुरु शिष्य का उपग्रह करते हैं; शिष्य गुरु की सेवा करता है (ऐसा) परस्पर उपग्रह है। आहा...हा...! भाई! आता है या नहीं? यह चौपानियाँ? अभी सामने डालते हैं, चौदह ब्रह्माण्ड चित्रित करते हैं और नीचे लिखते हैं **जीवानाम परस्पर उपग्रहः** परस्पर उपकार — ऐसा मीठा लगता है लोगों को! पराधीन वृत्तिवाले भिखारी को! पराधीनतावाले भिखारी को लगता है कि आहा...हा...! परस्पर उपकार! इनका अपने को उपकार! आहा...हा...! उसके कारण अपने में हुआ, हाँ!

प्रश्न : उमास्वामी की बात झूठी कैसे हो सकती है?

समाधान : ऐसा कहाँ कहा है? यह तो उपकार का अर्थ 'है' इतना बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि वचनिका में अर्थ किया है उपकार का अर्थ कोई करता है — ऐसा नहीं है,

उस समय में वह है, उसे यहाँ उपकाररूप से कहा है, वचनिका में ऐसा अर्थ किया है। आहा...हा... ! अभी जगत् में मानो कि.... आहा...हा... ! परस्पर एक-दूसरे जीव उपकार करते हैं ! पारस्परिक सम्पर्क करो, परोपकार करो, दूसरे की मदद करो.... आहा...हा... ! भाई ! क्या किया तब यह दवा और कारखाना और... ?

(यहाँ तो कहते हैं कि) कोई भी द्रव्य सत्ता के गुण के बिना नहीं होता और सत्ता का गुण उत्पाद-व्यय-ध्रुव हुए बिना नहीं रहता। पूरा हो गया ! आहा...हा... ! कोई भी द्रव्य सत्तागुण के बिना नहीं होता और सत्ता का गुण उत्पाद-व्यय-ध्रुव बिना नहीं होता। समझ में आया ? जो वस्तु है, वस्तु है... अस्ति - 'है'। 'है' ऐसा जो सत्ता नाम का गुण है, अस्तित्वगुण सत्ता का गुण है, कोई भी चीज है... है, उस गुण में वह अस्तित्व नाम का — सत्ता नाम का गुण है, वह सत्तागुण है, वह गुणी का गुण है, वह द्रव्य का गुण है और वह सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमति है। प्रति समय नयी पर्याय होती है, पुरानी व्यय होती है और ध्रुवपने रहे, यह सत्ता के परिणमन का स्वरूप है, यह सत्ता के परिणमन का स्वरूप, वह द्रव्य का परिणमन है, उसके परिणमन में दूसरे से कुछ हुआ है, इस बात में कुछ दम नहीं है। ऐसी बात है बापू ! आहा...हा... ! वह यहाँ कहते हैं, देखो !

द्रव्य का वह उत्पाद, द्रव्य की अभिधेयता के समय.... (अभिधेयता अर्थात्) कहने योग्यपना; विवक्षा, कथनी के समय **सद्भावसंबद्ध ही है....** क्या कहते हैं ? वस्तु जो है — आत्मा, परमाणु, मिट्टी, जड़, धूल, इन प्रत्येक में जब इनकी पर्याय होती है, तब सत्ता से हुई, इनके द्रव्य से हुई, वह सद्भाव संबद्ध से कहा। **और पर्यायों की अभिधेयता के समय असद्भावसंबद्ध ही है।....** (अर्थात्) पहले वह (पर्याय नहीं थी) और (फिर) हुई यह असद्भावसंबद्ध कहा। पहले थी और हुई, वह सद्भावसंबद्ध है। वस्तु जो है — आत्मा... इस परमाणु में सत्तासंबद्ध है, इस सत्ता से हुई — सत्ता के संबद्ध से हुई — ऐसा कहा है। है वह हुई; और पूर्व में नहीं थी और हुई इस अपेक्षा से असद्भाव संबद्ध है। पूर्व की (पर्याय) के साथ सम्बन्ध नहीं, नयी पर्याय स्वतन्त्र होती है, बहुत सूक्ष्म बात है। बापू ! आया न ?

द्रव्य का वह उत्पाद, द्रव्य की अभिधेयता के समय.... द्रव्य का उत्पाद जब

द्रव्य की मुख्यता से कहना हो तो उस **समय सद्भावसंबद्ध ही है....** '**है**' वह पर्याय हुई है। '**है**' वह हुई है। थी वह आयी है, और पर्याय की अपेक्षा से देखें तो वह पर्याय नहीं थी और हुई है — ऐसी बात है, बापू! बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

मुमुक्षु : यह और यह दो (हुए)।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ दोनों हैं। '**है**' उसमें से आयी है, यह सद्भावसंबद्ध है और पर्याय नहीं थी तथा वर्तमान हुई, वह असद्भावसंबद्ध है, दोनों अविरोध है, दोनों में विरोध नहीं है।

(विशेष कहेंगे)

प्रवचन नं. १२१ **दिनाङ्क ०१ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार गाथा १११। **टीका - इस प्रकार यथोदित (पूर्वकथित) सर्व प्रकार से....** जैसा कहा गया है, वैसे सर्व प्रकार से। **अकलंक लक्षणवाला,....** (अर्थात्) जिसका लक्षण निर्दोष है। **अनादिनिधन यह द्रव्य....** द्रव्य। छह द्रव्य का अधिकार है न? जो ज्ञेय है (वह) वस्तु तो अनादि-अनन्त है। **यह द्रव्य सत्-स्वभाव में (अस्तित्वस्वभाव में) उत्पाद को प्राप्त होता है।....** यह अस्तित्व स्वभाव है, उसमें उत्पाद को प्राप्त होता है। (यह) सत्-उत्पाद है — ऐसा कहकर (यह कहना है कि) दूसरा संयोग आया, इसलिए वहाँ विलक्षणरूप से, विपरीतरूप से, दूसरे प्रकार से उत्पाद दिखता है — ऐसा नहीं है। इस द्रव्य की अन्वय शक्तियों में से पर्याय आयी है। परद्रव्य के सम्बन्ध से नहीं आयी है। यह (सब बात) तो विचार माँगती है, भाई! यह विचार का विषय है।

यह द्रव्य सत्-स्वभाव में (अस्तित्वस्वभाव में) उत्पाद को प्राप्त होता है।.... अस्तित्वस्वभाव में उत्पाद को प्राप्त होता है (—ऐसा कहा)! सत्ता जो इसका स्वभाव है, उसमें उत्पाद को प्राप्त होता है। आहा...हा...! **द्रव्य का वह उत्पाद, द्रव्य की अभिधेयता के समय....** (अर्थात्) द्रव्य के मुख्य कथन के समय.... अभिधेयता (का अर्थ मूल ग्रन्थ में नीचे) है न? कहने योग्यपना; विवक्षा; कथनी। **सद्भावसंबद्ध ही**

है.... आत्मा में या परमाणु में जिस समय में अन्वयशक्ति जो है, आत्मा की ज्ञान-दर्शन -आनन्द (आदि) अन्वयशक्तियाँ; परमाणु में रंग, गंध, रस (आदि) अन्वयशक्तियाँ। उनमें जो (अन्वयशक्ति) है, उसमें से पर्याय उत्पन्न होती है।

द्रव्य (की) दृष्टि से देखें तो **द्रव्य ही कहा जाता है....** ऐसा कहा न ? तब **पर्यायें नहीं....** आहा...हा... ! **तब उत्पत्तिविनाश रहित,....** (अर्थात्) अन्दर सत् की अन्वय शक्तियाँ, वस्तु है वह सत् है, (इसलिए) उसकी अन्वय शक्तियाँ भी सत् हैं, वे **युगपत् प्रवर्तमान,....** (अर्थात्) साथ में (प्रवर्तती) **द्रव्य को उत्पन्न करनेवाली....** यह सब भाषा ऐसी ! **अन्वयशक्तियों के द्वारा,....** आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह अन्वय शक्तियाँ — गुण हैं। कायम रहनेवाली शक्तियाँ — गुण अन्वय है, उसके द्वारा **उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली,....** उस द्वारा (जो कहा) वहाँ इतनी बात (पूरी हुई)।

अब (कहते हैं कि) **उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली,....** पर्यायें **क्रमशः प्रवर्तमान,....** पर्यायें **पर्यायों की उत्पादक....** (अर्थात्) अवस्था की उत्पादक **उन-उन व्यतिरेक....** (अर्थात्) भिन्न-भिन्न **व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है;....** वस्तु है, उसमें अन्वयशक्तियाँ अर्थात् गुण हैं। उनके सम्बन्ध से वहाँ पर्याय उत्पन्न होती है। द्रव्य के लक्ष्य से (कहें तो) द्रव्य का अन्वय है, उससे सत् है, वह उत्पन्न होता है। शक्तियाँ हैं, वे उत्पन्न होती है। इसमें समझ में आया ? जो वस्तु है, उसमें अन्वय शक्तियाँ, गुण अनादि-अनन्त है। वस्तु जैसे अनादि-अनन्त है, वैसे (शक्तियाँ) अनादि -अनन्त हैं। उन शक्तियों को अवलम्ब कर जो पर्याय — व्यतिरेक होती है, वह नयी हुई है — ऐसा नहीं है। वह 'है' उसमें से हुई, इसलिए उसे सत् सम्बन्ध कहा जाता है। बनियों को ऐसा विचार करने का समय कब लेना ?

पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को.... वस्तु को **सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है;....** (मूल पुस्तक में सद्भावसंबद्ध का अर्थ है) अस्तित्व के साथ सम्बन्ध रखनेवाला — संकलित (द्रव्य की विवक्षा के समय...) द्रव्य की मुख्यता से जब कथन किया जाये, तब (अन्वय शक्तियों को मुख्य और व्यतिरेकव्यक्तियों को गौण...) आत्मा में अन्दर अन्वय शक्तियाँ जो ज्ञान,

दर्शन, आनन्द त्रिकाल है, उनकी मुख्यता से कथन होता है, तब उसमें से पर्याय होती है, वह सत् है। उसमें से होती है; इसलिए उसे सत्सम्बन्ध से पर्याय उत्पन्न हुई — ऐसा कहा जाता है।

अन्वयशक्ति है, उसमें से ही (पर्याय) आती है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें से ही आती है, वह सद्भावसंबद्ध कहा जाता है। द्रव्य की मुख्यता से (कहें तो वह पर्याय) नयी उत्पन्न हुई — ऐसा नहीं है, ऐसा है। (लोग) बेचारे क्रियाकाण्ड में चढ़ गये हैं, तत्त्व की पूरी बात पड़ी रह गयी है।

यहाँ यह कहना चाहते हैं कि वस्तु में जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह अन्वय शक्तियों के सम्बन्ध से होती है, इसलिए सत्सम्बन्ध से — सत् से हुई है। 'है' उसमें से हुई है। समझ में आया? एकदम नयी पर्याय लगे, विलक्षण पर्याय लगे, उसे ऐसा लगे कि यह संयोग कुछ आया, इसलिए ऐसी विलक्षण (पर्याय) आयी, तो यहाँ कहते हैं कि तेरी यह बात झूठ है। वह अन्वयशक्ति के सम्बन्ध से आयी है, इसलिए सत्सम्बन्ध कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसा सब सीखना! (इसकी अपेक्षा तो) सीधे सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण करने लगें (तो) हो (गया धर्म)! अकेले शून्य लगी.... आहा...हा...! धर्म का पता नहीं चलता इसलिए लोग बेचारे (दूसरे रास्ते चढ़ गये हैं)। एक व्यक्ति का तो ऐसा सुना, नाम नहीं देते, (वे ऐसा कहते हैं कि) यह शरीर है, वह मर जाने के बाद सौंपना। क्या कहलाता है वह? मेडीकल कॉलेज! मर जाने के बाद सौंपना कि जिससे इसे चीरने में काम आवे। मर जाने के बाद आँखें निकाल कर दे परन्तु यह क्या? शरीर पर है, आँखें पर हैं (उसे) मैं देता हूँ, यह बात ही — मान्यता ही मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : उसमें से आँखें निकालकर अन्धे मनुष्य को लगाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चढ़ाते हैं न, पता है न! लगाते हैं और सूझते हो जाते हैं। वह आँख तो जड़ होती है परन्तु उसकी आँख में तेज होता है न? अन्दर आत्मा जुड़ता है, इसलिए दिखता है परन्तु यह तो (ऐसा कहता है कि) शरीर मेडीकल (कॉलेज में) सौंप देना और आँखें से भी सौंप देना। इसमें से मानो बड़ा धर्म किया (—ऐसा मानता है)! आहा...हा...! अरे...रे...! क्या करता है जीव? इस शरीर को और आत्मा को — द्रव्य को

सम्बन्ध क्या है ? यह शरीर आत्मा का था कहाँ (कि यह आत्मा शरीर को दे) ? कि मैं मर जाने के बाद यह शरीर मेरा नहीं, (इसलिए शरीर को) मेडीकल में देकर चीरना हो तो चीरना। ऐसा करना और वैसा करना.... वह तो जड़ का था, आत्मा का कुछ था नहीं। यह दिया — 'मैंने दिया' यह बात ही झूठी है।

मुमुक्षु : शुभभाव होता है।

समाधान : उस शुभभाव में मिथ्यात्व का पाप है। उसमें कुछ (नहीं) । आहा...हा... !

यहाँ तो यह कहना चाहते हैं कि तुझे बाह्य संयोग के सम्बन्ध में उस समय आत्मा की पर्याय एकदम विलक्षण और एकदम नयी दिखती है, मतिज्ञान में से एकदम केवलज्ञान हो! आहा...हा... ! और मिथ्यात्व का नाश होकर एकदम क्षायिक सम्यक्त्व हो, भले क्षयोपशम होकर क्षायिक हो, परन्तु ऐसे क्षायिक (होवे इसलिए) मानो कि.... आहा...हा... ! यह चीज किसी पर के सम्बन्ध के कारण उसमें है ? (तो कहते हैं कि) नहीं; अन्दर उसकी अन्वयशक्तियाँ-गुण हैं, उनके सम्बन्ध से हुई, वह सत् से हुई है। आहा...हा... ! धर्म के लिए ऐसा समझना पड़ता होगा ? भाई ! समझे बिना धर्म होता होगा ? आहा...हा... !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं, प्रभु ! कि यह परमाणु हो तो परमाणु में भी अन्वय वर्ण, गन्ध, रस (आदि) कायम रहनेवाली शक्ति है। उसमें से पर्याय होती है, वह सत् से हुई है, कोई संयोग आया इसलिए एकदम हरी (पर्याय की) पीली (पर्याय) हुई; पीली की काली हुई — ऐसा नहीं है। वह अवस्था अन्वयशक्ति के सम्बन्ध से हुई है। वह 'है' वह हुई है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इसी तरह तेरे तत्त्व में — भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शन अनन्त... अनन्त... अनन्त... अतीन्द्रिय गम्भीर शक्तियों का भण्डार प्रभु, उसके सम्बन्ध में से हुई पर्याय, वह 'है' वह हुई है — ऐसा कहा जाता है। है इसमें ? देखो ! वह **सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है;....** सद्भावसंबद्ध उत्पाद है। 'है' भाव, वह उत्पाद है। 'है' उसमें से हुआ, इसलिए सद्भाव उत्पाद है। आहा...हा... ! मूल तत्त्व का पता नहीं पड़ता, इसलिए पर्याय में एकदम नया लगे तो मानो कोई संयोग आया, इसलिए नया हुआ, यह बड़ा भ्रम-मिथ्यात्व है —

ऐसा कहते हैं। पर के साथ कोई संबद्ध है ही नहीं, सत् वस्तु है, शक्तियाँ हैं, उनके सम्बन्ध में से आयी हुई वस्तु (-पर्याय) है; इसलिए सद्भावसंबद्ध है। सत् है, वह आयी है; थी वह हुई है। आहा...हा...! इसमें समझ में आया? यह तो धीरे-धीरे कहते हैं। बनियों को धन्धा (रहा) और यह (बात) विचार माँगती है। आहा...हा...!

सत् की पर्याय, सत् के अन्वय से हुई — ऐसा द्रव्य की मुख्यता से कहा जाता है और वह पर्याय नहीं थी और हुई, इसलिए असत् उत्पन्न हुई — ऐसा भी कहा जाता है। आहा...हा...! उसमें 'है' उसमें से हुई, इसलिए 'है' वह हुई — ऐसा अन्वयशक्ति के सम्बन्ध को लेकर, गुण को लेकर कहा जाता है और पहले नहीं थी तथा हुई, इस पर्यायदृष्टि से देखो तो असत् हुई — नहीं थी और हुई है, उसे अन्वय के साथ सम्बन्ध नहीं रहा। यहाँ पर्याय के साथ देखें तो पर्याय नहीं थी और हुई, यह पर्यायदृष्टि से असत् उत्पाद कहा जाता है। द्रव्यदृष्टि से अन्वयशक्ति के सम्बन्ध में से आयी है, इसलिए वह थी, वह आयी है। 'है' वह आयी है; थी, वह आयी है, थी वह हुई है (— ऐसा कहा जाता है)। आहा...हा...! कहो इसमें समझ में नहीं आता? आहा...हा...! वस्तु तो वस्तु है। अब वस्तु में द्रव्य, गुण और पर्याय — तीन हैं। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा वस्तु है, परमाणु एक ओर रहे, अभी अपने को आत्मा के साथ (प्रयोजन है, इसलिए आत्मा में उतारते हैं) आत्मा वस्तु है, उसमें तीन प्रकार है — द्रव्य-गुण और पर्याय। अब उस द्रव्य के साथ अन्वयशक्तियाँ — जो गुण रहे हैं, वे अन्वय हैं (अर्थात्) साथ रहनेवाले हैं। है... है... है... है... है... है... अब, उसमें से हुई पर्याय, वह अन्वय में से हुई पर्याय, वह अस्ति में से पर्याय हुई — ऐसा कहा जाता है। थी वह हुई, है वह हुई (—ऐसा कहा जाता है)।

आहा...हा...! यह प्रवचनसार है! बहुत समय बाद पढ़ा जाता है। चार वर्ष पहले (पढ़ा था) आहा...हा...! यहाँ तो (कहते हैं कि) पर्याय उत्पन्न होती है परन्तु होती है उसके दो प्रकार हैं। अन्तर में, हाँ! वह अन्वय जो शक्तियाँ हैं। वस्तु अन्वय है और उसकी शक्तियाँ अन्वय है, अन्वय अर्थात् कायम रहनेवाली है... है... है... है... है... वह है... है... है... उसमें से हुई, यह द्रव्यदृष्टि से — द्रव्य की मुख्यता से कहना हो, तब 'है' उसमें से — विद्यमान थी, थी उसमें से हुई — ऐसा कहा जाता है। लो, यह तो समझ में आता है

या नहीं ? पर के कारण नहीं, पर का संयोग एकदम आया, (इसलिए पर्याय हुई — ऐसा नहीं)। दृष्टान्त — जैसे आत्मा में (पहले समय में) मतिज्ञान है और एकदम दूसरे समय में केवलज्ञान हुआ। अब, जो केवलज्ञान हुआ, वह अन्वयशक्ति के सम्बन्ध से हुआ अर्थात् था, वह हुआ है। अन्दर अन्वयशक्ति के सम्बन्ध से हुआ, इसलिए था वह केवलज्ञान हुआ है, वह सद्भावसंबद्ध (हुआ)। **सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है;.....** आहा...हा...!

सुवर्ण की भाँति। वह इस प्रकार **जब सुवर्ण ही कहा जाता है....** सोना कहा जाता है। **बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं,....** कुण्डल, कड़ा आदि पर्याय नहीं। **तब सुवर्ण जितनी स्थायी,....** स्वर्ण जितनी स्थायी। **युगपत् प्रवर्तमान,....** अन्दर अन्वय की बात है, हाँ! **सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ....** अर्थात् गुण — स्वर्ण के गुण –अन्वयशक्तियाँ, उन **अन्वयशक्तियों के द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितने स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले सुवर्ण का सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है।** उस स्वर्ण में थी, वह पर्याय आयी। स्वर्ण में अन्वयशक्तियाँ थीं, कायम रहनेवाली (शक्तियाँ थीं), उसमें से बाजूबंध की पर्याय आयी — ऐसा द्रव्यदृष्टि से — द्रव्य को मुख्य करके कहा जाता है। आहा...हा...! कहो, समझ में आता है या नहीं ?

मुमुक्षु : कोई हाँ नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, करे परन्तु (फिर) पूछे तो ? (यह तो) सादी भाषा में (कहा जाता है)।

वस्तु है, आत्मा वस्तु है और वस्तु है तो वस्तु में बसनेवाली ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियाँ — अन्वयशक्तियाँ हैं। अब, उस अन्वयशक्ति में से केवलज्ञान हुआ, मतिज्ञान में से एकदम केवलज्ञान हुआ तो कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय अन्वयशक्ति जो सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध से हुई; इसलिए 'है' वह हुई है। उसमें थी, वह हुई है। थी उसमें से आयी है; है में से होनी हुई है। आहा...हा...! समझ में आया ? स्वर्ण का दृष्टान्त कहा न ?

स्वर्ण में उसका पीलापन, चिकनाहट, वजन आदि अन्वयशक्तियाँ पड़ी हैं, उसमें

से यह बाजूबंध आदि पर्याय हुई। बाजूबंध अर्थात् यह कड़ा, अँगूठी, वह स्वर्ण में अन्वयशक्ति है, उसमें से वह पर्याय हुई है। किसी (कारीगर ने) घड़ी और यह की ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। समझ में आया ? यहाँ तो अभी द्रव्य की मुख्यता से कथन है। पर्याय की मुख्यता से (बात) आयेगी, तब ऐसा आयेगा कि वह पर्याय भी द्रव्य की ही है, द्रव्य ही है। जैसे द्रव्य, पर्याय है; पर्याय है वह जैसे द्रव्य है, अन्वयशक्ति से प्राप्त हुई, इसलिए पर्याय, द्रव्य है, उसी प्रकार पर्याय भी द्रव्य है। जैसे, द्रव्य है, वह पर्याय है; वैसे ही पर्याय है, वह द्रव्य है। आहा...हा...! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! तत्त्वज्ञान की दृष्टि के बिना तत्त्व का वास्तविकभाव अन्दर क्या है ? — उसका ज्ञान हुए बिना कहाँ इसे अटकता है, और कहाँ छूटता है, इसका इसे पता नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा में जो सद्भावसंबद्ध अन्वयशक्ति द्वारा.... आहा...हा...! है ? स्वर्ण के अन्दर जो अन्वयशक्ति पीलापन, चिकनापन आदि है, उसमें से बाजूबंध अर्थात् कड़ा इत्यादि पर्यायें जितनी टिकनेवाली, पर्याय जितनी (टिकनेवाली) **क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियों को....** उन-उन भिन्न-भिन्न पर्यायों को **प्राप्त होनेवाले सुवर्ण का सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है।** है ऐसा केवल उत्पन्न हुआ है। ऐसा-ऐसा सम्बन्ध है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु : प्राप्त की प्राप्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है उसमें से आता है, बस! 'है' (इतना) अभी (सिद्ध करना है) फिर दूसरा कहेंगे। यह द्रव्य का स्वरूप ही यह है — ऐसा कहते हैं। द्रव्य की अन्वयशक्ति के सम्बन्ध में से आयी है; इसलिए वह पर्याय स्वयं द्रव्य ही है। उसे तू दूसरी चीज (है ऐसा) कह दे कि यह एकदम नयी पर्याय आयी, इसलिए किसी चीज के कारण (हुई) और दूसरी चीज है, दूसरा द्रव्य है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : दूसरे के कारण नहीं है — ऐसा आपने जो कहा, वह सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो यहाँ कहना है कि स्वर्ण में अन्वयशक्तियाँ — पीलापन, चिकनापन, वजन जो है, उसमें से कड़े की, कुण्डल की पर्याय हुई, वह कड़े

की, कुण्डल की पर्याय हथोड़े से, ऐरन से और सोनी से नहीं। यह ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो इससे ऐसी हुई यह अस्ति सिद्ध करनी है। आहा...हा...! बनियों को समय मिलता नहीं और समय मिले तो (स्वाध्याय करते नहीं) पुस्तकें देते हैं तो पुस्तकें पढ़ते नहीं! यह क्या कहते हैं? यह पढ़ तो सही! यह पढ़े तो भी घण्टे-आधे घण्टे पढ़े (फिर रख दे) यहाँ एक बहिन आती है, एक पुस्तक पड़ा हो, वह लेकर दो लाइन, एक पैराग्राफ पढ़ ले! अरे... बापू! मार्ग बहुत अलग, भाई!

यहाँ तो द्रव्य की पर्याय के दो प्रकार किये हैं। एक तो सत् सम्बन्ध से प्रगटी है; इसलिए सत् थी वह हुई — यह एक बात की। **और जब पर्यायें ही कही जाती हैं,....** अब दूसरा बोल कहा। पहले में क्या था **जब द्रव्य ही कहा जाता है....** ऐसा था। पैराग्राफ का पहला शब्द — दूसरे पैराग्राफ का पहला शब्द। **जब द्रव्य ही कहा जाता है, पर्यायें नहीं....** यहाँ **जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं,....** (ऐसा कहा है) आहा...! आहा...हा...!

तब उत्पत्तिविनाश जिनका लक्षण है.... (अर्थात् कि) पर्यायों का। ऐसी **क्रमशः प्रवर्तमान,....** (अर्थात्) क्रम-क्रम से प्रवर्तमान। यह **क्रमशः प्रवर्तमान,....** (कहा उसमें) क्रमबद्ध आया या नहीं? आहा...हा...! अरे... भाई! ऐसा समय कब मिले? मनुष्य (हुआ तब) निकलने का समय आवे, वह समय व्यर्थ ही व्यर्थ में निकाल देता है। अरे...रे...! वापस वह मिथ्यात्व के जोर से निगोद में जाता है। आहा...हा...!

कुन्दकुन्द आचार्य तो ऐसा कहते हैं कि वस्त्र का एक टुकड़ा रखकर मुनिपना मानेगा और मनवायेगा... आहा...हा...! प्रभु! उसने नवतत्त्व का विरोध किया, (इसलिए) वह निगोद में जायेगा। अर...र...! यह क्या कहलाता है? 'ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा' ऐसा होगा? नहीं... नहीं; भाई! उसने तत्त्व का पूरा विरोध... पूरा विरोध किया है। तत्त्व का पूरा विरोध किया है। आहा...हा...! एक भी वस्त्र का टुकड़ा रखकर (स्वयं को) मुनि माने, मनवावे, माननेवाले को भला जाने ,(वह) निगोद में जायेगा। बापू! आहा...हा...! क्योंकि वह टुकड़ा रखा, इसलिए राग है और तीव्रराग वहाँ मुनिपना नहीं होता है। वस्त्र रखने का भाव है, वहाँ तीव्रराग है, वहाँ मुनिपना नहीं होता है। वहाँ मुनिपना नहीं (है) और

मुनिपना मनवाता है! आहा...हा...! साधु को कुसाधु माने, कुसाधु को साधु माने... पच्चीस मिथ्यात्व नहीं आते? आहा...हा...! विचार कहाँ है? अपने सम्प्रदाय में माने हुए को साधु (मानता है)। हो गया! जय नारायण! आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्तिविनाश जिनका लक्षण है....** (अर्थात् कि) पर्यायें। **क्रमशः प्रवर्तमान,....** क्रमशः प्रवर्तनेवाली पर्यायें। (उन) **पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियों....** पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली उन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा... व्यक्ति अर्थात् प्रगटता द्वारा **उत्पत्तिविनाश रहित,....** (अर्थात्) अन्वय। **युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को असद्भावसंबद्ध....** है। अन्वयशक्तिवाला जो द्रव्य है और पर्याय की दृष्टि से देखने पर उस पर्याय को (असद्भावसंबद्ध है), नहीं थी और हुई है। अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध बिना नहीं थी और हुई है। आहा...हा...! समझ में आया? **द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को असद्भावसंबद्ध....** (है)। (असद्भावसंबद्ध का अर्थ मूल पुस्तक में नीचे है)। असद्भावसंबद्ध = अनिस्तत्व के साथ सम्बन्धवाला — संकलित। (पर्यायों की विवक्षा के समय व्यतिरेकव्यक्तियों को मुख्य और अन्वयव्यक्तियों को गौण किया जाता है...) अन्दर कायम रहनेवाले गुण — अन्वयशक्ति गौण (करके) और भिन्न-भिन्न होनेवाली पर्यायें वे मुख्य हैं — ऐसा गिनने पर उसे असद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है। अर्थात् वह नहीं था और उत्पन्न हुआ। पर्यायदृष्टि से पर्याय नहीं थी और उत्पन्न हुई, तथापि वह पर्याय, द्रव्य है; उसके द्रव्य से पृथक् है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! भिन्न-भिन्न पर्यायें हुई होने पर भी वह पर्याय उस द्रव्य की है और द्रव्य है। आहा...हा...! वह पर्याय भिन्न-भिन्न हुई, इसलिए दूसरा द्रव्य है और दूसरे द्रव्य के कारण भिन्न-भिन्न हुई है (— ऐसा नहीं है)। समझ में आया?

पहले तो (सद्भावसंबद्ध) कहा था (अर्थात्) 'है' उसमें से हुई और यह नहीं (तथा) हुई, इसलिए किसी के संबद्ध से हुई — ऐसा नहीं है। यह तो पर्याय की दृष्टि से देखने पर जब उसका मुख्यपना देखते हैं, तब अन्वय में जो था, उसमें से आया, इस बात

को न देखकर वह नहीं थी और हुई — ऐसा देखने में आता है। उसे असद्भावसंबद्ध कहा जाता है। सूक्ष्म बात है।

तत्त्व का जो स्वरूप है, उससे कम-अधिक और विपरीत (मानकर विपरीत) मान्यता करे तो वह तत्त्व मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। सत्य को असत्य स्थापित करता है, इस कारण मिथ्यात्व के फल में असत्य के / चौरासी के अवतार हैं। आहा...हा...! और सत्य के फल में केवलज्ञान तथा मोक्ष है। आहा...हा...! अर्थात् अन्दर जो शक्तियाँ थीं, उनके सम्बन्ध से पर्याय हुई, इसलिए सद्भावसंबद्ध है। 'है' वह हुई, वह भी सत् और नहीं थी तथा हुई; नहीं थी और एकदम हुई, इसलिए किसी परद्रव्य से हुई — ऐसा नहीं है। उसकी पर्याय को सम्बन्ध से — अन्वय के सम्बन्ध में रहकर अन्य पर्याय हुई है। आहा...हा...! समझ में आया? वह नयी (पर्याय) हुई, उसे अन्वय का सम्बन्ध छूट गया है — ऐसा नहीं है। मात्र नहीं थी और हुई, इस अपेक्षा से पर्याय को असत् सम्बन्ध कहा जाता है। आहा...हा...! है?

सुवर्ण की ही भाँति। वह इस प्रकार — जब बाजूबंधादि पर्यायें ही.... कड़ा, कुण्डल इत्यादि (पर्यायें) **कही जाती हैं — सुवर्ण नहीं,....** पर्याय तो कहा जाता है, स्वर्ण नहीं। **तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी....** यह कुण्डल, कड़ा, जितने काल रहे उतनी **टिकनेवाली,....** उतनी टिकनेवाली, **क्रमशः प्रवर्तमान,....** एक के बाद एक होनेवाली कुण्डल, कड़ा, आदि एक के बाद एक क्रमश: होनेवाली **बाजूबंध इत्यादि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियों....** भिन्न-भिन्न प्रगटताओ.... **सुवर्ण जितनी टिकनेवाली,....** आहा...हा...! **युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त सुवर्ण के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।** आहा...हा...! वह असद्भाव उत्पाद है परन्तु अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध तो है, अद्धर से नहीं। समझ में आया? परन्तु पर्यायदृष्टि की मुख्यता से देखने पर, नहीं थी और हुई — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! परन्तु वह हुई है, वह अन्वय (के साथ) सम्बन्ध में तो है। वह पर्याय द्रव्य की है; द्रव्य के सम्बन्ध से हुई है। वह पर्याय द्रव्य की ही है और द्रव्य, पर्याय है; वह द्रव्य है, वह स्वयं ही पर्याय है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! यह तो १११ गाथा है।

असद्भावयुक्त ही उत्पाद है। देखा? '**ही**' तो वहाँ भी है। वह नहीं थी और हुई वह भी ठीक है, और थी और हुई (ऐसा जो कहा) वह भी यथार्थ है। आहा...हा...! अन्दर शक्तियाँ थीं, वे परिणमित हुई है और पहले नहीं थी और (बाद में) परिणमित हुई है; इसलिए असत् उत्पन्न कहा जाता है, तथापि उस पर्याय को अन्वय के साथ सम्बन्ध तो है। सम्बन्ध छूटकर अद्धर से हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? समझ में आये उतना समझना, बापू! यह तो वीतराग का मार्ग महागम्भीर है!! तीन लोक के नाथ...! आहा...हा...!

एक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं। बापू! एक परमाणुद्रव्य, भले अंगुल के असंख्यातवें भाग में रहा परन्तु उसकी शक्तियाँ अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... हैं। यह क्या है? और उन शक्तियों में से पर्याय (हुई वह) परन्तु उसकी शक्ति के सम्बन्ध से हुई, इस अपेक्षा से उसे सद्भावसंबद्ध है और उसे पर्याय की मुख्यता से जब कहना हो, (तब ऐसा कहते हैं कि) पहले नहीं थी और हुई — ऐसा कहा जाता है। तथापि वह नहीं थी और हुई, वह भी अन्वय के सम्बन्ध में तो है ही, परन्तु मुख्यरूप से नहीं थी और हुई — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

ऐसा (समझने का) धर्म करने में क्या काम होगा? तो कहते हैं कि धर्म की पर्याय जो है... धर्म की पर्याय जो है, वह क्या है? वह कहाँ से आयी? किसी दया, दान की, राग की क्रिया की, उसमें से आयी? उसमें थी? दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम किये, उसमें से पर्याय आयी? उसमें पर्याय है? अन्वय में है, गुणों में शक्तिरूप है; इसलिए आती है। आहा...हा...! और नहीं थी और आयी (—ऐसा कहो) तो भी अन्वय का सम्बन्ध तो अन्दर गौणरूप से है ही। गौणरूप से! और वह नहीं थी तथा हुई इस अपेक्षा से असत् पर्याय (कही जाती है)। परन्तु नहीं थी और हुई, इसलिए कोई संयोग ऐसे आये, इसलिए नहीं थी और एकदम हुई — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! सत् का सम्बन्ध और सत् का असम्बन्ध, इसी का इसी में समाहित हो जाता है। समझ में आया?

जैसे बाजूबंध आदि पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय-शक्तिपने को प्राप्त करती हुई बाजूबंध इत्यादि

पर्यायों को सुवर्ण करता है.... आहा...हा...! **तदनुसार। द्रव्य की अभिधेयता के समय भी, सत्-उत्पाद में द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ....** अन्वयशक्तियाँ (अर्थात्) गुण **क्रमप्रवृत्ति को प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, द्रव्य को पर्यायें (पर्यायरूप) करती हैं;....** द्रव्य को पर्यायें करती हैं। आहा...हा...! थोड़ा पढ़ना चाहिए, विचार करना चाहिए। ऐसे का ऐसा अद्धर से चले — ऐसा नहीं चलता। आहा...हा...! ऐसा का ऐसा अनादि अज्ञान तो चला है। आहा...हा...! तत्त्व की जो स्थिति है, उसमें से कुछ भी कम अधिक, विपरीत, पर के सम्बन्ध से होता है — ऐसी यदि कुछ (मान्यता) हो जाये तो वह विपरीत दृष्टि है। आहा...हा...!

(पहले पर्याय) नहीं थी और हुई, इसलिए पर के सम्बन्ध से हुई (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! एकदम केवलज्ञान हो, एकदम क्षायिकसम्यक्त्व हो, एकदम मति-श्रुतज्ञान में जलहल ज्योति चैतन्यप्रभु प्रगटे, वह सम्बन्ध पहले नहीं था और हुआ, वह तो पर्याय की मुख्यता से कहा जाता है। वरना उसकी पर्याय को अन्वय के साथ गौणपने सम्बन्ध तो है। आहा...हा...! और जब अन्वय के मुख्य सम्बन्ध से — सत् सम्बन्ध से पर्याय हुई — ऐसा कहते हैं तो वह अन्वय है, उसमें से ही आयी है — ऐसे उसे सत् सम्बन्ध पर्याय कहा जाता है। ऐसी बातें! इसकी बहियों में नहीं आती, उपाश्रय जाये तो सुनने में नहीं आती, मन्दिर जाये तो सुनने में नहीं आती — ऐसी बातें हैं, बापू! बहुत सूक्ष्म भाई! क्या हो?

आहा...हा...! दीपचन्दजी कह गये हैं (उन्होंने) अध्यात्मपंचसंग्रह शास्त्र बनाया है, उसमें कह गये हैं कि मैं देखता हूँ तो आगम प्रमाण किसी की श्रद्धा नहीं दिखती, क्योंकि उसे आगम क्या कहते हैं? — इसका पता नहीं है। मुँह से कहें तो सुनते नहीं... तुम्हारा एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है — ऐसा कहकर उड़ा देते हैं। 'यह लिख जाता हूँ' — ऐसा लिखा है। अध्यात्मपंचसंग्रह है, (उसमें) लिखा है कि लिख जाता हूँ। बापू! मार्ग कोई अलग है। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन की पर्याय (जो होती है) वह अन्दर अन्वय जो दर्शन-श्रद्धागुण है उसके सम्बन्ध से है, उसमें से आयी है। द्रव्यदृष्टि को मुख्य करने पर ऐसा कहा जाता

है। पर्याय को मुख्य करके (कहे तब भी) अन्वय — गुण तो रखना ही है। (अन्वय का) अभाव है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। पर्याय की (मुख्यता से कहें, तब ऐसा कहा जाता है कि) मिथ्यात्व गया और सम्यक्त्व हुआ, वह असत् पर्याय हुई। नहीं थी और हुई — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! और ऐसा भी कहा जाता है कि मिथ्यात्व है, वह उपादान है और सम्यक्त्व है, वह उपादेय है अर्थात् मिथ्यात्व है, उसका क्षय होता है, तब सम्यक्त्व की पर्याय की उत्पत्ति होती है — ऐसा उसका अर्थ है। आहा...हा...! बहुत कठिन बातें बापू! लोगों को कुछ कान में पड़ी नहीं है। ऐसे के ऐसे अन्धे के अन्धे होकर जगत चला जाता है।

अन्दर आत्मा तत्त्व जो है वह अनन्त... अनन्त... गुण का गम्भीर सागर है, उसकी पर्याय-अवस्था जो होती है, वह अवस्था थी वह होती है। 'है' वह होती है। है वह होती है। आहा...हा...! यह द्रव्य की मुख्यता से कहें, तब ऐसा (कहा जाता है)। पर्याय की मुख्यता से (ऐसा कहा जाता है कि) नहीं थी (वह पर्याय) होती है। नहीं थी और हुई तथापि उसे गौणरूप से अन्वय का सम्बन्ध तो है; अद्धर से ऐसी की ऐसी हुई है (— ऐसा नहीं है)। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। है न वहाँ?

द्रव्य को पर्यायें (पर्यायरूप) करती हैं; जैसे सुवर्ण की उत्पादक अन्वय-शक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके.... अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके। **उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, सुवर्ण को बाजूबंधादि पर्यायमात्र (पर्यायमात्ररूप) करती हैं। इसलिए....** आहा...हा...! पर्याय को स्वर्ण करता है और स्वर्ण को पर्याय करती है। आहा...हा...! यह स्वर्ण की पर्याय जो है, इससे स्वर्ण की सिद्धि होती है और स्वर्ण की सिद्धि है, उससे पर्याय की सिद्धि होती है। परद्रव्य है, इसलिए पर्याय की सिद्धि होती है और एकदम नयी पर्याय की सिद्धि होती है; इसलिए किसी परद्रव्य का सम्बन्ध है, ऐसा सिद्ध होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : भगवान के समवसरण में आते ही अन्धे, सूझते हो जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि (भी) पड़े हैं। अनन्त बार समवसरण में गया है, अनन्त बार सुना परन्तु अन्दर द्रव्य में अस्ति पर्याय पड़ी है, उस शक्ति और शक्तिवान पर

दृष्टि नहीं गयी। शक्तिवान — शक्तिवाला और शक्ति, अनन्त... अनन्त... गुण का गम्भीर सागर प्रभु है, उस पर दृष्टि नहीं गयी। भगवान के समवसरण में अनन्त बार (वाणी सुनी) भगवान की आरती अनन्त बार उतारी.... आहा...हा... ! मणिरत्न के दीपक, हीरे के थाल, कल्पवृक्ष के पुष्पों से भगवान की आरती उतारी... उसका क्या ? वह तो राग-शुभराग है। आहा...हा... ! वह कहीं धर्म नहीं है। आहा...हा... ! यहाँ तो कहते हैं कि भले राग की पर्याय की उत्पत्ति हुई, तथापि अन्दर शक्ति की योग्यता थी; (इसलिए हुई है)। योग्यता बिना नहीं होती। पर के कारण नहीं होती — ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा... ! ओ...हो... !

इसलिए द्रव्यार्थिक कथन से सत्-उत्पाद है,.... क्या कहा ? कितने ही बेचारों ने द्रव्यार्थिक क्या ? यह सुना नहीं होगा। बनियों में जन्म हुआ (परन्तु) द्रव्यार्थिक अर्थात् क्या ? (यह सुना नहीं होगा)। द्रव्यार्थिक अर्थात् जो वस्तु है — द्रव्य है, उसके द्रव्य के प्रयोजनवाली जो दृष्टि है, वह द्रव्यार्थिकदृष्टि कहलाती है। आहा...हा... ! अन्धा का अन्धा चला, अन्धा देखनेवाला और अन्धा चलनेवाला। (एक भक्ति में) आता है। 'अन्धो अन्ध पलाय' अन्धा देखनेवाला और अन्धा चलनेवाला; कोई विचार भी नहीं करता कि यह क्या ? सम्यग्दर्शन क्या है ? और धर्म की शुरुआत होती है, तब क्या होता है ? और कैसे होता है ? आहा...हा... ! उसकी शुरुआत उसके द्रव्य में स्थिर शक्ति पड़ी है, इससे उसे द्रव्य की दृष्टि होने पर सम्यक्त्व होता है। समझ में आया ? आहा...हा... !

द्रव्य में श्रद्धा नाम की अन्वयशक्ति तो अनादि-अनन्त पड़ी है और उस शक्ति का धारक भगवान भी अन्वयस्वरूप सदा है। आहा...हा... ! परन्तु उस पर दृष्टि नहीं दी, जिसमें से पर्याय आती है, होती है, उस पर दृष्टि नहीं दी - ऐसे के ऐसे भगवान के समवसरण में सुनकर होगा (— ऐसा मानकर काल निकाला) और नयी पर्याय हुई, उसे तो मुख्यरूप से पर्याय नहीं थी और हुई — ऐसा कहा। गौणरूप से तो उसे भी अन्वय का सम्बन्ध है। समझ में आया ? आहा...हा... ! क्या शैली, गजब शैली है !

यदि तुझे धर्म की पर्याय प्रगट होनी हो तो वह कहाँ से प्रगट होनी है ? अद्धर से होगी ? अद्धर से होगी ? आकाश के फूल नहीं हैं तो फूल हो जायेंगे ? यह 'है' अन्दर, बापू ! आहा...हा... ! जैसे अन्वय कायम रहनेवाला द्रव्य है, वैसे अन्वय कायम रहनेवाली

शक्तियाँ — गुण हैं। आहा...हा...! 'है' उसकी प्रतीति करने पर पर्याय होगी। पूरा द्रव्य 'है' उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान करने पर वह पर्याय निर्मल होगी। आहा...हा...! और उसे पर्याय से यद्यपि 'वह पर्याय' नहीं थी और (बाद में) हुई तो भी वह अन्वय त्रिकाल है, उसका गौणपने तो सम्बन्ध है ही, उससे समकित दर्शन होता है। आहा...हा...! भाई! उसमें कहाँ कभी लोहे के व्यापार में ऐसा किसी ने सुना है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **द्रव्यार्थिक कथन से सत्-उत्पाद है,....** अर्थात् 'है' उसमें से आती है। पर्यायदृष्टि से... देखो! है? **पर्यायार्थिक कथन से असत्-उत्पाद है — यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है।** इन दोनों प्रकारों से निर्दोष और अबाध्य है। आहा...हा...! है? अब उसमें पण्डितजी ने सादी भाषा में भावार्थ लिखकर सरल कर दिया है।

भावार्थ - जो पहले विद्यमान हो, उसी की उत्पत्ति को सत्-उत्पाद कहते हैं.... यह सादी भाषा कर दी है। **जो पहले विद्यमान....** (अर्थात्) अस्ति चीज हो, **उसी की उत्पत्ति को सत्-उत्पाद कहते हैं और जो पहले विद्यमान न हो, उसकी उत्पत्ति को असत्-उत्पाद कहते हैं। जब पर्यायों को गौण करके.... गौण करके....** (कहा है), हाँ! **द्रव्य का मुख्यतया कथन किया जाता है, तब तो जो विद्यमान था, वही उत्पन्न होता है,....** विद्यमान था, वह उत्पन्न होता है। **(क्योंकि द्रव्य तो तीनों काल में विद्यमान है); इसलिए द्रव्यार्थिकनय से....** द्रव्य अर्थात् वस्तु के प्रयोजन की दृष्टि से कहें तो **द्रव्य को सत्-उत्पाद है....** द्रव्य को सत्-उत्पाद है, (अर्थात्) द्रव्य है, वह उत्पन्न होता है। आहा...हा...! उस द्रव्य में है, वह पर्याय में आता है। भाषा तो समझ में आये ऐसी है परन्तु अब कभी सुना न हो, (इसलिए नया लगता है)। णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं.... इच्छामि पडिक्कमां, हरीया विहीया... तस्स मिच्छामी दुक्कणम... (कर लिया इसलिए) हो गया धर्म, जाओ, हो गयी सामायिक। आहा...हा...! प्रभु! वीतराग का मार्ग बहुत गम्भीर है।

प्रभु तू महाप्रभु है आहा...हा...! तेरी महिमा का पार नहीं, नाथ! तुझमें इतने गुण... इतने गुण... इतने गुण... भरे हैं कि यदि उनका सम्बन्ध करे तो पर्याय अन्दर में से उत्पन्न हुए बिना न रहे, उसे मुख्यरूप सत्-उत्पाद कहते हैं। आहा...हा...! और गौणरूप से जब

पर्याय की मुख्यता से कहें कि (पर्याय) नहीं थी और हुई, तब भी उस पर्याय को गौणरूप से सम्बन्ध तो अन्वय के साथ है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा एक घण्टा जाये, उसमें घर में कोई पूछे कि तुमने क्या सुना? आहा...हा...!

प्रवचनसार! आहा...हा..! भगवान की दिव्यध्वनि की पुकार है! तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि! आवाज! ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे... भगवान का ॐकार निकले, उनको ऐसी वाणी नहीं होती, क्योंकि अभेददृष्टि हो गयी, पूर्ण केवलज्ञान (हो गया)। उन्हें अखण्ड-निरक्षरी वाणी होती है। 'ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे रचि आगम उपदेश...' उस वाणी से आगम की रचना करते हैं और उपदेश देते हैं... 'भव्य जीव संशय निवारै।' जो पात्र जीव हो, वह संशय का निवारण करता है। आहा...हा...! बनारसीदास का वचन है। बनारसीदास! बनारसीविलास में है न? आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **जो विद्यमान था, वही उत्पन्न होता है, (क्योंकि द्रव्य तो तीनों काल में विद्यमान है); इसलिए द्रव्यार्थिकनय से तो द्रव्य को सत्-उत्पाद है; और जब द्रव्य को गौण करके पर्यायों का मुख्यतया कथन किया जाता है, तब जो विद्यमान नहीं था, वह उत्पन्न होता है....** आहा...हा...! (अर्थात् कि) पर्याय विद्यमान नहीं थी, वह उत्पन्न होती है। वह पर्याय पहले नहीं थी, अन्वयरूप गुण थे। **(क्योंकि वर्तमान पर्याय, भूतकाल में विद्यमान नहीं थी),....** वर्तमान पर्याय, गत काल में पूर्व समय में नहीं थी। **इसलिए पर्यायार्थिकनय से द्रव्य के असत्उत्पाद है।** असत्उत्पाद है.... कहा जाता है।

यहाँ यह लक्ष्य में रखना चाहिए कि द्रव्य और पर्यायें भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं;.... (यहाँ) यह शैली है। द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न चीज नहीं हैं। जैसे परमाणु और दूसरे छह द्रव्य आत्मा से भिन्न हैं, वैसे द्रव्य और पर्याय भिन्न नहीं है। आहा...हा...! **इसलिए पर्यायों की विवक्षा के समय भी,....** भले पर्याय का कथन किया जाये तो भी **असत्उत्पाद में, जो पर्यायें हैं, वे द्रव्य ही हैं,....** जो पर्याय स्वयं है, वह द्रव्य ही है। आहा...हा...! द्रव्य के घेराव में उत्पन्न हुई है, पर के घेराव से उत्पन्न नहीं हुई है। आहा...हा...!

अरे! तीन लोक के नाथ दिव्यध्वनि करते होंगे और गणधर तथा सिंह और बाघ सुनते हैं। सिंह, बाघ और नाग (सुनते हैं)! काला नाग ऐसा जंगल में से चला आता है, बिल्ली की तरह ऐ....से.... बैठे! बापू! वह वाणी कैसी होगी! भाई! आहा...हा...! वह वीतराग की वाणी, उसके रचित शास्त्र, उनके भाव कितने गम्भीर होंगे, भाई! उसकी गहरी गम्भीरता होती है! उसे गहनता लगे, इसलिए ऐसा क्या है? — ऐसे उसकी अरुचि नहीं आना चाहिए। गम्भीरता लगे, एकदम न पकड़ में आये, इसलिए उसमें अरुचि नहीं आना चाहिए। आहा...हा...!

इसलिए पर्यायों की विवक्षा के समय भी, असत्उत्पाद में, जो पर्यायें हैं, वे द्रव्य ही हैं,.... जो पर्यायें हैं, वह द्रव्य ही हैं। आहा...हा...! दूसरा द्रव्य नहीं — ऐसा कहना है। वे पर्यायें हैं, वह द्रव्य ही है। पर्याय बदलकर दूसरी (पर्याय) हुई; इसलिए दूसरा द्रव्य है — ऐसा नहीं है। **और द्रव्य की विवक्षा के समय भी, सत्उत्पाद में, जो द्रव्य है, वे पर्यायें ही हैं।** जो द्रव्य है, वह पर्यायें ही हैं। जो पर्यायें हैं, वह द्रव्य है और जो द्रव्य है, वह पर्यायें ही हैं। आहा...हा...! असत्उत्पाद में भी अन्वय को गौण रखकर पर्याय की मुख्यता से कथन किया और सत्उत्पाद में अन्वय को मुख्य करके सत् उत्पन्न हुआ — ऐसा कहा गया है परन्तु असत् उत्पन्न हुआ (— ऐसा कहा), इसलिए बिल्कुल अन्वय का सम्बन्ध ही नहीं था — ऐसा नहीं है। पर्याय स्वयं ही द्रव्य है। आहा...हा...! और द्रव्य स्वयं पर्याय है।

(विशेष कहेंगे।)

शुद्धरत्नत्रय के साधक : मुनिराज

पूर्ण ज्ञानप्रकाशी आत्मा का बार-बार निर्विकल्प आनन्दमय ध्यान, मुनिवरों के वर्तता है। ऐसे मुनिवर ही मुक्तिसुन्दरी का वरण करने योग्य हैं; इसके सिवा उद्धत जीव, सुन्दर मुक्तिरूपी रमणी का वरण करने योग्य नहीं हैं। मुक्तिरमणी कहती है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि को मैं वरण नहीं करूँगी; शुद्धरत्नत्रय के साधक ऐसे मुनिवर का ही मैं वरण करती हूँ।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - ११२

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति -

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।। ११२।।

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरोवा परो भूत्वा पुनः।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति।। ११२।।

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव। ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः। तथा हि - जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वा-नामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितित्रकोटिसत्ताकः स एव न स्यात्।।११२।।

अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पादं द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति-**जीवो** जीवः कर्ता **भवं** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत्। किं किं भविष्यति। निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्यां शुभाशुभो-पयोगाभ्यां परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देवः परस्तिर्यङ्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति। **भवीण पुणो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भूत्वापि। अथवा द्वितीयव्याख्यान्। भवन् वर्तमानकालापेक्षया, भविष्यति भाविकालापेक्षया, भूत्वा भूतकालापेक्षया चेति कालत्रये चैवं भूत्वापि **किं दव्वत्तं पजहदि** किं द्रव्यत्वं परित्यजति। **ण चयदि** द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्वं न त्यजति, द्रव्याद्भिन्नो न भवति। **अण्णो कहं हवदि** अन्यो भिन्नः कथं भवति। किंतु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पादः स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थः।।११२।।

अब (सर्व पर्यायों में द्रव्य अनन्य है अर्थात् वह का वही है, इसलिए उसके सत् -उत्पाद है — इस प्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं —

आत्मा मनुज हो, देव हो या अन्य कुछ ही रूप हो।
क्या छोड़ता द्रव्यत्व को ?, नहीं छोड़े तो अन्य कैसे हो ?

अन्वयार्थ - [**जीवः**] जीव [**भवन्**] परिणमित होता हुआ [**नरः**] मनुष्य, [**अमरः**] देव [**वा**] अथवा [**परः**] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [**भविष्यति**] होगा, [**पुनः**] परन्तु [**भूत्वा**] मनुष्य देवादि होकर [**किं**] क्या वह [**द्रव्यत्वं प्रजहाति**] द्रव्यत्व को छोड़ देता है ? [**न जहत्**] नहीं छोड़ता हुआ वह [**अन्यः कथं भवति**] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नहीं, वह का वही है।)

टीका - प्रथम तो द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ सत् (विद्यमान) ही है। और द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पाद में भी अन्वयशक्ति तो अपतित-अविनष्ट-निश्चल होने से द्रव्य वह का वही है, अन्य नहीं।) इसलिए अनन्यपने के द्वारा द्रव्य का सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्य का द्रव्यापेक्षा से अनन्यपना होने से, उसके सत्-उत्पाद है — ऐसा अनन्यपने द्वारा सिद्ध होता है।)

इसी बात को (उदाहरण से) स्पष्ट किया जाता है —

जीव द्रव्य होने से और द्रव्य पर्यायों में वर्तने से जीव नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व में से किसी एक पर्याय में अवश्यमेव (परिणमित) होगा। परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ? नहीं छोड़ता। यदि नहीं छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीन प्रकार की सत्ता) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव) वही न हो ?

भावार्थ - जीव मनुष्य-देवादिक पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता, अनन्य रहता है, वह का वही रहता है; 'वही यह देव का जीव है, जो पूर्वभव में मनुष्य था और अमुक भव में तिर्यंच था' ऐसा ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायों में वह का वही रहता है, अन्य नहीं हो जाता — अनन्य रहता है। इस प्रकार द्रव्य का अनन्यपना होने से द्रव्य का सत्-उत्पाद निश्चित होता है॥ ११२॥

प्रवचन नं. १२२ **दिनाङ्क ०२ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ११२, १११ हो गयी है। **अब (सर्व पर्यायों में द्रव्य अनन्य है....)** चाहे जो पर्याय हो — नारकी (हो), देव (हो उसमें) द्रव्य तो अनन्य है (अर्थात्) द्रव्य तो वह का वही है। आहा...हा... ! द्रव्य तो वह का वही है परन्तु ज्ञानगुण भी वह का वही है। आहा...हा... ! ऐसे आनन्दगुण, श्रद्धागुण अनन्य है, वहाँ सदा है, चाहे जिस पर्याय में हो परन्तु वस्तु है, वह स्वयं अनन्त गुण से अनन्यमयी त्रिकाल है। (टीका में) 'त्रिकोटी' कहेंगे। (अर्थात् कि) त्रिकाल है। आहा...हा... ! **(अर्थात् वह का वही है,...)** जो द्रव्य है, वह भले मनुष्यरूप पर्यायपने हुआ, देवपने हुआ। अरे... ! मतिज्ञान की पर्यायपने हुआ परन्तु द्रव्य तो वह वस्तु है, वह है; उसमें कहीं हीनाधिकता नहीं हुई, पूरी वस्तु ऐसी है। जिसे कारणपरमात्मा कहो, कारणजीव कहो, सहज स्पष्ट, त्रिकाली स्पष्ट ज्ञान (कहो)। क्या कहा ज्ञान में ? ज्ञान में कहा न ? स्वरूपप्रत्यक्ष ! आहा...हा... ! स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान त्रिकाल है। किसी भी पर्याय में हो... आहा...हा... ! परन्तु वस्तु तो वस्तु में है। दृष्टि तो वहाँ रखने जैसी है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! उसे स्वरूपप्रत्यक्ष कहा, स्वरूपदृष्टि कहा। स्वरूपदृष्टि त्रिकाल है। आहा...हा... !

जैसे द्रव्य वह का वही है, वैसे उसकी दृष्टि भी वह की वही है। त्रिकाली श्रद्धा, हाँ ! (श्रद्धा भी) वह की वही है, चाहे जो अवस्था हो - मिथ्यात्व अवस्था में हो (तो भी श्रद्धा वह की वही है) आहा...हा... ! परन्तु वह श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द (आदि) अन्वयशक्तिसहित लेना है न ? देखो ! है ? **(उसके सत्-उत्पाद है — इस प्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं।)** सत्-उत्पाद है, वह अनन्य है। भले पर्याय हो परन्तु वस्तु तो अनन्य-है वह है। वस्तु अन्य नहीं हुई, पर्याय अन्य होती है। यह ११२ (गाथा)

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि।। ११२।।

नीचे हरीगीत

आत्मा मनुज हो, देव हो या अन्य कुछ ही रूप हो।
क्या छोड़ता द्रव्यत्व को ?, नहीं छोड़े तो अन्य कैसे हो ?

आहा...हा... ! टीका — **प्रथम तो द्रव्य...** वस्तु **द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति...** देखो आया ! आहा...हा... ! द्रव्य-वस्तु जो है, उसका द्रव्यपना, भाव जो है उसका भावपना — ऐसी **अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ....** आहा...हा... ! प्रथम तो यह कहना है, कहते हैं... आहा...हा... ! कि **द्रव्य द्रव्यत्वभूत....** आहा...हा... ! वस्तु है, उसका भाव -उसका भावपना, आहा...हा... ! वह बात हुई है, अभी उस दिन बात हुई थी। भाव और भाववान् वस्तु एक ही है, नाम भले दो (कहे हैं), वस्तुस्वरूप यह है — ऐसा द्रव्यत्व।

द्रव्य द्रव्यत्वभूत.... वस्तु — द्रव्य है, वह द्रव्यत्वभूत अर्थात् उसका भावपना — अन्वयशक्तियाँ। जैसे कायम रहनेवाला द्रव्य अन्वय है... आहा...हा... ! वैसे उसकी **अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ....** आहा...हा... ! द्रव्य जो है, वह द्रव्य स्वयं तो द्रव्य को नहीं छोड़ता परन्तु द्रव्य है, उसकी द्रव्यत्व (भूत) अन्वय शक्तियाँ भाववान — भाव का भाववानपना उसे कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा... ! इस प्रकार है। एक लाईन में कितना भरा है। दूसरे के साथ तुझे क्या सम्बन्ध है — ऐसा कहना है। भले वह द्रव्य, द्रव्यत्वभूत ऐसी अन्वयशक्तियों को नहीं छोड़ता, चाहे जिस पर्याय में हो... आहा...हा... ! पर को और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। त्रिकाली वस्तु का द्रव्यत्वपना अर्थात् उसकी अन्वयशक्तियाँ तो कायम एकरूप त्रिकाल है, परन्तु उसकी होनेवाली पर्यायें, अन्वयशक्ति को छोड़कर नहीं होती; द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं होती। पर्याय में तो उसका वह अन्वय द्रव्य और उसका वैसा गुण है; वैसा का वैसा गुण और वैसा का वैसा द्रव्य रहता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

सत् द्रव्य ! सत् उत्पाद सिद्ध करते हैं। सत् वस्तु है, उसका जो द्रव्यपना है - द्रव्य का द्रव्यपना... आहा...हा... ! अन्वयशक्ति ! वस्तु को तो अन्वय कहा... आहा...हा... ! परन्तु उसकी शक्तियाँ — सत्व जो है, सत् का सत्वपना — द्रव्य का द्रव्यपना — भाव का भाववानपना — ऐसी अन्वयशक्ति को कभी नहीं छोड़ता (— ऐसा कहते हैं)। आहा...हा... ! चाहे जिस पर्याय में हो परन्तु द्रव्य अपनी द्रव्यत्व (भूत) ऐसी जो अन्वयशक्तियाँ

— त्रिकाल एकरूप गुण हैं, उन्हें वह कभी भी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! ऐसी दृष्टि कराने को यह बात करते हैं। आहा...हा...! द्रव्यत्व लिया परन्तु द्रव्य का द्रव्यत्व (जो कहा, वह) द्रव्यत्व अर्थात् अन्वयशक्तियाँ.... **द्रव्यत्वभूत** लिया है न, भाई! द्रव्यत्वभूत! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहा...हा...!

द्रव्य जो वस्तु है, वह सत् है और सत् का जो सत्पना — द्रव्यत्वपना, अन्वयशक्तिपना, वह द्रव्य स्वयं सदा ही अन्वयशक्ति को नहीं छोड़ता। आहा...हा...! जब देखो तब वह पूर्ण भण्डार भरा है — ऐसा कहते हैं। यह द्रव्य है, वह द्रव्यत्वपना अर्थात् अन्वयशक्तिपना अर्थात् भाव का भावपना... द्रव्य (को) जब भाव कहते हैं तो उसका सत्वपना भाववान-भावपने को कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! मुद्दे के रकम की बात है। पर को और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है — ऐसा कहते हैं। परमाणु हो या चाहे जो हो, यहाँ तो आत्मा के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! यहाँ तो आत्मा की बात कहनी है न? नरपने-मनुष्यपने (आत्मा होता है)। यहाँ उस परमाणु की बात नहीं करनी है। आहा...हा...!

प्रथम तो.... (संस्कृत टीका में) '**तावद्**' शब्द है। '**द्रव्यं हि तावद्**' संस्कृत है। मूल बात यह है कि ऐसा। '**तावद्**' अर्थात् मूल बात यह है कि '**तावद्**' पहली लाईन में संस्कृत शब्द है। आहा...हा...! प्रभु! तू कौन है? (तो) कहते हैं कि अन्वयशक्तियाँ द्रव्यत्वपना नहीं छोड़ती — ऐसा तू है। आहा...हा...! पर्यायरूप से भले नरक-पर्याय, नर-पर्याय — मनुष्य-पर्याय, देव-पर्याय (होवे) परन्तु मेरी चीज जो है तथा चीज का चीजपना जो है (उसे नहीं छोड़ता ऐसा मैं हूँ)। आहा...हा...! उसकी अन्वयशक्ति ली है न? (तो) अन्वयशक्ति कहो या अन्वय सामर्थ्य (कहो), उस स्वभाव का सामर्थ्य (कहो)। आहा...हा...!

यह अधिकार 'ज्ञेय अधिकार' है। आत्मज्ञेय! ज्ञेय अधिकार में यहाँ आत्मा को दृष्टान्तरूप से लिया है, वरना सभी ज्ञेय ऐसे ही हैं। वे ज्ञेय (जो) प्रत्येक द्रव्य है, उसका द्रव्यत्व अन्वयशक्तियों को वह द्रव्य नहीं छोड़ता, वह भले ही चाहे जिस पर्यायरूप होओ। आहा...हा...! यहाँ तो आत्मा का दृष्टान्त लिया है। प्रभु! तू पर्याय में किसी भी स्थिति में

हो परन्तु वह द्रव्य है, वह द्रव्यत्व को–अन्वयशक्ति को (नहीं छोड़ता)। आहा...हा...! यह भाववान् है, वह भाव को कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! है? एक लाईन है। आहा...हा...!

मूल — **तावद्** अर्थात् मूल बात ऐसी की है कि ऐसा। **तावद्** अर्थात् प्रथम अर्थात् मुख्य बात है (वह) यह है। आहा...हा...! दो भाषा ली है न? **द्रव्य द्रव्यत्वभूत....** आहा...हा...! भाववान उसके भाव को कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! द्रव्य द्रव्यत्व ऐसा भाव — ऐसी अन्वयशक्तियाँ - गुण.... आहा...हा...! जितनी अनन्त शक्तियाँ हैं, उन भाव को भाववान् कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! पहली लाईन (में इतना भरा है!) इसे (परमागम मन्दिर को) चार महीने हुए, पाँच वर्ष और चार महीने का आज दिन है न? फाल्गुन शुक्ल तेरस। चेत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ पाँच वर्ष और चार महीने हुए परमागम (मन्दिर)। आहा...हा...!

मुमुक्षु : आपने खजाना खोला।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि तू द्रव्य है या नहीं? तो उसका द्रव्यपना है या नहीं? द्रव्यपना अर्थात् अन्वयशक्तियाँ हैं या नहीं? अन्वय अर्थात् कायम रहनेवाला सामर्थ्यवाला तत्त्व है या नहीं? आहा...हा...! कायम सामर्थ्य को — सत्व को (धारण कर) रहनेवाला सत्। सत् कहो या द्रव्य कहो। सत्व — अन्वयशक्तियाँ! उन्हें — सत्व को वह सत् कभी छोड़ता है? आहा...हा...! चाहे तो निगोद की पर्याय में हो, मनुष्य की पर्याय में हो। आहा...हा...! प्रभु! तू द्रव्य है न? और तेरा द्रव्यत्वपना जो अन्वयशक्तियाँ — गुण हैं — भाव हैं, वे भाववान् को (नहीं छोड़ती)। पर्याय में अक्षर के अनन्तवें भाग में निगोद पर्याय हीन हो गयी परन्तु उसने — द्रव्य ने द्रव्यत्व — अन्वयशक्तियों को नहीं छोड़ा। आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु अब भाव तो (जो है वह है) आहा...हा...!

कभी भी न छोड़ता हुआ.... आहा...हा...! सत् मौजूद ही है, वह तो कायम मौजूद ही है। चाहे जो पर्याय में हो परन्तु वह कायम अस्ति ही है। आहा...हा...! संयोग के कारण तो (अस्ति) नहीं परन्तु एक समय की पर्याय हो, उसके कारण (नहीं)। वह

तो सत् ही है — कायम अस्तिवाला तत्त्व है। आहा...हा...! यह ज्ञेय अधिकार! आत्मज्ञेय! आहा...हा...! ज्ञेय का ज्ञेयपना ज्ञेय ने कभी नहीं छोड़ा है। आहा...हा...! ऐसा भगवान आत्मा! इसने भगवानपना कभी नहीं छोड़ा। आहा...हा...!

नियमसार में तो यह आता है न? कारणज्ञान! कारणद्रव्य (कहा वह) तो ठीक; कारणपरमात्मा वह तो द्रव्य (कहा)। (वह तो) ठीक परन्तु (यह तो) कारणज्ञान (कहा)। त्रिकाली कारण अन्वय ज्ञान जो है (वह कारणज्ञान) ज्ञानी ऐसे आत्मा का ज्ञान — कायमी ज्ञान, कारणद्रव्य — कारणज्ञान... केवलज्ञान है, वह कार्यज्ञान है।

आहा...हा...! भगवान आत्मा! उसकी अन्वयशक्तियाँ-द्रव्यत्वपना, उसे कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! एक धारा से सदा ही चलता है, कहते हैं। आहा...हा...! **और द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है....** अब कहते हैं कि यह द्रव्य जो है, इसे जो पर्यायभूत व्यतिरेक भिन्न-भिन्न प्रगटता — उत्पाद-व्यक्तियाँ होती हैं; अन्वय के सामने व्यतिरेक लिया। समझ में आया? पहले द्रव्य के सामने द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति ली थी और (यहाँ पर) द्रव्य को पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति ली है। आहा...हा...!

द्रव्य के.... (अर्थात्) जो अन्वयशक्ति को सदा नहीं छोड़ता उसे। **पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है....** पर्यायभूत व्यतिरेक अर्थात् भिन्न-भिन्न (और) अन्वय एकरूप त्रिकाल (रहता है)। भिन्न-भिन्न प्रगटता उत्पन्न होती है **उसमें भी द्रव्यत्वभूत....** आहा...हा...! **अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से....** द्रव्य को पर्यायभूत व्यतिरेक (अर्थात्) भिन्न प्रगटता-उत्पाद होता है। **उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का....** द्रव्य के.... ऐसा है न? **और द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से द्रव्य अनन्य ही है,....** आहा...हा...! यह सिद्धान्त कहलाता है! आहा...हा...! यह भगवान की वार्ता है।

भगवत्स्वरूप! अन्वयशक्तियाँ भगवत्स्वरूप है। आहा...हा...! **पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है उसमें भी....** उसमें भी **द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से....** द्रव्य की द्रव्यत्वभूत ऐसी अन्वयशक्ति — अन्वयसामर्थ्य — एकरूप रहनेवाली सामर्थ्य है, (उसका) अच्युतपना है; उसमें जरा भी च्युत नहीं हुआ है।

आहा...हा...! चाहे तो लहसुन, प्याज (की) निगोद की पर्याय हो — एक पर्याय (भले) अक्षर के अनन्तवें भाग उघाड़ हो, वह पर्याय भले हो, तथापि उस द्रव्य ने द्रव्यत्व को — अन्वयशक्तियों को छोड़ा नहीं है। आहा...हा...! यह (मात्र) बात नहीं है, बापू! आहा...हा...! सत् को प्रसिद्ध करनेवाली यह टीका.... वह टीका कहलाती है! आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य!

प्रभु! तू द्रव्य है न! और द्रव्य में द्रव्यत्वपना — अन्वयशक्तियाँ हैं न! वह अन्वयशक्तिवाला द्रव्य व्यतिरेक — भिन्न-भिन्न पर्याय को प्राप्त होता (होने) पर भी, उस अन्वयद्रव्य का द्रव्यपना — अन्वयपना कभी नहीं छूटता। आहा...हा...! उसमें कभी मिलावट नहीं होती। अंगुल के अक्षर के अनन्तवें भाग में निगोद की पर्याय होने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व-अन्वयपने में कुछ कमी नहीं हुई है। आहा...हा...! और केवलज्ञान की पर्याय हुई तो भी द्रव्य की द्रव्यत्व अन्वयशक्ति में कुछ भी कमी नहीं हुई तथा वृद्धि नहीं हुई। आहा...हा...! समझ में आया?

'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान...' आहा...हा...! (फाल्गुन शुक्ल) तेरस की आज तिथि है। परमागम मन्दिर की मासिक तिथि है, आज यहाँ भक्ति होगी, हाँ! तेरस है न? तेरहवाँ गुणस्थान केवल (ज्ञान) पाये तो भी द्रव्य का द्रव्यत्व — अन्वयशक्ति तो ऐसी की ऐसी है। आहा...हा...! और अक्षर के अनन्तवें भाग में निगोद की पर्याय होवे तो द्रव्य का द्रव्यत्व — अन्वयशक्तिपना तो सदा इतना और वैसा ही है। **कभी भी नहीं छोड़ता हुआ....** आहा...हा...! अरे! अधिक टीका — शब्दों की क्या आवश्यकता है? आहा...हा...! 'थोड़ा लिखा बहुत जानना' — ऐसी बात है यह तो! आहा...हा...! थोड़ा कहा कि द्रव्य का द्रव्यत्वपना — अन्वयशक्तियाँ कभी भी त्रिकाल कहीं नहीं छोड़ता। आहा...हा...! पर्याय में चाहे जैसी हीनाधिक दशा होओ, तथापि द्रव्य का द्रव्यत्व — अन्वयशक्तिपना उसे कभी नहीं छोड़ता, उसमें कभी हीनाधिकता नहीं होती — ऐसा उपदेश लोगों को कठिन लगता है! फिर (ऐसा कहते हैं कि) निश्चय है... निश्चय है... बापू! सत्य यह है। निश्चय करके एकान्त कर डाले (ऐसा नहीं चलता)। पर्याय हो, वह तो कहते हैं परन्तु पर्याय होने पर भी द्रव्य की पूर्णता, द्रव्य की द्रव्यत्वता की पूर्णता की

सब अन्वयशक्तियाँ ऐसी की ऐसी हैं। ज्ञान ऐसा का ऐसा, दर्शन ऐसा का ऐसा, आनन्द ऐसा का ऐसा, श्रद्धा ऐसी की ऐसी है। श्रद्धा अर्थात् पर्याय नहीं, शक्ति (की बात है)। आहा...हा...! सत्ता ऐसी की ऐसी, वस्तुत्व ऐसा का ऐसा, प्रमेयत्व ऐसा का ऐसा, जीवत्व शक्ति ऐसी की ऐसी, शक्तियों का शक्तिपना ऐसा का ऐसा है। आहा...हा...!

उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से.... आहा...हा...! पहले में ऐसा कहा था कि **अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ....** द्रव्य, हाँ! ऐसे यहाँ (कहते हैं कि) **द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से द्रव्य अनन्य ही है,....** द्रव्य तो अनन्य वह का वही है। आहा...हा...! कहाँ तिर्यंच की — निगोद की पर्याय और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के देव की पर्याय! तीन ज्ञान क्षायिक समकितसहित... आहा...हा...! तथापि द्रव्य का द्रव्यत्व तो ऐसा का ऐसा है। अन्वयशक्ति ऐसी की ऐसी है। आहा...हा...! उस महासत्ता को पकड़ना है। आहा...हा...! ऐसी महासत्ता प्रभु है। अन्वयशक्ति का भरपूर तत्त्व अर्थात् भाव से भरा हुआ भगवान है। ऐसा। आहा...हा...!

(अर्थात् उस उत्पाद में भी....) (अर्थात्) पर्याय में नयी-नयी व्यतिरेक (व्यक्तियाँ) उत्पाद में भी आहा...हा...! कहाँ एक चक्रवर्ती राजा हो और वह मरकर नरक में जाये या बड़ा राजा हो, वह मरकर निगोद में जाये! आहा...हा...! यहाँ देखो तो कितना उघाड़ दिखता हो! और मरकर निगोद में जाये, तथापि कहते हैं कि वह तो पर्याय में अन्तर है, वस्तु तो है वह है। आहा...हा...! **(उस उत्पाद में भी अन्वयशक्ति तो अपतित -अविनष्ट-निश्चल होने से द्रव्य वह का वही है,....)** वस्तु तो वह की वही है। आहा...हा...! समझ में आयो इसमें? **(अन्य नहीं।) इसलिए अनन्यपने के द्वारा द्रव्य का सत्-उत्पाद निश्चित होता है,....** आहा...हा...! इसलिए अन्वयपने द्वारा द्रव्य का (सत्-उत्पाद) निश्चित होता है। सत् है उसमें से हुआ ऐसा उत्पाद निश्चित होता है, यह कहते हैं। आहा...हा...! 'है' उसमें से आया है। वह है, कहते हैं। आहा...हा...! वह पर्याय जो हुई है, वह सत् में से हुई है। 'है' उसमें से हुई है। आहा...हा...! सत्-उत्पाद कहना है न? 'है' उसमें से हुई है, (इसलिए) सत्-उत्पाद है। आहा...हा...! **(द्रव्य का**

द्रव्यापेक्षा से अनन्यपना होने से, उसके सत्-उत्पाद है — ऐसा अनन्यपने द्वारा सिद्ध होता है।) आहा...हा...!

इसी बात को (उदाहरण से) स्पष्ट किया जाता है — जीव द्रव्य होने से और द्रव्य पर्यायों में वर्तने से.... फिर क्या कहा यह? द्रव्य अन्वयशक्तियों को नहीं छोड़ता, यह रखा परन्तु वह द्रव्य पर्यायों में वर्तता होने से — (ऐसा कहा)। आहा...हा...! जो भगवान आत्मा द्रव्य है, उसमें अनन्त द्रव्यत्व की अन्वयशक्तियाँ जो हैं — ऐसा जो द्रव्य है... आहा...हा...! वह पर्यायों में वर्तता होने से (— ऐसा कहा)। एक ओर कहना कि पर्याय षट्गुण — षट् कारक से स्वतन्त्र परिणमती है, जिसे द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! जो पर्याय है, वह सत् है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' है, व्यय भी सत् है, उत्पाद भी सत् है, ध्रुव भी सत् है, वह तो है। आहा...हा...! इसलिए उस उत्पाद को **द्रव्य पर्यायों में वर्तने से....** द्रव्य तो त्रिकालरूप अन्वयशक्तियों में वर्तता है, अब वह द्रव्य पर्यायों में वर्तने से — (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...!

जीव द्रव्य होने से... ऐसे यहाँ तो जीव पर उतारना है न? (इसलिए ऐसा कहा कि) जीव भी द्रव्य होने से **और द्रव्य पर्यायों में वर्तने से....** द्रव्य पर्यायों में वर्तता होने से। लो! एक ओर ऐसा कहना कि पर्याय षट्गुण हानि-वृद्धि षटकारक से परिणमित हो रही है। आहा...! एक ओर ऐसा कहना — जीव द्रव्य, मोक्ष और मोक्ष की पर्याय को नहीं करता। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार! मोक्ष और मोक्ष की पर्याय को द्रव्य नहीं करता। यहाँ कहते हैं कि द्रव्य, पर्याय में वर्तता हुआ! भेद साथ में समझाना है न? आहा....हा...!

जीव द्रव्य होने से.... ऐसा। जीव, द्रव्य होने से! आहा...हा...! वह सिद्धान्त कहा। अब (जीव द्रव्य में) उतारते हैं। **जीव द्रव्य होने से और द्रव्य पर्यायों में वर्तने से....** आहा...हा...! **जीव नारकत्व,....** जीव नारकीपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्ध — पाँचों पर्यायें, हाँ! चार गति की चार ही (पर्याय) ऐसा नहीं। आहा...हा...! **सिद्धत्व में से किसी एक पर्याय में अवश्यमेव (परिणमित) होगा।....** इन पाँच में से किसी एक पर्याय में अवश्य होगा। आहा...हा...! चार गति और सिद्ध पर्याय, पर्याय है न? वह जीव पर्याय में वर्तता हुआ। आहा...हा...! **परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप**

होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ?.... आहा...हा... ! वह सिद्ध की पर्याय हुई... आहा...हा... ! तथापि वह जीवद्रव्य, पर्यायरूप होकर क्या, द्रव्यभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ? भले सिद्ध पर्याय हुई, तथापि द्रव्य अपनी द्रव्यत्व (भूत) अन्वयशक्ति को छोड़ता है ? आहा...हा... ! ऐसी द्रव्यानुयोग की बात है।

नारकीपने (हुआ यह) तो ठीक, चार गति की पर्यायरूप जीव वर्तता हुआ, जीवद्रव्य वर्तता हुआ अपने अन्वय त्रिकाली गुणों को नहीं छोड़ता। ऐसे सिद्धत्व की पर्याय में वर्तता हुआ जीवद्रव्य अपनी द्रव्यत्व (भूत) अन्वयशक्तियों को नहीं छोड़ता। आहा...हा... ! अन्दर ऐसा है न ? युवकों को तो यह सब नया लगेगा। युवा कौन है इसमें ? बापू ! वह तो जड़ की अवस्था है। भगवान तो अन्दर... यह कहते हैं न ? पर्याय में परिणमित हुआ तो भी वस्तु तो ऐसी की ऐसी वह की वही रही है। आहा...हा... ! वह वस्तु पर्याय में प्रवर्तती है — ऐसा व्यवहार से कहना है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : आप सबेरे इनकार करते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से पर्याय में (प्रवर्तती है — ऐसा कहा जाता है)। द्रव्य का पर्याय में प्रवर्तना (है — ऐसा कहकर) परिणमन उसका है, यह बतलाना है न ? द्रव्यत्व से बतलाना है न ? द्रव्यत्वगुण है न ? द्रव्यत्वगुण है न ? द्रव्यत्वगुण का अर्थ द्रवता है। तब सिद्ध होता है न ? आहा...हा... ! इसलिए (यहाँ पर) द्रव्यत्व लिया है न ? **द्रव्यभूत!** आहा...हा... ! उसका जो 'पना' है, वह 'पना' वापस पर्याय में जब परिणमता है, तथापि वह अन्वयशक्ति को नहीं छोड़ता। आहा...हा... ! अरे... ! ऐसा विचार करने को कब मिले ? सुनने को कब मिले ? निर्णय कर कब करे ? करना तो यह है। आहा...हा... !

(एक मुमुक्षुभाई के) समाचार आये थे कि रात्रि में दस बजे तक तो बातें करते थे, सबेरे उठे और हार्टफेल हो गया, सबेरे ! ६३ वर्ष की उम्र, दस बजे तक मित्रों के साथ बातचीत की, साढ़े ग्यारह बजे सो गये, सबेरे उठे, उठे और एकदम हार्टफेल ! बन्द हो गया, उठे और (हृदय) बन्द हो गया ! आहा...हा... ! जड़ की अवस्था जिस समय जो (होनेवाली हो उसे) कौन रोके ? और कौन करे ? आहा...हा... ! उस पर्याय का कर्ता द्रव्य है, हाँ ! ऐसा सिद्ध करना है। कलश-टीका में आता है न ? पर्याय का कर्ता द्रव्य है। करण

भी द्रव्य है, कर्ता भी द्रव्य है। आहा...हा...! (जिस) अपेक्षा से जो बात (होवे, वह समझनी चाहिए) आहा...हा...! उसकी पर्याय (होना, उसका) अपना स्वभाव है और यहाँ वह सिद्ध करके, परद्रव्यों के कारण उसमें कुछ नहीं होता — ऐसा सिद्ध करना है।

वह स्वयं द्रव्य इतनी द्रव्यत्व की शक्तियों से भरा हुआ होने पर भी वह द्रव्य पर्याय में वर्तता हुआ, उसे दूसरा द्रव्य कुछ भी नहीं कर सकता। कर्म, शरीर, वाणी, मन, देह, कुटुम्ब (आदि) कोई चीज उसे (कुछ नहीं कर सकती)। वह द्रव्य स्वयं पर्याय में वर्तता है, वहाँ दूसरा द्रव्य उसे (पर्याय में) प्रवर्ताता है (— ऐसा है नहीं)। आहा...हा...! ऐसा समय कहाँ मिले? सुनना भी कठिन पड़ता है। यह तो (कहते हैं) दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, तप करो... लो! आहा...हा...! एक व्याख्यान में पूरा है! आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **किसी एक पर्याय में अवश्यमेव (परिणमित) होगा।....** देखा? द्रव्य, द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तियों को नहीं छोड़ता, तथापि वह द्रव्य पर्याय में वर्तता है, इसलिए किसी भी पर्याय में अवश्य परिणमेगा। किसी भी पर्याय में अवश्य होगा। आहा...हा...! ऐसा कहकर (यह कहना है कि) उस पर्याय का उसका काल उससे है। वह पर्याय कोई अमुक द्रव्य एकदम अकस्मात् आया और ऐसी हो गयी, एकदम परद्रव्य में फेरफार हो गया... परद्रव्य का संयोग एकदम कठोर आया, इस बात में कुछ दम नहीं है। वह द्रव्य स्वयं ही उस काल में पर्याय में वर्तता है, इसलिए पर्याय हुई है। आहा...हा...! कर्म के कारण नहीं, संयोग के कारण नहीं, अकस्मात् कुछ नहीं। आहा...हा...! अकस्मात् नहीं, वह द्रव्य स्वयं ही उस समय में उस प्रकार वर्तता है। आहा...हा...! समझ में आया?

परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है?.... ऐसा कहा। भले नरक की पर्याय हुई या सिद्ध की पर्याय हो, वह जीव उस पर्यायरूप होकर, पर्यायरूप (द्रव्य) हुआ, तथापि क्या (वह) द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है? आहा...हा...! आहा...हा...! उसके भाव को भाववान, वह पर्याय भले हुई परन्तु इससे पूर्ण भाववानपना है, वह कभी उसने छोड़ा है? आहा...हा...! वस्तु है न? तत्त्व है न तत्त्व! अस्ति है न! सत् है न! सत् को सत्पना है न! सत्पना रखकर पर्याय में

प्रवर्तता है न ? या सत्पना छोड़कर पर्याय में प्रवर्तता है ? आहा...हा... ! क्या शैली ! आचार्य की टीका ! !

परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर.... पर्यायरूप भले हुआ, (तथापि) **क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ?....** सिद्धपर्याय हुई, उससे क्या गुण की अन्वयशक्ति, द्रव्य की द्रव्यत्व (शक्ति) जो है, उसे छोड़ता है ? आहा...हा... ! नरक में जाकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ... आहा...हा... ! परन्तु वह पर्याय में वर्तता द्रव्य, उस द्रव्य का द्रव्यपना जो अन्वयशक्तियाँ हैं, उसे वहाँ छोड़ता है ? आहा...हा... ! यह टीका कहलाती है ! देखा ? यह सिद्धान्त ! थोड़े में बहुत भरा होता है ! आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्य ! दिगम्बर सन्त ! चलते सिद्ध ! ! आहा...हा... ! उनकी यह टीका है।

मुमुक्षु : अभव्य तो अनादि से मिथ्यात्वरूप ही परिणमित होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले परिणमा परन्तु द्रव्य का द्रव्यत्वपना छूटा है ? भले मिथ्यात्वरूप परिणमा परन्तु द्रव्य का द्रव्यत्व — अन्वयशक्तिपना जो गुण है, उसमें से कुछ कमी हुई है ? छूटा है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : अनन्त काल से ऐसा का ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा का ऐसा है और ऐसा का ऐसा रहेगा। सिद्ध होगा तो भी ऐसा का ऐसा है। आहा...हा... ! और वह भी पर्याय में द्रव्य वर्तता है — ऐसी भाषा ली है, तथापि द्रव्य ऐसा का ऐसा है। (यहाँ तो) उसकी पर्याय सिद्ध करनी है न ? पर के कारण कुछ हुआ नहीं — ऐसा (बतलाना है)। आहा...हा... ! अन्दर कितनी सादी वस्तु है ! सादी वस्तु है। आहा...हा... !

ऐसा द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तियोंवाला द्रव्य, पर्यायों में वर्तने पर भी.... भले सातवें नरक की पर्याय में वर्तता हो या निगोद की पर्याय में वर्तता हो या सिद्ध की पर्याय में वर्तता हो। आहा...हा... ! सर्वार्थसिद्धि के देव तीन ज्ञान के स्वामी, एकावतारी हैं, उस पर्यायरूप प्रवर्तता... आहा...हा... ! क्या द्रव्य का द्रव्यत्वपना छूटा है ? है ? **उस पर्यायरूप होकर....** पर्यायरूप होकर ! **क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ता है ?....** आहा...हा... ! नहीं छोड़ता।

भगवान आत्मा! पर्याय के अंश की किसी भी पर्याय में हो परन्तु भगवान ने स्वयं अन्वयशक्तियों को कभी नहीं छोड़ा है। ज्ञान की पूर्णता, दर्शन की पूर्णता, आनन्द की पूर्णता, स्वच्छता की पूर्णता, प्रभुता की पूर्णता... आहा...हा...! उस पर्याय में वर्तता होने पर भी, इस प्रभुता को छोड़ा नहीं है। आहा...हा...! कहो भाई! ऐसा सुना है कभी? तेरी नजर के आड़ से (देखने का) रह गया है, कहते हैं। वस्तु तो ऐसी की ऐसी रही है। पर्याय में वर्तती है, तथापि वस्तु तो ऐसी की ऐसी रही है। आहा...हा...! सिद्धपने परिणमे तो भी वस्तु तो ऐसी की ऐसी रही है तो दूसरे की बात क्या करना?

अनन्त... अनन्त... पर्याय, जहाँ अनन्त... अनन्त... पर्यायों की व्यक्तता अनन्त पूर्ण हो गयी। अनन्त शक्तियाँ हैं, अनन्त सामर्थ्यवाला द्रव्य स्वभाव, उसमें से पूर्ण अनन्त केवलज्ञान (केवलज्ञानदर्शन) पूर्ण शक्ति प्रगट हुई, तथापि उस वस्तु ने अन्वयपना छोड़ा है? आहा...हा...! वह वस्तु है, वह एकरूप ही है, द्रव्य और द्रव्यगुण (एकरूप ही है)। द्रव्य और द्रव्यगुण — द्रव्यत्व-अन्वयशक्ति कहो। आहा...हा...! क्या कथन पद्धति! आहा...हा...! एक गाथा में निहाल कर दे — ऐसा है! आहा...हा...! तकरार, वाद-विवाद से यह पार नहीं पड़ता।

यह तो वस्तु की स्थिति की मर्यादा है। भगवान तो इसे वर्णन करते हैं। आहा...हा...! चाहे जिस पर्याय में परिणमे, केवलज्ञानपने परिणमे — ऐसा कहा तो भी क्या? ऐसा केवलज्ञान या एक समय में केवली, अनन्त केवलियों को जाने! तथापि वहाँ अन्वयशक्ति को कुछ न्यूनता हुई है? आहा...हा...! ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति सब पूर्ण कारण शक्तियाँ हैं। कारणद्रव्य है उसमें कारणशक्तियाँ पूर्ण हैं। उसमें कहीं हीनता हुई है? आहा...हा...! यह दृष्टि में लेना कठिन बात है, बापू! आहा...हा...! ऐसी बात है। बाहर का क्रियाकाण्ड और यह और यह और यह... उस समय भी कहते हैं कि क्रियाकाण्ड की तेरी राग की पर्याय में प्रवर्तता (होने) पर भी द्रव्य और गुण तो ऐसे के ऐसे रहे हैं। आहा...हा...!

गृहीत मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ, अगृहीत तो अनादि से है... आहा...हा...! और वह द्रव्य, उस पर्याय में प्रवर्तता है... आहा...हा...! उस पर्याय में प्रवर्तता है, तथापि

वह द्रव्य और गुण तो वैसे के वैसे उतने हैं। आहा...हा...! उनकी महत्ता को कहीं आँच नहीं! प्रगट दशा होवे तो भी उसे आँच (आती है) घट जाते हैं — ऐसा नहीं है।

महाप्रभु केवल (ज्ञान) हुआ, अनन्त... अनन्त... केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य (प्रगट हुआ)... आहा...हा...! जितने गुण हैं, उतनी पर्यायें — व्यक्तपर्यायें पूर्ण प्रगट हुई... तथापि यहाँ जो पूर्ण द्रव्यत्वगुण है, जीव द्रव्य का द्रव्यत्व — अन्वयशक्तियाँ ऐसी की ऐसी हैं। आहा...हा...! यह बात बैठाना कोई कम बात है? आहा...हा...!

यदि नहीं छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है.... ? आहा...हा...! वह प्रभु छोड़ता नहीं... अपने अनन्त गुण जो ध्रुव हैं, द्रव्यत्व (भूत) अन्वय (शक्तियाँ) हैं... आहा...हा...! द्रव्यत्व (कहा) तो वह द्रव्यत्व जो पर्याय द्रवती है, वह यहाँ नहीं लेना, हाँ! भाई द्रव्य — गुण में द्रवे... द्रवे... यह पंचास्तिकाय में आता है न? नौवीं गाथा! द्रवता है। विभावरूप परिणमता है। यहाँ द्रव्यत्व अर्थात् उसका भावपना लेना है। पर्याय द्रवती है — ऐसा अभी नहीं लेना है। समझ में आया? आहा...हा...! यहाँ तो द्रव्य का द्रव्यपना जो कायमी है — अन्वयशक्तियाँ (जो है) क्या उन्हें कुछ घिसावट लगी है? सिद्ध हुआ वहाँ अन्दर कुछ हीन हो गया है? ज्ञान प्रगट हुआ तो कुछ कम हुआ है? गुण में — पूर्णता में कुछ-कुछ कमी आयी है? यह तो क्या बात है?! आहा...हा...! यह तो भाई! मध्यस्थ की बात है। आग्रह छोड़कर, स्वयं ने माना हो, उस प्रकार कुछ हो — ऐसा नहीं होता। वस्तु जैसी है, वैसी रहेगी। मान्यता कल्पित हो, तदनुसार उसमें से निकले — ऐसा नहीं है।

तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता.... देखा? त्रिकोटि सत्ता अर्थात् **(तीन प्रकार की सत्ता, त्रिकालिक अस्ति)....** त्रिकोटि सत्ता! आहा...हा...! त्रिकाल अस्ति। द्रव्य और अन्वयशक्तियों की त्रिकाल अस्ति। आहा...हा...! द्रव्य की द्रव्यत्व — अन्वयशक्तियों की त्रिकाल अस्ति! एकरूप त्रिकाल की अस्ति। आहा...हा...! त्रिकोटि सत्ता! देखा? तीन प्रकार की सत्ता — भूत, भविष्य और वर्तमान ऐसी। **(तीन प्रकार की सत्ता त्रिकालिक अस्ति) जिसके प्रगट है....** जिसे प्रगट है। **ऐसा वह**

(जीव) वही न हो ?.... वही न हो ? चाहे जो पर्याय हो परन्तु वस्तु तो वही न होगी ? अर्थात् वस्तु तो वही है। आहा...हा... !

बड़ा कसाईखाना लगाये, लाखों गाय-भैसें काटे ऐसा भाव ! आहा...हा... ! उस पर्याय में वर्तता द्रव्य, क्या (उस) द्रव्य ने द्रव्यत्वपना छोड़ा है ? (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा... ! (कोई) नहीं — ऐसा कहे, (वहाँ) आत्मा है नहीं — ऐसा कहे (परन्तु) ऐसी पर्याय से परिणमा है। आहा...हा... ! तथापि उसके द्रव्यत्वपने में कुछ कमी है ? वह भले ही इनकार करे। आहा...हा... ! त्रिकोटि सत्ता ! त्रिकोटि सत्ता (अर्थात्) तीन प्रकार की सत्ता — भूत, वर्तमान और भविष्य — तीनों काल एकरूप सत्ता है। आहा...हा... ! वहाँ देखने का है। पर्याय चाहे जिस प्रकार की हो, वहाँ इसे देखना नहीं है। आहा...हा... ! द्रव्य और द्रव्यत्व की अन्वयशक्तियाँ हैं, वे देखने की हैं। आहा...हा... ! और वह देखने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और मोक्ष — केवलज्ञान प्राप्त होता है। आहा...हा... ! क्योंकि सत् में से सत् आता है — ऐसा कहना है। आहा...हा... ! सत् में से सत् आया तथापि, प्रवर्तित हुआ तथापि वहाँ सत् में जरा भी कमी हुई है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... !

क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, केवलज्ञान हुआ... आहा...हा... ! और गृहीत मिथ्यात्व हुआ, नास्तिक हुआ, (तब ऐसा माना कि) आत्मा नहीं — मैं नहीं ऐसा पर्याय में प्रवर्तित हुआ तथापि द्रव्य ने क्या द्रव्यत्वपना — अन्वयशक्ति छोड़ी है ? आहा...हा... ! भाषा तो सादी है परन्तु भाव जरा कठोर है।

(त्रिकोटि सत्ता) **जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव) वही न हो ? अर्थात् तीनों काल में अस्ति ऐसा जीव अन्य नहीं।** अन्य नहीं ऐसा। **(वह का वही है)** वह का वही है। आहा...हा... ! क्या वस्तु की स्थिति ! समयसार में भी है और यह प्रवचनसार ! अरे ! नियमसार (होवे तो भी यही वस्तुस्थिति है)। आहा...हा... ! स्वरूपप्रत्यक्ष वह त्रिकाल है। आहा...हा... ! स्वरूपदृष्टि त्रिकाल ध्रुव है। अरे... ! उपयोग में तो ऐसा लिया है न भाई ! कि ज्ञान और दर्शन है, उसे स्वयं त्रिकाल को स्वयं जानते हैं, वे गुण जानते हैं। गुण ऐसा पूर्ण स्वरूप है, उसे जानते हैं — ऐसी उसकी सामर्थ्य है, पर्याय की बात नहीं। आहा...हा... ! उपयोग में (यह बात आती है)। पहले शुरुआत में आती है। वह वस्तु स्वयं जो है, उसमें

जो ज्ञान और दर्शन का गुण है, ऐसे जो अनन्त गुण अनन्त अन्वयरूप है, उसे वह ज्ञान और दर्शन जानता और देखता है — ऐसी ताकतवाला है ! पर्याय नहीं, अन्वयशक्ति का स्वरूप इतना है ! आहा...हा... ! इसमें तो धीरज चाहिए बापू ! तब तो मुश्किल से (पकड़ में आये ऐसा है) पूर्व के सब आग्रह किये हों (उस पर तो) शून्य रखे, तब यह जमे ऐसा है। आहा...हा... ! ऐसी वस्तु की स्थिति ही है।

भगवान त्रिलोकनाथ ने कहा, वह सन्त कहते हैं। आहा...हा... ! जिनेश्वर ऐसा कहते हैं, सन्त ऐसा बोलते हैं न ? जिनेश्वर ऐसा कहते हैं। बाकी तुम कहते हो, प्रभु ! वह कहाँ मिथ्या है ? परन्तु आधार देते हैं प्रभु का ! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! चाहे जिस पर्याय में द्रव्य प्रवर्ते, तथापि द्रव्य में द्रव्यपना कम हुआ है ? आहा...हा... ! तीनों काल में वह एक की एक चीज इस प्रकार रही है। आहा...हा... ! ऐसी अन्तर्दृष्टि होना, चाहे जिस पर्याय में हो परन्तु यह दृष्टि होना... आहा...हा... ! अर्थात् 'है', उसकी दृष्टि होना। इतना वह है। है उसे उतना मानना, वह कहीं साधारण बात नहीं है। आहा...हा... ! महापुरुषार्थ है। आहा...हा... ! वह (यहाँ कहते हैं) । **तीनों काल अस्ति ऐसा जीव अन्य नहीं वह का वही है।** भावार्थ कहेंगे।

प्रवचन नं. १२३ **दिनाङ्क ०३ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ११२ का भावार्थ। टीका आ गयी है। क्या कहते हैं — **जीव मनुष्य-देवादिक पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता,....** भगवान आत्मा ! द्रव्यस्वरूप जो त्रिकाल है, वह मनुष्य की पर्याय पाये या देव की पाये या सिद्ध की पाये परन्तु वह वस्तु कहीं अन्य नहीं हो जाती। भिन्न-भिन्न पर्यायरूप परिणमती है (तो भी) वस्तु तो वह की वही, उतनी की उतनी, वह की वही वस्तु है। आहा...हा... !

जीव मनुष्य-देवादिक.... देवादि में तिर्यंच, नारकी, सिद्ध (ऐसे) पाँच लेना। उनकी **पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी....** अवस्था में अवस्थारूप से होने पर भी **अन्य नहीं हो जाता,....** अन्य चीज नहीं हो जाता। आहा...हा... ! जीवद्रव्य तो जीवद्रव्यरूप ही त्रिकाल है। आहा...हा... ! भगवत्स्वरूप ! यहाँ तो पर्यायरूप परिणमता है — ऐसा

कहा। और नियमसार में तो ऐसा कहा कि जो मोक्ष और संवर-निर्जरा की पर्याय है, वह परद्रव्य है, क्योंकि त्रिकाल जो स्वद्रव्य है — सच्चिदानन्द प्रभु एकरूप स्वभाव ज्ञायक परमपारिणामिक स्वभाव है, वह स्वद्रव्य है और मोक्ष की पर्याय, संवर-निर्जरा की पर्याय (होती है तो) यहाँ कहते हैं कि उस रूप जीव प्रवर्तता है, पर्याय उसकी है, पर्याय कहीं कर्म की, कर्म से हुई है या संयोगी चीज से हुई है.... सिद्ध की स्वर्ग की या नरक की (पर्याय) संयोगी चीज से हुई है ऐसा नहीं है, तथापि वह अन्य-अन्य पर्यायें स्वयंसिद्ध स्वयं परिणमे, तथापि वस्तु अन्य-अन्य नहीं हो जाती। आहा...हा...! बाहर की तो बात ही क्या करना, यह शरीर, वाणी, मन, और यह सब जड़ भिन्न-भिन्न अवस्थायें होती हैं, वे तो जड़ — पर हैं परन्तु आत्मा स्वयं जो पाँच पर्यायरूप होता है (अर्थात् कि) नारकीरूप, मनुष्यरूप, तिर्यंचरूप, देवरूप, और सिद्धरूप... आहा...हा...! इन पाँच पर्यायोंरूप परिणमते हुए होने पर भी अन्य नहीं हो जाता। द्रव्य दूसरा हो जाता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

वहाँ (नियमसार में) ३८वीं गाथा में तो ऐसा कहा कि '**जीवादिबहित्तच्चं**' परद्रव्य है — यह तो टीकाकार ने कहा परन्तु टीकाकार ने डाला कहाँ से? पचासवीं गाथा में डाला है न? कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं डाला है। भगवान आत्मा, नित्यानन्द ध्रुव की अपेक्षा से जितनी पर्यायें होती हैं, वे सब परद्रव्य, परभाव, हेय हैं। वह परद्रव्य, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं कहा तो उसे लेकर '**जीवादिबहित्तच्चं**' परद्रव्य है — ऐसा कहा। वरना तो टीकाकार परद्रव्य कहते हैं परन्तु आचार्य स्वयं कह गये हैं। पचासवीं (गाथा में) कहनेवाले हैं। यह तो अड़तीसवीं (गाथा में आया)। आहा...हा...!

स्वद्रव्य भगवान तो ध्रुव टंकोत्कीर्ण वज्र का बिम्ब जैसे एकरूप होता है, जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं, तथापि पर्याय है। आहा...हा...! वस्तु भगवान आत्मा! दृष्टि के विषय के लिए जो द्रव्य है, वह तो पर्यायरूप परिणमे वह भी उसका लक्ष्य वहाँ नहीं है। आहा...हा...! संवर-निर्जरारूप परिणमे, उसका तो लक्ष्य (नहीं) समकिती ज्ञानी को उसका लक्ष्य नहीं, ज्ञान है। ज्ञान बराबर करे, ज्ञान तो छह द्रव्यों का भी करे। आहा...हा...! परन्तु (ज्ञान) करने पर भी एक स्वद्रव्य चैतन्यध्रुव जो है, वह कोई अन्य पर्याय तो नहीं,

इसलिए एकरूप है — ऐसी दृष्टि धर्मी की कभी हटती नहीं है। आहा...हा... ! और वह दृष्टि हटे तो पर्यायबुद्धि-मिथ्याबुद्धि हो जाती है। आहा...हा... !

(यहाँ यह कहा) **अनन्य रहता है,....** अन्य-अन्य पर्यायरूप होने पर भी... अरे ! निगोद की, एकेन्द्रिय की (पर्यायरूप होने पर भी)। वह तो तिर्यंच में आ गया न ? तिर्यंच में वह आ गया। निगोद की — लहसुन और प्याज के एक टुकड़े में अनन्त जीव, एक जीव (को) अक्षर के अनन्तवें भाग विकास होने पर भी, जीवद्रव्य अन्य नहीं होता। आहा...हा... ! पर्याय में परिणमा है — ऐसा कहा जाता है। वह यहाँ कहा न ? पर्याय में वर्तता है। आगे ११३ (गाथा में) तो कहेंगे कि उस पर्याय का कर्म-साधन-कर्ता तो द्रव्य है — ऐसा कहेंगे। समझ में आया ? आहा...हा... ! पीछे अन्त में है, अन्तिम लाईन। आहा...हा... !

एक ओर ऐसा कहे कि पर्याय का षट्कारक परिणमन द्रव्य और गुण की अपेक्षा बिना स्वतन्त्र है। एक ओर ऐसा कहे कि द्रव्य स्वयं उस पर्याय में परिणमता है। परिणमता है, तथापि द्रव्य अन्य नहीं होता। आहा...हा... ! पर्याय को परद्रव्य कहकर, परद्रव्यरूप परिणमता है, तथापि वह द्रव्य जो सत् है, वह अन्यपने-अन्यरूप नहीं होता। आहा...हा... ! उसकी अपनी जो पाँच पर्यायें हैं, उनरूप होने पर भी द्रव्य अन्य नहीं होता तो दूसरे पदार्थ के संयोग की तो बात क्या करना ? कि इस संयोग के कारण ऐसा हुआ। संयोग के कारण ऐसा हुआ, कर्म का कठोर उदय आया, इसलिए ऐसा हुआ। आहा...हा... ! दुश्मन ऐसा प्रतिकूल आया या स्वयं सोता था, उसमें आकर मारा।

आज (एक) भाई का ऐसा सुना (वे) कब मर गये पता नहीं। रात्रि में अकस्मात् हो गया। दूधवाली आयी तब (उसे ऐसा लगा कि) इनका सिर ऐसा क्यों हो गया है ? वहाँ देखे तो समाप्त ! कुछ नहीं मिला, कब देह छूटी (पता नहीं)। आहा...हा... ! जिस समय में देह छूटना है, उस समय छूटेगी। आहा...हा... ! उससे पहले सूचना देकर छूटेगी की भाई देखो ! अब मैं इस समय छूटनेवाली हूँ ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि जो द्रव्य उस पर्यायरूप परिणमा है... परिणमा है, उसमें द्रव्य वर्तता है तथापि द्रव्य तो द्रव्यरूप रहा, वह द्रव्य अन्य नहीं होता। कहाँ निगोद की पर्याय और कहाँ सिद्ध की पर्याय ! ऐसा होने पर भी द्रव्य तो वह का वही, वह का वही रहा है।

आहा...हा...! तिर्यंच की पर्याय अर्थात् निगोद की (पर्याय) और सिद्ध की पर्याय — केवलज्ञान की! आहा...हा...! वह **जीव मनुष्य-देवादिक....** अर्थात् **पाँच पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता,....** (अर्थात्) जीवद्रव्य **अनन्य रहता है,....** वैसा का वैसा रहता है। आहा...हा...! **वह का वही रहता है;....** अनन्य रहता है और वह का वही रहता है। आहा...हा...!

यह ज्ञेय अधिकार! ज्ञेय की मर्यादा स्वतन्त्र है, चाहे जिस पर्याय में परिणमे, तथापि द्रव्य तो द्रव्यरूप ही रहता है। द्रव्य अन्य नहीं होता तथा दूसरा नहीं होता, तथा दूसरे प्रकार से नहीं होता, वह का वही रहता है। आहा...हा...! क्योंकि **'वही यह देव का जीव है, जो पूर्वभव में मनुष्य था....** आहा...हा...! आचार्यों की स्थिति तो पंचम काल में, आचार्यदेव देह छूटकर देव में जानेवाले हैं, तो वह जो देवपर्याय हुई, वह पूर्व भव में मनुष्य था, वह जीव भी पूर्वभव में मनुष्य था। **और अमुक भव में तिर्यंच था' ऐसा ज्ञान हो सकता है।....** आहा...हा...!

इस प्रकार जीव की भाँति.... यह तो जीव का दृष्टान्त दिया। **प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायों में वह का वही रहता है,....** परमाणु आदि प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायों — अवस्थाओं में, चाहे जितनी पर्याय की अवस्था हो परन्तु द्रव्य तो वह का वही रहता है। आहा...हा...! परमाणु बिच्छु के डंकरूप परिणमे... आहा...हा...! और एक बार मेसूरपाक की पर्यायरूप परिणमे... आहा...हा...! परन्तु परमाणु तो वह का वह, उतना ही तब (भी) है। आहा...हा...! एक बार वह परमाणु सर्प की दाड़ में जहररूप परिणमित हुआ होता है। आहा...हा...! तथापि परमाणु तो वह का वही है, इसी प्रकार ही रहा है और वह परमाणु शक्कर की पर्यायरूप परिणमे... आहा...हा...! तो द्रव्य है वह तो वह का वही, वह का वही, वैसा का वैसा ही रहा है। द्रव्य में कोई हीनाधिकता या घालमेल नहीं हुई है। आहा...हा...! ऐसी अन्दर में प्रतीति (होना) पर्यायरूप द्रव्य वर्तता है, तथापि द्रव्य, द्रव्य में है... आहा...हा...! ऐसी दृष्टि का परिणमन होना, वह इसका तात्पर्य है। इसका तात्पर्य क्या? यह कहा कि यह ऐसा है... ऐसा है... इसका तात्पर्य यह है। आहा...हा...! चाहे वह मनुष्य की पर्यायरूप तू हो प्रभु! तू आत्मा तो वैसा का वैसा रहा है। गरीब के घर माँग खाये

तब कठिनता से रोटियाँ मिले और लूला हो, पंगु हो, अन्धा हो... आहा...हा... ! वह शरीर की अवस्था है और अन्दर में उस प्रकार की योग्यता है, तथापि द्रव्य तो वैसा का वैसा है। आहा...हा... !

(परमाणु) की चाहे जो अवस्था हो, वह परमाणु एक बार बिच्छु के डंकरूप परिणमित हुआ था, वह परमाणु सर्प की दाढ़ में जहररूप हुआ था, अभी इस पर्यायरूप है, तथापि वस्तु है वह है, वह की वही है। आहा...हा... ! इतना अन्तर! पर्याय का कितना अन्तर! यह तो पर्याय का अन्तर है; वस्तु में कुछ अन्तर नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है। यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय है वह द्रव्यरूप तो तीनों काल-तीन लोक में ऐसा का ऐसा सदा (रहता है)। आहा...हा... ! चाहे जो स्थिति-पर्याय में (ऐसा का ऐसा रहता है)।

भंगी की अवस्था हो, पाखाने से विष्ठा ले — ऐसी पर्याय हो, पर्याय; वह क्रिया तो जड़ की है। आहा...हा... ! वह पर्याय होने पर भी वस्तु तो जैसी है, वैसी ही रही है। आहा...हा... ! और एक तीर्थंकर का जीव तीन ज्ञान और क्षायिक सम्यक्त्व की पर्याय के समय.... आहा...हा... ! माता के गर्भ में आता है, सवा नौ महीने रहता है —ऐसी पर्याय भले हो, कहते हैं; तथापि अन्दर भगवान आत्मा द्रव्य तो वैसा का वैसा उसमें है। आहा...हा... ! विस्मय-आश्चर्यता की बात है! सर्वज्ञ के सिवाय ऐसा किसी ने देखा नहीं, जाना नहीं, कल्पना की बातें करे, वह कहीं वस्तु की स्थिति नहीं है। आहा...हा... !

इस प्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायों में वह का वही रहता है, अन्य नहीं हो जाता - अनन्य रहता है।.... अनन्य रहता है। (अर्थात्) वह का वही; अन्य नहीं ऐसा। **इस प्रकार द्रव्य का अनन्यपना होने से द्रव्य का सत्-उत्पाद निश्चित होता है।** आहा...हा... ! भगवान आत्मा का वह का वही रहना होने से वह द्रव्य का सत्-उत्पाद — है उसमें से होता है। आहा...हा... ! वह सत्-उत्पाद है। पर्याय अन्दर शक्तिरूप से — सत्रूप से थी, वह आयी है, वह सत्-उत्पाद है। उसे बाहर के किसी संयोग के कारण सत्-उत्पाद हुआ है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ●●

गाथा - ११३

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति -

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।।११३।।

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते।।११३।।

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः। तथा हि - न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात्, न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात्, येनान्य एव न स्यात्; येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रति-पदमन्यन्न स्यात्।।११३।।

अथ द्रव्यस्यासदुत्पादं पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति - **मणुवो ण हवदि देवो** आकुलत्वोत्पादकमनुजदेवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्वभावपरिणतिलक्षणं परमात्मद्रव्यं यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समानं तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्मात्। देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। **देवो वा माणुसो व सिद्धो वा** देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति। कस्मात्। पर्यायाणां परस्परं भिन्नकालत्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। **एवं अहोज्जमाणो** एवमभवन्सन् **अणण्णभावं कधं लहदि** अनन्यभावमेकत्वं कथं लभते, न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पादः पूर्वपर्यायाद्भिन्नो भवतीति।।११३।।

अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं —

मानव नहीं है देव अरु, जो देव, नर या सिद्ध नहीं।
ऐसा नहीं होता हुआ, वह भाव-अनन्य कैसे धरे ?॥

अन्वयार्थ - **[मनुजः]** मनुष्य **[देवः न भवति]** देव नहीं है, **[वा]** अथवा **[देवः]** देव **[मानुषः वा सिद्धः वा]** मनुष्य या सिद्ध नहीं है; **[एवं अभवन्]** ऐसा न होता हुआ **[अनन्य भावं कथं लभते]** अनन्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

टीका - पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं। और पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्व काल में उत्पाद होता है उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति का पहले असत्पना होने से, पर्यायें अन्य ही हैं। इसलिए पर्यायों की अन्यता के द्वारा द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण और अधिकरण होने से पर्यायों से अपृथक् है उसका — असत् -उत्पाद निश्चित होता है।

इस बात को (उदाहरण देकर) स्पष्ट करते हैं —

मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है, और देव, वह मनुष्य या सिद्ध नहीं है; इस प्रकार न होता हुआ अनन्य (वह का वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य ही न हो और जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं — ऐसा जीव द्रव्य भी-वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्ण की भाँति — पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? [जैसे कंकण, कुण्डल इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, (भिन्न-भिन्न हैं, वे की वे ही नहीं है) इसलिए उन पर्यायों का कर्ता सुवर्ण भी अन्य है, इसी प्रकार मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिए उन पर्यायों का कर्ता जीवद्रव्य भी पर्यायापेक्षा से अन्य है।]

भावार्थ - जीव के अनादि अनन्त होने पर भी, मनुष्य पर्यायकाल में देवपर्याय की या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्याय की अप्राप्ति है अर्थात् मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, इसलिए वे पर्यायें अन्य अन्य हैं। ऐसा होने से, उन पर्यायों का कर्त्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षा से अन्यपने को प्राप्त होता है। इस प्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य

के पर्यायापेक्षा से अन्यपना है। इस प्रकार द्रव्य को अन्यपना होने से द्रव्य के असत्-उत्पाद — ऐसा निश्चित होता है॥ ११३॥

प्रवचन नं. १२३ का शेष **दिनाङ्क ०३ जुलाई १९७९**

(अब) ११३ (गाथा)! **अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं —** असत्-उत्पाद होता है, वह भी अन्य... अन्य... अन्य... अवस्था-पर्याय। पहले सत्पने में (सत्-उत्पाद में) तो जैसे है वैसा है, उसमें से पर्याय आयी और यह तो अब असत्-उत्पाद (निश्चित करते हैं)। पर्याय में (पहले) पर्याय नहीं थी, ऐसी पर्याय हुई, वह असत्-उत्पाद (कहलाता है)। **असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा....** (अर्थात्) अन्यपने (द्वारा)। उस समय जीव, जीव द्रव्यरूप वह का वही रहा परन्तु पर्यायरूप से दूसरा हो गया। आहा...हा...! कहाँ एक सर्वार्थसिद्धि के देव का जीव और कहाँ एक सातवें नरक के जीव की पर्याय! आहा...हा...! यह इसे विश्वास बैठना (चाहिए कि) तत्त्व ऐसा है। पर के संयोग बिना ऐसी एकदम सिद्ध की पर्याय हो, देव की हो, निगोद की हो! आहा...हा...! उसमें किसी संयोग के कारण उसमें कुछ होता है — ऐसा नहीं है। उस-उस समय में वह उत्पाद 'है' उसमें से होता है, इस अपेक्षा से सत्-उत्पाद है और नहीं थी और हुई, इस अपेक्षा से — पर्याय से अपेक्षा से (असत्-उत्पाद है —) इसमें यह कहते हैं। **असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा....** अन्य-अन्यपने द्वारा (अन्यपने के द्वारा) **निश्चित करते हैं।**

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि।। ११३।।

वह का वही कैसे होगा? (ऐसा कहते हैं)।

मानव नहीं है देव अरु, जो देव, नर या सिद्ध नहीं।
ऐसा नहीं होता हुआ, वह भाव-अनन्य कैसे धरे?॥

वह की वही पर्याय कैसे रहे? ऐसा कहते हैं। पर्याय तो अन्य (अन्य) होती है। आहा...हा...! एक बार स्त्री का शरीर पाये, भंगी का शरीर पाये, विष्ठा (इकट्ठी करे) परन्तु

उसकी पर्याय तो जो है वह है। अन्य पर्याय हुई है, वस्तु अन्य नहीं हुई। आहा...हा...! यह ज्ञेय का विषय है। ज्ञेय के स्वरूप की मर्यादा यह है। आहा...हा...! ऐसा कैसे? ऐसा जिसमें अवकाश नहीं। आहा...हा...! उसकी टीका, ११३ (गाथा) की टीका।

पर्यायें.... पर्यायें, बहुवचन है। सब पर्यायें (लेना) **पर्यायें पर्यायभूत....** अवस्था स्वरूप **स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही....** आहा...हा...! स्व-व्यतिरेक-व्यक्ति — पहले से भिन्न व्यतिरेकव्यक्ति के काल में **ही सत् (विद्यमान) होने से,....** आहा...हा...! देखो, यह क्रमबद्ध! यह तो अध्यात्मग्रन्थ है, यह कोई वार्ता का ग्रन्थ नहीं है। आहा...हा...! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने — ऐसी पर्याय प्रगट की! आहा...हा...! तो भी कहते हैं कि वह पर्याय अन्य-अन्य है। वह पर्याय अन्य है, पहले नहीं थी और हुई है — इस अपेक्षा से पर्याय को असत्-उत्पाद कहते हैं। सिद्ध की पर्याय को असत्-उत्पाद कहते हैं। आहा...हा...!

एक (बात) आती है न? अभूतपूर्व! वह दूसरी अपेक्षा से है। सिद्ध पर्याय अभूत -पूर्व में नहीं थी और हुई है। आता है? पंचास्तिकाय! अभूतपूर्व! आहा...हा...! अनन्त काल में कभी सिद्धदशा — अनन्त ज्ञान, आनन्द अनन्त... अनन्त... शक्ति का पूर्ण व्यक्तपना अनन्त काल में हुआ नहीं था, वह होता है; वह पर्याय में ध्रुवरूप से अन्य हुआ है। द्रव्यरूप से भले वह का वही है परन्तु पर्यायरूप से द्रव्य अन्य हुआ है। आहा...हा...! इसका — पर्याय का लिवास वह आया है। आहा...हा...! यहाँ तो भाई! दीर्घदृष्टि की बात है। लम्बी दृष्टि करे (तो समझ में आये ऐसा है)।

वर्तमान पर्याय में कहते हैं कि **पर्यायें पर्यायभूत....** पर्यायभूत (अर्थात्) पर्याय है **स्वव्यतिरेकव्यक्ति....** अर्थात् भिन्न-भिन्न। आत्मा द्रव्य जो है, उसकी द्रव्यत्व की अन्वयशक्तियाँ तो त्रिकाल है। वह व्यतिरेक नहीं — भिन्न-भिन्न नहीं। आत्मा और परमाणु उनका द्रव्य जो है, उसका द्रव्यत्वपना अर्थात् अन्वयशक्तिपना — गुणशक्तिपना तो त्रिकाल है, उसमें अन्यपना नहीं है। यह तो **पर्यायों में पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति....** भिन्न प्रगटता। व्यक्ति अर्थात् प्रगटता के काल में ही सत् है। उस काल में वही पर्याय सत् है। पहले नहीं थी (और) हुई, इसलिए असत्-उत्पाद उस काल में हुआ है। आहा...हा...!

यहाँ एक समय में चक्रवर्ती हो, दूसरे समय में सातवें नरक का नारकी! आहा...हा...! रत्न के पलंग पर सोता हो, देव खम्मा-खम्मा करते हों, छियानवें हजार रानियाँ, एक रानी की हजार देव सेवा (करें), वह ऐसा पड़ा हो (और) देखे। बाहर की दशा की बात नहीं, यह तो अन्तर की (बात है)। आहा...हा...! वह दूसरे समय सातवें नरक का नारकी! आहा...हा...! अन्य-अन्य पर्यायरूप (होता है) तो कहते हैं कि इतना अधिक अन्तर पड़ता है; इसलिए किसी संयोग के कारण (अन्तर पड़ता) है — ऐसा नहीं है, यह अभी कहेंगे। समझ में आया? आहा...हा...!

उस **काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं।....** जिस समय में जो पर्याय है, उस काल ही वह सत् है, दूसरे काल में वह असत् है। आहा...हा...! पर्याय की अपेक्षा से (असत् है)। द्रव्य की अपेक्षा से सत्-उत्पाद कहा था। (अर्थात्) 'है' वह उत्पन्न होती है। यहाँ तो 'नहीं' वह उत्पन्न होती है, पर्याय नहीं थी और उत्पन्न होती है। आहा...हा...! यह वीतराग का अनेकान्तमार्ग! यह वस्तु की स्थिति ऐसी है।

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि सभी मार्ग इकट्ठे करके भगवान ने ऐसा अनेकान्तपना प्ररूपित किया है! अभी पण्डित ऐसा कहते हैं कि वेदान्त एकान्त निश्चयवाद, बौद्ध पर्याय का एकान्तवाद (— ऐसा) सबको इकट्ठा करके अनेकान्त किया। उन्हें तो केवलज्ञान हुआ, तब जिस प्रकार से वस्तु है, उस प्रकार ज्ञात हुई, ज्ञात हुई ऐसी वस्तु वाणी द्वारा आयी है, उसमें से आगम की रचना हुई। आहा...हा...! आगम को सुनकर भव्यजीव... आहा...हा...! संशय निवारै।

पर्यायें अन्य कालों में अविद्यमान है। है? **पर्याय और पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** आहा...हा...! जो पर्याय होती है। उसमें द्रव्य का द्रव्यत्वभूत — द्रव्य का द्रव्यपना, जो ११२ (गाथा में) कहा था वह, द्रव्य का द्रव्यत्वभूत — सत् का सत्पना, भाव का भाववान्पना.... आहा...हा...! वह **द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** उस अन्वय के साथ

पर्याय जुड़ी है। अत्यन्त अद्धर से ऐसे हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! पहले नहीं थी और हुई, इसलिए अन्वय के साथ कुछ सम्बन्ध ही नहीं है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अन्वय अर्थात् गुण। भाषा सब अलग प्रकार की है। आहा...हा... !

पर्यायरूप से असत् (होने) पर भी वे व्यतिरेक — पर्याय.... आहा...हा... ! अन्वयशक्ति के साथ एकरूपपने जुड़ी हुई। **जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्व काल में उत्पाद होता है....** आहा...हा... ! उसी काल में वह पर्याय — स्वकाल में उत्पन्न होती है। अब इसमें कहाँ उल्टा-सुल्टा (होवे ऐसा है) ? दूसरे के कारण तो उल्टा-सुल्टा नहीं परन्तु स्वयं के कारण भी उल्टा-सुल्टा नहीं है। क्या कहा ? समझ में आया ? एकदम संयोग बदले, इसलिए पर्याय बदली यह बात तो है ही नहीं परन्तु उसमें इसकी (स्वयं की) पर्याय भी नहीं बदलती। स्व काल में उत्पन्न, जो अन्वयशक्तियाँ — गुण है, उसके सम्बन्ध में रही पर्याय उत्पन्न होती है। नहीं थी और हुई परन्तु अन्वय की शक्ति के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा... ! अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध टूटकर.... नहीं थी (तथा) हुई, इसलिए टूटकर हुई है (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! गजब बात है। क्या कहा ?

आहा...हा... ! **पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ....** आहा...हा... ! क्या टीका ! यह टीका ! यह सिद्धान्त कहलाता है ! जिसके शब्दों में गम्भीरता का पार (नहीं होता) ! थोड़े में बहुत कहकर समाहित कर दिया है। आहा...हा... ! दिगम्बर सन्तों ने भरतक्षेत्र में केवलज्ञान के बीज रोपे हैं ! आहा...हा... ! आहा...हा... ! **अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** (अर्थात्) क्रम से होनेवाली। जो पर्याय होनी है, वही होती है, वह क्रमानुपाती (कहलाती है)। आहा...हा... ! (यह) साधारण अधिकार है। यह प्रवचनसार और ज्ञेय अधिकार — ऐसा साधारण कर डालते हैं। बापू ! ऐसा नहीं, भाई ! यह तो वीतराग की वाणी है। आहा...हा... ! परमागम है। दिव्यध्वनि में आया हुआ सार है। आहा...हा... !

कहते हैं कि भले एकदम पर्याय का परिवर्तन हो, एकदम सिद्ध की पर्याय पलटे, तथापि उसकी अन्वयशक्ति का सम्बन्ध रखकर हुई है। आहा...हा... ! सत्-उत्पाद में तो होवे ही, वह तो है वह हुई — ऐसा। परन्तु असत् उत्पाद में भी नहीं थी और हुई, इसलिए

असत्, तथापि उस क्रमानुपाती पर्याय को अन्वयशक्तियाँ — गुण हैं; द्रव्य का जो द्रव्यपना है, द्रव्य का द्रव्यत्वपना — अन्वयशक्तिपना जो है, उसका सम्बन्ध रखकर क्रमानुपाती पर्याय होती है। आहा...हा...! अब ऐसा सब कब याद रहे? आहा...हा...!

ऐसे अकस्मात् चले जाते हैं। देखो न (उस भाई का) पता नहीं पड़ा कहते हैं। आज ऐसा सुना, सबेरे दूधवाली आयी तब पता पड़ा। दूधवाली कहे इन (भाई का) सिर ऐसा क्यों है? ऐ...सा... हो गया। ऐसा देखे वहाँ कुछ नहीं मिले! रात में कब देह छूटी? अकेले....! आहा...हा...! उसी समय वह शरीर छूटने का काल है, तथापि वह परिणाम अन्वयशक्तियों के साथ युक्त है। आहा...हा...! अद्धर से हुआ है (ऐसा नहीं) वह तो पर्याय नहीं थी और हुई है, वह तो पूर्व में नहीं थी और हुई है, इसलिए असत् कही है, परन्तु वह पर्याय हुई है, वह अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध रखकर हुई है। उसके साथ युक्त है। आहा...हा...! ऐसा कथन कहाँ है? आहा...हा...! दिगम्बर सन्त....!

पहले एक बार यह समाचार-पत्र में आया था भाई! समाचार-पत्र में आया था, नहीं? कि सौराष्ट्र में कानजीस्वामी ने दिगम्बर सम्प्रदाय का बहुत प्रचार किया है — ऐसा समाचार-पत्र में आया था। पत्र है, उसमें है। श्रीमद् राजचन्द्र भी समयसार.... प्रवचनसार का अभ्यास करते थे और उन्हें किसी ने पूछा कि यह स्थिति कब होगी (तो कहा कि) पचास वर्ष के बाद इसका प्रचार अधिक होगा, इसमें है (बहुत) दिन का पड़ा है। यह तो आज पढ़ा, सौराष्ट्र में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय-'आज से चालीस वर्ष बाद सौराष्ट्र में मूल वतनरूप से एक भी घर दिगम्बर जैनरूप से नहीं था। इस सम्प्रदाय की महानताओं की किसी को जरा भी खबर नहीं थी। पचास वर्ष ऊपर निर्वाण पद को प्राप्त श्रीमद् राजचन्द्रजी अकेले दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को केवल अपने अथाह बुद्धिबल द्वारा समझे थे। उन्होंने देश-काल देखकर दिगम्बर जैनधर्म के पवित्र सिद्धान्तों का सौराष्ट्र में या गुजरात में किसी को खास शिक्षण नहीं दिया था। उनका शिष्यवर्ग इतना जानता था कि श्रीमद् कृपालुदेव अभी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के समयसार, प्रवचनसार, भगवती आराधना इत्यादि महा आगम ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। १९५७ की साल में राजकोट में श्रीमद् राजचन्द्रजी का अवसान हुआ, उनके आगे किसी-किसी जिज्ञासु ने पूछा था कि आपका

यह पवित्र ज्ञान वास्तव में कब प्रसार पायेगा ? तब एक ही उत्तर देते थे कि हमारे निर्वाण **(स्वर्ग गमन) के बाद पचास वर्ष में इस पवित्र ज्ञान का प्रचारक निकलेगा,...'** अखबार में है। यह तो वे लोग कहते हैं। यह तो उन लोगों को खबर थी उस समय। यहाँ पाँच हजार रुपये देकर फोटो रखाया है न ? यह फोटो रखा है न ? इनकी ओर से व्यक्ति आया था, पाँच हजार रुपये देकर व्यक्ति को भेजा था कि श्रीमद् का फोटो दो। उसमें बहुत लिखा है, हाँ... ***' और प्रचार करेगा। अभी तो इस ज्ञान का प्रचार सोनगढ़ के सन्त पूज्य कानजीस्वामी सौराष्ट्र में कर रहे हैं। सौराष्ट्र में चारों ओर गाँव-गाँव में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मन्दिर तैयार हो रहे हैं। प्रतिष्ठायें और अंजनशलाकायें धूमधामपूर्वक होती है। भाग्यशाली हजारों गाँव धन का सदुपयोग करते हैं। इस प्रकार पूज्य कानजीस्वामी के अथाह प्रयत्न द्वारा सौराष्ट्र भर में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की ज्योत जगमगा उठी है '*** — ऐसा करके बहुत लिखा है। तब बहुत समय (पहले की) बात है। अखबार है, उसमें पढ़ा है।

यह वस्तु बहुत सूक्ष्म बापू ! ऐसा का ऐसा एकदम अभ्यास करे तो भी उसकी रीत जो है, उसकी पद्धति की जो रीति है, वह पकड़ना कठिन ! आहा...हा... ! देखो न, कैसा कहते हैं ! **पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही....** (अर्थात् कि) उसके काल में ही **सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत्....** होने के कारण **असत् (अविद्यमान) ही हैं। और पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** (अर्थात्) क्रमशः होनेवाला **स्व काल में उत्पाद होता है....** आहा...हा... ! कितना रखा है ! असत् उत्पाद है, तथापि अत्यन्त आकाश के फूल की तरह (है — ऐसा नहीं है)। वह अन्वय के साथ जुड़ान से उत्पन्न होती है और वह पर्याय स्वकाल में उत्पन्न होती है। आहा...हा... ! इसमें वाद-विवाद करके (— ऐसा कहते हैं कि) एकान्त है, सोनगढ़ का एकान्त है। बापू ! कहो, बापू ! तू प्रभु है, तुम प्रभु हो, बापू ! आहा...हा... ! भगवान, आहा...हा... ! बापू ! यह तो भगवान होने की कला है ! और भगवानस्वरूप है। है, वह होता है। आहा...हा... ! असत्-पर्याय की उत्पत्ति कही, तथापि अन्वय के साथ गूँथी हुई कही। आहा...हा... !

११२ (गाथा में) तो सत्–उत्पाद कहा था। यहाँ असत्–उत्पाद कहा (क्योंकि) पर्याय की अपेक्षा से (वह पर्याय) नहीं और हुई। नहीं और उत्पन्न हुई, तथापि (उसे) अन्वय के साथ सम्बन्ध है — जुड़ी हुई है। आहा...हा...! भाई! ऐसी बात कहाँ है ? बापू! यह तो भाग्यशाली को कान में पड़े ऐसी बातें हैं। आहा...हा...!

यह तो गरीब घर में आ गये, गरीब गाँव और भरतक्षेत्र गरीब (परन्तु) बात रह गयी भगवान की! आहा...हा...! क्या शैली! सत्–उत्पाद (कहा, वह तो) ठीक। वह तो अन्वयशक्ति–द्रव्यत्व, द्रव्य जो वस्तु है — सत् — भाव का भावपना — सत्वपना है, उसमें से होता है, इसलिए वह सत्–उत्पाद है। है, वह होता है, उसमें अन्दर उस प्रकार की योग्यता पड़ी है। भगवान ने तो देखी है न कि यह पर्याय यहाँ होगी। आहा...हा...! भगवान ने तो देखा है कि अन्वयशक्ति में से इसमें यह पर्याय है, वह आयेगी।

यहाँ अब असत्–उत्पाद में भी... भगवान की बातें बहुत सूक्ष्म हैं प्रभु! आहा...हा...! वह पर्याय नहीं थी और हुई तो भी द्रव्य जो वस्तु है, उसका द्रव्यत्वपना अर्थात् गुणपना — भावपना है, उसके साथ (गुँथी हुई है)। नहीं और उत्पन्न हुई है परन्तु गुँथी हुई है। भाई! आहा...हा...! देखो, यह प्रवचनसार! आहा...हा...! गजब बात है! इसकी रीति और पद्धति अलौकिक है! आहा...हा...! इसमें दुनिया के विस्मय और अचिन्त्यता कहाँ रही ? आहा...हा...! इसका द्रव्य और पर्याय (इन) दो की समझ की अन्दर में विस्मयता लगती है! आहा...हा...! उसमें दूसरी चीजों की चाहे जितनी अनुकूलता हो, करोड़ों और अरबों रुपयों की (अनुकूलता हो), उसमें अचिन्त्यता क्या ? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तुझमें अन्वयशक्तियाँ, द्रव्य और द्रव्यत्वपना रहा है, द्रव्य — तू जो द्रव्य — वस्तु है। भगवान कहते हैं कि प्रभु! तू वस्तु है, उसमें वस्तुपना रहा है, वह द्रव्यत्व कहलाता है, वह अन्वयशक्ति कहलाती है। आहा...हा...! वह (पर्याय) नहीं और उत्पन्न हुई, तथापि (उसे) अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! नहीं थी और हुई, इसलिए अद्धर से सीधी हो गयी है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। यह बहिनों–लड़कियों को अभ्यास होवे उन्हें (तो) ठीक, बाकी अनजाने साधारण तो रोटियाँ बनाये, पकाये और खाये। इसमें यह बातें क्या कहते हैं ? आहा...हा...! (यह) बैठना कठिन पड़ता है। आहा...हा...!

इसे फिर **पर्यायभूत...** कहा! (अर्थात्) वह 'है' ऐसा। **(एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** देखा? यह भी उस अन्वय के साथ जुड़ा हुआ है परन्तु क्रम-अनुसार पर्याय है। क्रम-अनुसार है — जिस समय में क्रम से जो होनेवाली है उस क्रम-अनुसार है। आहा...हा...! क्रमबद्ध! (लोग ऐसा) कहते हैं कि तुम क्रमबद्ध को मानो तो पुरुषार्थ उड़ जाता है। अरे... प्रभु! सुन तो सही! इस क्रमानुपाती का निर्णय करते हैं, तब उसे स्वद्रव्य पर दृष्टि जाती है। आहा...हा...! कारण कि नहीं थी और वह पर्याय हुई, वह पर्याय अन्वय के साथ गुँथी हुई है, (उसे) अन्वय के साथ सम्बन्ध है। वह अन्वय-गुण है, वह अन्वयी द्रव्य है उसका अन्वयपना है। वह द्रव्य का द्रव्यपना है अर्थात् द्रव्यपने में से गुँथी हुई पर्याय नहीं थी और हुई — ऐसा जहाँ निर्णय करने जाते हैं, वहाँ द्रव्य का निर्णय होता है। आहा...हा...! उसका तात्पर्य क्या है? आहा...हा...! (उसका तात्पर्य यह है)।

भाई! पर्याय भले असत् उत्पन्न हो, नहीं थी और हुई परन्तु नहीं थी और हुई, उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि उसकी जो अन्वयशक्तियाँ — गुण हैं, उनके साथ कोई सम्बन्धरहित हुई — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! क्या द्रव्य-गुण और पर्याय को सिद्ध करते हैं! यह द्रव्य! लो, एक व्यक्ति पूछता था कि द्रव्य-गुण-पर्याय जानना उसमें क्या? अरे...! भगवान! उसमें सर्वस्व है। द्रव्य में सर्वस्व है, उसके गुणों में सर्वस्व है और उस काल में वह क्रमानुपाती — क्रमानुसार स्वकाल में वही (पर्याय) होती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : इसमें तो अनन्त पुरुषार्थ समाहित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अनन्त पुरुषार्थ है।

भाई! जिसे ऐसा निर्णय करना है.... इस कथन का तात्पर्य क्या है? यह कहा, इसलिए ऐसा होता है और ऐसा होता है — ऐसा है? इसका तात्पर्य यह है कि वह नहीं थी और हुई तो भी गुण के साथ सम्बन्ध है और वह गुण है, वह गुणी का है, उस पर दृष्टि जाने से तुझे सत् का पता पड़ेगा — श्रद्धा (होगी कि) ऐसा सत् परमात्मा सत् है! आहा...हा...! ऐसा सत् भगवान अन्दर है, वह तुझे प्रतीति में आयेगा, तुझे वेदन में आनन्द आयेगा और तुझे पता पड़ेगा कि यह पूरी चीज (भगवान आत्मा) आनन्दमय है, जिसके

नमूने से... आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! यह सादी गाथा लगती है सादी ! सादी में कितना भरा है ! आहा...हा... ! तुम्हारे यहाँ पाँच-पचास हजार महीने-महीने के और दिन के पैदा होते हों (उनकी) गिनती कहाँ थी ? धूल में ! महीने में दो लाख पैदा करते हैं, महीने में दस लाख कमाते हैं.... आहा...हा... ! और दुकान पर बैठे वहाँ ऐसे.... बस ! बीस-पच्चीस नौकर (होवें), उसमें यह कोई नवीन चीज नहीं है, बापू ! आहा...हा... ! और यह कोई विस्मयकारी नहीं है। आहा...हा... !

प्रभु ! तुझमें द्रव्य और द्रव्यत्वपना तथा उसकी क्रमानुसारी स्वकाल में पर्याय होवे — ऐसा तेरा स्वरूप-स्वभाव है। आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आया ? आहा...हा... ! यह तो मार्ग, बापू ! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव.... आहा...हा... ! (उनकी) वाणी में आया ! आहा...हा... ! अलौकिक बातें हैं।

मुमुक्षु : द्रव्य में थी वह आयी — ऐसी बात द्रव्यदृष्टिवाला ही कह सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो द्रव्यदृष्टि है परन्तु नहीं थी और आयी, (उसे भी) अन्वय के साथ सम्बन्ध है। भाई ! अद्धर से ऐसी अद्धर हुई है ? कितना साथ में रखा ? आहा...हा... !

सत् है, वह उत्पन्न होता है, वह तो द्रव्य का द्रव्यत्वपना-अनन्त अन्वयशक्तियाँ उसके सम्बन्ध में थी। 'है', है वह आयी परन्तु यहाँ पर्यायरूप से देखो तो नहीं थी और आयी तो भी उसे अन्वय के साथ सम्बन्ध है।

जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्व काल में.... उत्पन्न होती है, इतना तो शब्द है। भले वह अन्वयशक्ति के साथ सम्बन्ध कहा परन्तु वह पर्याय स्वकाल में ही उत्पन्न होती है। आहा...हा... ! जैसे अन्वयशक्तियाँ और द्रव्य एकरूप स्वकाल में है, त्रिकाल एकरूप है, ऐसे इसका एक समय का काल है, इसका वही काल है। आहा...हा... ! स्वकाल में ही वह पर्याय उत्पन्न होती है। कितनी भाषा प्रयोग की है ! है ? **क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्व काल में उत्पाद होता है उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति का पहले असत्पना होने से,....** वह पर्यायभूत नयी हुई परन्तु पूर्व में नहीं थी; इस कारण उसे असत्पना होने से **पर्यायें अन्य ही है।....** इस अपेक्षा से पर्याय अन्य है। आहा...हा... ! पर्याय अन्य होने पर भी, नहीं थी, हुई इसलिए अन्य है, तथापि अन्वय के साथ सम्बन्धरहित

है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें! दूसरे कहते हैं — दया पालो, छहकाय की दया पालो, और यह करो, व्रत करो, अपवास करो... धूल में... यह तो अज्ञान है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि उन व्यतिरेक का **पहले असत्पना होने से, पर्यायें अन्य ही हैं। इसलिए पर्यायों की अन्यता के द्वारा द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता,....** है। उस पर्याय का स्वद्रव्य कर्ता है, परद्रव्य नहीं। कर्म की प्रकृति का तीव्र उदय आया, इसलिए यहाँ विकार हुआ और.... आहा...हा...! वह कर्म छूट गया, इसलिए सम्यक्त्व हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह समकित की पर्याय के काल में पहले नहीं थी और हुई.... अरे! पहले सिद्धपना नहीं था और हुआ... आहा...हा...! भूतकाल में अनन्त काल में एक समय नहीं था, वह सिद्धपना हुआ, वह अभूतपूर्व हुआ, तथापि अन्वयशक्ति का सम्बन्ध रखकर हुआ है और वह क्रमानुसारी — उस काल में वह सिद्ध की पर्याय हुई, वह होती है। आहा...हा...! उस पर्याय को उसके द्रव्यत्व-अन्वयशक्तियों के साथ सम्बन्ध है तथा अन्वयशक्तियाँ हैं, वे द्रव्य की हैं। आहा...हा...! तीनों इकट्ठे हुए। आहा...हा...!

भले नरक की पर्याय हो परन्तु कहते हैं कि पर्याय है तो इसमें इसकी है न? उसमें द्रव्य वर्तता है न? द्रव्य वर्तता है तो द्रव्य की अन्वयशक्ति साथ में गुँथी हुई है न? कोई अद्धर से नहीं हुई। आहा...हा...! वह तो पहले नहीं थी (और) हुई हुई, परन्तु जिस स्वकाल में हुई... आहा...हा...! वह अन्वय के — गुण के साथ सम्बन्ध रखकर हुई है। आहा...हा...! गजब बात है न! ऐसा सुनने को मिलना कठिन पड़ता है। आहा...हा...! (आज) रविवार है और बात आ गयी। आहा...हा...! भाग्यशाली को कान में पड़े ऐसा है। आहा...हा...!

एक तो उत्पन्न हुई; नहीं थी और हुई कहना तथा फिर अन्वय के साथ सम्बन्ध कहना... आहा...हा...! और इससे अन्य है — ऐसा कहना! ऐसा कहा न? **पर्यायें अन्य ही हैं।....** अन्य 'ही' है — ऐसा कहा। है? **इसलिए पर्यायों की अन्यता के द्वारा द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता,....** यह द्रव्य है, वह पर्याय के स्वरूप का कर्ता है। आहा...हा...! यह द्रव्य है, वह पर्याय के स्वरूप का **करण....** (अर्थात्) साधन; उस-उस पर्याय का साधन, द्रव्य (है)। आहा...हा...! कर्म कठोर आये, कर्म

घटे, इसलिए हुआ (यह कुछ नहीं)। **पर्यायों के स्वरूप का कर्ता,....** आहा...हा...! यह असत् उत्पाद है, वह (अन्वयपने द्वारा) **द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण....** साधन **और अधिकरण होने से....** द्रव्य उसका साधन और आधार — अधिकरण (है)। अन्यपने हुई, स्वकाल में हुई, पहले नहीं थी और हुई, अन्दर शक्तियों के साथ सम्बन्ध रखकर हुई (यह सब कहा) फिर द्रव्य लिया। आहा...हा...! पहले पर्याय को अन्वयशक्ति के साथ रखकर कहा और अब द्रव्य लिया। आहा...हा...!

द्रव्य जो है, वह उसकी पर्याय का कर्ता; वह स्वकाल में पर्याय होती है, उसका साधन; स्वकाल में पर्याय होती है, उसका आधार होने से **पर्यायों से अपृथक् है....** (अर्थात्) पर्यायों से पृथक् नहीं है (इस प्रकार) **उसका — असत्-उत्पाद निश्चित होता है।....** आहा...हा...! द्रव्य, पर्याय से पृथक् नहीं है (— ऐसा कहते हैं); अपृथक् है-पर्यायें, द्रव्य से अपृथक् हैं। आहा...हा...! **उसका — असत्-उत्पाद निश्चित होता है।....**

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १२४ दिनाङ्क ०४ जुलाई १९७९

प्रवचनसार, ११३ गाथा। उदाहरण है न? उसके ऊपर आ गया न, ऊपर की दो लाईन। **द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता,....** यह महासिद्धान्त है! द्रव्य जो है आत्मा या परमाणु, उसकी जिस समय में जो अवस्था होती है, वह (उस) काल में होती है। **क्रमानुपाती....** ऐसा लिखा है न? **क्रमानुपाती (क्रमानुसार)....** और उस-उस पर्याय का कर्ता वह द्रव्य है। आहा...हा...! ज्ञान में हीनदशा हो, उसका कर्ता आत्मा है; ज्ञानावरणीय का उदय उसका कर्ता नहीं है — ऐसा कहते हैं। ऐसे आत्मा में आयुष्य गति के कारण, आयुष्य कर्म के कारण देव में रहता है — ऐसा नहीं है। उसकी स्वयं की पर्याय के कारण वहाँ पर्याय में (रहा है)। उस पर्याय का कर्ता आयुष्य (कर्म) नहीं है। जितने काल देव में रहना (होता है), उस काल की पर्याय का कर्ता आयुष्य नहीं है। उस शरीर में रहने का जितना काल है, उतना उसी समय का कर्ता वह द्रव्य है।

आहा...हा... ! वह द्रव्य उसका कर्ता, द्रव्य उसका करण अर्थात् साधन और द्रव्य उसका — उस पर्याय का आधार है। आहा...हा... !

यह प्रत्येक द्रव्य की बात है। यह मनुष्यरूप में समझायी है। यह प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों के स्वरूप का कर्ता (वह द्रव्य है)। आहा...हा... ! कितनी बात समाहित कर दी है ! अन्य (अज्ञानी) कहते हैं, अन्तरायकर्म के कारण आत्मा में दीक्षा लेने का भाव नहीं होता — ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि जो पर्याय होती है, वह द्रव्य में उस वस्तु के क्रम अनुसार — क्रमानुपाती — उस क्रम में आनेवाली है, वह आती है; इस कारण उस द्रव्य को असत्-उत्पाद कहा जाता है। द्रव्य का असत्-उत्पाद ! पर्याय पहले नहीं थी और हुई इस अपेक्षा से द्रव्य को असत्-उत्पाद कहा जाता है। तथापि वह-वह पर्याय उस-उस द्रव्य की जो अनन्त अन्वयशक्ति है, अनन्त अन्वयशक्तियाँ हैं; द्रव्य एक है परन्तु उनकी शक्तियाँ अर्थात् गुण अनन्त है। उन अनन्त के साथ अनन्त पर्यायें गुँथी हुई है।

प्रश्न : प्रगट नहीं वे गुँथी हुई किस प्रकार ?

समाधान : वे गुँथी हुई हैं, उसमें से प्रगट होती है, उसे अन्वयशक्ति का सम्बन्ध है, वह तो पहले पर्याय नहीं थी (और हुई), इसलिए उसे असत्-उत्पाद (कहा) अथवा द्रव्य में वह असत्-उत्पाद हुई — ऐसा कहा। द्रव्य में वह असत्-उत्पाद हुई — ऐसा कहा, तथापि उसकी अन्वयशक्तियाँ — जो गुण हैं (उनके साथ वह सम्बन्ध रखती है)।

रात्रि में बात हुई थी न ? भाई ! 'अन्वयो गुणाः' भी आता है। अन्वय द्रव्य अन्वयो गुणा दूसरी (जगह) आता है। द्रव्य है, वह विशेष्य है और गुण है, वे उसके विशेषण हैं — ऐसा आया था। अथवा द्रव्य वह वस्तु है (और) उसकी शक्तियाँ अन्वय हैं। अन्वय की अनन्त अन्वयीशक्तियाँ हैं। आहा...हा... ! ऐसी बात। उन शक्तियों के साथ उस-उस समय जो पर्याय होनी है, वह शक्ति के साथ सम्बन्ध रखती है, शक्ति के साथ गुँथी हुई है। आहा...हा... !

किसी तत्त्व की पर्याय (दूसरे तत्त्व के कारण होती है — ऐसा नहीं है)। आयुष्य के कारण यहाँ आत्मा, शरीर में रहा है... आहा...हा... ! या साता के उदय के कारण

निरोगता हुई है — ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! गजब बात है ! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय... द्रव्य अर्थात् वस्तु — आत्मा या परमाणु। यह (शरीर) तो अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है, उसका एक-एक परमाणु है, वह द्रव्य है और उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श (आदि) अनन्त अन्वयशक्तियाँ हैं। उनकी प्रति समय क्रमानुपाती — क्रम में जो पर्याय होती है, वह उसके द्रव्य के कारण होती है। आहा...हा... ! पर्याय पर के कारण तो बिल्कुल नहीं; हो, निमित्त परन्तु निमित्त के कारण अन्दर कुछ होता है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! ऐसी बात।

यह अंगुली चलती है। देखो ! यह अंगुली ! ये परमाणु हैं, इनमें अनन्त अन्वयशक्ति -गुण हैं, उन्हें अनुसंघकर-गुँथी हुई उस काल में, उस क्रम में उस काल में क्रमानुसार जो पर्याय आनेवाली है, होनेवाली है, वह होती है; इसलिए उस पर्याय को असत्-उत्पाद (कहते हैं)। द्रव्य को भी असत्-उत्पाद कहते हैं। पर्याय को असत्-उत्पाद तो ठीक, परन्तु द्रव्य को भी असत्-उत्पाद कहते हैं। आहा...हा... ! है ? देखो ! **द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता,....** आहा...हा... ! स्वरूप का **करण और....** स्वरूप का **अधिकरण होने से पर्यायों से अपृथक् है....** द्रव्य, पर्याय से भिन्न नहीं है; इसलिए उस द्रव्य का **असत्-उत्पाद निश्चित होता है।** आहा...हा... ! इन दो लाईन में कितना भरा है !

यहाँ तो (अज्ञानी ऐसा) कहता है — मैं पर की दया पाल दूँ, पर की हिंसा कर दूँ, पैसा कमा दूँ, दुकान पर बैठकर कमाई कर लूँ, दुकान की व्यवस्था (कर दूँ), लोहे की व्यवस्था व्यवस्थित कर दूँ। आहा...हा... ! दुकान में अनाज का धन्धा है तो गेहूँ, बाजरा, आदि का एक-एक दाना अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है और वह परमाणु उस समय अन्वयशक्तियों को धारण करके वह पर्याय उस काल में वहाँ होनी है। यहाँ रहने की हो या ऐसे जाने की हो, उस काल में वह पर्याय उससे होती है। दूसरा कोई कहे कि मैंने इसे दाने दिये और मैंने इसे तोलकर दिये, वह सब झूठी बात है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : व्यवहार से है — ऐसा तो आप कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से तो कथनमात्र बोलने में (आता है)। मेरा लड़का ! लड़का कैसा ? किसका लड़का ? आहा...हा... ! यह मेरा लड़का होशियार हुआ है....

परन्तु यहाँ कहते हैं कि लड़का किसका ? यह लड़का तो आत्मा है और आत्मा की पर्याय तो उससे होती है, वह पर्याय तुझसे हुई है और तूने लड़के को उत्पन्न किया है, (यह) बात तीन काल-तीन लोक में सत्य नहीं है। आहा...हा...! कठिन, अद्भुत भाई!

पैसेवाले तो ऐसे मानो.... करोड़ों पैसे, अरबों पैसे (होवें तो ऐसा कहते हैं कि) हम ऐसा कर देंगे, हम ऐसा कर देंगे, दो-दो, पाँच लाख देकर व्यापार-धन्धा लगा देंगे। उसमें से अपने को भी फायदा मिलेगा। महीने में डेढ़-दो प्रतिशत का ब्याज दे, बारह महीने की आमदनी में आठ आना हमारा और आठ आना इसका। महीने-महीने बहियाँ जाँच करने जाये कि कहीं खा नहीं जाये... हाय...हाय...! यह सब व्यर्थ होगा ? आहा...हा...! ऐसी बात है। अरे...! दुनिया ने यह तत्त्व (सुना नहीं) ! वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो वस्तु का स्वरूप कहा, तद्नुसार जगत् को सुनने नहीं मिलता तो बेचारे क्या करें ? आहा...हा...! उसमें युवावस्था! बीस-पच्चीस-तीस-चालीस वर्ष की उम्र हो उसमें दो -पाँच लाख की आमदनी हो और दुनिया महिमा करे कि हमारे कमाऊ लड़का जगा! कर्मी जागा न! ऐसा कहा न! धर्मी जागा — ऐसा कहते हैं ? आहा...हा...! पापी जागा! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि एक पैसा है, वह उसके अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है और एक-एक परमाणु में अनन्त अन्वय-गुण हैं और उस गुण की जिस समय में जो पर्याय होनी है, वही पर्याय क्रम में वह आ जाती है; तथापि वह पर्याय पहले नहीं थी, इसलिए असत्-उत्पाद कही है, वह द्रव्य भी असत् उत्पाद में आया है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अब इसे (अज्ञानी को) अभिमान का पार नहीं होता। इसका यह कर दूँ और उसका यह कर दूँ और उसका यह कर दूँ.... मन्दिर बना दूँ, लो न! मन्दिर बना दूँ!

आहा...हा...! प्रभु है, वह तो जानने-देखनेवाला है न! जानने-देखने का पिण्ड प्रभु है न! आहा...हा...! उस जानने-देखनेवाले को तू द्रव्यदृष्टि से देख! पर्यायदृष्टि अभी कहेंगे; दोनों बात बतायेंगे, परन्तु द्रव्यदृष्टि-वस्तु से तू देख तो तुझे जन्म-मरण का अन्त आयेगा, भव की पर्याय का वहाँ अन्त आयेगा, वह इसकी स्थिति है।

आहा...हा...! भगवान आत्मा, सच्चिदानन्द प्रभु! सर्वज्ञदेव ने सत्-शाश्वत् आनन्द

और ज्ञान का सागर (देखा है)! अथवा उसमें सुख के सागर का जल भरा है। सुख के सागर का जल है, इस (बाहर के) सागर में दूसरा जल है। आहा...हा...! यह (शरीर) तो जड़-मिट्टी-धूल है, जगत् की धूल है। अन्दर भगवान आत्मा सुख के सागर का जल है। आहा...हा...! इस सागर में जैसे पानी है, वैसे इसमें (आत्मा में) आनन्द का जल है! आहा...हा...! वह सुख का सागर है, प्रभु! उसकी एक समय की पर्याय होती है, उसका भी स्वतन्त्र कर्ता वह द्रव्य है। अभी तो यह सिद्ध करना (है न)? पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये, बापू!

इस शरीर का एक-एक रजकण द्रव्य है और द्रव्य को अनन्त गुण — अन्वय है। '**अन्वयो गुणाः**' भाई! कहीं ऐसा भी शब्द है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में या (दूसरे कहीं है)। 'अन्वयो गुणाः' यह तो अन्वयशक्ति ली है। शक्ति कहो या गुण कहो, वह तो एक ही है। है न? कहाँ है? जयसेनाचार्यदेव (की टीका में) १६६ पृष्ठ? (९३ गाथा की मूल संस्कृत टीका में नीचे से पाँचवीं लाईन)। '**अन्वयिनो गुणा**' बस! यह अन्दर संस्कृत में है। देखा, '**अन्वयिनो गुणा** अथवा **सहभुवो गुणा**' संस्कृत में है, भाई! व्यतिरेक अर्थात् पर्याय, यह बात तो बहुत बार आ गयी है। आहा...हा...! है? संस्कृत में है १६६ पृष्ठ संस्कृत में नीचे की छठी लाईन '**दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि। अन्वयिनो गुणा** अथवा **सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणम्। यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चा-भिन्नत्वाद्गुणात्मकं भवति सिद्धजीव-द्रव्यं,....**' आहाहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! जैसे सिद्ध के गुण हैं, भले उन्हें पर्याय प्रगट है, वैसे ही गुण तुझमें भरे हुए हैं। प्रभु! ऐसा जो महासागर! सुख का महासागर! शान्ति का महासागर! ज्ञान का महा प्रवाह! ज्ञान का प्रवाह!! आहा...हा...! ज्ञान... ज्ञान... समझ... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ऐसा जो द्रव्य-स्वभाव, उसके गुण — अन्वय अर्थात् कायम रहनेवाले — अन्वय के साथ रहनेवाले अन्वयी। आहा...हा...! वह विशेषण (आया) था न? विशेषण भी कहा था और अन्वयशक्ति कही। अन्वयशक्ति कहो या अन्वय गुण कहो। शक्ति का अर्थ यह करने के बाद यहाँ 'अन्वयिनो गुणा' लिया। आहा...हा...! यह तो मूल तत्त्व की बातें हैं, बापू! अभी तो बड़ी गड़बड़ चलती है। आहा...हा...!

एक बोलने की पर्याय की भाषा (होती है तो) कहते हैं कि उन परमाणुओं में उस समय में अन्वय-अनन्त गुण पड़े हैं। उन्हें भाषा पर्याय क्रम में होनी है, क्रमानुसार उस काल में वह भाषा की पर्याय होती है, उस भाषा की पर्याय का कर्ता वह परमाणु है; आत्मा नहीं, जीभ नहीं, होंठ नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

इतने में बहुत भरा है। **पर्यायों के अन्यत्व द्वारा द्रव्य का....** है। **पर्यायों के अन्यत्व द्वारा द्रव्य का... असत् उत्पाद निश्चित होता है....** भाई तू कौन है ? भगवान! और भगवान में अनन्त... अनन्त... गुण भगवत्स्वरूप पड़े हैं, उनकी जो वर्तमान में द्रव्य पर दृष्टि हो तब तो वह पर्याय क्रमानुपाती-सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय आती है। यदि दृष्टि द्रव्य पर न हो तो राग और पर के ऊपर, संयोग के ऊपर हो तो विकारी पर्याय (क्रम में आती है)। विकार मेरा है (ऐसा जो) मिथ्यात्व, वह पर्याय उत्पन्न होती है और उन पर्यायों का असत्-उत्पाद — पहले नहीं था और हुआ तथापि वह द्रव्य स्वयं असत् -उत्पादरूप उत्पन्न हुआ — ऐसा भी कहा जाता है। आहा...हा...! क्योंकि वह द्रव्य स्वयं पर्याय का कर्ता, करण और आधार है इसलिए। आहा...हा...! कितना समाहित किया है! ऐसा सुनने मिले नहीं, बेचारे ऐसे चौरासी के अवतार में भटका-भटक (करते हैं)। आहा...हा...!

देखो न! (एक मुमुक्षु) ४९ दिन से (असाध्य) है। १५ दिन अभी रहना पड़ेगा। आहा...हा...! भान नहीं होता। यह भी एक पर्याय का उस द्रव्य के अन्वयगुण के साथ सम्बन्धवाली पर्याय उस काल की वह क्रमानुपाती-क्रमशः होनेवाली वह पर्याय होती है। आहा...हा...! वह डॉक्टर से मिटे या अमुक से मिटे, यह सब बात झूठी है। उस द्रव्य की उस समय की जिस क्रम में आयी हुई पर्याय है, वह अन्वय के साथ सम्बन्ध रखकर (आयी है), सम्बन्ध तोड़कर नहीं। आहा...हा...! वह पर्याय होती है, उसका कर्ता वह द्रव्य, वह करण अर्थात् द्रव्य (स्वयं) साधन और वह द्रव्य-वस्तु, वह उसका आधार है। उस पर्याय का आधार द्रव्य है। आहा...हा...!

इस पुस्तक का आधार नीचे यह (थवणी है वह) नहीं है — ऐसा कहते हैं। शिखर के ऊपर सोने का (कलश) चढ़ाते हैं, वह कहते हैं कि इस निचले (शिखर के) आधार

से रहा है (— ऐसा) नहीं है। आहा...हा... ! उन परमाणुओं में उस समय की पर्याय हुई, उस पर्याय का कर्ता और आधार वे परमाणु हैं। आहा...हा... ! और शिखर के ऊपर स्वर्ण का (कलश) चढ़ाया और अमुक ऐसा किया और अमुक ऐसा किया.... अभिमान का पार नहीं होता। आहा...हा... ! इस अभिमान में गोता खाकर मर जाता है चार गति में। आहा...हा... ! कितना समाहित किया है देखो न!

यह तो विशेष का आया कि **पर्यायों की अन्यता के द्वारा....** (पहले पैराग्राफ की अन्तिम से) दूसरी लाईन है न! **द्रव्य का.... पर्यायों की अन्यता के द्वारा द्रव्य का असत्-उत्पाद निश्चित होता है।** कि जो पर्यायों के स्वरूप का कर्ता है, करण है, और अधिकरण होने के कारण पर्यायों से पृथक् नहीं है। यह द्रव्य, पर्याय से पृथक् नहीं है। इसलिए **उसका — असत्-उत्पाद निश्चित होता है।** आहा...हा... ! इतने में कितना भरा है ? यह तो कल आ गया है परन्तु यह तो (फिर से लिया है)।

द्रव्य स्वयं असत्-उत्पादरूप उत्पन्न होता है — ऐसा कहते हैं और फिर भी वह पर्याय एकदम दूसरे प्रकार की होती है। संयोग आकर दूसरे प्रकार की होती है; इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि इसके कारण हुई (तो यहाँ कहते हैं कि) नहीं, उसके क्रमानुपात से अन्वय के साथ सम्बन्ध रखती हुई, क्रमशः आने की पर्याय थी, वह आयी और वह भी द्रव्य असत्-उत्पादरूप पर्याय में उपजता है। आहा...हा... !

तीन लोक का नाथ सत्स्वरूप ध्रुव जो पलटता नहीं, बदलता नहीं, वह भी, यहाँ कहते हैं कि उस पर्यायरूप — असत्रूप वह उत्पन्न होता है। व्यवहार है न! आहा...हा... ! समझ में आया ? है या नहीं इसमें ? आहा...हा... ! गर्व गला डाले ऐसा है। गर्व गलने से भगवान नजर में पड़े ऐसा है। आहा...हा... ! ऐसा जो गर्व गले, उसकी पर्याय में नजर न रहकर (द्रव्य पर नजर जाती है), क्योंकि उस पर्याय का कर्ता तो द्रव्य है। आहा...हा... ! उसका आधार वह द्रव्य है, साधन वह द्रव्य है, आहा...हा... ! यह बाहर के साधन मिलाकर निमित्त पर्याय उत्पन्न करे... आहा...हा... ! अनुकूल साधन के लिये निमित्त मिलाये (ऐसा मानता हो तो)... आहा...हा... ! कहते हैं वह सब बात झूठ है। आहा...हा... ! वस्तु ऐसी है, बापू!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव के ज्ञान में आया, वह बात कथन में आयीए वह इस रचना में आयी है। आहा...हा... ! प्रभु ! तू किसी एक परमाणु को भी हिला नहीं सकता, हाथ हिला नहीं सकता, जीभ को हिला नहीं सकता। आत्मा, आँख को ऐसे नहीं कर सकता। कैसे बैठे ! आहा...हा... ! वह डॉक्टर कहता है, गहरा श्वाँस लो ! बापू ! वह गहरे श्वाँस की पर्याय उस परमाणु की उस काल में उस प्रकार से आने की थी, उस प्रकार हुई है। आत्मा अन्दर प्रेरणा करे, इसलिए गहरा श्वाँस होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! एक गाथा में तो गजब काम है ! आहा...हा... !

मेरा मकान और मेरा पैसा, मेरा पुत्र और मेरी पुत्रियाँ, मेरा दामाद.... अच्छा दामाद मिला हो तो ऐसा (कहता है) यह हमारा दामाद है। किसके घर का दामाद आया ? प्रभु ! तेरी पर्याय में भी पहले पर्याय नहीं थी, इसलिए तू असत्‌रूप उत्पन्न हो, उसमें दूसरे को तू ऐसा माने कि यह मेरा यह... वह तो पागल है। आहा...हा... ! हिन्दीवालों को जरा सा समझ में नहीं आयेगा, गुजराती भाषा है न ? हिन्दी भाई आये हैं न ! आहा...हा... ! **पर्यायें अन्य ही हैं। इसलिए पर्यायों की अन्यता के द्वारा....** आहा...हा... ! **द्रव्य का — जो कि पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण और अधिकरण होने से पर्यायों से....** पर्यायों की अन्यता द्वारा द्रव्य का **पर्यायों से अपृथक् है उसका — असत्-उत्पाद निश्चित होता है।** आहा...हा... ! अब **इस बात को (उदाहरण देकर) स्पष्ट करते हैं।** सोने का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करेंगे।

मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है,.... जो मनुष्य है, मनुष्य अर्थात् यह शरीर नहीं, हाँ ! यह तो मिट्टी है, अन्दर जो मनुष्य की गति है न ? उसमें रहने की गति की योग्यता, वह मनुष्य की गति है, वह सिद्ध नहीं या देव नहीं। मनुष्य की जो पर्याय है, वह देव की पर्याय नहीं, वह सिद्ध की पर्याय नहीं। आहा...हा... ! आचार्य ने दो बात ली है — **मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है,....** इसमें अन्दर तिर्यंच को ले लेना।

मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है,.... और स्वर्ग में देव होवे... आहा...हा... ! आचार्य है ने, वे मनुष्य से देव होनेवाले हैं और फिर देव से सिद्ध होनेवाले हैं। आहा...हा... ! फिर मनुष्य होकर सिद्ध होनेवाले हैं। आहा...हा... ! (यह तो) दिगम्बर सन्तों की बात है

बापू! यह **मनुष्य वह देव या सिद्ध नहीं है,....** आहा...हा...! अन्दर मनुष्यपने की जो गति है, वह देवपना नहीं है, वह सिद्धपना नहीं है और **देव, वह मनुष्य या सिद्ध नहीं है;....** आहा...हा...! मुनिराज तो देव में जानेवाले हैं, देव की पर्याय होनेवाली है, उसकी पर्याय पंचम काल में दूसरी है नहीं। आहा...हा...! परन्तु यह देव है, वह मनुष्य या सिद्ध नहीं है। आहा...हा...!

इस प्रकार न होता हुआ.... इस प्रकार न होता हुआ जीव अनन्य.... कैसे होगा? **(वह का वही) कैसे हो सकता है?** देखा? आहा...हा...! यह जीव जो है, वह मनुष्य है, वह देव और सिद्ध नहीं है तथा देव और सिद्ध है, वह मनुष्य नहीं है तो फिर वह वही का वही कैसे होगा? आहा...हा...! वही का वही कैसे होगा? आहा...हा...! पर्याय में अन्य होता है न? आहा...हा...! दुनिया तो इस शरीर को ही आत्मा देखती है। यह तो मिट्टी, जड़, पुद्‌गल की अवस्था है। इसके अनन्त परमाणु हैं, एक-एक परमाणु के अनन्त गुण अन्वय है और उन-उन परमाणुओं में क्रमानुपाती-उस क्रम से आनेवाली पर्याय वह आती है, उस पर्याय का कर्ता-करण और अधिकरण वह परमाणु है। आहा...हा...! ऐसा जगत को जँचना (कठिन पड़ता है)। जगत् को अभिमान के कारण फुरसत कहाँ है? यह किया और यह किया और यह किया और यह किया...

(वह का वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य ही न हो.... अन्य हो — ऐसा कहते है? वह का वह नहीं परन्तु पर्याय से अन्य है। आहा...हा...! है? **और जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं — ऐसा जीव द्रव्य भी....** आहा...हा...! **जीव द्रव्य भी.... [पर्यायों का कर्ता सुवर्ण भी अन्य है, इसी प्रकार मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिए उन पर्यायों का कर्ता जीवद्रव्य भी पर्यायापेक्षा से अन्य है।]** लो, यह सिद्ध करना है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश अब! निवृत्त कहाँ हैं? एक तो धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती, पाप! पूरे दिन धन्धा! स्त्री, पुत्र... आहा...हा...! धूल-धाणी! उनके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं होता। पूरब-पश्चिम कहीं नहीं मिलता। एक आया हो बबूल में से एक आया हो नीम में से।

एक बार यह प्रश्न हुआ था (संवत्) १९८६ का अमरेली में चातुर्मास था न? पूरा

हुआ (पश्चात्) चीतल गये, चीतल! (एक व्यक्ति की) सगाई वहाँ की थी, मुझे (कुछ) पूछा कि यह क्या? लड़की कहाँ की? यह लड़का कहाँ का? यह सब मेल क्या होता है? (संवत) १९८७ की बात है, कार्तिक कृष्ण एकम्। पूर्णिमा को पूरा होता है न? इसलिए अमरेली से सीधे चीतल आये थे। चार-पाँच गाँव (होते हैं)। मैंने कहा भाई! यह लड़की कहीं बबूल में से आयी हो और यह लड़का नीम में आया हो, यहाँ एकत्रित होते हैं। आहा...हा...! इसमें इकट्ठा होना किसे कहना? आहा...हा...! किसे इकट्ठा कहना, कहते हैं न कर्म अनुसार इकट्ठे हुए हैं। आहा...हा...!

प्रत्येक द्रव्य उस-उस समय की क्रमानुपाती पर्यायरूप वह द्रव्य उत्पन्न होता है। आहा...हा...! इसलिए पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य को भी असत्-उत्पाद कहा जाता है। आहा...हा...! यह कहते हैं। **जिससे मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं — ऐसा जीव द्रव्य....** देखा! **जीव द्रव्य भी....** अब दृष्टान्त देते हैं। **वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न होती हैं....** अर्थात् स्वर्ण के। स्वर्ण में कड़ा आदि होता है न? **ऐसे सुवर्ण की भाँति....** वलयादि विकारों अर्थात् पर्यायें। स्वर्ण में से यह होती है न? कुण्डल, कड़ा, अँगूठी, थाली होती है। सोने की थाली, सोने की कटोरी, सोने के कलश होते हैं न? सोने के प्याले होते हैं न? है न, यहाँ हमारे आहार के समय आते हैं। अमुक का, उसके घर आहार हो (तब) सोने का प्याला (लाते हैं) सोने की वह लाते हैं। क्या कहलाती है वह? चम्मच, चम्मच सोने की! आहा...हा...! यह कहते हैं कि यह जो सोने का वलयाकार या (दूसरा) आकार हुआ (ऐसे स्वर्ण की भाँति) आहा...हा...! **जीव द्रव्य भी-वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न होती हैं.... जिसके उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्ण की भाँति....** जीवद्रव्य भी, कंकण आदि पर्यायें जिसके उत्पन्न होती है — ऐसे स्वर्ण की भाँति। **पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ?....** आ...हा...! वह जीव भी अन्य क्यों न हो? ऐसा कहते हैं। जैसे, सोना भी भिन्न-भिन्न पर्यायरूप उत्पन्न होता है और अन्य-अन्य है तो जीव भी भिन्न-भिन्न पर्याय से उत्पन्न होता है तो भिन्न-भिन्नरूप कैसे नहीं होगा? आहा...हा...!

यहाँ तो पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह सिद्ध करके (ऐसा कहते हैं कि)

आहा...हा... ! एकदम भिन्नपने की पर्याय दिखे... मनुष्य देह छूटकर देव में (जाये) तो उसे (ऐसा) हो जाये कि आहा...हा... ! देव की आयु आयी, इसलिए हुआ (यहाँ) कहते हैं यह बात मिथ्या है। समझ में आया ? बहुत संस्कारवाले जीव तो देव में जानेवाले हैं — ऐसी स्थिति सुने, हर रोज सुनें, उसके पुण्य बँधे वह मरकर स्वर्ग में जानेवाला है। आहा...हा... ! एकदम मनुष्य देह छूटकर स्वर्ग (में जायेगा) तो ऐसा हो जाता है कि यह क्या नया उत्पन्न हुआ ? (तो कहते हैं) नहीं; अन्य पर्याय हुई परन्तु वह अन्य पर्याय पहले नहीं थी, इसलिए अन्य — अन्य कही परन्तु अन्य-अन्य है, इसलिए द्रव्य ऐसा का ऐसा रहा है — ऐसा नहीं। द्रव्य भी उसरूप उत्पन्न हुआ है। आहा...हा... ! है न ? **जीव द्रव्य भी-वलयादि विकार (कंकणादि पर्यायें) जिसके उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्ण की भाँति — पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ?....** क्यों अन्य न हो ? अन्य (क्यों) न हो ? जैसे सोना, कंकण, कुण्डल (इत्यादि) अन्य पर्यायरूप होता है, वैसे जीव द्रव्य (भी) अन्य पर्याय होता है। (वह) अन्य पर्यायरूप क्यों न हो ? आहा...हा... ! पर के साथ कुछ लेना-देना नहीं होता। कर्म के कारण या अमुक के कारण या अमुक के कारण (कुछ नहीं होता)। आहा...हा... ! ऐसी बात है। आहा...हा... !

द्रव्य, पर्याय अपेक्षा से अन्य क्यों नहीं होगा ? ऐसा कहते हैं। भाई ! आहा...हा... ! **पर्याय अपेक्षा से....** द्रव्य तो द्रव्य है परन्तु पर्याय भिन्न-भिन्न हुई उस काल में वह क्रमानुपाती होनेवाली हुई। क्रमशः आनेवाली थी वह हुई, आनेवाली थी और हुई, उस समय द्रव्य अन्य क्यों नहीं ? द्रव्य अन्यरूप कैसे नहीं हुआ ? (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा... ! पहले पर्यायरूप था और इस दूसरी (पर्यायरूप हुआ) तो अन्यरूप क्यों नहीं हुआ ? आहा...हा... ! ऐसी बात तो सुनने मिलना भी मुश्किल पड़ती है।

लो, यह हाथ भी नहीं चला सकता, बोल नहीं सकता, साधु को आहार नहीं दे सकता, भगवान की स्तुति नहीं कर सकता... आहा...हा... ! भगवान की चावल द्वारा पूजा (करे) वह आत्मा नहीं कर सकता — ऐसा कहते हैं। उस समय जीवद्रव्य की पर्याय अन्य-पहले नहीं थी और अन्य हुई; इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि इस पर्याय के कारण यह सब स्वाहा और यह क्रिया होती है (तो) ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! भाई ! ऐसा तो पूरी जिन्दगी में कभी सुना नहीं।

(यह भाई) बेचारे छोटी उम्र में चले गये। आहा...हा...! अरे...रे! जो कमाई करनी चाहिए, वह कमाई नहीं की। आहा...हा...! दस हजार का वेतन और पन्द्रह हजार का वेतन और बीस हजार का वेतन.... बापू! उसमें क्या ? उसमें क्या तू आया ? वह कहाँ तुझसे हुआ ? तुझसे हुआ वह या जो पर्याय पहले नहीं थी, उसमें पर्याय हुई, तब द्रव्य अन्य क्यों नहीं हुआ ? कहते हैं। पर के कारण हुआ नहीं — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! उस पर्याय के कारण द्रव्य अन्य क्यों नहीं हुआ ? आहा...हा...! क्यों **अन्य नहीं होगा ?**

[जैसे कंकण, कुण्डल इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, (भिन्न-भिन्न हैं, वे की वे ही नहीं है) इसलिए उन पर्यायों का कर्ता सुवर्ण भी अन्य है,....] है ? इसलिए वे पर्यायें... अर्थात् कौन-सी पर्यायें ? कंकण, कुण्डल आदि। उनका स्वर्ण भी अन्य है। उनका करनेवाला — पर्याय का करनेवाला, स्वर्ण भी पर्याय की अपेक्षा से अन्य है। आहा...हा...! **[इसी प्रकार मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिए उन पर्यायों का कर्ता जीवद्रव्य भी पर्यायापेक्षा से अन्य है।]** आहा...हा...! कितना स्पष्ट किया है! अभी तो यहाँ बाहर का अभिमान छोड़ना नहीं... हमने यह किया और हमने इसका ऐसा किया और हमने यह किया... आहा...हा...! किसी को ठगना हो तो ठगना और ऐसे ठगना और ऐसे ठगना.... अरे...रे! तू ठगा जाता है, तुझे तेरा पता नहीं है। आहा...हा...! इस पर्याय की उत्पत्ति का कारण तो तेरा द्रव्य है। आहा...हा...! दूसरे के पैसे गये, न गये, वह तो उसके कारण से उसकी पर्याय हुई — पैसे की पर्याय पैसे से हुई, इसकी (जीव की) पर्याय में खेद हुआ या राग हुआ वह उसके कारण हुआ है, वह कहीं पैसे के कारण (नहीं हुआ है)। आहा...हा...! ऐसी बातें, आहा...हा...!

तीन लोक का नाथ मानो सामने खड़ा रहा हो और सत् की बातें करता हो! आहा...हा...! फाट... फाट... फाट... प्याला। आहा...हा...! परद्रव्य से फाट... प्याला -भिन्न है। किसी समय भी परद्रव्य की पर्यायरूप तू नहीं और तेरी पर्यायरूप वह नहीं और तेरी पर्याय उससे नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि तेरी पर्याय विभिन्न — एकदम भिन्न-भिन्न विलक्षण भासित हो तो भी वह क्रमानुपाती है और वह उसके गुण के साथ सम्बन्ध रखकर हुई है और इसलिए वह द्रव्य उसरूप उत्पन्न हुआ है; इसलिए हम द्रव्य को भी अन्य कहते हैं। आहा...हा...! कहो, ऐसा है। इसमें अधिक लोग सुननेवाले (नहीं

मिलते) क्या कहते हैं ? (ऐसा लगता है) बहुत थोड़े होते हैं, थोड़े ही (होते हैं)। आहा...हा... ! ऐसा परम सत्य ! आहा...हा... ! तीन लोक का नाथ जिनेन्द्र परमेश्वर, इन्द्रों के बीच कहते थे, वह यह बात है ! और अभी परमात्मा कह रहे हैं । सीमन्धर भगवान तो साक्षात् अरहन्त पद में हैं न ! महावीर परमात्मा आदि सिद्धपद हो गया। आहा...हा... ! परन्तु वे भी कहते हैं कि सिद्धपद पर्याय (होने के) काल में (समय में) वह अन्य पर्याय हुई है। वहाँ जीव भी अन्यरूप हुआ है, देवरूप था अथवा मुनिरूप था, वह पर्यायरूप था, उस समय उस पर्यायरूप उत्पन्न था और सिद्ध-पर्याय हुई, वह मुनिपने की पर्याय के कारण हुई — ऐसा भी नहीं है। आहा...हा... ! यह सिद्ध की पर्याय उस समय क्रमानुपाती हुई, उसका कर्ता, करण-साधन और आधार यह आत्मा है। आहा...हा... ! मोक्ष की पर्याय का कर्ता, मोक्ष का मार्ग ही नहीं। आहा...हा... ! आहा...हा... !! मार्ग की पर्याय के काल में वह द्रव्य उस रूप उत्पन्न हुआ और जहाँ सिद्धपद हुआ, उस काल में उस पर्यायरूप वह द्रव्य उत्पन्न हुआ; इसलिए अन्य-अन्य द्रव्य हुआ — ऐसा पर्याय-अपेक्षा से क्यों नहीं कहा जायेगा! आहा...हा... ! यह सब तो याद रहना कठिन है — ऐसी बातें ! अरे ! भाग्यशाली लोग हैं, बापू ! आहा...हा... ! ऐसी वीतराग की बातें ! घर की बात साक्षात् भगवान विराजते हों - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! लो, यह ११३ वीं गाथा ! **[उन पर्यायों का कर्ता जीवद्रव्य भी पर्यायापेक्षा से अन्य है।]**

भावार्थ - जीव के अनादि अनन्त होने पर भी, मनुष्य पर्यायकाल में देवपर्याय की या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्याय की अप्राप्ति है.... आहा...हा... ! भगवान अनादि -अनन्त होने पर भी.... भगवान अर्थात् आत्मा। आहा...हा... ! **मनुष्य पर्यायकाल में देवपर्याय की....** आहा...हा... ! स्वयं आचार्य हैं न ! सन्त हैं न ! मुनि ! कहते हैं कि मनुष्य की पर्याय के काल में, आहा...हा... ! **देवपर्याय की या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्याय की अप्राप्ति है....** आहा...हा... ! सीधा डाला है यह ! देव में से मनुष्य होकर मोक्ष-सिद्ध होनेवाले हैं ! आहा...हा... ! अरे...रे ! इसे एकान्त कहे ! लोग ऐसा कहते हैं कि बस ! पर से कुछ नहीं होता ? और उल्टी-सीधी पर्याय नहीं होती ? पर से कुछ नहीं होता और उल्टा-सीधा कुछ नहीं होता। ले, क्या कहते हैं ? क्रमानुपाती — उसके क्रम में आने के योग्य वह पर्याय अन्वय का सम्बन्ध रखकर (होती है), सम्बन्ध तोड़कर नहीं। आहा...हा... !

अन्वय का सम्बन्ध रखा तो अन्वय तो गुण है; अतः उनके साथ द्रव्य का भी सम्बन्ध हुआ, इसलिए यहाँ कहा कि द्रव्य अन्यरूप उत्पन्न हुआ है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

(आज) यहाँ भक्ति होगी, हाँ! कल तो शरीर का कारण था, इसलिए जाना पड़ा। आज पूर्णिमा है, चातुर्मास का दिन है। कल तो भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है। कल भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है, गणधर की उत्पत्ति का, भगवान की दिव्यध्वनि का, चार ज्ञान होने का, बारह अंग की रचना का.... आहा...हा...! कल दिन है। भूतकाल की अपेक्षा (— ऐसा कहा जाता है)। कल कहाँ से आया? आहा...हा...! नैगम अर्थात् संकल्प-विकल्प... उससे ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

अर्थात् मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, इसलिए वे पर्यायें अन्य अन्य हैं। इस प्रकार पर्यायें अन्य होने से उन पर्यायों का कर्ता.... आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहते हैं कि पर्याय का कर्ता द्रव्य-गुण नहीं, पर्याय का कर्ता पर्याय है। पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय अपादान और पर्याय आधार है। आहा...हा...! यहाँ तो दूसरी बात सिद्ध करनी है न? आहा...हा...! स्याद्वाद अनेकान्त मार्ग इस प्रकार है, यह फुदड़ीवाद नहीं है। आहा...हा...!

इसलिए वे पर्यायें अन्य अन्य हैं। इस प्रकार पर्यायें अन्य होने से उन पर्यायों का कर्ता.... आहा...हा...! सिद्ध की पर्याय का कर्ता... आहा...हा...! मोक्ष की पर्याय से मोक्ष की पर्याय हुई — ऐसा भी नहीं ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! एक ओर मोक्षमार्ग है, उससे मोक्ष होता है — ऐसा कहना, यहाँ कहते हैं कि सिद्ध की पर्याय का कर्ता सीधा द्रव्य — आत्मा है। आहा...हा...!

प्रश्न : दोनों बातों में से कौन सी बात सत्य है?

समाधान : दोनों अपेक्षा से सत्य हैं।

कपाट फाड़ डाला है अन्दर से! आहा...हा...! पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और पूर्व पर्याय नहीं थी, इसलिए हुई, इसलिए कुछ... कुछ... कुछ... पर का विलक्षण है (ऐसा नहीं है)। उसका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं और वह पर्याय द्रव्य को छूती नहीं, तथापि कहते हैं कि पर्याय का कर्ता द्रव्य है।

पर्यायों का कर्त्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षा से अन्यपने को प्राप्त होता है।.... पर्याय अपेक्षा से अन्यपने को प्राप्त होता है। आहा...हा...! क्या वीतराग की शैली! **इस प्रकार जीव की भाँति प्रत्येक द्रव्य के....** प्रत्येक द्रव्य के — परमाणु, धर्मास्ति, आकाश... आहा...हा...! दाल, भात, रोटी, सब्जी... (ऐसे) प्रत्येक के, आहा...हा...! यह सब्जी की कच्ची से पक्की पर्याय जो होती है, उस पक्की पर्याय का (होने का) क्रमानुपाती काल है, वह हुआ है। उस पक्की पर्याय का कर्ता वह परमाणु है, महिला नहीं, तवा नहीं, अग्नि नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो अभिमान का पार नहीं कि मेरा तो कैसा हल्का हाथ है! कैसी पूड़ियाँ होती हैं! कितने.... क्या कहलाते हैं? बड़ा होता है और पापड़ होता है और अमुक होता है... मर गये हैं, पर का कर्ता कर-करके आत्मा को मार डाला है। आहा...हा...!

भगवान तो जीवित ज्योत! जीवित चैतन्य ज्योत विराजमान हैं! कहते हैं कि उस-उस काल में उस पर्यायरूप उत्पन्न होता है, इसलिए उस द्रव्य को अन्य ही कहा जाता है। आहा...हा...! परन्तु अन्य कोई दूसरा है — ऐसा नहीं है। वह पर्याय करने में कोई विलक्षण पर्याय आयी, इसलिए कुछ दूसरा द्रव्य है, उसका कुछ निमित्तपना है.... निमित्तपना हो परन्तु उससे कहीं उसका कर्ता या साधन है, आधार है, अपादान है — यह (बात) नहीं है। आहा...हा...! **पर्यायापेक्षा से अन्यपना है।....** है न? **प्रत्येक द्रव्य के पर्यायापेक्षा से अन्यपना है। इस प्रकार द्रव्य को अन्यपना होने से द्रव्य के असत्-उत्पाद....** द्रव्य को असत्-उत्पाद है। **ऐसा निश्चित होता है।** द्रव्य को, हाँ! पर्याय तो असत् है ही परन्तु वह पर्याय, द्रव्य की है और इसलिए उस द्रव्य को असत्-उत्पाद कहा जाता है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म है। ११३ गाथा पूरी हुई।

अब, एक ही द्रव्य के अन्यपना और अनन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं।..... क्या कहते हैं? एक-एक द्रव्य में अन्य-अन्यपना, फिर अनन्यपना? **एक द्रव्य में अन्यत्व....** (अर्थात्) अन्य-अन्यपना **और अनन्यत्व....** (अर्थात्) अन्यपना नहीं — ऐसा। **जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता उसमें ऐसा बतलाते हैं।** अन्दर दृष्टि देकर बात करेंगे। ●●

गाथा - ११४

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति -

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।।११४।।

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात्।।११४।।

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामानवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोक- यतामनवलोकितसामान्या-नामन्यदन्यत्प्रतिभाति, द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेना-नन्यत्वात्, गणतृणपर्ण-दारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावकाक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते।।११४।।

अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्वं च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावनिबद्धमुत्पादद्वयं प्रकारान्तरेण समर्थयति - **हवदि** भवति। किं कर्तृ। **सव्वं दव्वं** सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्यम्। किंविशिष्टं भवति। **अणण्णं** अनन्यमभिन्नमेकं तन्मयमिति। केन सह। तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टय-

शक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च। केन कृत्वा। **दव्वट्ठिएण** शुद्धान्वयद्रव्यार्थिकनयेन। कस्मात्। कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात्। **तं पज्जयट्ठिएण पुणो** तद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयेन पुनः **अण्णं** अन्यद्भिन्नमनेकं पर्यायैः सह पृथग्भवति। कस्मादिति चेत्। **तक्काले तम्मयत्तादो** तृणाग्निकाष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायैः सह तत्काले तन्मयत्वादिति। एतावता किमुक्तं भवति। द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसन्तानरूपेण सर्वं पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्नं प्रतिभाति। यदा च परस्परसापेक्षनयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्वं च युगपत्प्रतिभातीति। यथेदं जीवद्रव्ये व्याख्यानं कृतं तथा सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यमित्यर्थः।।।११४।।

अब, एक ही द्रव्य के अन्यपना और अनन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं) —

द्रव्यार्थ से सब द्रव्य हैं, पर्याय से वे अन्य हैं।
द्रव्य तन्मय उस समय, इस हेतु से वो अनन्य हैं॥

अन्वयार्थ - [**द्रव्यार्थिकेन**] द्रव्यार्थिक (नय) से [**सर्वं**] सब [**द्रव्यं**] द्रव्य है; [**पुनः च**] और [**पर्यायार्थिकेन**] पर्यायार्थिक (नय) से [**तत्**] वह (द्रव्य) [**अन्यत्**] अन्य-अन्य है, [**तत्काले तन्मयत्वात्**] क्योंकि उस समय तन्मय होने से [**अनन्यत्**] (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।

टीका - वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं — (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना -पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब जीव-द्रव्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना —

पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है — कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति। (जैसे घास, लकड़ी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास, लकड़ी इत्यादि से अनन्य है, उसी प्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है — पृथक् नहीं है।) और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षुओं के) देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायों में रहनेवाला जीव सामान्य तथा जीव सामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष तुल्य काल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।

वहाँ, एक आँख से देखा जाना वह एकदेश अवलोकन है और दोनों आँखों से देखना वह सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ - प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य वह का वही भी रहता है और बदलता भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक होने से द्रव्य के अनन्यत्व में और अन्यत्व में विरोध नहीं है। जैसे — मरीचि और भगवान महावीर का जीव सामान्य की अपेक्षा से अनन्यत्व और जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्यसामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिए द्रव्य अनन्य अर्थात् वह का वही भासित होता है और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओं से देखने पर द्रव्यसामान्य और द्रव्य के विशेष दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है॥ ११४॥

प्रवचन नं. १२५ **दिनाङ्क ०५ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ११४। **अब, एक ही द्रव्य के अन्यपना और अनन्यपना होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं)।** अर्थात् क्या ? कि सामान्यरूप से द्रव्य वह का वही है और विशेषरूप से द्रव्य भिन्न-भिन्न — अन्य-अन्यरूप है, तथापि वह अनन्य है। वह सामान्य से कहीं भिन्न नहीं है, अन्य-अन्य अवस्था होने पर भी अनन्य है — ऐसी बात!

प्रत्येक द्रव्य... दृष्टान्त जीव का देंगे परन्तु प्रत्येक द्रव्य सामान्य है, वह तो वह का वही है। विशेष है (वह) अन्य-अन्य है, तथापि वह विशेष पर्याय स्वकाल में अन्य-अन्य होने पर भी द्रव्य से अनन्यमय है, द्रव्य से भिन्न नहीं है। आहा...हा...! यह तो प्रत्येक वस्तु का स्वरूप (ऐसा है)। आत्मा को परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! कर्म के साथ, शरीर के साथ, देश के साथ, परिवार के साथ, कीर्ति के साथ, पैसे के साथ, वेतन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अपना स्वरूप कायम रखकर अन्य-अन्य, भिन्न-भिन्न अवस्थारूप होता है, इस अपेक्षा से अन्य भी कहलाता है और इसकी ही इसकी है, इसलिए अनन्य है। इसकी है, वह द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप आया है (— ऐसा भी कहलाता है)। आहा...हा...! ऐसी बात! ऐसा बँटवारा! पूरी दुनिया का बँटवारा कर डाला। गाथा —

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।। ११४।।

द्रव्यार्थ से सब द्रव्य हैं, पर्याय से वे अन्य हैं।
द्रव्य तन्मय उस समय, इस हेतु से वो अनन्य हैं॥

समस्त द्रव्यों की बात है, दृष्टान्त जीव का देंगे। आहा...हा...! तत्त्वज्ञान इतना सूक्ष्म है कि पर्याय में जीव को नारकी आदि अनेकपना होने पर भी, वह अन्य-अन्य होने पर भी अनन्य है। आत्मा के साथ उस पर्याय का तन्मयपना है। आहा...हा...! चाहे तो हिंसा के परिणाम हों, दया के हों, पूजा के, भक्ति के परिणाम (हों), रौद्रध्यान के परिणाम

हों.... वे परिणाम द्रव्य की पर्याय में हैं और अन्य-अन्य अवस्था होने से अन्य भी कहलाता है और आत्मा उसमें वर्तता है, इसलिए अनन्य भी कहलाता है। आहा...हा...! पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। पर — अन्य है, वह अलग चीज और द्रव्य की पर्याय अन्य-अन्य होती है, वह अलग चीज है। आहा...हा...! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अन्य -अन्य होती है, तथापि वह (पर्याय उस द्रव्य के साथ) अनन्य है। अन्य है, वह अनन्य है। दूसरे पदार्थ अन्य हैं वे (अपने द्रव्य के साथ) अनन्य नहीं, वे अत्यन्त भिन्न हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

टीका - वास्तव में सभी वस्तु.... देखा? 'द्रव्य' शब्द न देते हुए 'वस्तु' कहा है। **सर्वस्य हि वस्तुनः** क्योंकि उसमें बसी हुई अनन्त शक्तियाँ हैं। प्रत्येक द्रव्य — परमाणु कहो या आकाश कहो या जीव हो, (उसे) वस्तु क्यों कहा? कि उसमें अनन्त अन्वयी गुण बसे हुए हैं, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अत्यन्त अनन्त! आहा...हा...! चाहे तो आत्मा हो, चाहे तो आकाश हो या चाहे तो परमाणु हो परन्तु अनन्त... अनन्त... अत्यन्त अनन्त... गुणों से भरपूर (पदार्थ है)। इसलिए उसे वस्तु कहा है। वस्तु में बसी हुई शक्तियाँ हैं, वे अपनी हैं। वह वस्तु दूसरे की शक्ति में बसे और दूसरे की शक्ति यहाँ आवे — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! निकटतम शरीर, निकटतम पुत्र या स्त्री या परिवार (होवे), तथापि वह चीज अत्यन्त भिन्न है। उसका — द्रव्य का विशेषपना अन्य-अन्य होने पर भी, वह पर्याय द्रव्य से अनन्य है, भिन्न चीज नहीं। जैसे भिन्न द्रव्य अत्यन्त अन्य है, ऐसे यह पर्याय अन्य-अन्य होती है, इसलिए अन्य ही है — ऐसा नहीं है। पहले नहीं थी और हुई इस अपेक्षा से अन्य ही कहलाती है और द्रव्य उसमें वर्तता है, इसलिए अनन्य भी है — ऐसा है। सूक्ष्म है, भाई!

वास्तव में सर्व वस्तु.... में, एक वस्तु नहीं कही, सर्व अर्थात् अनन्त-अनन्त वस्तु। **सामान्य-विशेषात्मक होने से....** प्रत्येक अनन्त वस्तु स्वयं, स्वयं से सामान्य -विशेष है। सामान्य अर्थात् द्रव्यरूप से सामान्य और पर्यायरूप से विशेष। इस प्रत्येक द्रव्य का स्वतः सामान्य-विशेष स्वरूप है। आहा...हा...! जैसे सामान्यपना एकरूप समूह है, ऐसे विशेषपना पर के संयोग से होता है या पर से होता है — ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य

की वह विशेष अवस्था उस-उस समय, पहले नहीं थी और हुई — इसलिए वह अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से हुई — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इस प्रकार अन्य और एकदम अकस्मात् दूसरी पर्याय लगे, तथापि वह पर्याय पहले नहीं थी, इस अपेक्षा से विशेषरूप से देखें तो वह अन्य है परन्तु वही विशेषपना सामान्य वहाँ वर्तता है; इसलिए सामान्य से अनन्य है, सामान्य से पृथक् चीज नहीं है। आहा...हा...!

जैसे सभी चीजें अत्यन्त भिन्न हैं.... आहा...हा...! एक आत्मा को और दूसरे आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। सामान्यरूप से दोनों एक और विशेषरूप से भिन्न — ऐसा भी पर के साथ नहीं। आहा...हा...! अथवा सामान्यरूप से भिन्न और विशेषरूप से एक ऐसा भी नहीं। क्या कहा यह ? जो अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु हैं, वे सामान्यरूप से भिन्न और विशेषरूप से एक हैं — ऐसा भी नहीं है तथा सामान्यरूप से भिन्न हैं, इसलिए पर्याय से भी भिन्न-पर हैं — ऐसा नहीं है। भिन्न स्वयं है परन्तु अनन्य ही है। अपने द्रव्य से उस-उस पर्याय का काल-स्व काल क्रमानुपाती (है, उसमें) कल आ गया है। उस समय वह पर्याय क्रम में — स्व-काल में क्रमानुसार आनेवाली आयी, इसलिए उसे पहली पर्याय की अपेक्षा से अन्य कहते हैं परन्तु वस्तु की अपेक्षा से अनन्य है। आहा...हा...! वह पर्याय किसी दूसरे से हुई है (— ऐसा नहीं है।) आहा...हा...! यह बात बैठना (कठिन) भाषा भले ही सरल है परन्तु इसका भाव कठिन है।

कलश-टीका में कहा है। कलश-टीका में! (कि) भाई! कठिन है। वास्तव में कठिन तो है परन्तु स्वरूप का वेदन करने पर वेदन पर से भिन्न ज्ञात होता है। कठिन तो है परन्तु भगवान आत्मा सामान्यरूप जो द्रव्य है, उसे देखने से देखनेवाली पर्याय भले उसकी है, परन्तु वह देखती है सामान्य को; और वह पर्याय ऐसा मानती है कि मैं तो अखण्ड एकस्वरूप विराजमान हूँ! पर्याय ऐसा जानती है। आहा...हा...! क्योंकि पर्याय का विषय वह है। पर्याय का विषय अकेली पर्याय न रहकर पर्याय का विषय त्रिकाली द्रव्य है। आहा...हा...! वह त्रिकाली द्रव्य जो वस्तु महाप्रभु है, (वह पर्याय का विषय होता है)।

(यहाँ चलते विषय में) दृष्टान्त जीव का देंगे। बात समस्त द्रव्यों की कहनी है परन्तु दृष्टान्त जीव का देंगे। लोगों को ख्याल में आ सके इसलिए। **वास्तव में सभी वस्तु**

सामान्य-विशेषात्मक होने से.... इसका अर्थ कि कोई चीज किसी से बनी है, कोई ईश्वर कर्ता है या एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय कर सकता है — ऐसा कुछ नहीं है। आहा...हा... ! समस्त द्रव्य अर्थात् वस्तु **सामान्य-विशेषात्मक होने से....** कायम रहने की अपेक्षा से सामान्य और बदलने की अपेक्षा से विशेष। नहीं पलटने की अपेक्षा से सामान्य। आहा...हा... ! प्रत्येक वस्तु नहीं पलटने की अपेक्षा से सामान्य है, पलटने की अपेक्षा से विशेष है, परन्तु दो होकर उसका स्वरूप दो है, उसमें (समाप्त हो जाता है)। पर को और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! प्रिय पुत्र हो, प्रिय स्त्री हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : आत्मा को पुत्र कैसा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु (कमाऊ) पुत्र हो, लो ! सात-आठ हजार का वेतन (लावे) अरे ! किसका पुत्र ? बापू ! किसका बाप ? किसका बेटा ? आहा...हा... ! इसका विशेष भी एक समय टिके... आहा...हा... ! उस-उस द्रव्य का विशेष भी एक समय टिके तो दूसरी चीज उसकी है, यह कहाँ (आया) ? प्रभु ! आहा...हा... ! समझ में आया ?

प्रत्येक वस्तु कायम रहने की अपेक्षा से तो भले ध्रुव है परन्तु क्षणिक अवस्था की (अपेक्षा से) वह एक समय ही होती है, तथापि विशेष क्षणिक है। एक ही समय है, उसकी है, तथापि एक समय है, और उसे पूर्व की पर्याय की अपेक्षा से अन्य भी कहते हैं और आत्मा की अपेक्षा से अन्दर वर्तता है, इसलिए अनन्य भी कहते हैं। पर को और आत्मा को या एक परमाणु को और दूसरे परमाणु को.... आहा...हा... ! कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात बैठना (कठिन पड़ती है)। आहा...हा... ! लोगों को विचार (करने का) समय कहाँ है ? कहाँ (विचार) करते हैं ? दुनिया की जंजाल में... आहा...हा... ! समय बिताकर जिन्दगी चली जाती है, फिर बहुत-सों का अवतार पशु में होना है, तिर्यंच में जाना है। आहा...हा... ! क्योंकि धर्म नहीं तथा यह क्या वस्तु है ? — उसे समझने का विकल्प भी विशेष नहीं कि दिन में दो-दो, चार-चार घण्टे यह क्या चीज है ? (इसे ग्रहण करने का प्रयत्न करे) तब तो पुण्य भी बाँधे। आहा...हा... ! यहाँ कहते हैं कि **वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें**

हैं.... इस प्रकार लिया। अनुक्रम से सामान्य और विशेष को देखने में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (दो चक्षुएँ हैं)। एक साथ देखने का भी लेंगे। पाठ तो इतना लिया है परन्तु एक साथ देखने में भी लेंगे।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके.... यहाँ से उठाया है लो! द्रव्यार्थिक को बन्द करके (ऐसा) वहाँ से नहीं उठाया है। प्रत्येक द्रव्य को देखने के लिये पर्यायार्थिक आँख को सर्वथा बन्द करके... पर्याय है अवश्य, है परन्तु उसे देखने की आँख को — दृष्टि को बन्द करके.... आहा...हा...! गजब बात है! पहले तो कहा कि सामान्य –विशेष वस्तु है परन्तु विशेष को देखने की आँख को बन्द करके... आहा...हा...! है? वह भी फिर कथंचित् बन्द करके — ऐसा नहीं! **पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके...** (ऐसा कहा है)। जानना है न? (इसलिए ऐसा कहा है) आहा...हा...!

मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा.... (अर्थात्) अकेली खुली हुई ज्ञान की पर्याय, आहा...हा...! द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा (अर्थात्) द्रव्य जिसका प्रयोजन है। अर्थ अर्थात् द्रव्य - अर्थ - द्रव्य जिसका प्रयोजन है, उस नय से देखने पर विशेष नय की आँख बन्द करके.... आहा...हा...! **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक....** भाषा देखी!? उस (अवस्था को देखनेवाली आँख) तो बन्द कर दी, अवस्था को देखनेवाली आँख बन्द कर दे... आहा...हा...! तो तुझे सामान्य, अवस्था में ज्ञात होगा। अवस्था को देखने की आँख बन्द करने से सामान्य को देखना। वह देखना तो फिर पर्याय-विशेष है, परन्तु पर्याय को देखने का विषय विशेष नहीं, सामान्य रहेगा। विशेष की देखने की पर्याय — आँखें सर्वथा बन्द कर दे। दूसरे को देखने का बन्द कर दे, यह बात तो एक ओर रही। आहा...हा...!

तेरे अतिरिक्त दूसरे पदार्थ — चाहे तो भगवान तीन लोक के नाथ! उन्हें देखने की दृष्टि, वह कहीं पर्यायदृष्टि या द्रव्यदृष्टि नहीं है। आहा...हा...! मात्र तुझमें दो प्रकार हैं — सामान्यपना (अर्थात्) कायम रहनापना और बदलनापना (अर्थात्) विशेषपना। इस बदलनेपने की आँख को बन्द करके.... पर को देखने की आँख बन्द करके, यह तो नहीं। आहा... हा...! आहा...हा...! गजब बात है! पर को देखने का तो बन्द ही कर दे। आहा...हा...! थोड़े शब्दों में बहुत (भरा) है, हाँ प्रभु! आहा...हा...! बहुत बातें (भरी हैं)! आहा...हा...!

पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके... ऐसा नहीं कहा कि परद्रव्य को देखने का बन्द करके... आहा...हा... ! प्रभु तुझमें जहाँ सामान्य और विशेष — दो पड़खे हैं, वे दो हैं, उनमें भी विशेष को देखने की आँख 'सर्वथा' बन्द करके.... कथंचित् खोलकर और (कथंचित्) बन्द करके (ऐसा नहीं कहा) अथवा गौण करके, यह भी यहाँ तो नहीं (कहा)। आहा...हा... !

मुमुक्षु : आप तो अभी ही सम्यग्दर्शन होने की बात कर रहे हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा... ! वस्तु (ऐसी है)। तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि है। आहा...हा... ! जगत् का भाग्य है कि वाणी रह गयी है। कुन्दकुन्दाचार्य तो निमित्त हैं। आहा...हा... ! इसे सुनने का और विचार करने का अवसर नहीं लेना.... प्रभु ! तुझे कहाँ जाना है ? कहाँ रहना है ?

यहाँ तो पर्याय की आँख भी सर्वथा बन्द करके (—ऐसा कहते हैं)। आहा...हा... ! स्त्री-पुत्र देखना बन्द कर दे यह बात तो (नहीं की है) वे तो तुझमें नहीं उनकी तो हम बात ही नहीं करते। समझ में आया ?

पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा.... परन्तु खुली हुई, हाँ ! वह ज्ञान वापस (खुला हुआ है)। उसे देखनेवाली है तो पर्याय परन्तु वह खुला हुआ ज्ञान। पर्याय को देखने का बन्द कर दिया तो स्व को देखने का ज्ञान खुला। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! क्या टीका ! ऐसी बात कहाँ है ? भरतक्षेत्र में.... आहा...हा... ! दिगम्बर सन्तों ने तो अमृत का सागर बहाया है ! थोड़े शब्दों में बहुत (भरा है) ! क्या कहें उसकी गम्भीरता ! ! आहा...हा... !

ऐसा वे कहते हैं। पहले बात (कि) सर्व वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक है। अब, तेरी वस्तु को तुझे देखना हो तो... आहा...हा... ! **जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है....** देखो, इसमें पर की बात नहीं ली है कि पर्यायनय को बन्द करके पर को देखना। आहा...हा... ! पर्यायार्थिकनय को बन्द करके... ओहो...हो... ! अमृत बहाया है प्रभु ने ! अरे ! जगत् को (समझने की फुरसत कहाँ है)।

कहते हैं कि तुझमें दो प्रकार — सामान्य और विशेष। उसमें जीव को उतारते हैं,

हाँ! सामान्य बात तो करते हैं, सामान्य-विशेष सबकी (बात करते हैं) परन्तु घटित करते हैं जीव में। जीव में घटित करके कहेंगे कि फिर सब द्रव्यों में (तद्नुसार) समझ लेना, ऐसा। आहा...हा...! जयसेनाचार्यदेव की टीका में है, इसमें स्पष्ट नहीं है। जयसेनाचार्यदेव की टीका है न! उसमें है, देखो! '**सर्वद्रव्येषु यथासंभवं ज्ञातव्यभित्यर्थः**' अन्तिम शब्द है। जयसेनाचार्यदेव की टीका। यह तो धीरजवान का काम है, भाई! उसमें आता है न? भाई! निभ्रत! निभ्रत पुरुषों द्वारा! आहा...हा...! चिन्तारहित पुरुषों द्वारा। आहा...हा...! निभ्रत पुरुषों द्वारा यह वस्तु विचारी जाती है। आहा...हा...!

मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक.... पर्यायचक्षु को सर्वथा बन्द करके... एक तो जोर दिया। इसलिए मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा... आहा...हा...! द्रव्य को देख सके उस प्रकार ज्ञान की (पर्याय) प्रगट करके... आहा...हा...! पर्याय को देखना नहीं परन्तु द्रव्य को देखने की पर्याय का उघाड़ प्रगट करके। आहा...हा...! **मात्र खुली हुई...** वापस **खुली हुई....** कहा है, हाँ! (अर्थात्) प्रगट करके... आहा...हा...! वस्तु है वस्तु, उसे कहते हैं कि पर्याय को देखने की आँख बन्द करके और द्रव्यार्थिक को (देखने के) **खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा....** यह इस नय का ज्ञान खुला हुआ है। द्रव्यार्थिक को जो नय देखता है, वह ज्ञान खुला हुआ है। पर्याय को (देखने का) जब बन्द कर दिया है, तब उसे स्व को देखने का ज्ञान खुला है। आहा...हा...!

अकेले खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा जब अवलोकन किया जाता है देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना,.... देखो, जीव में घटित किया। **मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना....** सिद्ध भी पर्याय है न? आहा...हा...! इन **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले....** इन **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले....** आहा...हा...! वापस अवलोकन करनेवाली पर्याय; अवलोकन करनेवाली पर्याय है। पर्याय को देखना बन्द करके, द्रव्य को देखने की खुली हुई ज्ञान की पर्याय से (अवलोकन करने से).... आहा...हा...! क्या भरा है! अब, ऐसे का ऐसा पढ़ जाये (फिर कहे) प्रवचनसार पढ़ गये.... एक व्यक्ति कहता है — महाराज! बहुत महिमा करते हैं न (तो) समयसार पन्द्रह दिन में पढ़ गया हूँ। बापू! पन्द्रह दिन में भाई! उस गहन

बात का पार आवे ऐसा नहीं है। प्रभु! आहा...हा...! गहन बात है। यह प्रवचनसार चलता है। प्रवचन-दिव्यध्वनि चलती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : आज दिव्यध्वनि का दिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आज दिव्यध्वनि का दिन है, बात सत्य है। श्रीमद् की ओर से दिव्यध्वनि (नाम का मासिक) पत्र निकाला है, भाई! गड़बड़ सब गड़बड़! श्वेताम्बर का डाला, श्वेताम्बर के साधु ने ऐसा किया और अमुक ने ऐसा किया (उसमें लिखा है)। श्रीमद् ने छह पद कहे, उसमें सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है। छह पद को देखना। यहाँ तो कहते हैं कि छह पद का भेद है... आहा...हा...! उस आँख को बन्द करके... आहा...हा...! बहिनों लड़कियों को सूक्ष्म पड़े तो ध्यान रखकर सुनो बापू! यह तो अमृत का घर है। बापू! महा कठिनता से आया है। आहा...हा...! बहिन-लड़कियों-माताओं को थोड़ा सूक्ष्म पड़ेगा, धीरे से सुनना, विचार करना, भाई! आहा...हा...! अरे! ऐसा समय कब आवे? भाई!

क्या भाव भरे हैं! देखा? कहते हैं कि वस्तु सामान्य-विशेष है। उसे विशेष (को) देखने की आँख सर्वथा बन्द करके और द्रव्यार्थिक खुले हुए ज्ञान-द्रव्य को देखनेवाला खुला हुआ ज्ञान; वापस वह है तो पर्याय... आहा...हा...! परन्तु पर्याय, पर्याय को न देखकर, पर्याय द्रव्य को देखने से.... ऐसा कहना है। आहा...हा...! गजब बात है, भाई! आहा...हा...! समझ में आया? भाई!

वस्तु है भगवान आत्मा! उसमें सामान्य और विशेष दो पहलू हैं अवश्य, तथापि विशेष पहलू को देखने की आँख तो सर्वथा बन्द कर दे। पर को देखने की बात तो नहीं परन्तु तेरी पर्याय को सर्वथा देखने का बन्द कर दे। आहा...हा...! और **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक....** अकेले द्रव्य को देखने का जो खुला हुआ ज्ञान है... आहा...हा...! गजब भरा है न? सामने पुस्तक है न? आहा...हा...! मात्र (कहा क्योंकि) उस (पर्यायार्थिक चक्षु को) बन्द कर दिया न? अकेला कहा; वापस इस खुला हुआ द्रव्यार्थिक है। ऐसा का ऐसा द्रव्यार्थिक नहीं, जिसे द्रव्य का प्रयोजन है — ऐसा ज्ञान खुला है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! सन्तों ने तो अमृत बहाया है। शब्द-शब्द में कितनी गम्भीरता

और कितनी गहराई है! आहा...हा...! सत्य को समझने के लिए भले ही थोड़ा समय लगे परन्तु थोड़ा (भी) सत्य भलीभाँति समझना चाहिए। आहा...हा...!

भगवान आत्मा सामान्य और विशेष होने पर भी.... सामान्य अर्थात् त्रिकाली ध्रुव रहना और विशेष अर्थात् पर्याय बदलती रहना, तथापि बदलती पर्याय को देखने की आँख बन्द करके.... आहा...हा...! दूसरे को देखने का — भगवान को देखने का बन्द करके... (ऐसा नहीं कहा।) आहा...हा...! परन्तु तेरी पर्याय है, उसे देखने की आँख बन्द करके... आहा...हा...! प्रभु, तेरी बात तो देख! आचार्य सन्त कह नहीं सकें (इतनी) गम्भीर बात! (सब) छोड़कर (जंगल में) बैठे हैं। आहा...हा...!

(पर्याय को) देखने का सर्वथा बन्द करके... प्रभु! क्या कहना है आपको? आहा...हा...! आत्मा को देखने के लिये उसकी पर्याय को देखने की आँखें सर्वथा बन्द करके और जब अब द्रव्यार्थिक को देखना है न? (तो वह देखने का) तो पर्याय में आता है या नहीं? इससे कहते हैं कि **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा....** आहा...हा...! वाह! प्रभु! कहते हैं, अन्दर की ज्ञान की पर्याय अकेले द्रव्य को जाने, वह खुली है। आहा...हा...! पर्यायार्थिक को देखे वह सर्वथा बन्द हो गयी है। आहा...हा...! ऐसी बातें सुनने को नहीं मिलती और फिर लोग (ऐसा कहते हैं) एकान्त है... वहाँ एकान्त है...! बापू! एकान्त है। सुन भाई! आहा...हा...! बापू! तेरे घर की बातें हैं, भाई! ओ...हो...!

सन्त कहते हैं कि तेरी पर्याय को देखना तू सर्वथा बन्द कर दे। आहा...हा...! और द्रव्य को देखने का जो खुला हुआ ज्ञान, आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है.... देखा जाता है। वह तो पर्याय हुई न? पर्याय से द्रव्य को देखने में आता है न? आहा...हा...! पर्याय को पर्यायरूप से देखने का बन्द कर दे और द्रव्य को देखने की खुली हुई पर्याय द्वारा अवलोकन कर। आहा...हा...! ऐसी बात है। आहा...हा...!

(द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा) **जब देखा जाता है तब नारकपना,....** अब जीव पर लिया। कहना तो है सब द्रव्यों का, परन्तु इसे एकदम समझ में आये, इसलिए जीव को

यह समझाये तो पर को बराबर समझे और स्व को बराबर समझे तो पर को जाने परन्तु इसे ही न जाने तो पर को जानना कहाँ से आवे ? स्व-पर प्रकाशक इसका स्वभाव है परन्तु स्व को जाने बिना पर का प्रकाशक जानने का स्वभाव होने पर भी स्व को जाने बिना उसमें पर का जानना नहीं आ सकता। आहा...हा...! समझ में आया ?

नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना.... सिद्ध भी पर्याय है। आहा...हा...! सिद्ध की पर्याय को देखने की दृष्टि को बन्द करके, आहा...हा...! गजब बात! प्रभु! आपको क्या कहना है ? सिद्ध की पर्याय को, पर्यायनय को-पर्याय को देखनेवाली आँख को सर्वथा बन्द करके... भाई! यह तुम्हारे कायदे-फायदे में कहीं नहीं आया होगा ? आहा...हा...! आया, बराबर ठीक, भाग्यशाली! समय पर यह बात आयी। आहा...हा...! ***जितना गहरा भासित होता है, भाषा उतनी सब नहीं आती।*** आहा...हा...!

आहा...हा...! सन्त कहते हैं कि तेरी पर्याय को देखने की आँख बन्द कर दे! अरे! प्रभु! क्या कहना है आपको ? आहा...हा...! दूसरे को देखना — परमात्मा, पंच परमेष्ठी (को देखना), वह बात तो कहीं अन्यत्र रह गयी। आहा...हा...! परन्तु तेरी पर्याय देखने की आँखों को भी सर्वथा बन्द करके और पर्याय में द्रव्य को देखने का हो, वह ज्ञान उघाड़ कर... आहा...हा...! वहाँ (ज्ञान) खुलता है — ऐसा कहते हैं। इस प्रकार पर्यायार्थिकनय को बन्द किया तो अन्दर स्व को देखने का ज्ञान खुलता है। आहा...हा...! (देखनेवाली) वह है तो पर्याय परन्तु पर्याय का विषय यहाँ पर्याय नहीं है।

पर्यायस्वरूप.... ये पाँचों पर्याय कहीं न ? चार गति की और एक सिद्ध की। आहा...हा...! इस सिद्ध को देखने की पर्याय की आँख को भी बन्द करके... अरे...! आहा...हा...! स्वयं को तो सिद्ध पर्याय नहीं परन्तु श्रद्धा में उसे है कि मुझे सिद्ध पर्याय होनेवाली है, तथापि उस सिद्ध पर्याय को देखने की आँख बन्द कर दे और जो दूसरे सिद्ध हैं — अनन्त सिद्ध! वदित्तु सव्व सिद्धे लो! वहाँ यह लिया! भाई! समयसार में! ज्ञान में (सिद्धों को) स्थापित करके — ऐसा वहाँ कहा न ? यहाँ तो कहते हैं कि तेरी पर्याय में सिद्ध को देखने का बन्द कर दे। आहा...हा...! भाई! यह तो प्रवचनसार है। भाई! यह तो

सन्तों का हृदय–कलेजा है ! आहा...हा... ! अरे ! ऐसी बात सुनने को कहाँ मिले ? भाई ! आहा...हा... !

कहते हैं कि खुले हुए द्रव्यार्थिकनय द्वारा.... आहा...हा... ! जब इस (पर्याय को देखने का) बन्द किया तो उसे स्व को देखने का ज्ञान खुला। समझ में आया ? (द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा) जब अवलोकन किया जाता है, तब सिद्धपद आदि **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले....** आहा...हा... ! देखा ? पर्याय की ओर की आँख बन्द करके, (ऐसा कहकर) फिर तो द्रव्य को (देखने का) बन्द कर दे और पर्याय को जाने — ऐसा भी कहेंगे। जानने की अपेक्षा से (ऐसा भी कहेंगे)। परन्तु यहाँ मूल पहले यहाँ से लिया है। द्रव्य को देखने का - यहाँ से लिया है। आहा...हा... !

भगवान ! यह तो भगवान के घर की बातें हैं ! बापू ! पामर प्राणी क्या कहे इसे ? आहा...हा... ! ऐसी चीज है ! लो ! ऐसा अभिमान कर डालते हैं कि यह मुझे आता है, (हमने) बहुत पढ़ा है, बापू ! आहा...हा... ! (वह सारा) गर्व उतर जाये — ऐसा है, भाई ! तेरी पर्याय को देखना भी बन्द कर दे। आहा...हा... ! और देखना रहेगा तो सही, उस (पर्याय को देखने का) बन्द किया तो द्रव्य को देखने का खुला ज्ञान... आहा...हा... ! उसके द्वारा देखे जाने पर **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले....** इन पाँचों पर्यायों में — विशेषों में रहनेवाले **एक जीवसामान्य को देखनेवाले....** भाषा क्या है ? **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले....** आहा...हा... ! दूसरी चीज तो कहीं पर्याय में रही हुई है ही नहीं। आहा...हा... ! देव–गुरु–शास्त्र और सिद्ध को भी निकाल दिया ! आहा...हा... ! मात्र पर्यायें — जो सिद्ध की पर्याय है — ऐसे विशेषों में रहनेवाले, उन विशेषों में रहनेवाले, **एक जीवसामान्य को देखनेवाले....** (अर्थात्) एक जीव को सामान्य एकरूप ध्रुव को जाननेवाले... (यह) पर्याय तो हुई। आहा...हा... ! कहो, ऐसा कभी सुना था ? स्थानकवासी में कहीं नहीं था ? भगवान त्रिलोक के नाथ की यह वाणी है। आहा...हा... ! आत्मा को स्पर्श करा दे — ऐसी बात है ! रहे नहीं भाई ! अब अलग नहीं रह सकता। आहा...हा... ! इस प्रकार जिसने देखा कि जिसे सिद्ध की पर्याय पर भी दृष्टि नहीं है परन्तु उस पर्याय में रहनेवाला जो आत्मा (है उसे अवलोकन करता है / देखता है) आहा...हा... ! है ? **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य का.... एक जीवसामान्य**

का.... वे पाँच पर्यायें थी। आहा...हा...! उन पाँचों पर्यायों में रहनेवाला... आहा...हा...! आहा...हा...! क्या शैली! और क्या टीका! गजब है!

एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले.... आहा...हा...! क्या कहा? **एक जीवसामान्य को....** यह सामान्य क्या होगा? कायम रहनेवाली एकरूप, बदले बिना रहनेवाली एक चीज, अस्तिरूप बदले बिना कायम रहनेवाला (तत्त्व) वह सामान्य है। आहा...हा...! यह तो बनियों के व्यापार के धन्धे में कहीं आया नहीं होगा? भाई!

मुमुक्षु : वह विषय अलग और यह विषय अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो इस विषय को देखने का भी बन्द। पाउडर है, वह परमाणु की एक पर्याय है, उसे देखने का नहीं।

यहाँ तो सिद्ध की पर्याय को देखने से ना किया है। आहा...हा...! हाँ, उसमें रहनेवाले... है न? **एक जीव सामान्य को देखनेवाले....** आहा...हा...! **और विशेषों को न देखनेवाले....** आहा...हा...! उन **जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** है? आहा...हा...! अपनी पर्याय को, सिद्ध आदि पर्याय को भी देखने की आँख बन्द कर दे। आहा...हा...! यह (जड़) आँख ऐसी बन्द कर दे वह नहीं, हाँ! जो पर्याय देखने में आती है, उस पर्याय को (देखने का) बन्द कर दे और खुले हुए — द्रव्यार्थिकनय के खुले हुए चक्षु द्वारा (देखने पर)... आहा...हा...! पर्याय में रहनेवाले... आहा...हा...! (एक जीवसामान्य को देखनेवाले उन जीवों को) **'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** आहा...हा...! वह पर्याय की नजर बन्द करके और द्रव्य को जानेवाली खुली हुई पर्याय द्वारा द्रव्य को देखने से 'वह सब जीवद्रव्य है' बस! वस्तु यह है (ऐसा भासित है)। आहा...हा...! समझ में आया? **'वह सब जीव द्रव्य है'....** उसमें पर्याय के भेद नहीं। पर्याय में रहनेवाला कहा, ऐसा कहा न? **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** आहा...हा...!

भगवान आत्मा! द्रव्य सामान्य, जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अचिन्त्य अनन्त

शक्तियों का एकरूप सागर प्रभु, (उसे) द्रव्यार्थिकनय के खुले हुए ज्ञान से देखने पर वह सब जीव ही है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी गाथायें साधारण लगे... (कोई ऐसा कहता है), प्रवचनसार ऐसा है और उसकी अपेक्षा समयसार ऐसा है, बापू! सब है वह है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार उसकी क्या बात करना! भरतक्षेत्र में कहीं ऐसी बात है नहीं और इस प्रकार अन्दर (परिणमन) करे तो प्राप्त हुए बिना रहे ही नहीं — ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न? **'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** कहा न? क्या कहा? **भासित होता है....** ऐसा कहा। ज्ञात होता है — ऐसा कहा। आहा...हा...! धन्य काल! धन्य समय, बापू!

पर्याय को देखनेवाली दृष्टि को सर्वथा बन्द करके और द्रव्य को देखनेवाले खुले हुए द्रव्यार्थिकनय के ज्ञान द्वारा इन पाँचों ही पर्यायों में रहनेवाला.... पाँचों पर्यायों में रहनेवाला (कहा)! पर में तो रहा है ही नहीं, पर की पर्याय में तो रहा है ही नहीं, व्यवहार से भी नहीं रहा। आहा...हा...! यह तो अपनी पाँच पर्यायों में रहा है (ऐसा कहा)। आहा...हा...! ऐसे जीव को देखनेवाले (और) विशेषों को नहीं देखनेवाले (जीव को) यह **'सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** आहा...हा...! इस प्रकार यदि देखे तो जीवद्रव्य भासित होता है (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! प्रभु! यह पाँचवाँ काल है — ऐसा हल्का काल है.... उसमें.... काल-बाल कहीं लागू नहीं पड़ता, प्रभु! जिसे पर्यायनय भी लागू नहीं पड़ती! आहा...हा...! जानने के लिये पर्यायनय से देखने की बात करेंगे परन्तु वह बाद में करेंगे। पहले यह करके (बाद में वह बात करेंगे) दो नयों में पहले यह नय ली है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : तभी पर्याय का ज्ञान सच्चा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब ज्ञान सच्चा, यह बात नहीं। ज्ञान उसे देखता है (ऐसा कहना है)। वही ज्ञान सच्चा है; तथापि सच्चा ज्ञान देखता है (ऐसा कि) यह सब जीवद्रव्य है। पाँचों पर्यायों में रहनेवाला यह... यह तत्त्व है। आहा...हा...! अच्छी बात है। प्रवचनसार अभी पढ़ा नहीं था।

यहाँ अधिक वजन, यहाँ है। यह तो पर्याय भासती है — ऐसा भी कहेंगे। पर्यायनय

से भासती है (— ऐसा) ज्ञान करने को (कहेंगे)। यहाँ तो पहले यहाँ से शुरु किया है। आहा...हा...! प्रभु! तेरी पाँच पर्यायों में रहनेवाला तू; उस पर्याय को देखने की आँख बन्द कर दे! सिद्ध की पर्याय को देखने की आँख बन्द कर दे। आहा...हा...! और यह वस्तु जो है, उसके खुले हुए ज्ञान द्वारा अवलोकन कर। तब तुझे भासित होगा कि यह सब जीव है।

पूरा परमात्मा आहा...हा...! अनन्त... अनन्त अचिन्त्य शक्ति का एकरूप! एकरूप, दोरूप भी नहीं। आहा...हा...! आहा...हा...! गुणभेद भी नहीं – ऐसा कहा न? आहा...हा...! क्या टीका? अमृतचन्द्राचार्य! जीव जरा शान्ति से विचार नहीं करते, पढ़ते नहीं और एकदम कर डालते हैं — उनका एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... भाई! बापू! (उसके) परिणाम आयेगा, भाई! परिणाम तो सत्य होगा वह आयेगा। असत्य का असत्य परिणाम आयेगा। बापू! आहा...हा...!

यह एक बात पहले ली, अब पर्याय को देखने की बात लेते हैं। **और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके....** देखा? ज्ञान कराना है न? पर्याय इसकी है, इसमें है, उसमें यह रहता है; इसलिए पर्याय का ज्ञान कराना है। आहा...हा...! पर का ज्ञान कराने की यहाँ बात नहीं है। आहा...हा...! **जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा....** देखा? खुली हुई तो है जानने की पर्याय। पर्याय को देखनेवाला ज्ञान है न? जैसे द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान है, वैसे पर्याय को देखनेवाला ज्ञान है न? आहा...हा...! **खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब जीवद्रव्य में रहनेवाले....** जीवद्रव्य में रहनेवाले **नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना — पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले....** जीव द्रव्य में रहनेवाले — ये पाँचों पर्यायें जीवद्रव्य में (रहती है)। आहा...हा...! ये कहीं पर में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! इसलिए अनजान व्यक्तियों को–क्रियाकाण्डवालों को ऐसा लगता है कि यह क्या लगा रखी है? आहा...हा...! बापू! प्रभु! तेरे घर की बात है भाई! आहा...हा...! तेरा घर इतना बड़ा है, यह तूने सुना नहीं है। प्रभु! आहा...हा...!

पर्याय से विशेष बात आयेगी।

प्रवचन नं. १२६ दिनाङ्क ०६ जुलाई १९७९

प्रवचनसार, गाथा ११४। **वास्तव में सभी वस्तु....** (सर्व वस्तु कहा परन्तु) दृष्टान्त आत्मा का देंगे, परन्तु समस्त सामान्य वस्तु के लिए कथन है। **सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं...** इसमें क्या कहा? कि देखनेवाला जो आत्मा है, वह सामान्य-विशेष (देखता है), पर को नहीं। अपनी विशेष पर्याय में पर ज्ञात होता है, वह अपनी पर्याय है। पर्याय ज्ञात होती है इसलिए (ऐसा कहा कि) सामान्य-विशेष को देखनेवाले.... पर को देखनेवाले, यह बात नहीं। समझ में आया?

सभी वस्तु सामान्य-विशेषरूप होने से, विशेषस्वरूप होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवाला अनुक्रम से पहले सामान्य जानता है, फिर विशेष जानता है, क्योंकि सामान्य का ज्ञान यथार्थ होवे, उसे विशेष का ज्ञान यथार्थ होता है और विशेष जानने में भी पर जानता है, यह बात यहाँ नहीं ली है। क्योंकि आत्मा जो पर को जानता है, वह तो अपनी पर्याय में पर्याय को जानता है। आहा...हा...! समझ में आया? यह कल नहीं आया था। वे लोग आये हैं तो नया तो कुछ आयेगा। आहा...हा...!

वस्तु को सामान्य-विशेष देखनेवाले — ऐसा कहा। वस्तु को सामान्य-विशेष और पर देखनेवाले — ऐसा नहीं कहा। स्वयं अपने को पर्याय में ज्ञात होता है, पर्याय ज्ञात होती है। वह वस्तु ज्ञात होती है — ऐसा कहना तो असद्भूत व्यवहार है। आहा...हा...! सामान्य जो त्रिकाल आत्मा है, उसका जो विशेष है, उस विशेष में विशेष को जानना है। यहाँ तो विशेष के द्वारा पहले सामान्य ज्ञात होगा, वहाँ वस्तु के कारण फिर विशेष को जानेगा — ऐसा कहेंगे। क्योंकि सामान्य को जानने से जो ज्ञान होता है, वह वास्तविक अपनी विशेष पर्याय है, उसे वास्तविक रीति से वही जान सकता है। आहा...हा...!

(१) सामान्य और (२) विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं.... तीन चक्षुएँ नहीं कही। अपना सामान्यस्वरूप और अपना विशेषस्वरूप, बस! इस विशेष में दूसरे ज्ञात

हो जायें, वह विशेष तो अपनी पर्याय है। आहा...हा... ! यह कल नहीं आया था। वे लोग आये हैं, इसलिए आज फिर से लिया है। आहा...हा... ! और **क्रमशः...** ऐसा शब्द है न ? पहले सामान्य को देखता है फिर विशेष (को देखता है) — ऐसा आयेगा। समझ में आया ?

इनमें से.... अब इसमें (अर्थात्) सामान्य और विशेष देखनेवाले हैं, इसमें। **पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके....** अपनी पर्याय में जो ज्ञात होता है, वह पर्याय ज्ञात होती है; इसलिए पर को जानने की चक्षु बन्द करके — ऐसा नहीं कहा। अपनी जो पर्याय है, उसमें सब ज्ञात होता है, वह पर्याय जानती है। वह पर्याय है, उस पर्यायदृष्टि के चक्षु बन्द करके... आहा...हा... ! यह तो कोई बात है ! आँख बन्द करके और पर वस्तु का जानना बन्द करके — ऐसा नहीं कहा। समझ में आया ? आहा...हा... ! गम्भीर वस्तु है, भगवान ! कोई भी एक-एक गाथा लो, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार... नियमसार की तो बात क्या करना ! स्वयं ने स्वयं के लिये बनाया ! आहा...हा... ! वह तो स्वयं के लिए बनाया ! आहा...हा... ! यह तो उपदेश के वाक्य हैं।

(एक भाई का) इनका लड़का मर गया, युवा ! दो वर्ष का विवाहित, स्त्री युवा ! यहाँ सुन गये। यहाँ चार दिन सुनकर गये, सुन करके पालीताना गये, वहाँ एकदम रोग हो गया, युवा ! २३ वर्ष की उम्र उसकी पत्नी गुजर गयी परन्तु आँख में से आसूँ नहीं। शोक कराने आवें, उन्हें समझावे — भाई ! वह तो मेहमान था, वह मेहमान कितना काल रहेगा ? आहा...हा... ! बापू ! जगत् की चीजें ऐसी हैं।

यहाँ कहते हैं कि पर को नहीं जानता। आहा...हा... ! केवली लोकालोक को जानते हैं (— ऐसा) कहना वह भी असद्भूत व्यवहार है। आहा...हा... ! पर के साथ सम्बन्ध क्या है ? पर और स्व के बीच अत्यन्त अभाव का महा किला पड़ा है। स्वद्रव्य और परद्रव्य की पर्याय के बीच; द्रव्य-गुण तो ध्रुव सामान्य है... आहा...हा... ! पर्याय के बीच अत्यन्त (अभाव का) किला पड़ा है। सबेरे कहा था न ? अभय का ! भगवान आत्मा अभय है, दुर्घट किला है — ऐसा यह किला है कि जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं है। आहा...हा... !

यहाँ तो एक समय की जो पर्याय है, उसमें पर का प्रवेश नहीं और पर को तथा पर

की पर्याय और स्व की पर्याय के बीच अत्यन्त अभावरूपी किला पड़ा है। आहा...हा...! तथापि यहाँ शब्द ऐसा लिया है कि भगवान आत्मा विशेष को जानता है। सामान्य को जानता है, यह पहले कहने के बाद विशेष को जानता है (— ऐसा कहते हैं)। पर को जानता है — ऐसा नहीं लिया। भाई! आहा...हा...! अब, आँखें बन्द करके और पर का देखना बन्द करके — ऐसा नहीं लिया।

पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा.... कथंचित् — ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! पर्याय में जो विशेषता है, उसे जो स्वयं जानता है परन्तु उस पर्याय चक्षु को सर्वथा बन्द करके... अरे..रे! आहा...हा...! आँख बन्द करके और पर को देखना बन्द करके — ऐसा नहीं कहा। आहा...हा...! भाई! यह तो वीतराग की दिव्यध्वनि है। आहा...हा...! **पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके....** (अर्थात्) पर्याय का लक्ष्य ही छोड़ करके... अपनी पर्याय, हाँ! **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा....** यह क्या कहा? कि पर्याय को (देखने की) बन्द किया परन्तु अब कोई देखनेवाली पर्याय रही है या नहीं? द्रव्य को देखनेवाली पर्याय रही है या नहीं? **खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा.... मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा....** आहा...हा...! गजब काम किया है न! यह टीका।

पर्यायार्थिक (चक्षु द्वारा) पर को (देखना बन्द करके ऐसा) नहीं परन्तु अपनी पर्याय को देखना, सर्वथा बन्द करके; अकेले खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा... द्रव्यार्थिक नय है, वह ज्ञान है, वह खुला हुआ ज्ञान है। (वह) है तो पर्याय परन्तु देखनेवाली पर्याय देखनेवाले को न देखकर अर्थात् पर्याय को न देखकर, खुला हुआ ज्ञान (द्रव्य को देखता है)। पर्याय (को देखना) बन्द किया है, तथापि खुला हुआ ज्ञान है, तब वह ज्ञान द्रव्य को जानता है। आहा...हा...! यह तो तीन लोक के नाथ की बातें हैं, बापू! यह कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहा...हा...!

कहते हैं कि वस्तु सामान्य-विशेष तू स्वयं है। उसमें विशेष में पर को जानना, वह कुछ नहीं आया? यह तो वहाँ तेरी पर्याय ही ज्ञात होती है। अब, वह पर्याय ज्ञात होती है, उसकी आँखें बन्द करके... पर्याय को देखने की चक्षु सर्वथा बन्द करके... परन्तु अब

बन्द करके हुआ परन्तु तब कोई द्रव्य को देखनेवाली ज्ञानचक्षु कुछ रही है या नहीं? आहा...हा...! **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु....** भाषा देखो! आहा...हा...! मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिकनय... अजब बातें हैं, बापू! यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की वाणी हैं! आहा...हा...!

पर्यायार्थिक (चक्षु को) बन्द किया न? तब 'मात्र' कहा न? परन्तु **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु....** द्रव्यार्थिकनय है। नय है न? अर्थात् द्रव्य को देखनेवाली खुली हुई दशा, खुली हुई है। पर्याय को देखना जहाँ बन्द किया... आहा...हा...! वहाँ द्रव्य को देखनेवाली पर्याय विकसित हो गयी है। आहा...हा...! यह कल ले लिया गया था, हाँ! आज तुम आये हो तो फिर से लिया है।

मुमुक्षु : हमें भी लाभ मिला न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो जब-जब (कहें), तब बात ही कोई अलग है! अलौकिक! वाणी में गम्भीरता का पार नहीं, प्रभु! आहा...हा...!

कहते हैं कि पर को जानने की बात तो छोड़ दी, पर को जानने का बन्द कर दे — ऐसा नहीं कहा, क्योंकि यह पर को नहीं जानता है। आहा...हा...! 'ऊर्ध्वता' शब्द आता है न? 'समता रमता ऊर्ध्वता'... आहा...हा...! 'ज्ञायकता सुखभास' — समयसार नाटक का शब्द है। ऊर्ध्वता — मुख्यता स्वयं पर्याय में है, तब ज्ञात होता है अर्थात् पर्याय ही ज्ञात होती है। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध — पाँच पर्याय। इसकी अपनी पाँच (पर्याय), हाँ! उस सिद्ध पर्याय को देखनेवाली पर्यायचक्षु को भी बन्द कर दे। आहा...हा...! इससे तुझे अन्दर द्रव्य को देखनेवाली चक्षु का विकास होगा। आहा...हा...! गजब बात है! समझ में आया? अरे...रे! प्रभु का विरह पड़ा, वाणी रह गयी। आहा...हा...!

अपनी पर्याय को — पाँच पर्यायों को जो देखती है, सिद्ध की पर्याय को भी जो देखती है, उस चक्षु को सर्वथा बन्द कर दे। आहा...हा...! पहले (पर को देखने की) पर्याय को बन्द कर दे (या) द्रव्य को (देखने का) बन्द कर दे और पर्याय को देख — ऐसा नहीं कहा। यहाँ से (लिया है) क्योंकि सामान्य को देखने से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान विशेष को भलीभाँति जान सकेगा, अपने विशेष को,... आहा...हा...! समझ में

आया ? समझ में आये उतना समझना, भाई ! प्रभु का पार नहीं पड़ता; उसी गम्भीरता का पार नहीं पड़ता। आहा...हा... !

मात्र खुली हुई.... वह (पर्यायचक्षु) बन्द है, तब यह अकेला खुला हुआ। आहा...हा... ! आहा...हा... ! कल यह कहा जा चुका है।

मुमुक्षु : आज जमावट होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु है बापू ! यह तो फिर से लिया, कहा। दो व्यक्ति नये आये हैं। यह तो भगवान की वाणी है, चाहे जब फिर से लो, वह कुछ फिर से है ही नहीं। उसका तो पार ही नहीं है।

पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके (— ऐसा कहा तो) अब जब सर्वथा बन्द कर दिया (तो) वह तो पर्याय को देखने की पर्यायदृष्टि को सर्वथा बन्द किया परन्तु द्रव्य को देखनेवाला ज्ञान तो खुला है। आहा...हा... ! एक लाईन... आहा...हा... !

देख तो सही प्रभु ! तू कौन है ? आहा...हा... ! सामान्य-विशेष में भी, विशेष की चक्षु सर्वथा बन्द कर दी अर्थात् विशेष को देखनेवाली आँख को सर्वथा बन्द कर दी परन्तु विशेष में स्व को देखनेवाला उघाड़ तो रह गया। आहा...हा... ! समझ में आया ? (विशेष को देखने की चक्षु) अकेली बन्द हुई परन्तु अकेला उघाड़ का भाव — वस्तु है, उसे देखने के उघाड़ का भाव रह गया, हो गया। आहा...हा... ! जहाँ पर्याय को देखने का बन्द किया... आहा...हा... ! वहाँ द्रव्य को देखने का (ज्ञान) उघड़ गया। आहा...हा... ! जाननेवाला है, वह जाननेवाली पर्याय में से अंधेरा हो जाये — ऐसा तो कभी है नहीं। आहा...हा... !

कहते हैं कि तूने भले पर्याय को (देखने का) सर्वथा बन्द कर दिया। (तूने) तेरी पर्याय को देखना सर्वथा बन्द किया; पर की तो बात यहाँ है ही नहीं। आहा...हा... ! पर की सिद्ध पर्याय को देखने की बात भी नहीं। यहाँ पर्याय में (बात) लेंगे। तो अपनी पाँच पर्याय लेंगे — नारकी, मनुष्य, तिर्यंच, देव, और सिद्धपर्याय, अपनी; पर की नहीं परन्तु इन अपनी पाँच प्रकार की पर्यायों में वर्तता जीव है, उसे देखना बन्द कर दे। आहा...हा... ! भगवान बात सूक्ष्म है। आहा...हा... !

मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा... देखो ! खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु है। है

तो वह (भी) पर्याय। समझ में आया? आहा...हा...! अब (कोई) कहता है कि हम प्रवचनसार पढ़ गये! वह एक व्यक्ति कहता है — महाराज कहते हैं कि समयसार बहुत सूक्ष्म है, (मैं) पन्द्रह दिन में पढ़ गया! बापू! यह एक शब्द और एक लाईन का पार नहीं पड़ता, भाई! यह परमात्मा की वाणी है! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी है! केवली के मार्गानुसारियों की यह वाणी है!! आहा...हा...!

मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है.... आहा...हा...! पर्याय को देखना सर्वथा बन्द करके और द्रव्य को देखनेवाली पर्याय द्वारा जब द्रव्य को देखा जाता है... समझ में आया? इसमें कोई (ऐसा कहे कि) हम जान सकते हैं (तो कहते हैं कि) बापू! पार नहीं पड़ता। आहा...हा...! प्रभु की वाणी का (पार नहीं पड़ता), सन्त दिगम्बर मुनि अर्थात् केवली के मार्गानुसारी! आहा...हा...! जिन्हें अल्प काल में केवलज्ञान है, परन्तु कहते हैं कि उस पर्याय को देखना हमारे नहीं है। आहा...हा...! हमें तो द्रव्य को पहले देखना है और उस पर्याय को देखने की (चक्षु) बन्द की, इसलिए कोई देखने की पर्याय रही ही नहीं (— ऐसा नहीं है)। पर्याय को देखना बन्द किया तो द्रव्य को देखने का उघड़ा हुआ ज्ञान प्रगट हुआ। आहा...हा...! आहा...हा...! भाई! यह ऐसी बात आयी है! आहा...हा...!

मात्र खुली हुई.... दो हुए न? पहली (पर्याय की आँख को) बन्द किया और इसे (खोला) आहा...हा...! **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक....** खुली हुई (अर्थात्) अपने पुरुषार्थ से खुली हुई ऐसा। आहा...हा...! जहाँ पर्याय को देखना बन्द किया.... आहा...हा...! वहाँ द्रव्य को देखने की पर्याय खुल गयी। आहा...हा...! भाई! ऐसी व्याख्या है, ऐसी वस्तु है। आहा...हा...! समयसार... प्रवचनसार.... नियमसार.... अष्टपाहुड़... पंचास्तिकाय... अलौकिक बातें! आहा...हा...! यह कहीं पढ़ने से मिले ऐसा नहीं है। आहा...हा...! पढ़ने से तो कहते हैं कि वह तो पर्याय को जानने की दशा हुई। आहा...हा...! उसे तो बन्द कर दे, प्रभु! जब एक को बन्द किया वहाँ एक खुल गयी।

कहने का आशय ऐसा है कि जहाँ पर्यायदृष्टि बन्द की.... आहा...हा...! वहाँ द्रव्यदृष्टि-द्रव्य को देखनेवाली द्रव्यार्थिक चक्षु खुल गयी। खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु

(प्रगट हो गयी)। आहा...हा...! उस (चक्षु) द्वारा **देखा जाता है, तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना-पर्यायस्वरूप....** अब विशेष कहते हैं। **विशेषों में रहनेवाले....** वह विशेषरहित है — ऐसा नहीं; विशेष में रहनेवाला सामान्य है। आहा...हा...! भले (विशेष को) देखना बन्द कर दिया। आहा...हा...! **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले.... पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले....** आहा...हा...! पर को जानने में रहनेवाले — ऐसा नहीं; मात्र अपनी जो यह पाँच प्रकार की पर्याय है — चार गति और सिद्ध (— ऐसी) पाँच पर्याय विशेष है, उसमें रहनेवाला जो सामान्य... आहा...हा...! उसकी सन्धि तो की।

पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले.... आहा...हा...! **एक जीवसामान्य को.... एक जीवसामान्य को....** कहना तो है समस्त द्रव्यों (के) सामान्य-विशेष को, परन्तु लोगों को जीव का दृष्टान्त देकर दूसरी बात ठीक पड़े, इसलिए (जीव का) दृष्टान्त दिया है। समझ में आया? बाकी तो सब द्रव्यों को देखनेवाला तो तू है न! इसलिए विशेष में तो तू आ गया। समझ में आया? इन विशेषों में रहनेवाला जो सामान्य है, जो पर्यायदृष्टि की देखने की आँखें बन्द की हैं, तथापि उस पर्याय में रहनेवाला जीव! समझ में आया? आहा...हा...! आहा...हा...!

पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले.... एक जीवसामान्य को देखनेवाले.... (कहा तो) देखनेवाली तो पर्याय है... आहा...हा...! परन्तु देखना है द्रव्य को। आहा...हा...!

(समयसार में) ३२० गाथा में अन्त में कहा है न — जयसेनाचार्य (ने कहा है)। प्रभु! सहज निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ — पर्याय ऐसा कहती है। 'द्रव्य मैं हूँ' — ऐसा द्रव्य को तो कुछ है नहीं, जानना या (ऐसा दूसरा) कार्य नहीं। आहा...हा...! पर्याय ऐसा कहती है कि '**मैं तो यह हूँ**' निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ। भले विशेषों में रहनेवाला मैं, परन्तु हूँ यह! कहा न? **एक जीवसामान्य....** शब्द लिया है न? भले विशेषों में रहनेवाला कहा, परन्तु एक जीव सामान्य को... वह तो वहाँ कहा, वह यहाँ है। आहा...हा...!

देखनेवाली पर्याय में एक सामान्य को देखा, खुली हुई ज्ञान की पर्याय ने (एक सामान्य को देखा) बन्द हो गयी पर्याय (वह) पर्यायनय और वह बन्द हो गयी, इसलिए खुली हुई ज्ञान की द्रव्यार्थिक पर्याय ने सामान्य को देखने पर... आहा...हा...! दो-तीन लाईन में कितना डाल दिया है! आहा...हा...! अपार बात है बापू! यह कोई साधारण बात नहीं है। आहा...हा...! यह तो दिगम्बर सन्तों की वाणी है (ऐसी वाणी) कहीं है नहीं, कहीं है नहीं। आहा...हा...!

उसमें रहनेवाला तत्त्व, उस तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञान) खिला, कहते हैं। आहा...हा...! जो पर्याय पर दृष्टि थी, तब द्रव्य को जाननेवाला ज्ञान अस्त हो गया। आहा...हा...! परन्तु पर्याय को देखने का जहाँ सर्वथा बन्द किया... आहा...हा...! तो स्व को देखने का ज्ञान खिला। उन विशेषों में रहनेवाला जो जीव सामान्य... आहा...हा...! है? **विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को....** आहा...हा...! **देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले....** आहा...हा...! है न? सामने पुस्तक है या नहीं? आहा...हा...!

यह कोई कथा नहीं, प्रभु! यह तो भागवत् कथा है! आहा...हा...! किसका गर्व करना? किसके जानने का अभिमान करना? भाई! आहा...हा...! परमात्मा की एक-एक गाथा में सब रहस्य भरा है, प्रभु! आहा...हा...! ये सन्त जब उसकी व्याख्या करते होंगे, (तब) उसकी व्याख्या का पार नहीं मिलता! और भगवान की वाणी में आया होगा उतना तो झेला भी नहीं जाता। आहा...हा...! भगवान ने देखा, उसमें अनन्तवें भाग कहा गया। कल दिव्यध्वनि का दिवस था, कल यह शुरु हुआ है। दिव्यध्वनि है यह! आहा...हा...! उस दिव्यध्वनि में आया हुआ, (उसे) 'ओम्कार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारैं, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।' आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि आगम में यह बात आयी और यह बात जिसने अन्दर में जानी... आहा...हा...! उसका संशय नहीं रहता। द्रव्य को (देखनेवाला) खुला हुआ ज्ञान, जहाँ विशेष में रहनेवाले जीव को देखा, सामान्य को देखा, वहाँ संशय नहीं रहता। मिथ्यात्व का कोई अंश नहीं रहता। आहा...हा...! **और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को....** सभी जीव लिये हैं न? एक ही जीव नहीं लिया। यह पर्यायचक्षु बन्द करके और खुले हुए ज्ञान

से जीव को देखते हैं — ऐसे सब जीव.... आहा...हा...! अरे...रे...! पंचम काल के प्राणी को भी ऐसा है — ऐसा कहते हैं। पंचम काल के सन्त श्रोताओं को ऐसा कहते हैं — पंचम काल के श्रोताओं को (— ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! तुझसे नहीं होगा — ऐसा यहाँ नहीं कहते हैं। आहा...हा...! मुझे समझ में नहीं आता, यह बात छोड़ दे। पर्याय है, उसे भी देखना जहाँ बन्द करना है; उसमें नहीं जान सकता यह प्रश्न ही कहाँ है? आहा...हा...!

ऐसे **विशेषों को न देखनेवाले जीवों को....** 'जीव' को नहीं लिया, उन 'जीवों' को (ऐसा बहुवचन लिया है) आहा...हा...! पंचम काल के सन्त सामने श्रोता को — इन जीवों को.... आहा...हा...! पर्यायचक्षु बन्द करके खुले हुए ज्ञान से देखनेवाले ऐसे पंचम काल के जीवों को... यह चौथे काल की बात है? आहा...हा...! अमुक गिरेगा, इसके लिए लोग घबराते हैं। वह गिरेगा वहाँ खड़ा हो जायेगा, अन्दर देख तो सही! खुली हुई ज्ञान-पर्याय (पर्याय को देखना) बन्द करके जहाँ अन्दर पड़ा.... वहाँ तुझे भगवान दिखेगा! आहा...हा...! तुझे भगवान का साक्षात्कार होगा। वह भगवान गुप्त नहीं रहेगा, आहा...हा...! पर्यायचक्षु बन्द करके खुले हुए चक्षु में अब वह भगवान गुप्त नहीं रहेगा। आहा...हा...! गजब बात है! चार लाईन! आहा...हा...!

ऐसे जीवों को.... अवलोकन करनेवाले 'जीव को' नहीं लिया। आहा...हा...! पंचम काल के प्राणी को कहते हैं प्रभु! तू तो ऐसा है न! आहा...हा...! और पर्यायचक्षु बन्द करके देख तो बहुत जीवों को.... आहा...हा...! **'वह सब जीवद्रव्य है'....** (ऐसा भासित होता है)। पर्याय का लक्ष्य छूट गया है, वह सब जीवद्रव्य है। आहा...हा...! द्रव्यार्थिकनय के खुले हुए ज्ञान से विशेष में रहनेवाले सामान्य को अवलोकन करनेवाले को... आहा...हा...! **'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** है? वह जीवद्रव्य है — ऐसा भासित होता है। आहा...हा...! कल थोड़ा-बहुत आया था, हाँ! यह तो तुम आये, इसलिए फिर से लिया है और यह तो पार नहीं पड़ता, बापू! चाहे जितनी बार (लो न)! आहा...हा...! इसके भाव की गम्भीरता! इसके भाव की अपरिमितता!!

मुमुक्षु : परम परमेश्वर भासित होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहो...हो...! यहाँ परमेश्वर होने की ही बात है। **'वह सब**

जीवद्रव्य है'.... ऐसा कहा न ? ऐसा कहा या नहीं ? 'वह सब' अर्थात् पाँचों पर्यायों को देखना नहीं, सिद्ध पर्याय को देखना नहीं। आहा...हा... ! अरे...रे... ! ऐसी बात कहाँ मिले ? भगवान का विरह पड़ा, वाणी रह गयी। वाणी ने विरह भुलाया, वाणी ने विरह भुलाया ! आहा...हा... ! **एक जीवसामान्य को देखनेवाले....** (अर्थात्) एक ही जीवसामान्य को देखनेवाले। आहा...हा... ! **और विशेषों को न देखनेवाले....** बहुवचन है। पंचम काल के बहुत जीव भी तद्नुसार देखेंगे। आहा...हा... !

विश्वास... विश्वास ला ! तुझमें ताकत है, प्रभु ! तू पूर्ण वीर्य से भरपूर है ! आहा...हा... ! अनन्त... अनन्त... आनन्द और अनन्त सुख के सागर के जल से भरपूर प्रभु ! सुख के सागर — जल से (भरा हुआ) आहा...हा... ! सुख का सागर, यह सुख का जल ! इसे — भरे हुए भगवान को तू देख ! आहा...हा... ! वहाँ तुझे (वह) 'सब जीव है' — ऐसा भासित होगा। है ? आहा...हा... ! प्रभु ! तू स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है। तू इस शरीर को मत देख, वस्त्र को मत देख, आकृति को मत देख; पर को देखने की ही बात बन्द कर दे, यहाँ तो (— ऐसा कहते हैं)। यह स्त्री का शरीर है, और पुरुष का शरीर है... आहा...हा... ! यह तो बात ही बन्द कर दी। अपने को देखने की पर्याय में ज्ञात हो, उसे भी बन्द कर दे। आहा...हा... ! आहा...हा... ! यह वस्तु ! यह सिद्धान्त !

'वह सब जीवद्रव्य है'..... वह सब जीवद्रव्य है — ऐसा भासित होता है। **भासित होता है....** ऐसा कहा है न ? बहुत जीवों को (भासित होता है) न ? खुली हुई चक्षु से न ? एक आँख बन्द की अकेली एक खुली हुई चक्षु ! आहा...हा... ! इसके बाद सप्तभंगी आयेगी। आज तो यहाँ से शुरुआत की है। ११५ (गाथा में) सप्तभंगी (आयेगी) यह तो कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी ! साक्षात् भगवान के पास (सुनी हुई) ! आहा...हा... ! और उसकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य ! वे भगवान के पास गये थे। यह (निज) भगवान ! कुन्दकुन्दाचार्य अपने (भगवान) और पर के (भगवान) दोनों के पास गये थे, आहा...हा... ! वे अमृतचन्द्राचार्य यह कहते हैं। श्लोक में तो इतना ही है। '**दव्वट्ठिसण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो। हवदि य अण्णमणण्णं....**' पर्याय से अन्य-अन्य है, अन्य-अन्य है; द्रव्य की अपेक्षा अनन्य है। पर्याय अपेक्षा से अन्य... अन्य... अन्य...

है, वस्तु अपेक्षा से अनन्य है — अन्य-अन्य नहीं। आहा...हा...! यह गाथा। '**तक्काले तम्मयत्तादो ॥**' उस काल में उस-उस पर्याय में — विशेष में तो है परन्तु विशेष को न देखकर सामान्य को देखने जा, प्रभु! जिसमें अतीन्द्रिय सुख का सागर उछलता है। जो इन्द्रियगम्य नहीं है, विकल्पगम्य नहीं है, पर्यायचक्षु को गम्य नहीं है। आहा...हा...! जो द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा ही ज्ञात हो — ऐसा वह तत्त्व है। आहा...हा...!

पहले में — ११३ में आ गया है। **पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकाल में उत्पाद होता है....** है ? ११३ (गाथा) की टीका! बहुत विस्तार आ गया है। क्रमानुपाती — क्रम अनुसार और उस काल में (ऐसा कहा), तथापि उस विशेष को देखने की आँख बन्द कर दे। आहा...हा...! स्वकाल में उसकी वह पर्याय होगी ही, वह काल निश्चित हो गया है। उसका जन्म क्षण है। आहा...हा...! परन्तु उस पर्याय को देखने का बन्द कर! स्वकाल में पर्याय उत्पन्न होगी ही; तथापि उसे देखने का बन्द कर दे। बन्द किया तो देखना बन्द ही हो गया — ऐसा नहीं। पर्यायनय से देखने का सर्वथा बन्द किया, इससे अब पर्याय में उसे जानने का कुछ नहीं रहा — ऐसा नहीं। आहा...हा...! पर्याय को देखने का जहाँ सर्वथा बन्द किया, तब अन्दर द्रव्यार्थिकनय से खुला हुआ (जो) ज्ञान (प्रगट हुआ), उस ज्ञान द्वारा यह जानने में आया। अरे...! ऐसी बातें कहाँ हैं ? बाहर की बातें, क्रियाकाण्ड.... अरे... प्रभु! जहाँ तेरे भव का अन्त न आवे, आहा...हा...! वह चीज क्या (काम की) ? चौरासी के अवतार! नरक के दु:खों का वर्णन सुना न जाये, बापू! तुझे देखने से आनन्द की बात — व्याख्या कही न जाये, वैसा तुझे आनन्द आयेगा।

खुले हुए ज्ञान से द्रव्य को देखने पर... आहा...हा...! पर्यायदृष्टि में पहले यह ज्ञान बन्द था, पर्यायदृष्टि में... पर की दृष्टि में नहीं। आहा...हा...! अवस्था में देखनेवाले को तुझे तेरी दृष्टि देखती नहीं थी। आहा...हा...! उस अवस्थादृष्टि को बन्द करके... आहा...हा...! फिर कुछ रहा या नहीं ? भगवान तो ज्ञानमूर्ति प्रभु! केवलज्ञान का कन्द है न! (पर्यायचक्षु) बन्द करने के बाद उसकी पर्याय में कुछ विकास रहा या नहीं ? विकसित चित्-चमत्कार वस्तु है! जयवन्त वर्ते प्रभु! आहा...हा...!

भाई ! परिचित की व्याख्या तो एक जगह ऐसी की है न ? सर्वज्ञ ! परिचित अर्थात् सर्वज्ञ। परि अर्थात् सर्व प्रकार से, चित अर्थात् ज्ञान। परिचित अर्थात् सर्वज्ञ। आहा...हा... ! ऐसा परिचय ! वह (समयसार की चौथी गाथा में) श्रुत, परिचित, अनुभूता... (आता है) वह नहीं। गुलाँट खाकर ऐसा परिचित होता है। वह जो परिचित है, वह तो राग का परिचय है, पर्यायदृष्टि का परिचय है। आहा...हा... ! वह गुलाँट खाता है, तब द्रव्य को देखनेवाली आँख द्वारा देखने से उसे परिचित अर्थात् सर्वज्ञपना प्रगट हो जाता है, वह परिचित है। परि अर्थात् सर्वथा प्रकार से ज्ञान को देखना। आहा...हा... ! ज्ञान को देखना, हाँ ! पर को देखना नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं।

ऐसा भासित होता है। **'वह सब जीवद्रव्य है' ऐसा भासित होता है।....** यहाँ तक तो पर्याय को देखने का बन्द करके और बन्द होकर अर्थात् द्रव्य को देखने का ज्ञान प्रगट हुआ — प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। आहा...हा... ! जिसने पर्याय को देखने की चक्षु बन्द की, उसे स्व को जानने का खिला हुआ ज्ञान प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। आहा...हा... ! और उस प्रगट हुए ज्ञान द्वारा — द्रव्यार्थिकनय द्वारा (देखने पर) द्रव्यार्थिकनय भी ज्ञान है न ? नय है न ? ज्ञान का अंश है न ? द्रव्यार्थिक अर्थात् वह पूरा द्रव्य है वह नहीं। द्रव्यार्थिकनय से देखनेवाला द्रव्य। आहा...हा... ! वह प्रगट हुआ ज्ञान द्रव्यार्थिकनय है, उससे देखने पर द्रव्य दिखता है। आहा...हा... ! (यह सब) लिखते हैं न ? फिर डालेंगे। आत्मधर्म में आता है न ? आहा...हा... !

अब, यह जब भासित हुआ, तब अब पर्याय को जाननेवाला यथार्थ ज्ञान हुआ। पहले द्रव्यार्थिक को बन्द करके पर्याय को देखा — ऐसा नहीं लिया। पर्यायनय को (चक्षु को) बन्द करके द्रव्यार्थिक चक्षु द्वारा देखा और यह जो भासित हुआ, तब अब पर्याय का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ में आया ? **और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके....** देखो ! देखने में आया है परन्तु उस ओर का लक्ष्य अभी छोड़कर (— ऐसा कहते हैं)। सामान्य जो यह सब है.... यह सब है.... यह वस्तु है — ऐसा ज्ञान हुआ है, तथापि अब उस ओर का देखना बन्द करके, पर्याय भी तेरी है, तुझमें है, उसे देखने के लिए यह (द्रव्यार्थिक चक्षु) बन्द कर। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बात है भाई ! गम्भीर है।

बापू! परमात्मा की वाणी-दिगम्बर सन्तों की वाणी (गम्भीर है)। श्वेताम्बर की तो कथनपद्धति ही मिथ्यादृष्टि होने के बाद की है। अरे... प्रभु! कठोर लगे, क्या हो? यह बात कहाँ है? आहा...हा...! जहाँ केवलज्ञान प्रवाहित है ऐसा! अल्प काल में केवलज्ञान होने की तैयारीवाली बात है। आहा...हा...! तथापि कहते हैं कि पहले पर्याय को देखने का बन्द करके और अब द्रव्यार्थिक को (देखने की) चक्षु बन्द कर। (सामान्य) ज्ञात हो गया परन्तु अब उस ओर का लक्ष्य बन्द कर। समझ में आया? आहा...हा...!

द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके.... (अर्थात्) उसकी ओर का लक्ष्य छोड़कर ऐसा (कहना है)। **मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक....** देखा? उसमें **मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक....** था। पहली लाईन। इसमें **मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा....** पर्याय भी इसमें है न? उसमें वर्तता द्रव्य है न? पर को और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है यह बात यहाँ विशेष सिद्ध करना है (— ऐसा कहते हैं कि) वह पर्याय भी इसकी है। उस पर्याय को और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! यह केवलज्ञान हुआ, (वह) व्रजनाराचसंहनन था, इसलिए हुआ (— ऐसा तो नहीं)। अरे...! चार ज्ञान और मोक्ष का मार्ग था, इसलिए केवलज्ञान हुआ — ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! अब इस पर्याय को देख, कहते हैं। परन्तु वह पर्याय पर्याय से हुई है, हाँ! नारकी की मनुष्य की, चार गति की, और सिद्ध पर्याय — पाँच पर्यायें (पर्याय से हुई है)। है?

मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब जीवद्रव्य में रहनेवाले.... देखा? पहले में **विशेषों में रहनेवाले....** ऐसा था। है? **पर्यायस्वरूप विशेषों में रहनेवाले....** एक जीवद्रव्य ऐसा था। अब यहाँ कहते हैं, **जीवद्रव्य में रहनेवाले....** द्रव्य में रहनेवाले! पर्याय का सम्बन्ध था, पर के साथ कोई सम्बन्ध (नहीं), आहा...हा...! **नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना — पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले....** आहा...हा...! **और सामान्य को न देखनेवाले....** (अर्थात्) पर्याय का लक्ष्य उस ऊपर से छोड़कर इतना, हाँ! **जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है,....** पहले में सब एकरूप भासित होता है (ऐसा आया था)। इसमें अन्य-अन्य पर्याय है। अन्य-अन्य भासित होता है, पर्याय

अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... अन्य.... ऐसा भासित होता है।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १२७ **दिनाङ्क ०७ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार, गाथा ११४। फिर से यहाँ से (लेते हैं) पहले कहा कि पर्यायार्थिक को न देखकर द्रव्यार्थिकनय का विषय उघड़ा — ज्ञान उघड़ा हुआ है। उस द्रव्यार्थिक ज्ञान द्वारा द्रव्य को देख तो वह सामान्य तुझे नजर में पड़ेगा परन्तु पर्याय की आँख बन्द करके, पर को देखने का बन्द करके नहीं; पर को तो यह देखता नहीं। पर्याय की आँख (बन्द करके देखने की बात है) अपने में पर्याय है, तन्मय है, उसमें आत्मा रहता है। आहा...हा... ! ऐसी पर्यायनय की आँख बन्द करके द्रव्यनय को देखने से 'सब एक आत्मा है' — ऐसा भासित होता है — ऐसी बात है।

अब, यहाँ (कहते हैं कि) द्रव्यार्थिक नयचक्षु को सर्वथा बन्द करके, अर्थात् खुला हुआ ज्ञान तो है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं; लक्ष्य, पर्याय खुली है, उसमें है। **द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है....** जब पर्याय से जीव की दशायें देखी जाती है, उसे देखना उसी का उसी में है। सामान्य और विशेष (में देखने का है), बाहर में कहीं (देखने का) नहीं है। आहा...हा... ! बाहर का करना तो कुछ नहीं; तेरे द्रव्य-पर्याय के अतिरिक्त बाहर में कुछ करने का तो है नहीं, परन्तु यहाँ तो कहते हैं, बाहर को देखने का ही नहीं। (बाहर) देखता है, वह तेरी पर्याय है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। आत्मा के अतिरिक्त किसी कषाय को, कर्म को, या पर को कुछ करना, यह (बात ही) नहीं है।

निश्चय से तो चैतन्य को शरीर कहा है। चैतन्य विग्रह ! ऐसा पुण्य और पाप के कषायभाव (होते हैं), वह भी एक विग्रह है। है उसकी पर्याय में परन्तु वह भी एक शरीर है। यह शरीर जो है चैतन्यभगवान ! परम पारिणामिक स्वभावभाव, वह चैतन्यशरीर है, चैतन्यविग्रह है। विग्रह शब्द है न ? ऐसे पुण्य और पाप के भाव या इस गति के उदयभाव,

सिद्धभाव एक ओर रखो, यहाँ तो सिद्ध पर्याय को देखने की बात है परन्तु चार गति के जो उदय (मान) है, वह चैतन्यशरीर जो भगवान चैतन्य-विग्रह (जो है), उस अपेक्षा से तो वह पर विग्रह है, शरीर ही है, पर शरीर ही है। आहा..हा... !

तीन प्रकार के (शरीर) — चैतन्यशरीर, कषायशरीर, कार्माणशरीर। औदारिकशरीर, तैजसशरीर, आहारकशरीर, वैक्रियकशरीर। यह आहारक, तैजस, कार्माण (शरीर हैं), वे सब जड़ के शरीर हैं और आत्मा में होनेवाला विकार, वह चैतन्य का विकृत शरीर है तथा उसका त्रिकाली स्वभाव परमस्वभाव ज्ञायकभाव, वह उसका निज शरीर-निज वस्तु है। आहा...हा... ! उस निज वस्तु को देखने के लिए तो एक बार पर्याय की आँख बन्द कर, परन्तु अब स्व को देखा और स्व को जाना तो पर्याय में भी वह सामान्य वर्तता है। आहा...हा... ! इससे उसे देखने के लिए भी उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, इस ओर को देख क्योंकि यह पर्याय भी तेरे अस्तित्व में है। जैसे, दूसरे द्रव्य का कोई अंश तेरे अस्तित्व में नहीं है, कार्माणशरीर का भी एक अंश तेरी पर्याय के अस्तित्व में नहीं है। आहा...हा... ! तेरे अस्तित्व में — पर्याय के अस्तित्व में होवे तो चार गति और सिद्ध की पर्याय, यह पर्याय का अस्तित्व है। आहा...हा... !

उसे देखने को खुला हुआ ज्ञान है। कहा न ? **मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा....** आहा...हा... ! पर्याय का अस्तित्व देखने के लिए स्व को देखा है, वह ज्ञान पर को देखने को खुला है। आहा...हा... ! ऐसी सब सूक्ष्म बातें ! लोगों को बाहर से (बाहर से प्राप्त कर लेना है) परन्तु बाहर में वह है ही नहीं न। बाहर में पर का तो कुछ करता नहीं परन्तु बाहर में यह विषय-कषाय, शुभभाव, (होता है) उसे भी परमार्थ से पर शरीर -विग्रह कहा है। आहा...हा... ! परन्तु यहाँ कहते हैं कि तेरी पर्याय में जो अस्तित्व है, उसे देखने की खुली हुई आँख से देख, जान। आहा...हा... ! है ?

अनेक विशेषों को देखनेवाले.... जीव द्रव्य में रहनेवाले.... है ? वह कर्म और शरीर आदि तो एक अंश भी (पर्याय में) नहीं रहे। आहा...हा... ! अरे...रे... ! फुर्सत कहाँ है ? कब निर्णय करे ? चौरासी के अवतार कर-करके कचूमर निकल गया है और अभी भी दरकार नहीं है कि मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? कौन हूँ ?

यहाँ गति है वह भी एक पर्याय के अंश में है, मेरी त्रिकाली चीज में नहीं। आहा...हा... ! शुभ कषाय — दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी मेरी पर्याय में... पर्याय में... पर्याय में... वह जरा में वर्तते हैं, उसमें है परन्तु वस्तु में तो वे नहीं, आहा...हा... ! परन्तु वस्तु का ज्ञान होने पर उसे पर्याय में उसके अस्तित्व का (ज्ञान होता है) । पर का अस्तित्व है उसे देखने की बात ही नहीं। पर को देखता है, वह तो अपनी पर्याय को देखता है। आहा...हा... ! वास्तव में तो राग-द्वेष को देखता है, वह भी अपनी ज्ञान की पर्याय है, उसे देखता है। आहा...हा... ! परन्तु उसकी पर्याय में गति है। उस पर्याय को देखने पर **जीवद्रव्य में रहनेवाले....** ऐसा है न उसमें ? वह कार्माणशरीर, जीवद्रव्य में नहीं रहा है; यह शरीर जो है, वह जीवद्रव्य में नहीं रहा है। आहा...हा... ! जीवद्रव्य की पर्याय में रहा हुआ है (— ऐसा कहना है) । उसके सामान्य में रहा हुआ है, वह तो पहले देखा। अब उसके विशेष में रहा हुआ — वह जीवद्रव्य में रहा हुआ। है न ? **जीवद्रव्य में रहनेवाले....** वहाँ ऐसा कहा। देखा ? आहा...हा... ! अर्थात् पर्याय हुई। जीवद्रव्य में रहनेवाला अर्थात् त्रिकाली द्रव्य में रहनेवाला — ऐसा नहीं।

जीवद्रव्य में रहनेवाले.... जीवद्रव्य — भगवान चैतन्य परमात्मस्वरूप — ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, तब पर्याय को देखने का ज्ञान खुला। आहा...हा... ! वह पढ़ाई से खुला — यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। यह क्या कहा ? शास्त्र से, पढ़ाई से पर्याय को देखने का — यह बात यहाँ नहीं हुई है। आहा...हा... ! यहाँ तो जीव त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति प्रभु को देखने पर पर्याय को देखने का खुला हुआ ज्ञान (प्रगट होता है) । आहा...हा... ! इसमें कुछ समझ में आया ? अरे... ! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर अर्थात् कौन ! जिनके पास एकावतारी इन्द्र पिल्ले के बच्चे की तरह बैठते हैं ! आहा...हा... ! ऐसे त्रिलोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह वाणी है। इस वाणी की गम्भीरता का पार नहीं आता। आहा...हा... !

कहते हैं कि तूने जो पर्याय को (देखने की) आँख बन्द की, सर्वथा (बन्द की) हाँ ! तब यह (सामान्य) देखने में आया। खुले हुए ज्ञान से देखने में आया। अब खुले हुए ज्ञान से जीव में रहनेवाली पर्यायें (हैं, उन्हें देख) है न ? **नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना - पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को**

देखनेवाले.... (अर्थात्) पर्यास्वरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले... आहा...हा...! **और सामान्य को न देखनेवाले....** एक इनकी ओर (— विशेषों की ओर) लक्ष्य है, इसलिए इसे (— सामान्य को) नहीं देखनेवाले, ऐसा। **जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है,....** पर्याय, वह जीवद्रव्य में अन्य-अन्य भासित होती है। सिद्धपर्याय अन्य, देवपर्याय अन्य, अन्य... अन्य है। आहा...हा...! **अन्य-अन्य भासित होता है,....**

क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय.... आहा...हा...! भगवान आत्मा द्रव्य, उन-उन विशेषों के काल में, उन-उन कौन? नारकी, मनुष्य, देव, तिर्यंच और सिद्ध। **उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से....** उस पर्याय में वह जीवद्रव्य तन्मय है। आहा...हा...! जैसे कार्माणशरीर, औदारिकशरीर, और परवस्तु — स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि के साथ कुछ तन्मयता का अंश भी नहीं है, वह तो सब स्वतन्त्र हैं। आहा...हा...! यह तो वे भाई कहते थे न? कि 'बाबा होवे तो समझ में आवे' ऐसा कहते थे। यह बात, बापू! बाबा ही है, भाई! तुझमें राग भी नहीं और वास्तव में तो सामान्य में गति भी नहीं। यह तो पर्याय का अस्तित्व तुझमें है, यह सिद्ध करना है। पर के कारण कहीं वह पर्याय नहीं है। आहा...हा...! ऐसा कहा न?

जीवद्रव्य में रहनेवाले.... ऐसा कहा। जीव की पर्याय में रहनेवाले (— ऐसा नहीं कहा)। आहा...हा...! वह जीवद्रव्य, पर्याय में है। जीवद्रव्य स्वयं पर्यायदृष्टि से पर्याय में है। आहा...हा...! उसे **अन्य-अन्य भासित होता है....** अन्य-अन्य दशा (भासित होती है)। सामान्य को देखने पर तो अनन्य-अनन्य, वही... वही... वही... भासित होता है। विशेष को देखने पर अन्य... अन्य... अन्य... अन्य... अन्य... पर्याय भासित होती है — ऐसा है, बापू! आहा...हा...! जन्म-मरण रहित (होने की बातें हैं)। आहा...हा...! बिजली की चमक में मोती पिरो लेना है। यह तो बीच में चमक आ गयी है — ऐसा मनुष्यभव, उसमें वीतरागमार्ग की वाणी! उसके सन्मुख (यह सब) तुच्छ है। आहा...हा...!

देखने का और जानने का हो तो तेरा सामान्य और विशेष दो है। आहा...हा...! पर को देखने की, जानने की बात ही नहीं। आहा...हा...! पर को — स्त्री, पुत्र, परिवार का कुछ करूँ, कुछ व्यवस्थित व्यवस्था कर सकूँ, यह बात तो तीन काल में आत्मा में है नहीं।

द्रव्य में तो नहीं परन्तु पर्याय में भी नहीं। आहा...हा... ! ऐसा जो भगवान आत्मा ! सामान्य को देखकर, सामान्य का अनुभव करके, फिर विशेष को जानना है अर्थात् छद्मस्थ का उपयोग सामान्य में होवे, तब विशेष में नहीं होता; इसलिए उस उपयोग को पर्याय में लाना है, इससे इस ओर (देखने का) बन्द करके — ऐसा कहा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

उन **विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है,....** वह पर्याय अन्य-अन्य भासित होती है। नारकीपना अन्यपना, तिर्यंचपना अन्यपना, सिद्धपना अन्यपना (भासित होता है), पर्याय है न ? आहा...हा... ! सामान्य जो त्रिकाल है, वह अनन्य है, वह नहीं। अभी तो सामान्य देखनेवाले को विशेष देखने के लिये ज्ञान खुला है, खिला है। आहा...हा... ! वह भी अपनी पर्याय को देखने के लिये (खिला है) । आहा...हा... !

यहाँ तो अभी बाहर के कारण निवृत्त नहीं होता। अर...र... ! अरे ! कहाँ जायेगा ? यहाँ बड़ा पैसेवाला कहलाये, इज्जतवाला करोड़पति (कहलाये) (एक व्यक्ति के पास) पचास करोड़ रुपये ! मुम्बई आया था, बस ! उसी में मनुष्य ऐसा... आहा...हा... ! यह पैसा व्यापार, धन्धा, स्त्री-पुत्र... आहा...हा... ! जो चीज तेरी पर्याय में भी नहीं। आहा...हा... ! उसकी सम्हाल में प्रभु ! तेरा सारा समय जाता है। आहा...हा... ! ऐसा है भाई ! जो तुझमें है, उसे देखने का तुझे समय भी नहीं मिलता। आहा...हा... ! तुझे क्या करना है ? जो भटकने का किया है, वह करना है ? वह तो अनन्त काल से करता है, बापू ! यह तो अनन्त काल से अनन्त जीव करते हैं। आहा...हा... !

आचार्य महाराज तो (पर से) भिन्न करके और 'सब जीव है' — ऐसे देखनेवाले को कहते हैं। अब तू तुझमें पर्याय भी है, उसे देख। आहा...हा... ! उस पर्याय से जीव अन्य-अन्य भासित होता है। भले जीवद्रव्य में रहनेवाले (विशेष हैं) परन्तु अन्य-अन्य भासित होता है। **क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से....** आहा...हा... ! देखा ? क्योंकि वस्तु जो भगवान आत्मा, द्रव्य जो परम ज्ञायकभाव भगवान परम स्वभाव स्वभावभाव, वह **विशेषों के समय तन्मय होने से....** पर्याय में वह तन्मय है। स्त्री,

कुटुम्ब-परिवार या पैसा या मकान में तो कभी तन्मय है नहीं, हो नहीं सकता। आहा...हा...! उसमें भी अनन्त काल से फँसकर पड़ा है! आहा...हा...! अरे...रे! इसे दया नहीं है, कहते हैं, तुझे तेरी दया नहीं है। आहा...हा...! जीवद्रव्य में रहनेवाले को जानने पर — ऐसा कहा न? वे (पर-पदार्थ) जीवद्रव्य में नहीं रहते हैं। आहा...हा...! यह शरीर, जीवद्रव्य में रहता है? अन्दर आठ कर्म हैं, वे जीवद्रव्य में रहते हैं? नहीं... नहीं। इसकी पर्याय में तो यह चार गति और सिद्ध की पर्याय है, उसकी पर्याय में वह जीवद्रव्य रहा है। आहा...हा...!

(उन-उन) **विशेषों के समय तन्मय होने से....** आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहना कि त्रिकाली सामान्य स्वभाव में तो गति भी नहीं और भेद भी नहीं, और गुण-भेद भी नहीं। आहा...हा...! भगवान परम स्वभावभाव परम ज्ञायक पारिणामिक स्वभावभाव में तो, पर्याय है, वह भी उसमें नहीं है। आहा...हा...! यह वस्तु की त्रिकाली स्थिति है, उसमें नजर कराने को (— ऐसा कहा) और यहाँ उसकी पर्याय में भी तू तन्मय है — ऐसा ज्ञान कराने को (यह बात कहते हैं)। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

उन-उन विशेषों के समय.... (अर्थात्) उस-उस समय में, ऐसा। **तन्मय होने से...** आहा...हा...! नरकगति की पर्याय है वहाँ... यह शरीर नहीं, हाँ! मनुष्य शरीर नहीं; गति के योग्य उसकी जो पर्याय है, उसमें वह तन्मय है। आहा...हा...! मनुष्य को योग्य जो गति की योग्यता है, उसमें वह तन्मय है। आहा...हा...! पर्याय अपेक्षा से तन्मय, हाँ! आहा...हा...! **उन-उन विशेषों से अनन्य है....** उन-उन विशेषों से अनन्य है। आहा...हा...! अन्य-अन्य नहीं... अनन्य है, तन्मय है। उन-उन विशेषों से अनन्य है; अन्य-अन्य है — ऐसा नहीं, उन-उन विशेषों से अनन्य है। वह-वह जीवद्रव्य उन-उन विशेषों से तन्मय - अनन्य है; अन्य-अन्य है — ऐसा नहीं। आहा...हा...!

यह तो भगवत् वाणी है! सन्त कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् भगवान के पास गये, साक्षात् वाणी सुनी। थे तो मुनि; भगवान के पास गये थे। इतनी योग्यता कि बहुत स्पष्ट हुआ और यह आकर इस जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा...!

प्रभु! तुझमें दो ही भाग हैं — एक सामान्य और एक विशेष, तीसरा कोई द्रव्य का अंश तुझमें तीन काल-तीन लोक में नहीं है। आहा...हा...! जिसकी व्यवस्था के लिये

प्रभु! तू रुका! आहा...हा...! शरीर को ऐसा रखूँ, वाणी को ऐसा रखूँ, खान-पान ऐसा समरूप लूँ तो ठीक से (पच जाये)। पथ्य आहार होवे तो ठीक रहे और अपथ्य होवे तो नहीं चले... अरे...! ऐसी सब परद्रव्य की व्यवस्था तुझसे नहीं होती, उसकी व्यवस्था में रुक गया, प्रभु! आहा...हा...! '**शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्।**' लो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आता है, यह तो निमित्त की बातें की हैं। आहा...हा...! साधन तो राग से भिन्न पड़ना (और) प्रज्ञा ब्रह्म अनुभव (होना), वह साधन है।

यहाँ उस प्रज्ञा का ज्ञान तो है परन्तु साथ में जो मनुष्यपने की गति है, उसका ज्ञान है और मनुष्यपना (छूटकर) देव में जायेगा, यहाँ से गति बदलकर तो देव में जाना है। आहा...हा...! मुनियों को या धर्मात्मा को और या धर्म के संस्कार पड़े हैं, उन्हें स्वर्ग में जाना है। तो कहते हैं कि वहाँ भी उस देवगति में तन्मयपने, विशेष में तन्मय है, अन्य-अन्य नहीं, अन्य-अन्य नहीं लगता क्योंकि तन्मय है। आहा...हा...!

अन्य-अन्य भासित होता है,.... क्यों? **उन-उन विशेषों के समय तन्मय....** है। उस पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं है। यह क्या कहा? नारक पर्याय के समय मनुष्य नहीं, मनुष्य-पर्याय के समय सिद्ध-पर्याय नहीं, सिद्ध-पर्यायपने नारक और मनुष्य पर्याय नहीं। आहा...हा...! एक ही पर्याय है; इसलिए वह अन्य-अन्य है, तथापि अनन्य है। पर्याय से अनन्य है, पर्याय एक ही इसलिए अन्य-अन्य है। दूसरी पर्यायों से वह अन्य है, इसलिए अन्य-अन्य है। आहा...हा...! परन्तु आत्मा के साथ पर्याय तन्मय है, इसलिए अनन्य है। अरे भाई! ऐसा वीतराग मार्ग है। आहा...हा...!

उन-उन विशेषों से अनन्य है... अनन्य है अर्थात् अन्य-अन्य नहीं। वह-वह सामान्य, उस-उस विशेष में अनन्य है, तन्मय है। आहा...हा...! भले नरकगति है... आहा...हा...! श्रेणिक राजा, पहले नरक में समकिती है, वहाँ के संयोग के साथ तन्मय नहीं। क्षायिक समकिती है, तथापि नरकगति के साथ तन्मय है, उस काल में उतने एक समय मात्र — ऐसा। आहा...हा...! तथापि 'वह गति मेरी है' — ऐसा वे वस्तुदृष्टि से नहीं मानते, परन्तु पर्याय में तन्मय हूँ — ऐसा जानते हैं कि यह पर्याय मुझमें मुझसे है। जानने की बात है न! नरकगति में पहले नरक में है, तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। आहा...हा...! तीन ज्ञान

और क्षायिक सम्यक्त्व लेकर निकलनेवाले हैं, तीन ज्ञान और क्षायिक सम्यक्त्व लेकर माता के गर्भ में आयेंगे। आहा...हा... ! परन्तु वे जानते हैं कि यह पर्याय है, वह मुझमें है। उतनी पर्याय के काल में उस-उस (पर्याय में) मैं पर्याय से तन्मय हूँ, पर्याय से (तन्मय हूँ) द्रव्य से नहीं, आहा...हा... ! **द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है....** किसकी तरह ? (अब) दृष्टान्त देते हैं — **कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति।...** (अर्थात्) लकड़ीमय अग्नि की भाँति **(जैसे घास, लकड़ी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से....)** उस समय अग्नि त्रणमय, काष्ठमय (रूप) परिणमित हुई है न ? आहा...हा... ! **(घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास,....)** (त्रण अर्थात्) तिनका... तिनका। **(काष्ठ...)** (अर्थात्) लकड़ी। **(इत्यादि से अनन्य है,....)** अनन्य है, अन्य-अन्य नहीं। वह अग्नि लकड़ी से, पत्ते से तन्मय है, अनन्य है। यह तो दृष्टान्त दिया है, हाँ! जैसे गति में आत्मा तन्मय है। वस्तु को जाना है, उसे पर्याय जानती है। वह जानती है कि मेरी पर्याय में यह तन्मयपना है। आहा...हा... ! वह पर्याय कोई परद्रव्य में हुई है (— ऐसा नहीं जानता)। आहा...हा... !

उसमें तो ऐसा आया है कि जीव के चौदह भेद नामकर्म के करण के कारण से हुए हैं। नामकर्म करण है, उसके कारण से (हुए हैं)। वहाँ वस्तु का स्वरूप एकदम शुद्ध चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ है, उसमें यह नहीं — ऐसा बताना है और यहाँ उसकी पर्याय के अंश में जितना नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना खड़ा है, (उससे तन्मय है — ऐसा बतलाना है) मनुष्यपना अर्थात् यह शरीर नहीं; अन्दर योग-गति है, वह तन्मयरूप है। जैसे अग्नि लकड़ी या पत्ते जैसे हों, वैसे आकाररूप होती है, तन्मय हो जाती है। अग्नि उस समय अलग रहती है — ऐसा नहीं है; उसी प्रकार आत्मा पाँच में से (पाँच पर्यायों में से) जिस-जिस पर्याय को प्राप्त करता है, उस समय उसमें तन्मय है। आहा...हा... !

(अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास, लकड़ी इत्यादि से अनन्य है,....) अनन्य है अर्थात् अन्य-अन्य नहीं। अग्नि लकड़ी को, कण्डे को, जब जलाती है, तब अग्नि वहाँ तन्मय है, अनन्य है। अग्नि और वह आकार दोनों भिन्न

पड़ जाते हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! एक जगह ऐसा कहते हैं कि घास आदि की अग्नि है, उसी प्रकार जीव जिस पर्यायरूप परिणमित हुआ है, (वह) पर है, आत्मा नहीं — यह (बात) द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से है। आहा...हा... ! परन्तु इस द्रव्यदृष्टि का ज्ञान होने के काल में तब उसकी पर्याय में क्या है — उसका यहाँ ज्ञान कराया है। प्रवचनसार ज्ञान प्रधान ग्रन्थ है। आहा...हा... !

(उसी प्रकार द्रव्य....) जैसे अग्नि उस-उस काल में उस-उस लकड़ी, कण्डे, घास, पत्ते हैं, उस आकार अग्नि पर्याय में तन्मय है। आहा...हा... ! **(उसी प्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय...)** उस-उस समय। आहा...हा... ! **(तन्मय होने से....) (पर्यायरूप विशेषों के समय तन्मय होने से....)** पर्याय, हाँ! **(उनसे अनन्य है - पृथक् नहीं....)** यह गति उसकी पर्याय से अलग नहीं है। आहा...हा... ! जैसे कर्म भिन्न, शरीर भिन्न, कार्माणशरीर भिन्न है, उस प्रकार यह पर्याय उस-उस काल में उनके जैसी पृथक् है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! वह पर्याय अनन्य है, उससे तन्मय है, आहा...हा... ! ऐसा उपदेश कभी सुनने को (मिला नहीं होगा)। सुने तो अकेला पाप के कारण विचार (करने की) फुर्सत नहीं मिलती, पूरे दिन पाप ! कमाना और स्त्री-पुत्र सम्हालना... अकेला पाप। यह पाप का पोटला बाँधकर चला जायेगा। आहा...हा... ! यहाँ तो अभी जिसने द्रव्य को देखा है, उसमें ज्ञान खुला है। अपने को जानने से पर्याय को जानना (वैसा ज्ञान) खुला है; इसलिए वह जानता है कि यह पर्याय मुझमें है, दूसरी कोई चीज मुझमें नहीं है। पुत्र मेरा, स्त्री मेरी, लड़का मेरा, पैसा मेरा, बंगला मेरा, मेरी बड़ी इज्जत... यह सब धूल में, यह तेरी पर्याय में भी नहीं है। आहा...हा... ! अन्य को अपना मानकर तुझे क्या करना है प्रभु ? भटककर मरना है तुझे ? आहा...हा... ! दुनिया को जँचे या न जँचे, वस्तुस्थिति यह है। आत्मा के अतिरिक्त बाहर की चमक का उल्लसित वीर्य से जरा भी ठीक है, ऐसा लगे.... आहा...हा... ! गजब बात है प्रभु ! तो कहते हैं कि वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे न तो द्रव्य का ज्ञान है और न पर्याय का ज्ञान। आहा...हा... ! आत्मा का द्रव्य और पर्याय के अतिरिक्त परपदार्थ की चाहे जितनी विभूति-वैभव दिखाई दे, उसे और तेरे पर्याय में भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! मात्र तेरी पर्याय में गति हुई है,

वह तुझमें तन्मय है। आहा...हा... ! (वह भी) उस-उस काल में, वापस उस-उस काल में; वह सदा रहनेवाली नहीं होती। मनुष्यगति बदलकर एकदम देवगति हुई, देवगति बदलकर एकदम मनुष्यगति होगी, मनुष्यगति मिटकर एकदम सिद्धदशा होगी। आहा...हा... ! वह पर्याय तुझमें अन्य-अन्य है, परन्तु है तुझमें अनन्य। अन्य-अन्य है, तथापि अनन्य है। ये तो पाँच पर्यायें हैं, इसलिए अन्य-अन्य कही है परन्तु तेरे साथ वे अनन्य हैं। आहा...हा... ! अब ऐसा समझने के लिये रुके और कहाँ समय मिले ? आहा...हा... ! ओहो...हो... ! सन्तों ने तो अमृत का प्रवाह बहाया है ! आहा...हा... !

प्रभु ! तेरे और परद्रव्य के कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ ! आहा...हा... ! यह मेरा पुत्र और मेरे पुत्र की बहू और..... आहा...हा... ! इसे पाँच-दस हजार, बीस हजार के गहने बनवाये हों और पहनकर निकले वहाँ प्रसन्न होता है कि मेरे पैसे खर्च किये तो लोक में जानने में तो आ गया ! आहा...हा... ! प्रभु ! तू कहाँ गया ? कहाँ खो गया तू ? आहा...हा... ! पर के अटकाव में तू खो गया, प्रभु ! पर्याय से खो गया। द्रव्य तो ठीक ! आहा...हा... ! प्रत्येक गाथा में अमृत भरा है ! यह वार्ता नहीं, प्रभु ! आहा...हा... ! यह तो भगवत् कथा है। आहा...हा... ! यह अरबों रुपये और करोड़ों रुपये और महल और मकान.... यह तो अभी साधारण मकान है। अरबों के मकान (होते हैं)। कोई कहे, यह जो पड़ा है वह दो अरब का था। यह पड़ा न ? (यह) दो अरब का था। कहीं पड़ा है, इस ओर कहीं नहीं आया, समुद्र में (पड़ा है)। जिस समय में जिस क्षेत्र में जिस प्रकार से होना है, उसमें कोई (परिवर्तन नहीं होता)। लोगों को इतना डर लगा कि हाय... हाय... हाय... यहाँ पड़ेगा तो ! यहाँ पड़ेगा तो ! यहाँ पड़ेगा तो ! परद्रव्य की अवस्था तो तुझे स्पर्श भी नहीं करती न ! आहा...हा... ! इसकी तुझे क्या चिन्ता है ?

मात्र द्रव्य के स्वभाव को देखकर, पर्याय के अस्तित्व में पाँच गति है; पाँच गति है न ? चार गति और सिद्ध गति (ऐसी) पाँच गति है। वह पर्याय उस-उस काल में तुझमें तन्मयरूप है। आहा...हा... ! सिद्ध के समय सिद्ध की पर्याय तुझमें तन्मयरूप है, तब दूसरी गति है ही नहीं और एक दूसरी गति के समय तन्मय है, तब सिद्धगति और दूसरी गति नहीं है। आहा...हा... ! मनुष्यगति के काल में तेरी पर्याय मनुष्यगति में तन्मय है, तेरा

द्रव्य उसमें तन्मय है। उस समय देवगति और सिद्धगति या दूसरी गति तुझमें अभी है ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

(उस-उस पर्यायोंरूप) **(विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है - पृथक् नहीं है।)** यह पर्याय को देखने की बात की परन्तु यह पर्याय अर्थात् गति, उसमें क्रोध, मान, राग और द्वेष की बात भी नहीं की है। यह तो गति है, यह तो गति है ही और यह गति भी आयु हो, तब तक रहती है, तथापि समय-समय में तन्मयपना भिन्न-भिन्न है। आहा...हा...! पचास-साठ — सौ वर्ष मनुष्यपना रहे; इसलिए सौ वर्ष में वह की वही पर्याय सौ रूप रही है — ऐसा नहीं है। उस-उस पर्याय — अवस्था में वह द्रव्य उस काल में तन्मय है। जैसे अग्नि काष्ठ, कण्डे में तन्मय है (उसी प्रकार)। आहा...हा...!

अब, तीसरी बात करते हैं। यह तो एक चक्षु को बन्द करके दूसरी चक्षु से देखना — ऐसा कहा। **और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर....** आहा...हा...! प्रमाण (हुआ)। तुल्यकाल में — एक समय में। सामान्य को जाने.... यहाँ तो जानने की बात है न? सामान्य का आदर है, वह तो एक ही प्रकार का है, विशेष का आदर भी — ऐसा नहीं परन्तु यहाँ तो ज्ञान में जैसे सामान्य को जानता है, वैसे विशेष को भी जानता है। आहा...हा...! विशेष भले ही आदरणीय नहीं, आश्रय करने योग्य नहीं, आहा...हा...! क्षायिकभाव भी आश्रय करने योग्य नहीं, तथापि उदयभाव गति के साथ तन्मय है — अभी (तो ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? समय-समय का द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व किस प्रकार है? — उसकी सिद्धि करते हैं। आहा...हा...!

और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखों को एक ही साथ खोलकर.... आहा...हा...! क्षयोपशम है न? दोनों को जानने का उघाड़ है न? **उनके द्वारा और इनके द्वारा (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षुओं के) द्वारा....** दोनों के द्वारा। आहा...हा...! **देखा जाता है....** द्रव्य सामान्य है, वह देखने में आता है और वह द्रव्य पर्याय में तन्मय है — ऐसा भी देखने में आता है; दोनों एक साथ देखने में आते हैं। आहा...हा...! जानने की अपेक्षा बात ली है न? **(द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक चक्षुओं**

के द्वारा) देखा जाता है.... (अर्थात्) जानने में (आता है) । **तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायों में रहनेवाला जीव सामान्य.....** पाँच पर्यायों में रहनेवाला जीव सामान्य.... पाँच पर्यायें अर्थात् एक समय में पाँच (पर्यायें) नहीं परन्तु उस-उस समय में एक-एक (पर्याय) ऐसी भिन्न-भिन्न समय में पाँच पर्यायों में रहनेवाला जीव।

नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायों में रहनेवाला जीव.... ऐसा कहा न ? आहा...हा... ! ऐसा जीव सामान्य तथा **जीव सामान्य में रहनेवाले....** अन्यत्व में रहनेवाला जीव सामान्य, अन्य-अन्य पर्यायों में रहनेवाला जीव सामान्य **तथा जीव सामान्य में रहनेवाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष तुल्य काल में ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं ।....** आहा...हा... ! जिसे मुख्य और गौण करके सामान्य को देखने का कहा था और पर्याय को देखने के काल में सामान्य द्रव्य को देखने का छोड़ दिया था, उन दोनों को समकाल में देखने के लिये प्रमाणज्ञान है। आहा...हा... ! पर को देखने के लिये यहाँ प्रश्न है नहीं, क्योंकि पर को जानता है, वह पर्याय अपनी है; वह कहीं पर के कारण हुई है और पर को जानता है, इसलिए उसके कारण यह पर्याय हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

एक आत्मा के द्रव्य और पर्याय के अतिरिक्त अनन्त द्रव्य के और पर्याय के गर्व को उठा लेने की बात है। यदि कहीं भी गर्व रहा (तो अन्दर नहीं आ सकेगा) आहा...हा... ! सामान्य प्रभु तू त्रिकाली द्रव्य और पाँच विशेष पर्यायें; उस-उस समय पर्याय में तन्मय, पाँचों एक साथ नहीं; उस-उस गति के समय एक में ही अन्य-अन्य, तथापि अनन्य। इसी प्रकार दूसरे के साथ — अन्य के साथ अनन्य कभी नहीं होता। पर्याय है, वह अन्य -अन्य है, तथापि अनन्य है। एक पर्याय के समय दूसरी गति नहीं है, तथापि उस पर्याय के साथ अनन्य है। वैसे ही दूसरे द्रव्य अन्य हैं, उनके साथ कभी भी — एक समय भी अनन्य है, यह तीन काल में नहीं। आहा...हा... ! यह पुस्तक और पृष्ठ और सब अन्य द्रव्यों की पर्यायें हैं, आहा...हा... ! और उन्हें जानना, यह भी नहीं रहा; उन्हें जानने के काल

में तो तेरी ज्ञान की पर्याय है, उसमें तू तन्मय है; उन्हें जानने में तन्मय है — ऐसा नहीं है। क्या कहा, समझ में आया? आहा...हा...! जानने में आया (कि) यह है... यह शास्त्रादि है, वह ज्ञान की पर्याय कहीं उनमें तन्मय नहीं है, दूसरे काल में विशेष जानने में आया परन्तु उस काल में भी उस पर के साथ तन्मय नहीं है, वह अन्य-अन्य पर्याय है; इस कारण पर्याय की अपेक्षा से अन्य-अन्य कहा जाता है, तथापि द्रव्य की अपेक्षा से उसे अनन्य कहा जाता है। वह द्रव्य से कहीं पृथक् नहीं है। आहा...हा...! जैसे, दूसरे द्रव्य और पर्यायें अत्यन्त भिन्न हैं, ***सेडे अने सीमारे क्यो मेल न थी।*** स्वद्रव्य की पर्याय और (स्व) द्रव्य को दूसरे (द्रव्य की) पर्याय के साथ कहीं मेल नहीं है। आहा...हा....! जिसके साथ ५०-६० वर्ष बिताये हों, ७०-७०, ८०, १०० वर्ष (बिताये हों) परन्तु कहते हैं कि एक समय भी उसके साथ तन्मय नहीं है; अन्य है, वह अन्य ही है और यह पर्याय अन्य है, वह पर्याय (स्व के साथ) अनन्य है। आहा...हा...! कितने स्थानों से इसे उठाकर रखना। आहा...हा...!

(अब कहते हैं) **वहाँ, एक आँख से देखा जाना वह एकदेश अवलोकन है...** एक चक्षु द्वारा देखने पर एकदेश का अर्थात् एक भाग का ज्ञान है। **और दोनों आँखों से देखना वह सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है।....** वह सम्पूर्ण अवलोकन है। जानने की अपेक्षा बात है न? आदरणीय क्या है? — वह प्रश्न अभी नहीं है। आदरणीय तो वहाँ क्षायिकभाव भी आदरणीय नहीं है। आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहे कि क्षायिकभाव परद्रव्य, परभाव, हेय है। यहाँ गति का उदयभाव (जो कहा, वह) है हेय, परन्तु है तुझमें। एक-एक गाथा कितनी गम्भीरता से भरी है! ऐसे का ऐसा पढ़ जाये (तो कुछ काम नहीं आता) आहा...हा...!

इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व.... (अर्थात्) अन्य-अन्य पर्याय **और अनन्यत्व....** वर्तमान अपेक्षा से अनन्यत्व है। वह पर्याय द्रव्य से पृथक् नहीं है — ऐसा। **विरोध को प्राप्त नहीं होते। अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।** क्या कहा? कि गति की पाँच पर्यायें हैं, वे गति की पर्याय अपेक्षा से एक-एक (गति) है, वह अन्य-अन्य है, पृथक्-पृथक् है। वे जो चार (पर्याय) है, वह यहाँ नहीं। सिद्ध (पर्याय) है, उसमें वे चार नहीं। इस अपेक्षा से तो अन्य-अन्य है, अलग-अलग

है, परन्तु आत्मा की अपेक्षा से, आत्मा उनमें तन्मयरूप से वर्तता है, इसलिए अनन्य है। आहा...हा...! ऐसा समझने का समय कब मिले? पूरे दिन जगत् के पाप! स्त्री-पुत्र, परिवार.... अरे...रे...! कहाँ जायेगा? बहुत से तो मरकर तिर्यंच में जानेवाले हैं, पशु होनेवाले हैं। आहा...हा...! जिन्हें अभी पुण्य का भी ठिकाना नहीं, धर्म तो कहाँ रहा? आहा...हा...! अरे...रे...!

यहाँ तो पर के सम्बन्ध से तो सर्वथा भिन्न ही कर दिया, भिन्न ही है। जिनसे — पर सर्वथा भिन्न है, उसकी व्यवस्था में रुक जाना! आहा...हा...! भाई! ऐसा है। कहाँ स्त्री, कहाँ पुत्र, कहाँ बहू, कहाँ मकान, कहाँ वस्त्र, कहाँ गहने, कहाँ इज्जत.... आहा...हा...! पर और शरीर की पर्याय कहाँ, किस काल में (होती है)? उसे और तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! प्रभु उसके लिए तू रुक गया, तूने तेरे (और) तेरे द्रव्य-पर्याय की स्थिति को नहीं देखा। आहा...हा...! यह यहाँ कहना चाहते हैं। तात्पर्य तो यह है (यह सब) कहकर अकेले बात सुनाना है (ऐसा नहीं) आहा...हा...!

भावार्थ — विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. १२८ दिनाङ्क ०८ जुलाई १९७९

प्रवचनसार गाथा ११४ का भावार्थ। **प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषस्वरूप ही है** — ऐसा कहकर क्या कहना है? कि द्रव्य में जो विशेषपना भासित होता है, वह उसका स्वरूप है। विशेष कहीं पर के कारण होता है — ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषस्वरूप है, अर्थात् सामान्य है, वह ध्रुवरूप (है, वह तो) ठीक, परन्तु विशेष में — पर्यायों में परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन होता है, उसमें किसी पर की अपेक्षा है या नहीं? नहीं। उसका परिवर्तन होना, वह तो उसका — पर्याय का स्वभाव ही है। आहा...हा...! इस कारण उसमें किसी द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! यह सिद्धान्त बैठना....

पूरी दुनिया — चौदह ब्रह्माण्ड में अनन्त-अनन्त द्रव्य सामान्य-विशेषस्वरूप विराजमान है। उसके विशेष के लिये किसी की अपेक्षा नहीं है। किसी काल में किसी क्षेत्र

में कोई प्रतिकूल संयोग से अथवा अनुकूल संयोग से उसकी अवस्था को पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! उसकी अवस्था उसके काल में स्वतन्त्र होवे — ऐसा ही उसका सामान्य (रूप) रहकर विशेषरूप परिवर्तन होना, यह उसका स्वरूप है। आहा...हा...! **इसलिए प्रत्येक द्रव्य वह का वही भी रहता है....** (अर्थात्) ध्रुवरूप से प्रत्येक द्रव्य वह का वही रहता है। सामान्यरूप से जिसमें बदलना नहीं — ऐसी स्थितिरूप से वह का वही रहता है **और बदलता भी है।....** (अर्थात्) पलटता भी है। आहा...हा...! पलटना तो उसका पर्याय का धर्म ही है। पर्याय किसी पर के कारण परिणमित होती है (ऐसा नहीं है)। किसी भी द्रव्य की — परमाणु की या आत्मा की, नरक के जीव की या निगोद के जीव की, परमाणु की या स्कन्ध की किसी (भी) द्रव्य की कोई (भी) पर्याय विशेषरूप होने का उसका अपना स्वभाव है। उसमें विशेषपना लगे, वह विशेषपना पर के कारण, संयोग के कारण लगे, वह दृष्टि विपरीत है। आहा...हा...! यह बात इसे (जमना चाहिए)। शब्द सामान्य है (परन्तु) वस्तु का बंटवारा (विभाजन) (होना चाहिए)। (स्वयं) अनन्त से भिन्न है।

प्रत्येक द्रव्य एक क्षेत्र में रहा होने पर भी... एक आकाश के प्रदेश में छह द्रव्य हैं, भले पूरा असंख्य प्रदेशी आत्मा आकाश के एक प्रदेश में नहीं, असंख्य प्रदेश एक जीव के — ऐसे-ऐसे अनन्त जीवों के असंख्यात प्रदेश! एक जीव एक प्रदेश में नहीं रह सकता, एक जीव आकाश के असंख्य प्रदेशों में रहता है, तथापि कहते हैं कि आकाश की पर्याय की अपेक्षा से वहाँ वह रहा हुआ है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त का कथन है। वह भी (एक बात) आती है न? कि यदि पर को आकाश का आधार हो तो आकाश का आधार कौन? और परिणमन में, प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में काल का निमित्त है तो काल के परिणमन में (निमित्त) कौन? वह तो एक निमित्तपना सिद्ध करना हो, तब (ऐसा कहते हैं) परन्तु इससे परद्रव्य की पर्याय में कुछ भी घालमेल या फेरफार परद्रव्य से होता है — ऐसा स्वरूप नहीं है। कठिन बात है, बापू! भाषा सादी है।

चौदह ब्रह्माण्ड में अनन्त द्रव्य स्वयं से सामान्य और विशेषरूप रहते हैं। अपने सामान्य को तो पर की अपेक्षा होती ही नहीं परन्तु पलटने की भिन्न-भिन्न अनेक अवस्थाएँ होती हैं, इससे ऐसा लगता है कि मानो पर की कोई अपेक्षा होगी ? (तो कहते हैं) नहीं; वह सामान्य **वह का वही भी रहता है और बदलता भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक....** सामान्य और विशेष उसका स्वरूप ही है। विशेषपना पर के कारण होता है — ऐसी कोई चीज नहीं है। आहा...हा... !

एक आत्मा को अपने सामान्य-विशेष के लिये अनन्त-अनन्त पदार्थ में किसी तीर्थङ्कर की भी उसे आवश्यकता नहीं है। आहा...हा... ! शास्त्र में तो बहुत जगह आता है — गुरु के चरण-कमल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है — ऐसी भाषा बहुत आती है। (उसमें) बात तो (यह है) कि वहाँ निमित्त कैसा होता है ? — इतना बतलाना है, वरना सम्यग्दर्शन की पर्याय विशेष है; सामान्य स्वयं कायम है और सम्यग्दर्शन की विशेष पर्याय है परन्तु वह विशेषपना भी उसका अपना स्वरूप है; वह विशेषपना किसी पर की अपेक्षा से हुआ है, (अर्थात्) कर्म का उघाड़ हुआ और दर्शनमोह का अभाव हुआ, इसलिए सम्यग्दर्शन की पर्याय हुई (— ऐसा होवे) तो वहाँ विशेष का अपना सामर्थ्यपना है, वह नहीं रहता। समझ में आया ?

मुमुक्षु : तत्त्वार्थसूत्र में तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निमित्त के कथन हैं। तत्त्वार्थसूत्र में यह आता है — **'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः'** — प्रत्येक द्रव्य के गुण उस द्रव्य के आधार से (रहते हैं) और गुण के आधार से गुण नहीं (रहते हैं)। यह सूत्र है और नित्य भाव है, वह परिणमता है। आहा...हा... ! तद्भाव परिणाम ! परिणमन उसका स्वरूप है। आहा...हा... !

सम्यग्दृष्टि जीव अपने सामान्य विशेष के अतिरिक्त पर पदार्थ से अन्तर में अत्यन्त उदास है। आहा...हा... ! किसी पर की अपेक्षा से मुझमें फर्क पड़ेगा और मेरे कारण पर की अवस्था में कहीं किसी जगह कुछ फर्क पड़ेगा — यह दृष्टि, सम्यग्दृष्टि की नहीं है। आहा...हा... ! बात तो थोड़ी है परन्तु उसकी गम्भीरता बहुत समाहित की है। आहा...हा... !

द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक.... (अर्थात्) सामान्य और विशेषस्वरूप

ही वह है। **द्रव्य के अनन्यत्व में और अन्यत्व में....** वह-वह पर्याय वह पहले नहीं थी, इसलिए हुई, इस अपेक्षा से अन्य-अन्य है और वह-वह पर्याय उस द्रव्य के साथ अनन्य है, इन दोनों में विरोध नहीं है। अन्यत्व भी कहलाता है और अनन्यत्व भी कहलाता है। पहले नहीं थी और दूसरी हुई और उस काल में — सिद्ध (पर्याय) के समय नरकगति या मनुष्यगति नहीं अथवा मनुष्यगति के समय सिद्धगति नहीं; इस कारण अन्य-अन्य कहलाता है, तथापि वह अन्य-अन्य (पर्याय) अनन्य है। (अर्थात्) उस द्रव्य से वह विशेष अनन्य है। आहा...हा...! समझ में आया ? ऐसा स्वरूप! बेचारी महिलाओं को समय नहीं मिलता, जिन्दगी चली जाती है। आहा...हा...! मनुष्यपने की आयु है, (वह तो) जितनी है, उतनी ही है। जितने काल देह में रहने का विशेषपना स्वयं के कारण है, उतने काल रहेगा, आयु के कारण कहना, वह भी एक निमित्त (का कथन) है। आहा...हा...! इस स्थिति में अपनी सामान्य-विशेष द्रव्यशक्ति पर से पृथक् यदि नहीं सम्हाली और पर के कारण मुझमें कुछ भी परिवर्तन होता है, और मुझसे पर में कुछ भी परिवर्तन होता है (— ऐसी मान्यता चालू रह गयी तो) उसका परिभ्रमण नहीं मिटेगा, प्रभु! आहा...हा...! उसके भव-भ्रमण का चक्र विपरीत दृष्टि के कारण नहीं मिटेगा।

यहाँ कहते हैं (द्रव्य) **ऐसा उभयात्मक होने से द्रव्य के अनन्यत्व में....** अनन्य (अर्थात्) वह पर्याय, द्रव्य से अनन्य ही है। **और अन्यत्व में....** पहले नहीं थी तथा अन्य हुई है, इस कारण अन्य भी कहा जाता है और अनन्य भी कहा जाता है।

जैसे — मरीचि और भगवान महावीर का.... ऋषभदेव भगवान के समय मारीचि का जीव, आहा...हा...! और महावीरस्वामी। **मरीचि और भगवान महावीर का जीव, सामान्य की अपेक्षा से अनन्यत्व....** है। भिन्न-भिन्न नहीं है। अनन्यत्व है परन्तु **जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व....** है। कहाँ मारीचि की पर्याय और कहाँ भगवान की पर्याय! जीव तो वह का वही है। जीव, सामान्य अर्थात् कायम रहनेवाले की अपेक्षा से अनन्यत्व है परन्तु जीव के विशेषों की अपेक्षा से अन्यत्व है। कहाँ मारीचि की पर्याय और कहाँ भगवान की पर्याय! वह अन्य-अन्य ही है। यह वस्तु के स्वरूप की स्थिति में है, इसमें किसी पर की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! (इस प्रकार) **किसी प्रकार का विरोध नहीं है।**

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्यसामान्य ही ज्ञात होता है,.... पर्याय को देखनेवाली आँख को बन्द करके द्रव्य को देखने की जो आँख (है वह) खुलती है, (उसे) उघाड़े तो द्रव्य सामान्य ज्ञात होता है। **इसलिए द्रव्य अनन्य अर्थात् वह का वही भासित होता है....** द्रव्यार्थिक (चक्षु से देखने पर) तो अनन्त-अनन्त काल में वह का वही भासित होता है। **और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी एक चक्षु से देखने पर, द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं,....** विशेष में अन्तर, बड़ा अन्तर! **इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।....** कहाँ मारीचि की पर्याय और कहाँ तीर्थङ्कर केवली की पर्याय। आहा...हा...! कहाँ निगोद के एक अक्षर के अनन्तवें भाग की पर्याय... आहा...हा...! और (कहाँ) वह जीव (वहाँ से) निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त करे! आहा...हा...! सामान्य की अपेक्षा से वह का वही जीव, परन्तु विशेष की अपेक्षा से तो (महान अन्तर)! आहा...हा...! निगोद में अक्षर के अनन्तवें भाग का उघाड़ (हो) और वहाँ से (निकलकर) मनुष्य हो.... क्योंकि वहाँ भी शुभभाव है, पर्याय में शुभभाव है, और शुभभाव के समय वह आत्मा (उसमें) तन्मय है। आहा...हा...! और उसके फलरूप जब मनुष्यपना होता है, उस मनुष्यपने में विशेष दशा (प्रगट होती है)। वहाँ कहाँ अक्षर का अनन्तवाँ भाग (ज्ञान का उघाड़) और यहाँ आठ वर्ष में जहाँ अन्तर्मुख नजर करता है... आहा...हा...! जहाँ भगवान पूर्ण सामर्थ्य के स्वभाव से भरपूर भगवान, (उस पर) अन्तर्मुख नजर करता है, वहाँ केवलज्ञान होता है! आहा...हा...! ऐसी बात है। वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है! लोगों ने ऐसा सामान्य मानो साधारण हो... यह दया पालना, यह इच्छामि पडिक्कमा (करना) सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, सचित्त नहीं खाना, रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करना, उपवास करना, और यह सब संवर तथा धर्म! व्रत करना, यह संवर और यह तप — अपवास करना, वह निर्जरा! अरे...रे! कहाँ का कहाँ (लगा दिया) प्रभु!

वीतराग सर्वज्ञदेव परमात्मा! उन्होंने कहा हुआ द्रव्य का और पर्याय का स्वभाव (ऐसा है)। भले भिन्न-भिन्न पर्याय हो, तथापि द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय स्वयं अन्य-अन्य नहीं है, अनन्य है। पर्याय की अपेक्षा से पहले नहीं थी और हुई, इसलिए अन्य भी कही जाती है परन्तु उसे और उसे तथा उसी-उसी में।

अरबोंपति खम्बा-खम्बा होती हो, गद्दी पर बैठा हो, दुकान में गद्दी पर बैठा हो, पच्चीस-पचास नौकर हों... आहा...हा... ! (वह) ऐसे फू... हो जाता है... मरकर सातवें नरक जाये ! आहा...हा... ! पर्याय में इस अपेक्षा से अन्य-अन्य है, अन्य पर्याय ! क्षण में अन्य, क्षण में अन्य... ! आहा...हा... ! तथापि आत्मा के साथ अन्य नहीं। आत्मा के साथ तो पर्याय अनन्य ही है। आहा...हा... ! उसमें आत्मा ही वर्तता है। आहा...हा... !

पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी एक चक्षु से देखने पर, द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।.... देखा ! पर्याय से देखे तो अन्य-अन्य भासित होता है। द्रव्य से देखे तो अनन्य है और द्रव्य से उसकी पर्याय देखे तो भी अनन्य ही है। पर्याय से द्रव्य कोई अलग नहीं है। आहा...हा... !

दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओं से देखने पर.... वस्तु सामान्य ध्रुव भी है और विशेष पर्याय भी है (ऐसा) **दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिए द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है।** ●●

याचना करना मुनिराज का मार्ग नहीं

मुनिवर, भक्तों के हाथ से विधिपूर्वक दिया गया निर्दोष आहार ही लेते हैं; प्राण चले जाएँ, तथापि आहारादि की याचना नहीं करते। याचना करना, मुनियों का मार्ग नहीं है किन्तु वह तो भिखारियों का मार्ग है। मुनि तो सिंहवृत्तिवाले होते हैं। वीतरागमार्ग के निस्पृह मुनिवर, आहार के लिए कभी याचना नहीं करते, किन्तु भक्त खूब बहुमानपूर्वक योग्य विधि से आहार देते हैं, तब आहार ग्रहण करते हैं। भरत चक्रवर्ती जैसे भी भोजन के समय आहारदान के लिए मुनिवरों की प्रतीक्षा करते थे कि अहो ! कोई मुनिराज पधारें तो अपने आँगन में आहार के लिए पड़गाहन करूँ। इस प्रकार भक्तों द्वारा भक्तिपूर्वक हाथ में दिया गया निर्दोष आहार ही मुनि लेते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - ११५

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति -

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।।११५।।

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम्।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा।।११५।।

स्यादस्त्येव १, स्यान्नास्त्येव २, स्यादवक्तव्यमेव ३, स्यादस्तिनास्त्येव ४, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १, पररूपेण २, स्वपर-रूपयौगपद्येन ३, स्वपररूपक्रमेण ४, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५, पररूपस्वपररूप-यौगमद्याभ्यां ६, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः ७, आदिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपर-रूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाण-स्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेध-विषमोहमुदस्यति।।११५।।

एवं सदुत्पादासदुत्पादकथनेन प्रथमा, सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया, तथैवासदुत्पादविशेष-विवरणरूपेण तृतीया, द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तस्थलं गतम्। अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवाद-निषेधिकां नयसप्तभङ्गीं विस्तारयति - **अत्थि त्ति य** स्यादस्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित्। कथंचित्कोऽर्थः। विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन। तच्चतुष्टयं शुद्धजीवविषये कथ्यते। शुद्धगुणपर्यायाधारभूतं शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यं भण्यते, लोकाकाशप्रमिताः शुद्धासंख्येयप्रदेशाः क्षेत्रं भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूप-परिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते, शुद्धचैतन्यं भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टय इति प्रथमभङ्गः १। **णत्थि त्ति य** स्यान्नास्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण

परद्रव्यादिचतुष्टयेन २। **हवदि भवति।** कथंभूतम्। **अवत्तव्वमिदि** स्यादवक्तव्यमेव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ३। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यं, स्याननास्त्येवावक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्यम्। **पुणो** पुनः इत्थंभूतम् किं भवति। **दव्वं** परमात्मद्रव्यं कर्तृ। पुनरपि कथंभूतं भवति। **तदुभयं** स्यादस्तिनास्त्येव। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४। कथंभूतं सदित्थमित्थं भवति। **आदिट्ठं** आदिष्टं विवक्षितं सत्। केन कृत्वा। **पज्जाएण दु** पर्यायेण तु, प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु। कथंभूतेन। **केण वि** केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण। **अण्णं वा** अन्यद्वा संयोगभङ्गत्रयरूपेण। तत्कथ्यते - स्यादस्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५। स्यान्नास्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६। स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्यं। स्यादिति कोऽर्थः। कथंचित् विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७। पूर्वं **पञ्चास्तिकाये** स्यादस्तीत्यादि-प्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव, यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभङ्गी-ज्ञापनार्थमिति भावार्थः। यथेदं नयसप्तभङ्गीव्याख्यानं शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासंभवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति।।११५।।

अब, समस्त विरोधों को दूर करनेवाली सप्तभङ्गी प्रगट करते हैं —

अस्ति अरु है नास्ति, अवक्तव्य वो ही द्रव्य है।
अरु उभय को पर्याय से, या अन्य त्रि-भङ्गरूप है॥

अन्वयार्थ - **[द्रव्यं]** द्रव्य **[अस्ति इति च]** किसी पर्याय से 'अस्ति' **[नास्ति इति च]** किसी पर्याय से 'नास्ति' **[पुनः]** और **[अवक्तव्यम् इति भवति]** किसी पर्याय से 'अवक्तव्य' है, **[केनचित् पर्यायेण तु तदुभयं]** और किसी पर्याय से 'अस्ति-नास्ति' **[वा]** अथवा **[अन्यत् आदिष्टम्]** किसी पर्याय से अन्य तीन भंगरूप कहा गया है।

टीका - द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षा से 'स्यात् अस्ति'[१]; (२) पररूप की अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति'; (३) स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अवक्तव्य[१]';

---

१. **'स्यात्' = कथंचित्; किसी प्रकार; किसी अपेक्षा से। (प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा से-स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से — 'अस्ति' है। शुद्ध जीव का स्वचतुष्टय इस प्रकार है — शुद्ध गुणपर्यायों का आधारभूत शुद्धात्मद्रव्य वह द्रव्य है; लोकाकाशप्रमाण शुद्ध असंख्यप्रदेश वह क्षेत्र है, शुद्ध पर्यायरूप से परिणत वर्तमान समय वह काल है, और शुद्ध चैतन्य वह भाव है।)**

(४) स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति'; (५) स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्तिअवक्तव्य'; (६) पररूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति,' अवक्तव्य; और (७) स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' है।

द्रव्य का कथन करने में, (१) जो स्वरूप से 'सत्' है; (२) जो पररूप से 'असत्' है; (३) जिसका स्वरूप और पररूप से युगपत् 'कथन अशक्य' है; (४) जो स्वरूप से और पररूप से क्रमशः 'सत् और असत्' है; (५) जो स्वरूप से, और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूप से, और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूप से, पर-रूप और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है — ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य के एक एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित-अविवक्षितता[१] के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्काररूपी[३] अमोघ मन्त्र पद के द्वारा 'एव'[४] कार में रहनेवाले समस्त विरोधविष के मोह को दूर करती है॥ ११५॥

प्रवचन नं. १२८ का शेष **दिनाङ्क ०८ जुलाई १९७९**

अब, समस्त विरोधों को दूर करनेवाली सप्तभङ्गी... यह सप्तभङ्गी जैनदर्शन का प्राण है। पंचास्तिकाय में सप्तभङ्गी है परन्तु वह प्रमाण की सप्तभङ्गी है और यह नय

१. अवक्तव्य = जो कहा न जा सके। (एक ही साथ स्वरूप तथा पररूप की अपेक्षा से द्रव्य कथन में नहीं आ सकता, इसलिए 'अवक्तव्य' है।)

२. विवक्षित (कथनीय) धर्म को मुख्य करके उसका प्रतिपादन करने से और अविवक्षित (न कहने योग्य) धर्म को गौण करके उसका निषेध करने से सप्तभंगी प्रगट होती है।

३. स्याद्वाद में अनेकान्त का सूचक 'स्यात्' शब्द सम्यक्तया प्रयुक्त होता है। वह स्यात् पद एकान्तवाद में रहनेवाले समस्त विरोधरूपी विष के भ्रम को नष्ट करने के लिये रामबाण मन्त्र है।

४. अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभाव की अपेक्षा से रहित एकान्तवाद में मिथ्या एकान्त को सूचित करता हुआ जो 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, वह वस्तुस्वभाव से विपरीत निरूपण करता है, इसलिए उसका यहाँ निषेध किया है। (अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभाव का ध्यान चूके बिना, जिस अपेक्षा से वस्तु का कथन चल रहा हो, उस अपेक्षा से उसका निर्णीतत्व, नियमबद्धत्व, निरपवादत्व बतलाने के लिये 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए।)

की सप्तभङ्गी है। समझ में आया ? भाषा तो वह की वही हो परन्तु कहनेवाले की अपेक्षा से आशय से प्रमाण और नय में फर्क पड़ता है। कहनेवाले का आशय यह हो कि स्व-चतुष्टय से है — ऐसा कहकर द्रव्य के सामान्य-विशेष दोनों का ज्ञान करना हो तो वह प्रमाण हुआ और यहाँ नय (की) सप्तभङ्गी है। स्वयं स्व-चतुष्टय से है, इतना पहले (बतलाना है)। देखो!

अब, समस्त विरोधों को दूर करनेवाली सप्तभङ्गी प्रगट करते हैं —

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।।११५।।

अस्ति अरु है नास्ति, अवक्तव्य वो ही द्रव्य है।
अरु उभय को पर्याय से, या अन्य त्रि-भङ्गरूप है॥

यह पंचास्तिकाय में आता है। **टीका - द्रव्य (१) स्यात्....** (स्यात् अर्थात्) कथंचित्, किसी प्रकार से, किसी अपेक्षा से; (प्रत्येक द्रव्य स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से — स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से अस्ति है।) आहा...हा...! प्रत्येक आत्मा — चाहे तो अभव्य का हो या भव्य का हो, अथवा परमाणु हो या स्कन्ध (हो) परन्तु उस स्कन्ध का परमाणु भी स्वचतुष्टय से है (अर्थात् अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है)। स्कन्ध में भी स्कन्ध के कारण पर में एकमेक हो गया है — ऐसा नहीं है। इसमें (— हाथ में) परमाणु है वे इसमें एकमेक हो गया है — ऐसा नहीं है, भिन्न है। स्व-चतुष्टय से अस्ति है। वह दूसरे के सम्बन्ध में आया, इसलिए अस्ति है — ऐसा नहीं है। इसमें सिद्ध का उतारा है, (सिद्ध पर घटित किया है)। है न ? स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्ति है (मूल पुस्तक में नीचे फुटनोट में है) ***शुद्ध जीव का स्वचतुष्टय इस प्रकार है — शुद्ध गुणपर्यायों का आधारभूत.....*** शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों का आधारभूत ***शुद्धात्मद्रव्य वह द्रव्य है;....*** वह द्रव्य है। स्व से द्रव्य है। ***लोकाकाशप्रमाण शुद्ध असंख्यप्रदेश वह क्षेत्र है,.....*** स्वक्षेत्र से है। आहा...हा...! जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं, उन सिद्ध भगवान के पेट में भी अनन्त निगोद के जीव हैं, वे भी स्व-चतुष्टय से हैं। सिद्ध के कारण नहीं और सिद्ध स्व-चतुष्टय से हैं। इस

निगोद में अन्दर अनन्त जीव पड़े हैं, जितने में सिद्ध हैं, उतने में अनन्त जीव पड़े हैं, तथापि उनके (स्वयं के) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सिद्ध भगवान हैं, इन निगोद के जीवों के कारण कुछ भी अन्दर है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

इसकी गम्भीरता मस्तिष्क में आनी चाहिए, ऐसा साधारण माने तो (कुछ नहीं होता।) वैसे तो ग्यारह अंग पढ़ गया है तो उसमें आया है न, द्रव्य को स्पर्शता है, द्रव्य को स्पर्श कर चतुरभंगी का अस्तित्व (समझे) आहा...हा...! पर का छूना, स्पर्श करना, छोड़कर.... व्यर्थ भी पर को स्पर्श नहीं कर सकता। मान्यता थी, उसे भी छोड़कर स्वद्रव्य के चतुष्टय को स्पर्शे, स्वद्रव्य को स्पर्शे, स्व असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र को स्पर्शे, स्वकाल को — पर्याय को स्पर्शे, तथा स्वभाव को स्पर्श।

शुद्ध गुणपर्यायों का आधारभूत शुद्धात्मद्रव्य वह द्रव्य है; लोकाकाशप्रमाण शुद्ध असंख्यप्रदेश वह क्षेत्र है, शुद्ध पर्यायरूप से परिणत वर्तमान समय वह काल है,.... यहाँ तो अभी यह लेना है न? वरना कलश-टीका में तो दूसरा लिया है कि त्रिकाली वस्तु वह स्व काल है और एक समय की उसकी पर्याय है, वह पर काल है। आहा...हा...! वहाँ आगे स्वयं में भेद डालकर अभेद की बात करनी है, और यहाँ पर से भिन्न कराकर अपना जैसा स्वरूप है, उससे उसके स्वकाल में उसकी वर्तमान पर्याय आयी और १५२ कलश में स्वकाल में त्रिकाल (स्वरूप) आया। आहा...हा...!

यह सब समझकर करना क्या परन्तु? बापू! यह समझकर वीतरागता प्रगट करना है और इस त्रिकाल की अपेक्षा से अपने स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में वह तो द्रव्य है, वह वह है। क्षेत्र है, वह वह है। काल है, वह वह है, भाव है, वह वह है (वहाँ) अन्तर्मुख होने पर पूर्ण द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का स्वीकार होने पर जो सत्य दर्शन प्रगट होता है, अनुभव प्रगट होता है, वह यह सब जानने में इसका तात्पर्य तो यह है। आहा...हा...! इसके बिना सब व्यर्थ है, परिभ्रमण नहीं मिटेगा, प्रभु! आहा...हा...! बाहर में लोग मानेंगे कि आहा...हा...! यह बहुत धर्मी है, और यह है.... दुनिया माने परन्तु अन्तर की वस्तु का अनुभव किये बिना इसके भव का अन्त नहीं आयेगा। आहा...हा...! ***और शुद्ध चैतन्य वह भाव है।*** है न?

द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षा से 'स्यात् अस्ति';.... यह शुद्ध स्वरूप पर उतारा है।

स्यात् अस्ति। सर्वथा अस्ति है — ऐसा भी नहीं। सर्वथा भावस्वरूप ही है — ऐसा नहीं। पर से अभावस्वरूप भी है, नास्तिस्वरूप भी है। अभावस्वरूप अर्थात् नास्तिस्वरूप, यह भी उसका स्वरूप है। आहा...हा...! स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा से अर्थात् अपनी अपेक्षा से अस्ति ही है। **स्वरूप की अपेक्षा से....** किसी अपेक्षा से अर्थात् यह — स्वरूप की अपेक्षा से। अपना जो स्वरूप है भगवान आत्मा... यहाँ तो छहों द्रव्यों की बात है, तथापि आत्मा में उसे उतार सकते हैं। स्वरूप की अपेक्षा से भगवान आत्मा अस्ति है, सत्ता है, अस्तिपने है, भावपने है, आहा...हा...! स्व अपेक्षा से-अपने स्वरूप की अपेक्षा से भगवान अस्तिरूप है, मौजूदगीरूप है, हयातिरूप है, वह स्यात् (अस्ति है)। सर्वथा अस्तिरूप है — ऐसा नहीं। यदि सर्वथा अस्तिरूप हो, तब तो स्वयं भी अस्ति है और पर भी अस्ति — ऐसा हो जायेगा। आहा...हा...!

(२) पररूप की अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति';.... आहा...हा...! अभावस्वरूप है। सैंतालीस (शक्तियाँ) में एक 'अभाव' नाम का गुण भी लिया है। भाव नाम का गुण है — अस्तित्व-सत्ता है, वैसे अभावस्वरूप उसका गुण है, नास्तिरूप (गुण है) परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव — तीर्थङ्कर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का भी इस द्रव्य में नास्ति है। आहा...हा...! भगवान की वाणी और भगवान केवलज्ञानी स्वयं, उनकी इस आत्मा में नास्ति है। आहा...हा...! स्यात् अर्थात् अपेक्षा से। यदि सर्वथा नास्ति कहे तो भावरूप अस्ति है, वह बात नहीं रहती। सर्वथा अस्ति कहे तो पर का अभाव है, वह नहीं रहता और सर्वथा नास्ति कहे तो स्व से अस्ति है, वह नहीं रहता। आहा...हा...! **स्यात् नास्ति ही है....** ऐसा शब्द है न? **स्यात् अस्ति ही है, स्वरूप की अपेक्षा से....** स्यात् अस्ति ही है। स्व-स्वरूप की अपेक्षा से **है ही...** और परस्वरूप की अपेक्षा से **नहीं ही।** आहा...हा...! पंच परमेष्ठी के आत्मा की अपेक्षा से यह आत्मा नहीं। समझ में आया? **स्यात् नास्ति ही है....** स्यात् कहा वहाँ एकान्त आ जाता है, इसलिए फिर 'ही' भी कहा। स्यात् 'ही' ऐसा। अपेक्षा से — परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के जो पदार्थ हैं, उनसे भगवान को नास्ति -स्वरूप है। पर के अभावस्वरूप है, वह पर के कारण अभावस्वरूप है (— ऐसा नहीं)। अपना अभावस्वरूप गुण है। जैसा अस्ति भावस्वरूप गुण है, वैसा ही उसका एक अभाव

–स्वभावरूप गुण है परन्तु वह अभाव भी स्यात् नास्ति है, वह अपेक्षा से है। वरना फिर अस्तिपना उड़ जायेगा, सर्वथा नास्ति कहे तो अस्तिपना उड़ जाता है। सर्वथा अस्तिपना कहे तो पर के अभावरूप नास्तिपना उड़ जाता है। आहा...हा...! इसमें दया पालो, अहिंसा पालो, व्रत पालो, अपवास करो... (यह तो) कहीं रहा। यह तो विकल्प की बातें हैं। आहा...हा...!

तीसरा बोल — **(३) 'स्यात् अवक्तव्य' ही है....** अव्यक्तव्य (अर्थात्) कहा नहीं जा सकता ऐसा। क्यों? (क्योंकि) स्यात अस्ति है — ऐसा कहा, अपने से है और पर से नहीं, यह दोपना एक साथ तो कहा नहीं जा सकता। आहा...हा...! (मूल पुस्तक में अवक्तव्य का अर्थ फुटनोट में दिया है।) ***जो कहा न जा सके। (एक ही साथ स्वरूप तथा पररूप की अपेक्षा से द्रव्य कथन में नहीं आ सकता, इसलिए 'अवक्तव्य' है।)*** है? स्वयं है, पर से नहीं, दोनों एक साथ है। स्वयं है वह पहला (है और) पर से नहीं वह बाद में है — ऐसा नहीं है तथा स्व से है, उसी काल में पर से नहीं और जिस काल में पर से नहीं, उसी काल में स्व से है। आहा...हा...! इसमें निवृत्ति ली हुई लड़कियों को तो ठीक परन्तु निवृत्ति न हो उनका क्या करना इसमें? ऐसी बातें, आहा...हा...! और (यह समझे बिना माने कि) हम जैनधर्म करते हैं। बापू! जैनधर्म बहुत अलौकिक है, भाई! आहा...हा...!

जिसमें अनन्त सिद्धों की भी नास्ति! परन्तु 'सर्वथा' नास्ति नहीं (यदि ऐसा होवे तो) अपना अस्तित्व भी नास्तित्व हो जाता है। आहा...हा...! **स्यात् अवक्तव्य ही है....** किस प्रकार? **स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से....** स्वरूप से है, पररूप से नहीं — यह दोनों युगपद् है — एक साथ है और एक साथ होने से दोनों का एक साथ कथन नहीं हो सकता; इसलिए उसे अवक्तव्य कहा गया है।

चौथा **(४) 'स्यात् अस्ति-नास्ति' ही है....** अपने से है — पर से नहीं — ऐसा एक साथ है। **स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से....** ऐसा लिया। पहला स्वरूप से अस्तित्व (दूसरा) पर से नास्ति। फिर स्वरूप और पररूप दोनों एक साथ कहे नहीं जा सकते — ऐसा लिया — अवक्तव्य लिया। स्वरूप से अस्ति-पररूप से नास्ति — ये दोनों

एक साथ हैं; इसलिए उस स्वरूप और पररूप की अपेक्षा से अस्ति-नास्ति है। है? आहा...हा...!

स्यात् — किसी अपेक्षा से अर्थात् अपनी अपेक्षा से अस्ति है, पर की अपेक्षा से नास्ति है ऐसा **स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से....** अस्ति-नास्ति दोनों भी है। अस्ति-नास्ति दोनों एक साथ हैं। आहा...हा...! अपने रूप प्रभु है (और) शरीर और कर्म और.... आहा...हा...! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और देश से नहीं। आहा...हा...! कहते हैं कि अपने रूप है, उसी समय पुत्र, पुत्री, स्त्री, लड़का और मकान, इज्जत और पैसेरूप नहीं है। आहा...हा...! जिस समय स्व से है, उसी समय पर से बिल्कुल नहीं। यह सब क्या करना तब? यह सब? धन्धा-पानी, पाउडर.... आत्मा पाउडररूप नहीं है — ऐसा यहाँ तो कहते हैं। स्यात् आत्मा आत्मारूप है; सर्वथा है (— ऐसा हो) तब तो पर से अभाव — नास्ति है (— ऐसा नहीं रहता)। अभाव हो जाता है और स्यात् पर से नास्ति है। बिल्कुल पर से नास्ति — अभावस्वरूप हो, तो स्व का अस्तिपना नहीं रहता। ओहो...हो...! गम्भीर वाणी है! ऐसे देखो तो सरल शब्द हैं।

एक-एक बाल का एक-एक रजकण स्व-रूप से है और दूसरे अनन्त रजकणरूप तथा अनन्त आत्मारूप नहीं और अपने रूप हैं। पर से बिल्कुल नास्ति हो, तब तो स्व से अस्तिपना उड़ जाता है और दोनों एक साथ हैं। स्व से पहला है और पर से बाद में है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! जिस समय स्व से है, उसी समय पर से नहीं है। आहा...हा...! तो इन सबका क्या करना? यह कारखाना और लड़के (उनका क्या करना?) इसमें है नहीं न! इसमें हो उसका किया जा सकता है और करने में (भी) पर्याय में किया जाता है, द्रव्य में तो (करने का) कुछ है नहीं। पर में नहीं, द्रव्य में नहीं। क्या कहा यह? आत्मा के अतिरिक्त किसी पर में कुछ (करने का) नहीं है तथा अपने द्रव्य में कुछ (करने का) नहीं है। द्रव्य में क्या करना? आहा...हा...! जो कोई अस्ति-नास्तिपने का निर्णय (होता है), वह तो पर्याय में (होता है)। आहा...हा...! द्रव्य में कुछ करने का नहीं है, कुछ छोड़ने का नहीं है। आहा...हा...! द्रव्य में आदरणीय जैसा कुछ (करने का) नहीं है। आदरणीय है, वह तो पर्याय स्वीकार करती है इतना। आहा...हा...! द्रव्य में कुछ करने का है, यह नहीं;

वैसे पर में कुछ करने का है, वह नहीं। आहा...हा... ! इतना सब यह जैनदर्शन.... ! इसे करने का हो तो इसकी पर्याय में, जो अन्य-अन्य होती है, बदलती है, उसमें यह करने का होता है। आहा...हा... !

प्रश्न : अपने लड़के में नहीं ?

समाधान : वहाँ (लड़का) अलग रोटी खाता है और यहाँ (पिताजी) अलग खाते हैं।

मुमुक्षु : पुत्र और पिता इकट्ठे हों तब तो इकट्ठे खाते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इकट्ठे कब थे ? आहा...हा... ! ऐसी बात है भाई ! यह सब कारखाना-फारखाना, अमुक और अमुक... उसमें आत्मा नहीं है। रुपये में आत्मा नहीं है और आत्मा में रुपये नहीं हैं। आहा...हा... !

मुमुक्षु : रुपये मिलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिलते... धूल में भी नहीं मिलते। किसे मिलते हैं ? जो आत्मा में नहीं, वे मिलें ? (यदि मिले) तो (रुपयों की आत्मा में) अस्ति हो गयी। आहा...हा... ! बापू ! वीतराग का मार्ग अलौकिक है ! और यह तो प्रवचनसार है ! भगवान की दिव्यध्वनि ! उसका सार — ऐसा नहीं समझना कि समयसार में ही सब है, एक-एक शास्त्र में अलौकिक गम्भीरता भरी है ! आहा...हा... ! और यह सप्तभङ्गी तो जैनदर्शन का प्राण है।

मुमुक्षु : किसी समय आप कहते हैं कि (समयसार की) ग्यारहवीं गाथा जैनदर्शन का प्राण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस ग्यारहवीं गाथा में ही यह आया है। भूतार्थ है अर्थात् अस्तिरूप हूँ, पर से नास्तिरूप हूँ, पर्याय से भी नास्तिरूप हूँ — ऐसा वहाँ तो आ जाता है, यहाँ यह है। आहा...हा... ! यह प्राण है, उसका यह अर्थ है कि स्व रूप से भूतार्थ-भगवान भूतार्थस्वरूप है, उसका आश्रय ले, आहा...हा... ! उसे नजर में ले; नजर तेरी पर्याय में फिरा करती है और वह पर्याय की नजर पर के लक्ष्य में रहा करती है, वह पर के लक्ष्य में (रहती है) परन्तु पर में कुछ नहीं जाता। यह पर का ज्ञान (होता है), वह तो आत्मा में

ज्ञान होता है। आहा...हा... ! पर का ज्ञान भी नहीं, वह तो ज्ञान की पर सम्बन्धी की पर्याय अपनी है। आहा...हा... ! यह जो परसम्बन्धी की ज्ञान की पर्याय है, वह पर्याय भी स्व-रूप से अस्ति है और पर-रूप से नास्ति है। आहा...हा... ! पर्याय जिसका ज्ञान करती है — उसका उस ज्ञान की पर्याय में नास्तिपना है। अरे... अरे... ! यह तो बहुत आगे गया! जो पर्याय पर का ज्ञान करती है, उस पर का उसमें नास्तिपना है, पर का ज्ञान नहीं। आहा...हा... ! वह पर्याय का ज्ञान है, वह स्वपने के अस्तिरूप स्वयं से है, आहा...हा... ! पररूप वह ज्ञान है ही नहीं; मानता है वह भ्रम है, मिथ्याभ्रम! आहा...हा... ! कठिन काम, बापू! एक वस्तु में दूसरी वस्तु नहीं, पर्याय में दूसरी (वस्तु) नहीं परन्तु ज्ञान की पर्याय पर को जानती है — ऐसा भी नहीं।

मुमुक्षु : फिर कोई लड़का काम नहीं करेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था? जड़ है वह तो। कौन करता है? लड़का किसका? और पिता किसका? लड़के की आत्मा में पिता के आत्मा की नास्ति है, और पिता के आत्मा में लड़के के आत्मा की नास्ति है; अब नास्ति है, उसमें उसका अस्तित्व कहाँ से लाना? आहा...हा... ! अरे...रे!

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का एक-एक वाक्य भेदज्ञान कराता है। आहा...हा... ! तू स्वरूप से है, पररूप से नहीं (ऐसा कहकर) भेद कराया। पृथक् (पने का) अभ्यास कराया। पृथक् का अभ्यास करके स्व में रह। आहा...हा... ! एकान्त लगे। दूसरा क्या हो? बापू! आहा...हा... ! अकेला ***टलबले*** आती है न गाथा? अकेला मरे-अकेला जीवे... व्याधि आयी हो (तब) अकेला (व्याधि का वेदन करता है)। व्याधि को नहीं वेदता द्वेष को वेदता है। व्याधि की तो इसकी पर्याय में नास्ति है। शरीर की व्याधि की जो दशा है वह आत्मा की पर्याय में तो नास्ति है। आहा...हा... ! नास्ति है, उसका वेदन कैसे होगा? परन्तु उसके प्रति अरुचि होकर द्वेष करता है, उसकी उस पर्याय में अस्ति है और व्याधि की नास्ति है। आहा...हा... ! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, प्रभु! अभी तो सर्वत्र गड़बड़ चलती है। सच्ची बात बाहर आयी तब (ऐसा कहने लगे) एकान्त है... एकान्त है... ! 'कानजी' का पन्थ एकान्त है, पन्थ कहाँ था? बापू! यह तो परमात्मा है, उनका पन्थ है।

आहा...हा...! भाई! तू शान्ति से सुन और समझ! इस सुनने की भी जिसमें नास्ति है। आहा...हा...! भगवान आत्मा की पर्याय में सुनने की भाषा का भी अभाव है, भाषा की भी नास्ति है। आहा...हा...!

वह बताया था न? भाई! सर्वज्ञ की वाणी अनुसार जिस प्रकार से समझे... ऐसी भाषा ली है, दूसरी गाथा में (समयसार कलश, दूसरा कलश) वाणी कुछ समझती नहीं परन्तु टीका में ऐसी बहुत अच्छी भाषा ली है। रात्रि में निकाला था न? भाई! टीका में, जिस प्रकार से... अर्थात् समझता है तब उसे निमित्त होती है, इसलिए वह 'जिस प्रकार से' ऐसा (कहा)। समझता है, वह तो स्वयं की पर्याय से समझता है परन्तु उस समय वीतराग सर्वज्ञ की अनुसारणी वाणी निमित्त है; इस कारण जिस प्रकार से ज्ञात होता है, उस प्रकार से जानता है, उसे ऐसा समझना। आहा...हा...! रात्रि में नहीं कहा था? **वाणी तो अचेतन है, उसे सुनते हुए जीवादि पदार्थों का स्वरूप ज्ञान जिस प्रकार से उत्पन्न होता है....** यह भाषा प्रयोग की है। क्योंकि उत्पन्न होता है तो तुझे तेरी योग्यता से परन्तु वहाँ वाणी को निमित्त कहना है और यह बात सिद्ध की है। आहा...हा...! **उसे सुनने पर....** है तो अचेतन, उसकी तो यहाँ नास्ति है, इसलिए ऐसा कहा कि **उसे सुनते हुए जीवादि पदार्थों का स्वरूप ज्ञान जिस प्रकार से उत्पन्न होता है....** तेरी योग्यता से (उत्पन्न होता है) — ऐसा कहते हैं, तब उस वाणी का निमित्त कहा जाता है, तथापि उस निमित्त की तो इसमें — तेरे ज्ञान में नास्ति है। आहा...हा...! टीका बहुत अच्छी की है। **वाणी सर्वज्ञस्वरूप — अनुसारणी है.... पश्यन्ति** का अर्थ किया है। **पश्यन्ति** — अनुभवशील है अर्थात् सर्वज्ञ की अनुसारणी वाणी है। अनुसारणी वाणी (कहा) परन्तु वाणी तो वाणी से है परन्तु सर्वज्ञ उसमें निमित्त है। आहा...हा...! जैसे भगवान लोकालोक में निमित्त हैं, वैसे वाणी में भी निमित्त ही है; इसलिए सर्वज्ञ अनुसारणी ऐसा कहा है न? **ऐसे माने बिना भी नहीं चलता....** व्यवहार है। **वाणी तो अचेतन है, उसे सुनते हुए जीवादि पदार्थों का स्वरूप ज्ञान जिस प्रकार उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जानना कि वाणी का पूज्यपना भी है....** इस अपेक्षा से। आहा...हा...! राजमलजी की टीका है, रात्रि में बात की थी।

(यहाँ अपने) चौथा भंग (चलता है) **स्यात् अस्ति-नास्ति ही है....** (अर्थात्) स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति है, उसी काल में पररूप की अपेक्षा से नास्ति है। क्रम से कहने पर, क्रम से कहा जाता है न? इसलिए पहले अवक्तव्य कहा, क्रम से कहना पड़ता है। एक साथ नहीं कहा जाता, इसलिए अवक्तव्य है। यह क्या कहा? स्वरूप से है और पर से नहीं — ऐसा स्यात् अस्ति-नास्ति का चौथा भंग (है)। जब चौथा भंग सिद्ध करना हो, तब क्रम से हुआ (अर्थात् कि) स्वरूप से है और पररूप से नहीं — ऐसे कथन में क्रम पड़ा, इसलिए कहा कि अवक्तव्य है — एक साथ दोनों नहीं कहे जा सकते और हैं दोनों एक साथ। आहा...हा...!

मुमुक्षु : एक साथ केवली तो कह सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : केवली नहीं कह सकते। केवली की क्रमसर वाणी आती है। पंचास्तिकाय में पहले भाग में — पहली दूसरी गाथा में आता है। वह वाणी भी क्रम से कहती है, वाणी एक साथ (नहीं कहती)।

मुमुक्षु : अस्ति-नास्ति बोला जाता है एक साथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे बोला जाता है एक साथ, परन्तु एक वाणी निकली तो उस वाणी में सब आ गया है? एक समय की वाणी आवे, दूसरे समय में क्रम पड़ता है, उसकी अपेक्षा से है — ऐसे एक साथ भी क्रम आता है, वह अपेक्षा से। पंचास्तिकाय में है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : निरक्षरी कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग वस्तु, वह तो वाणी को निरक्षरी (कहा जाता है)। यहाँ तो आत्मा के लिये क्या? ऐसा (कहना है)। यह वाणी आत्मा के लिये क्या? कि आत्मा को जिस प्रकार से ज्ञान हो, उस प्रकार से उसका निमित्तपना है, इसलिए वह वाणी पूज्य है — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? आ...हा...! केवली परमात्मा! उनकी बातें क्या करना! जिनके एक समय के ज्ञान में छह द्रव्य ज्ञात हों, अपना द्रव्य ज्ञात हो, गुण ज्ञात हों, अनन्त पर्यायें ज्ञात हों! एक ही पर्याय में!! आहा...हा...! वह

एक पर्याय स्वरूप से है, और द्रव्य, गुण तथा छह द्रव्यरूप नहीं और दूसरी अनन्त पर्यायोंरूप भी वह नहीं। बहुत सूक्ष्म, बापू! बहुत सूक्ष्म करने जायें तो पार नहीं पड़ता, आहा...हा...! यह वीतराग वाणी निकलती होगी, इन्द्र सुनते होंगे!! आहा...हा...! उसकी गम्भीरता! उसकी अद्भुतता! उसकी अचिन्त्यता! वह कोई अलौकिक मन्त्र है! आहा...हा...!

यहाँ तो अभी चौथा भंग (चलता है)। क्रम से क्यों कहा? (क्योंकि) 'है' बाद में कहा जाता है कि 'नहीं' ऐसा। इस कारण चौथे भंग में क्रम डाला है और तीसरे भंग में एक साथ है और कहा नहीं जा सकता, इसलिए अवक्तव्य कहा है। समझ में आया? तीसरे भंग में अस्ति-नास्ति एक साथ हैं। भगवान स्वयं आत्मारूप है और पररूप नहीं, वह कहीं पहले स्वरूप है और बाद में पररूप नहीं — ऐसा उसमें क्रम है — ऐसा नहीं है। कथन में क्रम है। स्यात् (अस्ति) कहा जाता है, तब नास्ति नहीं कहा जाता; नास्ति कहा जाता है, तब अस्ति नहीं कहा जाता। अस्ति कहा जाता है, तब नास्ति नहीं कहा जाता। इस कारण उसे क्रम कहा है। उसमें — अवक्तव्य में क्रम नहीं है, एकसाथ है और एकसाथ कहा नहीं जा सकता, इसलिए अवक्तव्य है — ऐसा। आहा...हा...! (स्वरूप-पररूप के) **क्रम की अपेक्षा से....** (यह चौथा भंग हुआ।)

पाँचवाँ (भंग) **(५) 'स्यात् अस्तिअवक्तव्य' ही है.... स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत्पने अपेक्षा से....** 'है' ऐसा कहना, तथापि उस काल में दोनों साथ में है — ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; इसलिए अस्ति अवक्तव्य है। यह भी एक धर्म — योग्यता है। आहा...हा...! पाँचवाँ, 'है'.... एक ओर 'है' ऐसा कहना, फिर दूसरी ओर अवक्तव्य कहना, क्योंकि एक साथ दो है तो कहा नहीं जा सकता, इसलिए अस्ति-अवक्तव्य हुआ।

(छठवाँ भंग) **'स्यात् नास्ति,' अवक्तव्य ही है....** (पाँचवें में) कहा कि **'स्यात् अस्तिअवक्तव्य' ही है....** स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति (और) स्वरूप-पररूप के युगपत्पने की अपेक्षा से अवक्तव्य है। **'स्यात् नास्ति,' अवक्तव्य ही है। पररूप की....** अपेक्षा से नास्ति (और) **स्वरूप-पररूप की युगपत्पने अपेक्षा से....** अवक्तव्य है।

पर से नहीं है ऐसा कहने पर भी वापस अस्तित्व और नास्तित्व एक समय में है — ऐसा रह जाता है; इसलिए नास्ति और अवक्तव्य है। छठा भंग हुआ।

सातवाँ (भंग) **'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' ही है, स्वरूप की, पररूप की....** 'है' ऐसा कहना, फिर उसी समय 'नहीं' ऐसा भी कहना और उसी समय वे दोनों नहीं कहे जा सकते; इसलिए अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य का सातवाँ भंग है।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १२९ **दिनाङ्क ०९ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार, गाथा ११५ है ? सप्तभङ्गी चली है। उसके बाद **द्रव्य का कथन करने में,...** यहाँ से (लेना) है। द्रव्य अर्थात् वस्तु — आत्मा, परमाणु, शुद्ध सिद्ध भगवान इत्यादि। **द्रव्य का कथन करने में,....** जो स्वरूप से सत् है — वह वस्तु जो स्वरूप से है, वह सत् है। वह पररूप से असत् है, आहा...हा...! अपने द्रव्य की अपेक्षा से अपना द्रव्य सत् है और अपनी अपेक्षा से दूसरे सब द्रव्य असत् हैं, उसकी अपेक्षा से सत् है परन्तु इस द्रव्य की अपेक्षा से असत् हैं। है ?

(१) जो स्वरूप से 'सत्' है; (२) जो पररूप से 'असत्' है;.... आहा...हा...! यह (द्रव्य) पररूप से तो असत् है। स्वरूप से सत् है। अपना स्वरूप है, उससे सत् है और पर अनन्त आत्माएँ — पंच परमेष्ठी आदि द्रव्यों की अपेक्षा से पररूप से यह (द्रव्य) असत् है। आहा...हा...! जैसे स्वरूप से सत् है, ऐसे पररूप से भी सत् हो तो सब खिचड़ा हो जायेगा। आहा...हा...!

पररूप से 'असत्' है;.... कोई भी द्रव्य लक्ष्य में लेने पर, वह द्रव्य अपने स्वरूप से अस्ति रखता है और परस्वरूप की अपेक्षा से नास्ति-असत् है। आहा...हा...! परद्रव्य की अपेक्षा से आत्मा असत् है — ऐसे परक्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा अक्षेत्र है, पर काल की अपेक्षा से आत्मा अकाल है और परभाव की अपेक्षा से अभाव है — ऐसा है।

(३) जिसका स्वरूप और पररूप से युगपत् 'कथन अशक्य' है;.... आ गयी न सप्तभङ्गी ? इसमें तीसरा अवक्तव्य लिया है। अवक्तव्य ! स्वरूप से सत् है, पररूप

से वह असत् है, तथापि युगपत् कहना अशक्य है। एक समय में स्व है और पर से नहीं है — ऐसे दो (धर्म) एक समय में उसमें एक साथ हैं परन्तु कथन एक साथ दोनों का नहीं हो सकता; इसलिए क्रमश: (कथन) होता है। स्वरूप से है और पररूप से नहीं, यह तीसरा भंग हुआ। यहाँ तीसरे भंग में अवक्तव्य लिया है। स्वरूप से है, पररूप से नहीं — (ऐसा) एक साथ कहना अशक्य है; इसलिए अवक्तव्य है — ऐसी बातें हैं। आहा...हा... !

मूल तो द्रव्य, जो वस्तु है, वह पर की अपेक्षा से तो असत् ही है, आहा...हा... ! पंच परमेष्ठी है, उसकी अपेक्षा से यह आत्मा असत् है और पंच परमेष्ठी हैं, वे उनकी अपेक्षा से सत् हैं परन्तु दूसरे एक सिद्ध दूसरे सिद्ध की अपेक्षा से असत् हैं। आहा...हा... ! क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है। अभाव है कहो, या असत् कहो। आहा...हा... ! यह बात जँचे तो दृष्टि अन्दर द्रव्य पर जाये — ऐसा कहना है। अनन्त परद्रव्य से तो असत् है। अब परद्रव्य का लक्ष्य करके तुझे आत्मा में कुछ लाभ हो — ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! पंच परमेष्ठी का स्मरण करना या उनकी भक्ति करना आदि से तो तू असत् है, उससे असत् है तो उससे तेरा सत्पना प्रगट हो — ऐसा है नहीं। अरे... ऐसी बातें ! समझ में आया ? प्रभु, स्वरूप है.... आगे तो मनुष्यादि की क्रियाएँ लेंगे, वे भी अपनी स्वाभाविक (क्रिया है)। बाद की गाथा में लेंगे।

मुमुक्षु - विभावभाव और स्वभावभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री - उसका स्वभाव है। उसकी पर्याय है, (वह) अपने रूप है। मनुष्य की गतिरूप भी अपनेरूप है और पररूप नहीं; इसलिए इस अपेक्षा से इसे स्वभाव कहेंगे। आहा...हा... ! मनुष्यगति आदि को स्वभाव कहेंगे, हाँ ! आहा...हा... ! इसमें निवृत्ति लेकर ऐसा निर्णय करने का समय निकालना चाहिए। आहा...हा... !

जो स्वरूप से और पररूप से युगपत् कहना अशक्य है, वह इसमें तीसरा बोल लिया है। एक साथ ऐसा कैसे कहा जाये ? कि आत्मा स्वरूप से है और पररूप से नहीं, वह एक साथ कहने में किस प्रकार आये ? अन्दर इस प्रकार ही है, अन्दर में तो स्वरूप से सत् है और पर से असत् है। एक समय में दो इकट्ठे एक ही हैं परन्तु कथन में स्वरूप से है, उस समय पररूप से नहीं — ऐसा कैसे कहा जाये ? इस अपेक्षा से उसे अवक्तव्य

कहा गया है। आहा...हा...! कोई भी वीतराग का वाक्य... आहा...हा...! वीतरागता प्रगट कराता है और वह वीतरागता प्रगट कराने में स्व का आश्रय ले, तब (वीतरागता) प्रगट होती है, यह प्रत्येक पर्याय का कथन यह है। आहा...हा...!

तेरा स्वरूप तुझसे है; अनन्त पंच परमेष्ठियों से नहीं। जिन से नहीं, उनका स्मरण करने से तुझे आत्मा का लाभ हो — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उनकी भक्ति और विनय... आहा...हा...! उस पररूप से तो तू नहीं और तू भक्ति और विनय में रूक जाये तो पररूप तो नहीं, उसमें तुझे तेरा लाभ तो नहीं होता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है (स्वरूप से और पररूप से युगपत् कहना) **अशक्य है....** ये तीन बोल हुए।

(४) जो स्वरूप से और पररूप से क्रमशः 'सत् और असत्' है;.... (अर्थात्) क्रमशः कहा जाता है। पहले में एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए अक्रम है — अवक्तव्य है और यह क्रम से कहा जाता है, इसलिए एक भंग पड़ता है कि स्वरूप से है, पररूप से नहीं — ऐसा क्रम से कहा जाता है। कहने की बात है न? उसमें (वस्तु में) एक साथ है। आहा...हा...! परन्तु कहने में क्रम पड़ता है; इसलिए स्यात् अस्ति-नास्ति है, यह चौथा भंग है।

पहला स्यात् अस्ति है — स्व से सत् है; पर से असत् है, आहा...हा...! वह दूसरा भंग हुआ। आहा...हा...! एक साथ नहीं कहा जा सकता; इसलिए अवक्तव्य है, यह तीसरा (भंग) हुआ और दोनों एक साथ होने पर भी कथन में एक साथ नहीं आ सकते, इसलिए क्रम पड़ता है; अतः स्यात् अस्ति-नास्ति चौथा क्रम का भंग है। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें! उन स्थानकवासी में तो दया पालो, व्रत करो, और अपवास करो.... हो गया... आहा...हा...! क्या हो? सत्य मिला नहीं न? अरे...! उन्हें भी कुछ सुखी होने का भाव तो है न? उन्हें कहीं दुःखी होने का भाव है? परन्तु सत्य मिलना, सुनने को मिलना, वह भी कोई महापुण्य हो तो मिले! आहा...हा...! और अन्तर में स्वपने है, परपने नहीं — ऐसा निर्णय करे, वह तो अनन्त पुरुषार्थ है। वह तो पुरुषार्थ है, आहा...हा...! मैं ज्ञायकरूप हूँ, पररूप नहीं — अभी इतना... वैसे तो एकदम अन्तर की सप्तभङ्गी लेने जाये तो मैं ज्ञायकपने हूँ, पर्यायपने असत् हूँ। आहा...हा...!

प्रश्न – त्रिकाली द्रव्य, पर्याय से असत् है न?

समाधान – त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से सत् है परन्तु एक समय की पर्याय की अपेक्षा से वह असत् है, वरना तो त्रिकाली द्रव्य भी एक समयमात्र का हो जायेगा। जैसे स्वद्रव्य से है, वैसे पर्याय से भी है — ऐसा हो जाये तो पूरा द्रव्य एक समय में आ जायेगा। ऐसी बातें हैं, बापू! वीतरागमार्ग! और वह भी स्वपने है — ऐसा जब अनुभव करते हैं, तब उसे आनन्द का अनुभव होता है और उस काल में परपने नहीं; इसलिए उसे दु:ख और पर का अनुभव नहीं होता। आहा...हा...! ऐसी बात है। यह तो परम सत्य है! सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ (की बात है)। आहा...हा...! जिन्हें वाड़ा में (सम्प्रदाय में) सुनने को नहीं मिले, उसे कहाँ जाना? क्या करना? भाई! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! तेरे स्वरूप से है — ऐसा तुझे जब दृष्टि में आवे... आहा...हा...! तब उस समय परपने तो नहीं, इसलिए पर का लक्ष्य तो होता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? कथन में परपने नहीं (— ऐसा कहना हो), तब कथन में फर्क पड़ता है। परपने नहीं, इससे इसे अनुभव हो जाये... परन्तु वहाँ तो अपेक्षा आ गयी कि परपने नहीं — ऐसा जो लक्ष्य करने जाये कि परपने नहीं वहाँ विकल्प उठता है। आहा...हा...! स्वपने भगवान आत्मा पूर्णानन्द परमब्रह्म चैतन्यरत्नाकर, चैतन्य का महासमुद्र प्रभु... आहा...हा...! वह महासमुद्र स्वपने है (और) वह परपने के दूसरे सब चैतन्य महासमुद्र भले हों (तो भी) उसरूप नहीं है। आहा...हा...! जिस रूप नहीं, उससे इसे कैसे लाभ होगा? आहा...हा...! यह तो जिसे आत्मा का अपना करना हो, उसकी बात है, बापू! यह कहीं अकेली भाषा और भाषण करना, अकेला पर को समझाना, वह इस बात में नहीं है। आहा...हा...!

चौथा बोल — **जो स्वरूप से और पररूप से क्रमश: 'सत् और असत्' है;....** देखा! क्रमश: कहा जाता है। स्वरूप से है, पररूप से नहीं, यह कहने में क्रम पड़ता है। वस्तु में एकसाथ है, इसलिए चौथा भंग खड़ा होता है और वह भी यह चौथा भंग इसका एक धर्म गिनने में आया है। सैंतालीस नय में इसे धर्म गिनने में आया है। कैसा है आत्मा? कि ऐसा है आत्मा। यथार्थ नयवाला ऐसा है — ऐसा कहा है न? आहा...हा...! कैसा है

आत्मा ? कि सत् और असत् एक समय में एक स्वरूप है और क्रम से कहना — ऐसा भी उसका एक धर्म और योग्यता है। आहा...हा... ! चैतन्य भगवान अन्दर स्वरूप से है और पररूप से नहीं — ऐसा कथन में क्रम पड़ता है परन्तु क्रम पड़ता है — ऐसा एक भंग और एक धर्म है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

(५) जो स्वरूप से, और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है;.... आहा...हा... ! पाँचवाँ बोल। यह स्वरूप से अस्ति है और स्वरूप तथा पररूप का कथन एक साथ नहीं किया जा सकता; इसलिए अवक्तव्य.... । आहा...हा... ! यह अस्ति अवक्तव्य का (भंग है) **स्वरूप से, और स्वरूप-पररूप से....** युगपद् रूप द्वारा सत् — स्वरूपपने सत् और दोपने कहना अशक्य है, सत् है और असत् है, वह एक साथ कहना अशक्य है; इसलिए वह सत् अवक्तव्य है। आहा...हा... ! वीतरागवाणी के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं होती, कहीं नहीं है। कहीं एक गन्ध भी नहीं है, सर्वत्र उल्टा-उल्टा... ! आहा...हा... ! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है — ऐसा भगवान ने देखा, ऐसा वाणी में आया, उसमें से आगम की रचना हुई और सुननेवाले श्रोता वह सुनकर स्व का आश्रय लेकर संशय, मिथ्यात्व का अभाव करते हैं। आहा...हा... ! क्योंकि पर तो उसमें नहीं है। आहा...हा... !

अपना पूर्ण ब्रह्म चैतन्य रत्नाकर ! चैतन्य का महासमुद्र प्रभु ! आहा...हा... ! चैतन्य रत्नाकर शब्द आता है न ? भाई ! चैतन्य महासमुद्र ! चैतन्य महासमुद्र ! ! वह स्वरूप से है और स्व तथा पररूप से एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए नहीं — अवक्तव्य है। 'है' — अस्ति अवक्तव्य। आहा...हा... ! भले पररूप नहीं परन्तु उस समय भी स्वरूप से सत् है — ऐसा साथ में है। अकेला पररूप नहीं — ऐसा नहीं है। स्वरूप से है और स्व-पररूप से कहना अशक्य है; इसलिए स्वरूप से है और कहना अशक्य है; इसलिए अस्ति अवक्तव्य है। भाई ! तुम्हारे पाउडर के चूरे, बूरे में कहीं सुना नहीं होगा, वकीलों को यह नहीं आता। आहा...हा... ! ऐसी चीज है। एक-एक सप्तभङ्गी, इस विषय में जहर उतारनेवाली है ! आहा...हा... ! एकान्त के जहर को मिटानेवाली है। एकान्त है, तथापि पर की अपेक्षा रखकर एकान्त है। अज्ञानी अत्यन्त एकान्त ही करने जाये, वह तो अत्यन्त मिथ्या है। आहा...हा... ! यह पाँचवाँ बोल हुआ।

(अब छठवाँ) (बोल) पररूप से नास्ति है — असत् है पररूप से असत् है और स्व पररूप का युगपत् एक साथ कहना अशक्य है; इसलिए नास्ति अवक्तव्य है। आहा...हा...! नास्ति अवक्तव्य है। यह छठवाँ भंग है। नास्ति अवक्तव्य भी इसमें एक धर्म तथा योग्यता है। आहा...हा...! समझ में आया? कोई ऐसा कहे कि इसमें तो दो ही धर्म हैं — अस्ति और नास्ति। दूसरे पाँच तो अतिरिक्त कथन हैं (परन्तु) ऐसा नहीं है। सातों ही (भंग) इसका धर्म हैं। पूछनेवाले की अपेक्षा से जब भिन्न-भिन्न पूछे, उसे यह भिन्न-भिन्न (भंग की) अपेक्षा से उसका अस्तित्व-नास्तित्व, अवक्तव्य (इत्यादि धर्मों का) कथन है। ये सातों ही धर्म तथा योग्यता है। आहा...हा...!

यह प्रवचनसार है न? आता है। इसमें पीछे (परिशिष्ट में) आता है न? (उसमें) पूछा है कि **यह आत्मा कौन है (कैसा है) और किस प्रकार प्राप्त होता है....** ऐसा आत्मा कौन है? उसमें सात नय रखी है — ऐसा मेरा कहना है। क्या कहा? आत्मा कौन है — ऐसा कहा न? कौन है? — उसमें सप्तभङ्गी ली है, तो आत्मा इस सप्तभङ्गीवाला है। आहा...हा...! अकेला स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिवाला नहीं। है इसमें? २७५ गाथा पूरी होने के बाद। **'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' — ऐसा प्रश्न किया जाय तो, इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं** — आहा...हा...! **प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता...** है... यह सातों ही धर्म गिने हैं। सात नय के सप्तभङ्गी के सात धर्म गिने हैं। सात धर्मों में जो व्याप्त है — ऐसा कहा है। कितने ही ऐसा कहते हैं कि स्यात् अस्ति (और नास्ति) दो ही धर्म हैं। यह पाँच तो कहनेमात्र कहे हैं — ऐसा कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि ये सात (धर्म हैं)। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! इसमें न्याय में तो जरा सा न्याय बदले तो भी पूरा तत्त्व बदल जाता है। (कोई) स्यात् अस्ति (और नास्ति) दो नय कहते हैं, अपने से है और पर से नहीं, बस! उसमें आ गया। (- ऐसा नहीं है।)

यहाँ तो कहते हैं कि **आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता...** है... इन सात धर्मों का स्वामी है — ऐसा कहते हैं। इसमें आया या

नहीं ? आहा...हा... ! आत्मा कौन है ? तब कहते हैं कि वह अनन्त धर्मों का अधिष्ठान है, तो उन अनन्त धर्मों में सात नय के सात धर्म आ गये हैं। आहा...हा... ! बापू ! यह तो वीतराग की वाणी है (इस सम्बन्ध में) बहुत बड़ी चर्चा चलती है। वस्तु दो ही है, ये पाँच (धर्म) तो बाद में कथनमात्र कहे हैं। यहाँ तो कहते हैं कि जो अनन्त सामान्य धर्म है, उसमें ये सात धर्म आ गये, उसका वह अधिष्ठान है — ऐसा कहा। दो का ही अधिष्ठान है — ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! इसमें कुछ समझ में आया ? भाई ! ऐसा सूक्ष्म है। आहा...हा... !

प्रभु ! तू अन्दर बड़ा है ! इसे महिमा जँचती नहीं। महिमा कहो या बड़प्पन कहो (दोनों एकार्थ हैं)। प्रभु में अनन्त महिमा है अर्थात् अनन्त बड़प्पन है, उसके बड़प्पन के समक्ष किसी चीज का बड़प्पन नहीं है। आहा...हा... ! दूसरे का बड़प्पन उसके पास रहा परन्तु इसकी बड़प्पन का उसमें असद्भाव है। आहा...हा... ! अपना बड़प्पन-महिमा का सद्भाव है, आहा...हा... ! और दूसरे के बड़प्पन और महिमा का इसमें असद्भाव है। आहा...हा... ! ऐसा वीतरागी तत्त्व बहुत सूक्ष्म, बापू ! आहा...हा... ! परम सत्य ! परम सत चैतन्य ! चैतन्य महासमुद्र ! ! उसमें ऐसे अनन्त धर्म — योग्यतायें रही हैं। आहा...हा... ! व्यवहार से — क्रिया से भी मोक्ष होता है, वह भी एक धर्म की योग्यता रही है। भाई ! 'अनन्त धर्मों का अधिष्ठान' कहा है न ? क्या कहा ? है ? निकला ? भाई ! **चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,....** आहा...हा... ! **क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)....** आहा...हा... !

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि ये सात में क्रम से कहा, इसलिए उसमें ऐसी योग्यता नहीं — ऐसा नहीं। स्वरूप से है, और पररूप से नहीं, यह दो ही योग्यता है और अवक्तव्य है (— ऐसा जो कहा), इसलिए इस अवक्तव्य की / धर्म की योग्यता अन्दर नहीं है — ऐसा नहीं है तथा क्रम से कहने में आने पर भी, वस्तु में क्रम नहीं है, तथापि क्रम से कहने में उस प्रकार का भी एक धर्म है। इसमें कुछ समझ में आया ? आहा...हा... ! कारण कि यहाँ तो ऐसा कहा कि अनन्त धर्मों में व्यापक होनेवाला भगवान आत्मा एक द्रव्य है।

आहा...हा... ! और उन अनन्त धर्मों में व्यापनेवाले अनन्त नय उसमें व्याप्त हैं। आहा...हा... ! इसमें विवाद उठाते हैं। व्यवहार से मोक्ष होता है, क्रिया से मोक्ष होता है, ज्ञान से मोक्ष होता है — ऐसा आता है। निश्चय से होता है, व्यवहार से होता है, होता है — ऐसा आता है।

प्रश्न – उसका क्या अर्थ ?

समाधान – उसका अर्थ कि एक समय में ऐसी योग्यता एक साथ गिनी है; किसी जीव को ऐसा और किसी जीव को ऐसा — ऐसा नहीं है। किसी जीव को क्रियानय से होता है और किसी को ज्ञाननय से होता है; किसी को व्यवहार से और किसी को निश्चय से — ऐसा यहाँ नहीं (लेना)। यहाँ तो एक ही समय में ऐसी अनन्त धर्म की योग्यता गिनकर, उसका स्वामी वह द्रव्य है (— ऐसा कहना है)। आहा...हा... ! यह तो सूक्ष्म, कठिन... भाई ! समझ में आया ? एक ही समय में नय है न ? नय है, वह एक ही समय में अनन्त नयों का धर्म व्यापक है। आहा...हा... ! उसमें एकान्त करने जाये कि देखो, इसमें व्यवहार से भी मोक्ष कहा है (तो) ऐसा नहीं है, वह तो एक नय का वाक्य है और वैसा एक धर्म कहा गया है। वैसे ही निश्चय से होता है — ऐसा एक धर्म गिना गया है। आहा...हा... ! व्यवहार-निश्चय और क्रिया व ज्ञान। क्रिया से भी होता है और ज्ञान से भी होता है, (यदि ऐसा होवे) तो फिर अभी तक विरोध आता है। व्यवहार से बिल्कुल नहीं होता और वहाँ तो क्रिया से होता है — ऐसा कहा और वह (भी) आत्मा ने धारण किया हुआ — ऐसा एक धर्म है। आहा...हा... ! वह एक प्रकार की योग्यता, एक समय में अनन्त गिनकर, एक जीव को ऐसा और एक जीव को ऐसा — ऐसा नहीं है। समझ में आया ? एक ही जीव को उस प्रकार के अनन्त धर्म — योग्यतायें हैं, उसमें व्यापक भगवान है — ऐसा यहाँ कहा है। कौन है ? (तो कहते हैं कि) अनन्त नय से व्यापक धर्मवाला है। अरे... अरे... !

मुमुक्षु – व्यवहार में धर्म का उपचार किया जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – वह एक इतनी योग्यता गिनी, इतनी व्यवहार-राग की मन्दता हुई और उसका अभाव हुआ तो ऐसी एक योग्यता गिनी। ऐसी योग्यता को धर्म गिना है, और उस धर्म के साथ दूसरे अनन्त धर्म एक साथ रहते हैं। वह एक ही धर्म है और दूसरे

धर्म उसके साथ नहीं हैं — ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहार से होता है और निश्चय से होता है, ये दोनों एक साथ कहे हैं। दोनों धर्म एक साथ हैं। क्रिया से होता है और ज्ञान से होता है, वे तो दोनों एक साथ हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा समझाना और समझना ! आहा...हा... ! वीतरागमार्ग — परमेश्वर का मार्ग बहुत गम्भीर है, बापू ! आहा...हा... ! परम सत्य का ढिंढोरा पीटा है। आहा...हा... ! यह नय का वाक्य है; इसलिए उसका एक धर्म और एक योग्यता गिनने में आयी है, परन्तु उस जीव को उससे हुआ है (— यदि ऐसा माना जाये) तब तो फिर निश्चय से हुआ है, वह कहाँ गया ? क्रिया से हुआ है (— ऐसा कहो तो) फिर ज्ञान से हुआ है, वह कहाँ गया ? आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

छठवाँ बोल चलता है न ? **पररूप से,....** अर्थात् नास्ति। एक समय में पररूप से नहीं — इस अपेक्षा से नास्ति **और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है;....** युगपत् रूप से असत् (और) अवक्तव्य है। आहा...हा... ! पररूप से नहीं, वह असत् हुआ और स्वरूप-पररूप से अवक्तव्य हुआ; इसलिए **'असत् और अवक्तव्य' है;....** ऐसा भी उसमें एक धर्म है। भाई ! जो विषय आवे उसे तो स्पष्ट तो करना चाहिए न ! उसमें कहीं-कहीं उलझन का कुछ कारण नहीं है, उसमें कोई उससे हो जाये ऐसा कोई उसमें है नहीं, उसके साथ ही साथ वापस ज्ञान से मोक्ष होता है, स्वभाव से होता है, निश्चय से होता है (यह) तो साथ में रहा है, वैसे यह भी साथ में रहा है — ऐसी एक योग्यता का (धर्म) गिनकर बात की है और इन सबके समूह का पिण्ड प्रभु आत्मा है, उसे श्रुतज्ञान द्वारा देख - ऐसा कहा है न ? कि त्रिकाली जो आत्मा है, उसे श्रुतज्ञान द्वारा देख ! आहा...हा... ! आहा...हा... ! कौन-सा श्रुतज्ञान ? भावश्रुतज्ञान। आहा...हा... ! भावश्रुतज्ञान द्वारा अन्दर देख (तो) तुझे एकरूप दिखेगा, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा... ! आहा... ! अरे ! इसने कभी किया नहीं ! इसने बात ख्याल में भी नहीं ली, इसे सुनने में भी ख्याल में आवे ऐसी बात नहीं आयी। आहा... ! ऐसा का ऐसा ऊपर-ऊपर से चलता है। आहा...हा... ! कितने ही ऐसा कहते हैं हम तो साधारण लोग हैं, हमारे ऐसा सब कैसे (समझना) ? बापू ! ऐसा नहीं, बापू ! तू साधारण नहीं तू तो महा-महात्मा है, प्रभु ! आहा...हा... ! तू चैतन्य का समुद्र है, प्रभु ! तू सामान्य नहीं। आहा...हा... ! ऐसा सामान्य

से हमको ऐसा नहीं समझ में आता, हमें ऐसी बुद्धि कहाँ से ? परन्तु यह तो साधारण बात है, यह तो मूल प्रयोजन की बात है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

प्रश्न – बहुत समझ में न आये और भाव शुभ रखे तो ?

समाधान – परन्तु अन्दर में इसका कहीं विरोध नहीं आना चाहिए। भले ही बहुत न समझ में आये, परन्तु विरोध नहीं आना चाहिए, विरोध न आवे तब तो इसे समझने में अविरुद्धता तो आनी चाहिए न। आहा...हा... !

यह बड़ा प्रश्न हमारे (संवत्) १९८० में– बोटाद में हुआ था। ८०... ८० ! कितने वर्ष हुए ? ५५ वर्ष पहले की बात है। तुम्हारे जन्म से पहले की (बात है)। बड़ी चर्चा (हुई थी) व्याख्यान में बड़ी सभा ! पूरा उपाश्रय भरचक भर जाता और बाहर भी भर जाता। संक्षेपरुचि की व्याख्या चलती थी कि भाई ! भले थोड़ा–संक्षेप में जानने का हो परन्तु सत्य होना चाहिए। संक्षेप रुचिवाला ऐसा कहना चाहता है कि हमें हमारा धर्म इस सम्प्रदाय में है, वह ठीक है, उसमें विशेष नहीं जानते वह संक्षेपरुचि है। ऐसी संक्षेप रुचि नहीं। बड़ी चर्चा चली थी, ५५ वर्ष पहले ! कहा, देखो ! गाथा में क्या है ? देखो ! 'अणभिगए कुदिट्ठी' विपरीत एकान्त मार्ग है, उसे जिसने ग्रहण नहीं किया 'अणभिगए शेशेषु' शेष जो विपरीत बात है, वह उसके ख्याल में आयी ही नहीं, वह बात छोड़ दी है, उसे संक्षेपरुचि में आत्मज्ञान होता है परन्तु सम्प्रदाय में विपरीत मान्यता के बड़े ढेर पड़े हैं, और उसे संक्षेप करके मानकर बैठे कि मेरे संक्षेपरुचि में सम्यक्त्व है, आहा...हा... ! और वह ऐसा कहे कि हमें तो भाई ऐसी बुद्धि नहीं.... परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता; तुझमें तो अनन्त सामर्थ्य है। आहा...हा... ! तू स्वयं एक समय में केवलज्ञान ले सके — ऐसी (तुझमें) ताकत है। उसका विश्वास तुझे नहीं है। आहा...हा... ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं **पररूप से, और स्वरूप–पररूप से युगपत् 'असत्....** है। पररूप से असत् है और स्व–पररूप (के) युगपत् से (अवक्तव्य) है। यह छठा भंग हुआ।

(७) स्वरूप से, पर–रूप के..... स्वरूप से अस्ति और पररूप से नास्ति। इस **स्वरूप–पररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य'....** ऐसा जो अस्ति, नास्ति अवक्तव्य (है, वह) सातवाँ बोल है। स्वरूप से है, पररूप से नहीं, एक साथ नहीं कहा

जा सकता; इसलिए अस्ति-नास्ति अवक्तव्य (हुआ)। ऐसा भी एक योग्यता का धर्म गिना है। आहा...हा...! **जो स्वरूप से, पर-रूप से....** अर्थात् अस्ति-नास्ति **और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है — ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य....** देखा? यहाँ भी यह आया! वहाँ भी आया था, वह वापस यहाँ आया। वापस (परिशिष्ट में) नय का आया था।

ऐसे जो अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य.... ऐसा जो अनन्त धर्मोंवाला द्रव्य। स्यात् अस्ति और (नास्ति) दो ही धर्म हैं — ऐसा नहीं आया, बापू! अनन्त काल का (अनजाना) मार्ग! अरे...! चौरासी के अवतार! आहा...हा...! वापस कहाँ जाकर डुबकी मारेगा? यदि यह तत्त्व दृष्टि नहीं समझे तो चौरासी के अवतार में कहाँ डुबकी (मारेगा)? नरक-निगोद में! आहा...हा...! कहीं सुनने का योग भी नहीं। अरे...! वहाँ निगोद में जायेगा तो पाँच इन्द्रियाँ भी नहीं मिलेंगी। आहा...हा...! ऐसा बड़ा संसार पड़ा है, बापू! आहा...हा...! उसके अभाव के लिये तो यह सब समझना पड़ेगा, यह सत्य है।

ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य.... आया? सातों ही धर्म कहे न? आहा...हा...! **ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्य के एक एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित-अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली....** देखा? (मूल पुस्तक में) नीचे (फुटनोट है) ***विवक्षित (कथनीय) धर्म को मुख्य करके, उसका प्रतिपादन करने से और अविवक्षित (न कहने योग्य) धर्म को गौण करके, उसका निषेध करने से सप्तभंगी प्रगट होती है।*** आहा...हा...! एक-एक बात ऐसी है, बहुत गम्भीर! वस्तु महाप्रभु! अनन्त गुण का समुद्र-सागर उछलता है। आहा...हा...! इस अनन्त का कहीं पार नहीं है। क्षेत्र भले शरीरप्रमाण छोटा (होवे परन्तु) ऐसा नहीं गिनना। जिसका स्वभाव है... आहा...हा...! जिसका यह अनन्त धर्म यह उसका स्वभाव है, आहा...हा...! उस प्रकार का उसका भाव है, उस प्रकार के भाव के आत्मा को पहचानकर... आहा...हा...! यह सात (भंग) क्यों पड़े? कि **एक-एक धर्म का आश्रय लेकर....** कहने योग्य, नहीं कहने योग्य **विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी....** यह सात भंग उत्पन्न होते हैं — (ऐसा) कहते हैं। कहने योग्य, नहीं कहने योग्य (धर्मों का प्रतिपादन करनेवाली) प्रश्न के वश ये नय-सप्तभङ्गी खड़ी होती है।

आहा...हा...! आठ-आठ वर्ष के बालक केवलज्ञान लेते...! आहा...हा...! आठ-आठ वर्ष के बालक!! (चैतन्य) समुद्र में डुबकी मारकर अन्तर में केवलज्ञान लेते! आहा...हा...! प्रभु भरा हुआ पड़ा है न! वह बालक कहाँ है? वह लड़का कहाँ है? वह लड़की कहाँ है? स्त्री कहाँ है? नपुंसक कहाँ है? आहा...हा...! बालकपना तो उसे कहते हैं कि वस्तु से विपरीत मान्यता करके रहे, वह बालक है। युवा उसे कहते हैं कि जैसा अन्तर आत्मा-वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा अनुभव करके रहे, (उसे) युवा कहते हैं। इस (शरीर की) बाल, युवा, और वृद्ध (अवस्था) तो जड़ की दशा है। उसे (और) आत्मा को क्या (सम्बन्ध) है? आहा...हा...! उनका तो असत्पना है — इस बाल, युवा, वृद्ध का तो आत्मा में असत्पना है। यह (धर्म) है, वह सत्पना है। विपरीत मान्यता का अंश भी रहे, तब तक वह अज्ञानी बालक है और उसे अंश भी विपरीतता न रहे, भले पूरी अस्थिरता रहे पूरी; अर्थात् अभी चारित्र न हो, अमुक अंश में तो (स्थिरता) आवे, आहा...हा...! ऐसा अन्तर आत्मा भगवान दृष्टि व अनुभव में आवे, उसे यहाँ अन्तर आत्मा को युवा कहा जाता है, उसे युवापना आया; और उसे जब परमात्मदशा प्रगट होती है, उस अन्तरात्मा द्वारा, बहिरात्मापना छोड़कर... आता है न? भाई! तीन प्रकार का वर्णन किया है। वहाँ अष्टपाहुड़ में आता है, बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा को साधना। आहा...हा...! उसे ही उसे, उसी-उसी में बहिरात्मपना छोड़कर अन्तरात्मा द्वारा शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अनन्त धर्म का धारक ऐसे अन्तरात्मा द्वारा, उस साधक द्वारा, उस उपाय द्वारा परमात्मपद को साधना। आहा...हा...! वह परमात्मपद है, वह वृद्ध अवस्था है, जीव की वह वृद्ध अवस्था पक गयी, पूरा पाक (फल) आ गया। आहा...हा...!

यह यहाँ कहते हैं कि **सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर....** भाषा ऐसी है। देखा? **उच्चारित करने पर....** परन्तु इसका अर्थ यह है कि अन्दर जो समझ करता है — ऐसा। (उच्चारित करने पर अर्थात्) समझ में आने पर। आहा...! **स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र पद के द्वारा....** कथन है न? उसके धर्म है न? **सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर....** (अर्थात्) सत्य रीति से कहने पर — जिस प्रकार है, उस प्रकार

कहने पर। अन्दर जो स्वभाव है, उस प्रकार कहने पर। **स्यात्काररूपी....** स्यात् (का अर्थ मूल पुस्तक में नीचे दिया है) ***स्याद्वाद में अनेकान्त का सूचक 'स्यात्' शब्द सम्यक्तया प्रयुक्त होता है। वह स्यात् पद एकान्तवाद में रहनेवाले समस्त विरोधरूपी विष के भ्रम को नष्ट करने के लिये रामबाण मन्त्र है।*** अमोघ कहा न? अमोघ! अमोघ मन्त्र है — रामबाण मन्त्र है। आहा...हा...! बहुत अभ्यास चाहिए। थोड़ा पठन हो तो समझ में आये — ऐसा है। यह तो मक्खन है। आहा...हा...!

स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र पद के द्वारा.... आहा...हा...! यह अमोघ मन्त्र है! रामबाण! अमोघ अर्थात् 'अ' (अर्थात्) नहीं, 'मोघ' (अर्थात्) अफलपना नहीं; जहाँ सफलपना है। आहा...हा...! जिसके नय का ज्ञान और वस्तु का स्वरूप, वह सफलपना है। संसार के लिए अफलपना है, स्वभाव की प्राप्ति के लिये सफलपना है। आहा...हा...! समझ में आया? **स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र पद के द्वारा 'एव'कार में रहनेवाले....** इसकी — एव कार की व्याख्या (मूल पुस्तक में नीचे की है।) है न? ***अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभाव की अपेक्षा से रहित एकान्तवाद में मिथ्या एकान्त को सूचित करता हुआ जो 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, वह वस्तुस्वभाव से विपरीत निरूपण करता है,....*** श्रीमद् एक पत्र में कहते हैं कि 'ही' (शब्द) मेरे महावीर के (उपदेश में) नहीं होता। परन्तु वह 'ही' वह एकान्त होता है यह। स्वरूप में नहीं और विपरीत कहे, वह 'ही' आहा...हा...! जो 'ही' शब्द प्रयोग होता है, वह वस्तुस्वभाव से विपरीत निरूपण करता है, इसलिए उसका यहाँ निषेध किया है। ***(अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभाव का ध्यान चूके बिना,....)*** आहा...हा...! ***(जिस अपेक्षा से वस्तु का कथन चल रहा हो, उस अपेक्षा से उसका निर्णीतत्व, नियमबद्धत्व, निरपवादत्व....)*** आहा...हा...! वहाँ कोई अपेक्षा (रही हुई है) — ऐसा बतलाने के लिये ***('एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए।)*** आहा...हा...!

आत्मा के निश्चय स्वभाव से ही मोक्ष होता है (— ऐसा कहा हो) वहाँ 'ही' (शब्द) प्रयुक्त है, वह अनेकान्तात्मक का 'ही' है। समझ में आया? ऐसा नहीं की (एकान्त है), वहाँ भी दूसरा लेना। निश्चय से स्व के आश्रय से ही मुक्ति होती है और पर

के आश्रय से भी होती है — ऐसी अपेक्षा वहाँ नहीं लेना। वहाँ तो एकान्त अपेक्षा यही लेना। आहा...हा...! स्वभावस्वरूप प्रभु है। चैतन्यरत्नाकर महासागर प्रभु का आश्रय लेकर जो धर्म होता है, उसमें 'ही' ही है, उससे ही होता है, उसमें 'ही' ही है, वह 'ही' तो अनेकान्तिक है, उसमें ऐसा नहीं की उससे भी होता है और व्यवहार से होता है; उपादान से होता है और निमित्त से भी होता है। आहा...हा...!

अभी कितने ही पण्डित कहते हैं न कि उपादान में अनेक प्रकार की योग्यतायें हैं। प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय में अनेक प्रकार की योग्यतायें हैं, जैसा निमित्त आवे वैसा होता है (उनकी यह बात) बिल्कुल झूठ बात है। उपादान की तो एक समय की एक ही पर्याय की योग्यता होती है। आहा...हा...! अब, ऐसा सब कहाँ निर्णय करने जाये? फुरसत (नहीं मिलती) नौकरी करना, सेठ को प्रसन्न रखना....

श्रोता - या आत्मा को नाराज करना?

पूज्य गुरुदेवश्री - आहा...हा...! **स्यात्काररूपी अमोघ मन्त्र पद के द्वारा 'एव'कार में रहनेवाले समस्त विरोधविष के मोह को दूर करती है।** सप्तभङ्गी तो अमोघ बाण हैं, उसमें तो एकान्त का नाश करती है परन्तु एकान्त का अर्थ उसमें ऐसा नहीं लेना कि निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी वास्तव में होता है। व्यवहार से होता है — ऐसा कहा जाता है, ऐसी एक योग्यता भले ही साथ में गिनी जाती है। समझ में आया? तथापि उस नय में आया न? व्यवहार आयेगा, व्यवहारनय से होता है — ऐसा आयेगा, परन्तु वह बोला जाता है। (ऐसा) आता है, ऐसी एक योग्यता लक्ष्य में होती है, परन्तु उस राग से होता है — ऐसा एकान्त ऐसा नहीं है, वह तो एक योग्यता कही गयी है। आहा...हा...! **विरोधविष के मोह को दूर करती है।** यह एकान्तपना तो, जो विरोध हो, उसका नाश करता है। आहा...हा...! इसमें कितना याद रखना? आहा...हा...!

इसमें तो अनन्त शक्तियों (का) सागर भरा है। आत्मा अर्थात् चैतन्य का सागर! अनन्त गुण का सागर! अनन्त चैतन्यरत्नाकर से भरा हुआ भगवान!! आहा...हा...! उसे समझने के लिये सप्तभङ्गी से (अपेक्षाएँ) जानकर, अन्दर श्रुतज्ञान द्वारा अन्तर (भगवान

को) देखो। यह बाद में आता है न? भाई! अन्दर नय से देखे तो वह और श्रुतज्ञान प्रमाण से देखे तो वह। आहा...हा...! बाद में आता है। यह ११५ गाथा (पूरी हुई)।

अब, जिसका निरधार करना है, इसलिए जिसे उदाहरणस्वरूप बनाया गया है ऐसे जीव की.... जीव का उदाहरण दिया है न? यह बात तो समस्त द्रव्यों की चलती है परन्तु जीव का उदाहरण किया है न? मनुष्यपना, तिर्यंचपना, चार गति और पाँच गति और.... यह तो मनुष्यपने का दृष्टान्त दिया, वरना यहाँ तो समस्त द्रव्यों की बात सिद्ध करनी है — वह कहते हैं। **जिसका निर्धार करना है, इसलिए जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें, क्रिया का फल हैं,....** यह मनुष्यादि पर्याय, उसकी क्रिया का फल होने से **इसलिए उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं, इस प्रकार) प्रकाशित करते हैं —** (मनुष्य) पर्याय उसकी क्रिया का फल, परन्तु वह हुआ ही करता है, एकरूप नहीं रहता।

इसे विशेष कहेंगे...!

मुनिराज : अतीन्द्रिय आनन्द के भोगी

जब मुनिराज आहार के लिए जाते हैं, तब बीच में यदि किसी बालक आदि का रुदन सुनें तो आहार की वृत्ति टूट जाती है। अरे! हम शान्ति के साधक और बीच में यह अशान्ति की पुकार कहाँ से? हम तो अपने शान्तरस का पोषण करनेवाले हैं, हमें यह अशान्ति का प्रसङ्ग क्यों? - ऐसे प्रसङ्ग पर हमारा आहार नहीं हो सकता। आग लगी हो या मारो-काटो, ऐसी आवाज सुनाई दे, उस समय भी मुनि आहार नहीं करते। अरे! हम तो शान्तरस द्वारा सांसारिक दावानल बुझानेवाले हैं; ऐसे प्रसङ्ग पर हम आहार नहीं कर सकते। हम तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाले हैं। इस प्रकार चैतन्य के अवलम्बनपूर्वक आहार की वृत्ति छूट जाती है। ऐसे मुनिवरों की एषणासमिति होती है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - ११६

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति -

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिष्फलो परमो।।११६।।

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः।।११६।।

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति। ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात्; फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः। क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्य-परिणामात्मिका। सा पुनरणोरण्वन्तर-संगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंबलितस्य द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव। सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्युणउककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव।।११६।।

एवं नयसप्तभङ्गीव्याख्यानगाथयाष्टमस्थलं गतम्। एवं पूर्वोक्त प्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपरसमयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकास्थलम्। तदनन्तरमवान्तरसत्ता-कथनरूपेण प्रथमा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्यं स्वभावसिद्धं तथा सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेऽपि सत्तैव द्रव्यं भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता। तदनन्तरमुत्पादव्यय-ध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरं द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वयं, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्व-स्थापनारूपेण प्रथमा, पृथकत्वलक्षणस्यातद्भावाभिधानान्यत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, संज्ञालक्षणप्रयोजननादिभेद-रूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन

सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यता। तदनन्तरं सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणां द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्। तदनन्तरं द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोः सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टयं, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चुतर्विंशतिगाथाभिरष्टभिः स्थलैः सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्य-प्ररूपणं समाप्तम्। अतः परं तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथा-पर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र क्रमेण पञ्चस्थलानि भवन्ति। प्रथमतस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण सांख्यैकान्तनिराकरणं, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन जैनमतमेवेति व्याख्यानमुख्यतया `एसो त्ति णत्थि कोई' इत्यादि सूत्रगाथैका। तदनन्तरं मनुष्यादिपर्याया निश्चयनयेन कर्मफलं भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थ `कम्मं णामसमक्खं' इत्यादिपाठक्रमेण गाथाचतुष्टयं, ततः परं रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्मकारणत्वाद्भावकर्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन `आदा कम्ममलिमसो' इत्यादिसूत्रद्वयं, तदनन्तरं कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतना-प्रतिपादनरूपेण `परिणमदि चेदणाए' इत्यादिसूत्रत्रयं, तदनन्तरं शुद्धात्मभेदभावनाफलं कथयन् सन् `कत्ताकरणं' इत्याद्येकसूत्रेणोपसंहरति। एवं भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका। तद्यथा - अथ नरनारकादिपर्यायाः कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावनां कथयति -**एसो त्ति णत्थि कोई** टङ्कोत्कीर्ण-ज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्संसारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये सर्वदैवैष एकरूप एव नित्यः कोऽपि नास्ति। तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका संसारक्रिया सापि न भविष्यति। **ण णत्थि किरिया** न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिस्संसारः कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचुष्टयरूपा क्रियास्त्यैव। सा च कथंभूता। **सभावणिव्वत्ता** शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्याय-स्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि किं निष्फला भविष्यति। **किरिया हि णत्थि अफला** क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्यं प्रति निष्फला तथापि नानादुःखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादि-पर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादि पर्यायनिष्पत्तिरेवास्याः फलम्। कथं ज्ञायत इति चेत्। **धम्मो जदि णिष्फलो परमो** धर्मो यदि निष्फलः परमः नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूपः आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा योऽसौ परमो धर्मः, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादक-त्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकारणभूतं ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं नोत्पादयति, ततः कारणान्निष्फलः। ततो ज्ञायते नरनारकादिसंसारकार्यं मिथ्यात्वरागादिक्रियायाः फलमिति। अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यानं क्रियते-यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन न परिणमत्ययं जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति यदुक्तं सांख्येन तन्निराकृतम्। कथमिति चेत्। अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभाव-परिणतजीवानां नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति। एवं प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता।।११६।।

अब, जिसका निर्धार करना है, इसलिए जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें क्रिया का फल हैं, इसलिए उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं, इस प्रकार) प्रकाशित करते हैं —

पर्याय नहीं शाश्वत कोई, अरु क्रिया सहज निष्पन्न नहीं।
यदि धर्म निष्फल होय तो, क्रिया कोई निष्फल नहीं॥

अन्वयार्थ - **[एषः इति कश्चित् नास्ति]** (मनुष्यादिपर्यायों में) 'यही' ऐसी कोई (शाश्वत् पर्याय) नहीं हैं; **[स्वभावनिर्वृत्ता क्रिया नास्ति न]** (क्योंकि संसारी जीव के) स्वभावनिष्पन्न क्रिया नहीं हो सो बात नहीं है; (अर्थात् विभावस्वभाव से उत्पन्न होनेवाली रागद्वेषमय क्रिया अवश्य है।) **[यदि]** और यदि **[परमः धर्मः निःफलः]** परमधर्म अफल है तो **[क्रिया हि अफला नास्ति]** क्रिया अवश्य अफल नहीं है; (अर्थात् एक वीतराग भाव ही मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती; राग-द्वेषमय क्रिया तो अवश्य वह फल उत्पन्न करती है।)

टीका - यहाँ (इस विश्व में), अनादिकर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण) से जिसके प्रतिक्षण विवर्त्तन[1] होता रहता है — ऐसे संसारी जीव को क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है; इसलिए उसके मनुष्यादिपर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया फलरूप होने से उत्तर-उत्तर[2] पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं। और क्रिया का फल तो, मोह के साथ मिलन[3] का नाश न हुआ होने से मानना चाहिए; क्योंकि — प्रथम तो, क्रिया चेतन की पूर्वोत्तरदशा से विशिष्ट[4] चैतन्यपरिणामस्वरूप है; और वह (क्रिया) — जैसे दूसरे अणु के साथ युक्त (किसी) अणु की परिणति द्विअणुककार्य[5] की निष्पादक है, उसी प्रकार — मोह के साथ मिलित आत्मा के सम्बन्ध में, मनुष्यादिकार्य

१. विवर्तन = विपरिणमन; पलटा (फेरफार) होते रहना।
२. उत्तर-उत्तर = बाद की।
३. मिलन = मिल जाना; मिश्रितपना; संबंध; जुड़ान।
४. विशिष्ट = भेदयुक्त। (पूर्व की और पश्चात् की अवस्था के भेद से भेदयुक्त ऐसे चैतन्यपरिणाम वह आत्मा की क्रिया है।)
५. द्विअणुककार्य की निष्पादक = दो अणुओं से बने हुये स्कन्धरूप कार्य की उत्पादक।;

की निष्पादक होने से सफल ही है; और जैसे दूसरे अणु के साथ सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है ऐसे अणु की परिणति द्विअणुक कार्य की निष्पादक नहीं है उसी प्रकार, मोह के साथ मिलन का नाश होने पर वही क्रिया — द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से 'परमधर्म' नाम से कही जानेवाली ऐसी — मनुष्यादिकार्य की निष्पादक न होने से अफल ही है।

भावार्थ - चैतन्यपरिणति वह आत्मा की क्रिया है। मोह रहित क्रिया मनुष्यादि -पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती, और मोह सहित क्रिया[१] अवश्य मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न करती है। मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते, इसलिए उसके फलरूप मनुष्यादिपर्यायें भी टंकोत्कीर्ण-शाश्वत्-एकरूप नहीं होतीं॥ ११६॥

प्रवचन नं. १३० **दिनाङ्क १० जुलाई १९७९**

प्रवचनसार, गाथा ११६। **अब, जिसका निर्धार करना है,....** जीव का उदाहरण दिया था न? बात तो समस्त द्रव्यों की है। एक द्रव्य में दूसरे अनन्त द्रव्यों का अभाव है। एक द्रव्य स्वयं सत् है और दूसरे की अपेक्षा से असत् है। यह तो सम्पूर्ण समस्त द्रव्यों की अपेक्षा से (बात है)। उसमें दृष्टान्त जीव का दिया था। अब यह कहते हैं (जिसका) **निर्धार करना है, इसलिए जिसे उदाहरणरूप बनाया गया है — ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें.....** मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकी की दशाएँ **क्रिया का फल हैं,....** वह मोहरूपी क्रिया है, उसका यह फल है। आहा...हा...! जो चार गति का प्राप्त होना (होता है), जीव को चार गति प्राप्त होना, वह मोह की क्रिया का फल है, निष्फल नहीं। वह मोहक्रिया सफल है। आहा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति का रागादिभाव करे, वह क्रिया भी सफल है, उससे गति मिलेगी, वह सफल है; धर्म नहीं (होगा)। धर्म को यहाँ तो परमधर्म — ऐसा विशेषण देंगे। परम धर्म! आहा...हा...! और वह क्रिया जो है, वह चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, उसका फल चार गति की पर्याय (प्राप्त होना है), वह क्रिया का फल है। आहा...हा...! निष्फल नहीं; और जो धर्म है, आत्मा आनन्दस्वरूप

१. मूल गाथा में प्रयुक्त 'क्रिया' शब्द से मोह सहित क्रिया समझनी चाहिये। मोह रहित क्रिया को तो 'परम धर्म' नाम दिया गया है।

प्रभु का जो अनुभव और धर्म है, उसका फल निष्फल है। निष्फल है अर्थात् ? अब उससे उसे चार गति की क्रिया नहीं मिलेगी — ऐसी शैली ली है।

आहा...हा... ! देखो न, यह सुना नहीं ? आहा...हा... ! (एक भाई को) शरीर का आधा पक्षघात (लकवा) तो था, यहाँ बैठते थे, मुम्बई में दुकान है। आहा...हा... ! दूसरा आधा पक्षघात हो गया, उसके साथ एकदम हेमरेज हो गया, बेसुध (हो गये)। पाँच दिन से असाध्य हैं तो एक बार तो ऐसा तो अब इस जीव को असाध्य कर। आहा...हा... ! अर्थात् मोह से असाध्य हो और स्वरूप के साधन से साधन कर, मोह से असाध्य हो जा। आहा...हा... ! अनादि का असाध्य तो है। आहा...हा... ! भगवान अन्दर अतीन्द्रिय चैतन्य सुख-सागर ! आहा...हा... ! उसका इसे अनादि से दर्शन नहीं, अनादि से उसका ज्ञान नहीं, अनन्त बार साधु हुआ, पंच महाव्रत लिये परन्तु वह तो राग-क्रिया है। आहा...हा... ! वह राग क्रिया मोहफल है और उसका फल चार गति है। आहा...हा... ! कठिन बात है, प्रभु ! लोगों को सत्य समझने के लिये भी बहुत कठिन पड़े ऐसी चीज है। आहा... ! एक बार इस (शरीर का) पक्षघात हो जाये, ऐसे एक बार (यहाँ मोह का) पक्षघात कर डाल... आहा...हा... ! कि शरीर की कोई क्रिया मैं नहीं कर सकता। शरीर मिट्टी है, जड़ है, पुद्गल है, उसकी यह सब जड़ की पर्यायें हैं, (वे) मेरी नहीं, मुझसे नहीं होती। आहा...हा... ! यह हाथ चले, भाषा बोले, होंठ हिले, यह सब क्रिया जड़ की है, प्रभु ! एक बार पक्षघात कर ! जीते जी पक्षघात ! आहा...हा... ! यह जड़ वाणी, देह मन, की ओर का जो पक्ष है, उस ओर की कोई भी क्रिया — आँख का ऐसा चलना या आँख बन्द करना, वह जड़ की क्रिया है, प्रभु ! आत्मा की नहीं। आहा...हा... !

प्रभु ! तू तो चैतन्यस्वरूप है न भगवान ! तेरा स्थायी स्वरूप तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है न नाथ ! यह दृष्टि करके एक बार परम धर्म (प्रगट कर)। अभी कहेंगे, यह परम धर्म है, यह निष्फल है — परम धर्म निष्फल है। अर्थात् ? चार गति का फल इस परम धर्म में नहीं है। आहा...हा... ! आहा...हा... ! जिससे गति मिले, चाहे तो सर्वथासिद्धि की गति (मिले) परन्तु वह क्रिया का फल है — राग का फल है। भाई ! वह धर्म का फल नहीं है। आहा...हा... !

अरे... ! इसे अपनी दया (नहीं आयी) ! मैं कौन हूँ ? (इसका पता नहीं है) । जैसा है, वैसा न मानना, इसमें जीव की दया नहीं पाली, इसने जीव का निषेध किया है। आहा...हा... ! जितना है, जिस प्रकार है, जिस रूप से — परमार्थस्वरूप परम पारणामिक ज्ञान आनन्द स्वभाव भगवान आत्मा है, उसे उसरूप से स्वीकार नहीं किया, इस कारण इस जीव की इसने दया नहीं पाली, हिंसा की है। प्रभु ! तूने तेरी हिंसा की है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। दया पालना तो उसे कहते हैं कि यह अनन्त... अनन्त... आनन्द और शान्ति का सागर... आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द के नूर, पानी के पूर से भरा हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द के पूर से, नूर से भरा हुआ — ऐसे भगवान की पूर्णरूप से प्रतीति कर, मान, अनुभव कर, तो वह परमधर्म है और वह परमधर्म निष्फल है। किसके लिये ? यह (चार) गति मिलने के लिये। आहा...हा... ! यहाँ यह बात करते हैं।

आहा...हा... ! क्षण में देह की दशा क्या हो, बापू ! आहा...हा... ! आधे पक्षघात के समय बेचारे कैसे यहाँ आते... आहा...हा... ! यह मिट्टी है, उसकी कोई अवस्था उस समय होती है, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। वह आत्मा की सत्ता की बात नहीं है, क्योंकि आत्मा की सत्ता से उसकी सत्ता भिन्न है। आहा...हा... ! यह शरीर और यह वाणी मिट्टी-जड़, धूल की सत्ता तेरी सत्ता से भिन्न है; इस कारण उस सत्ता की क्षण-क्षण में होनेवाली अवस्था तुझसे भिन्न है, तुझसे नहीं हुई है, तुझसे नहीं होती है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। कठिन लगती है प्रभु !

लोग विरोध करते हैं, आज विरोध आया है 'करुणादीप' (एक समाचार पत्रिका) में (समयसार की) बारहवीं गाथा का (विरोध आया है) । '**अपरमे ट्ठिदा भावे ॥**' श्रावक और मुनि तो अभी अपरमभाव में हैं; इसलिए उन्हें तो व्यवहार क्रिया करने योग्य है। आहा...हा... ! बारहवीं गाथा ! अरे... प्रभु ! यह तू क्या करता है ? वहाँ तो ऐसा कहा है प्रभु ! कि तू सच्चिदानन्द प्रभु है ! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, पूर्णानन्द का पिण्ड है। आहा...हा... ! अनन्त चैतन्यरस का भरा हुआ भगवान है। भाई ! आहा...हा... ! उस भगवान को जाने बिना, उसे जैसी स्थिति में है, उसे माने बिना दूसरे प्रकार से उसे मानना कि दया, दान से जीव को लाभ होता है (तो) प्रभु ! तूने इस (मान्यता से) जीव की हिंसा

की है, तेरी हिंसा की है। पर की हिंसा कोई नहीं कर सकता, पर की दया कोई नहीं पाल सकता प्रभु! क्योंकि पर का आत्मा और शरीर तो भिन्न है, उसकी अवस्था तो उसके कारण होती है। तू कहे कि मैं उसे जिलाऊँ और मारूँ, तो क्या प्रभु तूने तेरी आयु उसे दी कि तूने उसे जिलाया? आहा...हा...! तुझे मार डाला अर्थात् उसने तेरी आयु लूट ली? आहा...हा...! बात बहुत कठिन है बापू! आहा...हा...! वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर की आज्ञा में — हुकम में — दिव्यध्वनि में ऐसी आवाज आयी है। इन्द्रों ने गणधरों ने झेली है और शास्त्र रचना की है और वे बाहर प्रसिद्ध हुए हैं। आहा...हा...!

यह कहते हैं, **मनुष्यादि पर्यायें क्रिया का फल हैं,....** मनुष्यादि अर्थात्? चार गति। आहा...हा...! यह मोह की क्रिया — मनुष्य और स्वर्गादि अच्छा मिले तो शुभभाव है, वह शुभभाव राग की क्रिया है, और नरक तथा तिर्यंच में, हलके तिर्यंच में जाये, किसी को फिर राग की मन्दता — शुभ होवे (तो) भोगभूमि में जाये। हलके तिर्यंच आदि में जाये तो राग की तीव्रता हो, परन्तु इस सब राग की क्रिया का फल चार गति है। चाहे तो कर्मभूमि में अवतरित हो, चाहे तो भोगभूमि में अवतरित हो, चाहे तो सर्वर्थासिद्धि में अवतरित हो, चाहे तो सातवें नरक में उत्पन्न हो... आहा...हा... ! प्रभु! यह क्रिया का फल है। शुभ और अशुभराग का वह फल है। आहा...हा...! अब इस (करुणादीप में) ऐसा कहते हैं कि तुम '**अपरमे भावे॥**' में श्रावक और मुनि को जो दया-दान आदि धर्म करना है, वह '**अपरमे भावे॥**' है। अर...र...! कहाँ अर्थ करते हैं? बापू! तुझे पता नहीं है भाई! भगवान! तू बड़ा है परन्तु तेरे बड़प्पन का तुझे पता नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो आत्मा जहाँ भूतार्थरूप से जाना, त्रिकाली आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्ण ज्ञान और शान्ति से भरपूर, शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... आहा...हा...! जैसे बर्फ का पिण्ड हो, बर्फ का पिण्ड हो, (ऐसे) प्रभु! तू अन्दर शान्ति का पिण्ड है। आहा...हा...! और यह सब क्रिया — जो पुण्य-पाप की (क्रिया है, वह) अशान्ति की क्रिया है। समझ में आया? आहा...हा...! यह शुभ और अशुभराग अशान्ति है (और) प्रभु आत्मा है, वह शान्ति का सागर है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... अर्थात् वह अकषाय स्वभाव का पूर है, उससे विरुद्ध जो पुण्य और पाप के भाव हैं, वह मोह-क्रिया है, वह राग

की क्रिया है, भाई! और वह राग की क्रिया शुभ आदि हो तो मनुष्य आदि या स्वर्ग होता है; अशुभ हो तो हल्का मनुष्य, नारकी और तिर्यंच होता है परन्तु सर्वार्थसिद्धि की आयु मिले, वह भी राग का फल है। भले वे तो मुनि हैं, सर्वार्थसिद्धि में मुनि जाते हैं.... आहा...हा...! परन्तु उन्हें इतना राग है। आहा...हा...!

यहाँ शत्रुंजय पर पाँच पाण्डव (ध्यान में लीन थे) दुर्योधन के भानेज ने उपसर्ग किया, सिर में, गले में, पैर में लोहे के गहने बनाकर पहनाये। आहा...हा...! तीन मुनि तो आत्मा के ध्यान में मस्त रहे, विकल्प भी जिन्हें उत्पन्न नहीं हुआ, (वे तो) केवल (ज्ञान) प्राप्त करके, देह छूटकर मोक्ष पधारे। यह शत्रुंजय! (बाकी के) दो मुनि भी सच्चे सन्त थे परन्तु एक विकल्प इतना आया... आहा...हा...! अरे...रे! भीम, अर्जुन, धर्मराज मेरे सहोदर और सहधर्मी वृद्ध है, बड़ी उम्र है, उन्हें क्या होगा? लोहे के गहने पहनाये, मुझे तो पहनाये परन्तु सबको — पाँचों को (पहनाये), इतना एक विकल्प आया (कि) क्या होगा? वहाँ सर्वार्थसिद्धि की आयु बँध गयी। वह क्रिया का – राग का फल है। सर्वार्थसिद्धि, वह क्रिया का फल है; धर्म का नहीं। आहा...हा...! तीन पाण्डवों को धर्म का फल तो (यह आया कि) अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए, रमते हुए पूर्णानन्द की प्राप्ति हुई (और) देह छूट गयी। उन्हें क्रिया नहीं आयी, उन्हें परमधर्म रहा और परमधर्म का फल इन चार गतियों का अभाव (हुआ) वह है। आहा...हा...! यही कहते हैं। गाथा —

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिष्फलो परमो।। ११६।।

नीचे हरिगीत। आहा...हा...!

पर्याय नहीं शाश्वत कोई, अरु क्रिया सहज निष्पन्न नहीं।
यदि धर्म निष्फल होय तो, क्रिया कोई निष्फल नहीं॥

टीका, टीका है न। **यहाँ (इस विश्व में),....** भाषा सादी है प्रभु! सादी (भाषा से) समझ में आये ऐसा है। यह कहीं कोई कठिन भाषा नहीं है। संस्कृत व्याकरण और (ऐसा) सब कठिन (नहीं है)। सादी (भाषा) प्रभु! तू अन्दर सादा है। आहा...हा...! यह शुभराग, सर्वार्थसिद्धि जाने का राग, वह भेष भी प्रभु तेरा नहीं। आहा...हा...! मुनि!

आत्मध्यानी-ज्ञानी! मुनि किसे कहते हैं — यह कठिन बात है, बापू! अभी तो... आहा...हा...! अभी तो समकित किसे कहते हैं, उसका पता नहीं होता! मुनि तो कहाँ है, बापू! राग के विकल्प से भी जहाँ प्रभु अन्दर भिन्न हैं, वह शान्ति का पिण्ड है, आनन्द का पुँज है, ज्ञान का सागर है। आहा...हा...! आत्मा अकेला वीतराग की अरूपी मूर्ति है! अरे...रे...! ऐसा आत्मा कैसे जँचे? ऐसा आत्मा जहाँ अन्दर श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव में — सम्यग्दर्शन में जँचा, उस सम्यग्दर्शन में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। आहा...हा...! तब तो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। चारित्र (की) बातें तो कहीं रही बापू! यह तो अभी कोई अलग चीज है, दुनिया को पता नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **(इस विश्व में), अनादि कर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण)....** आहा...हा...! (अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका में) **सन्निधिप्रत्यय** (शब्द है) 'प्रत्यय' का अर्थ 'आश्रय' किया। (श्रोता — जी हाँ!) मुझे तो आश्रय का देखना था। 'प्रत्यय' अर्थात् 'आश्रय' है। आहा...हा...! क्या कहते हैं? यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा की वाणी है। सन्त आढ़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा...! माल तो भगवान के घर का है! आहा...हा...! सन्तों ने चारित्र सहित अनुभव किया है परन्तु पूर्ण अनुभव-केवलज्ञान नहीं है। वे सन्त जगत् को प्रसिद्ध करते हैं। आहा...! स्वयं तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में... मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में शान्तरस के पिण्ड में लिपट गये हैं। आहा...हा...! वहाँ से जरा यह विकल्प उत्पन्न हुआ है (और) यह टीका बनी है, तथापि वे कहते हैं कि इस विकल्प (की) क्रिया (में) भी गति का फल आयेगा। आ...हा...! यह राग है और राग है, वह मोह की क्रिया है तथा उसका फल गति है। भले स्वर्ग गति आवे परन्तु उस क्रिया का फल तो गति है। आहा...हा...!

अनादि कर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण) से जिसके प्रतिक्षण.... (अर्थात्) क्षण-क्षण में **विवर्त्तन....** (अर्थात्) विपरिणमन, पलटा हुआ करता है। आहा...हा...! समय-समय में विकार का पलटा हुआ करता है। भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ एकरूप विराजमान है। उसकी पर्याय में मोह की अनादि सम्बन्ध

के कारण क्षण-क्षण में राग का विकार का परिवर्तन हुआ करता है। आहा...हा... ! **ऐसे संसारी जीव को...** देखा ? कैसे संसारी ? कि **अनादिकर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण) से....** (अर्थात्) उसके अवलम्बन से। **जिसके प्रतिक्षण....** विकार का **विवर्त्तन होता रहता है....** आहा...हा... ! प्रतिक्षण उसे राग और द्वेष, राग और द्वेष की क्रिया वर्तती है। **ऐसे संसारी जीव को क्रिया....** (अर्थात्) यह राग और शुभ-अशुभराग की क्रिया **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** आहा...हा... ! वह विकार स्वभाव निष्पन्न है। उसके पर्याय का स्वभाव निष्पन्न है। आहा...हा... !

यह लोग बात करते हैं न ? कि विकार आत्मा से स्वतन्त्र हो तो स्वभाव हो जायेगा; इसलिए कर्म के कारण होता है — (ऐसा मानना)। ऐसा नहीं प्रभु ! कर्म को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता; मात्र उसका लक्ष्य पर के ऊपर जाता है और वश होता है — निमित्त के वश होता है। निमित्त उसे स्पर्श नहीं करता, निमित्त को वह स्पर्श नहीं करता। आहा...हा... ! मात्र उसकी ओर वश होकर और जो शुभ या अशुभ राग की क्रिया खड़ी होती है... है ? वह **क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** उसका पर्याय स्वभाव है, उससे प्राप्त हुई है। विभाव को स्वभाव निष्पन्न कहा है ! विकार है न ? उसका स्वभाव है न ? **स्पष्ट भवनं स्वभावः** भगवान की पर्याय में होता है न ? आहा...हा... ! स्व-भाव (अर्थात्) वह स्वभाव है। एक समय की विकार की क्रिया, वह कर्म के आधीन हुई स्वाभाविक क्रिया है। स्वाभाविक अर्थात् पर की नहीं। आ...हा... ! है ? **स्वभाव निष्पन्न ही है;....** आ...हा... !

उस दिन वहाँ यह विवाद आया था न ? 'ईसरी' ! तेरह की साल ! (संवत् २०१३) तेरह है न ? तेरह, तेरह ! बाईस वर्ष हुए (दिगम्बर समाज के बड़े विद्वान) के साथ चर्चा (हुई, तब कहा था कि) विकार है ,वह अपने षट्कारक के कारण परिणमता है, उसमें कर्म के निमित्त की कोई अपेक्षा नहीं है। वहाँ तेरह के साल की बात है। २२ (वर्ष हुए) जो दिगम्बर के खास-बड़े गिने जाते हैं, उनके साथ चर्चा होने पर मैंने कहा — ऐसा नहीं, कर्म के कारण विकार है — ऐसा नहीं। देखो ! पंचास्तिकाय की ६२ गाथा ! विकार के षट्कारक देखो ! स्वाभाविक कहा — मुझे यहाँ ऐसा कहना है। उन लोगों को ऐसा था कि

यदि विकार स्वत: हो तो और कर्म के कारण न हो तो वह तो स्वभाव हो गया कहलायेगा। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि यह राग और द्वेष, पुण्य और पाप के परिणाम की क्रिया, जिसके फलवाली है, चार गति मिलती है, जिसमें से संसार मिलता है, वह **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** भाषा देखो!

मुमुक्षु - संसारियों का स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री - संसारी की पर्याय का स्वभाव है। आहा...हा...! कोई ऐसा कहे कि यह स्वभाव (की बात) है, विभाव की बात (नहीं) — (तो ऐसा नहीं है)। यहाँ विकार की बात है, क्रिया की बात है, और उस क्रिया का फल चार गति है तो वह क्रिया — विकार की बात है। आहा...हा...! भाई! ग्यारहवीं गाथा में कहा न? फिर बारहवीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि समकिती ने — धर्म की पहली शुरुआतवाले ने जो कुछ आत्मा त्रिकाली ज्ञायकभाव जाना, अनुभव किया, उसकी पर्याय में अभी अशुद्धता है और शुद्धता पूर्ण नहीं है, उसे जानना होना, वह प्रयोजन है। जानना वह प्रयोजन है (अर्थात्) 'उस काल में है' — ऐसा 'जानना' प्रयोजन है। वह 'करने योग्य है' (ऐसी) वहाँ तो यह बात भी नहीं है, प्रभु! अब आज इस 'करुणादीप' में आया है कि अरे... तुम विचार करो कि श्रावक और मुनि की क्रिया तो बारहवीं गाथा में करने को कहा है। आहा...हा...!

अरे...रे! अन्धकार हो गया! वीतराग का मार्ग सूर्य जैसा स्पष्ट! उसे अन्धकार में डूबो दिया (और) दुनिया को दरकार ही कहाँ है? पूरे दिन पाप का धन्धा! स्त्री, पुत्र, परिवार में रहना... आहा...हा...! उसमें सुनने जाये वहाँ वापस ऐसा सुनने को मिले कि कर्म के कारण विकार होता है और विकार के कारण चार गति में भटकता है; इसलिए कर्म के कारण चार गति में भटकना होता है (अर्थात् कि) परद्रव्य के कारण जीव को भटकना होता है.... वह यहाँ इनकार करते हैं। परद्रव्य का — कर्म का तो तुझमें अभाव है; मात्र (जिसका) अभाव है, तू उसके वश होता है; इस कारण तुझे राग और शुभाशुभभाव — सर्वार्थसिद्धि में जाने का जो शुभभाव है, वह भी तुझमें राग का, मोह का राग है। वह राग की क्रिया मोहवाली है — रागवाली है। आहा...हा...! जिससे चार गति में से कोई भी गति

मिले, उसका कारण क्रिया और राग है। फिर भले शुभराग हो और अशुभ हो। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

आ...हा... ! यहाँ तो (कहते हैं) **संसारी जीव की क्रिया....** संसारी जीव की बात की न ? तो उसकी क्रिया की बात तो विकार की है, क्योंकि उसका फल तो चार गति कहते हैं। आहा...हा... ! यह बड़ा विरोध हुआ था। अन्त में फिर 'कलकत्ता' पत्र आया था कि 'ये लोग भूले, बहुत भूले, विकार अपने से ही होता है और कर्म का कोई कारण नहीं है !' कहा — कोई कारण नहीं है। कर्म के कारक — कर्ता-फर्ता कुछ नहीं और विकार स्वयं से स्वयं की पर्याय में है। आहा...हा... ! तुम्हें तो पता नहीं होगा, तुम तो इन्दौर में थे। यह तो ईसरी में (बात हुई थी, वहाँ सेठिया भी थे परन्तु) सेठों को कहाँ पड़ी है कि क्या सत्य है ? सिर पर जो कहे (वह मान लेते हैं) और इज्जतवाले मनुष्य हैं, इसलिए जो कहे वह जय नारायण ! बराबर सत्य बात है। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! जिस क्रिया से चार गति मिले, वह तेरी क्रिया वास्तव में स्वाभाविक है। स्वाभाविक अर्थात् तेरे भाव से हुई है। स्व+भाव ! आहा...हा... ! कर्म के कारण नहीं। आहा...हा... ! कर्म है, वह परद्रव्य है और वह परद्रव्य है, उसकी स्वद्रव्य में नास्ति है। आहा...हा... ! भगवान स्वचतुष्टय में विराजमान आत्मा है, तो वह पर चतुष्टय — कर्म के पर चतुष्टय — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की नास्ति है। आहा...हा... ! अरे ! सत्य मिलता नहीं और उसके बिना संसार का अन्त आता नहीं। बापू ! लोग भले बाहर से मानें और मनवावे कि हम व्रत पालते हैं और अपवास करते हैं, और वर्षीतप करते हैं और उसमें पाँच, पच्चीस, पचास हजार खर्च करते हैं और.... सब धूल और राग है। उस राग का फल संसार है। आ...हा... ! वह धर्म नहीं, आ...हा... ! ऐसा राग आवे परन्तु जाना हुआ प्रयोजनवान है। **तदात्वे !** यह (समयसार की) बारहवीं गाथा में संस्कृत (शब्द है)। उस-उस समय में वह-वह प्रकार है और उस-उस समय में स्वाभाविक कहा, उस-उस समय में उस-उस राग को ज्ञान से जानने योग्य है। आहा...हा... ! राग करने योग्य है, या राग का फल धर्म है, या राग आदरणीय है — यह बात वहाँ है ही नहीं। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **ऐसे संसारी जीव को....** आहा...हा... ! **क्रिया...** इस ओर

(इसके बाद के पृष्ठ पर) क्रिया का स्पष्टीकरण किया है। है न? ***मूल गाथा में प्रयुक्त क्रिया शब्द से मोहसहित क्रिया समझना...*** इस ओर तीसरे पृष्ठ पर है। ***मोहरहित क्रिया को तो परमधर्म नाम दिया है।*** आहा...हा...! यह दया, दान, व्रत, अपवास, राग की क्रिया है — मोह की क्रिया है और उसका फल संसार है। भले ही फिर कोई शुभभाव हो और पुण्य बँधे और स्वर्ग में जाये परन्तु है तो वह संसार। आहा...हा...! इन सब सेठों ने ऐसा सुना नहीं, भाई! यह सब सेठ होकर घूमते हैं (परन्तु) सम्प्रदाय में यह नहीं सुना। आ...हा...! सम्प्रदाय में यह बात है ही नहीं। स्थानकवासी और श्वेताम्बर में यह धर्म की बात है ही नहीं। वहाँ धर्म की बात ही नहीं, राग की क्रिया की बात है। आहा...हा...! अर्थात् अधर्म की बात है। कठिन बात है, बापू! यह तो सत्य है, भाई! कड़वा लगे तो भी सत्य वस्तु तो यह है। आहा...हा...!

अनादि कर्मपुद्गल की उपाधि के सद्भाव के आश्रय (कारण) से.... कहा न? अपने स्वभाव ने आश्रय से ऐसा नहीं हुआ, **जिसके प्रतिक्षण विवर्त्तन....** प्रतिक्षण राग आदि के भाव का परिवर्तन हुआ ही करता है। एक प्रकार का राग और एक प्रकार का द्वेष — ऐसा परिवर्तन हुआ ही करता है। **प्रतिक्षण विवर्त्तन होता रहता है — ऐसे संसारी जीव को....** है न? **क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** (अर्थात्) वह पर्याय स्वभाव निष्पन्न है (अर्थात्) पर से नहीं हुई है। आहा...हा...! अन्दर है भाई? स्वभाव कहा, स्वभाव! वास्तव में स्वभाव कहा वापस! आहा...हा...! क्योंकि ऐसी बात है। कर्म है, वह तो जड़ है, धूल है, मिट्टी है, उनका प्रभु आत्मा में तो अभाव है। आत्मा में कर्म है ही नहीं; कर्म, कर्म में है, प्रभु आत्मा में कर्म है ही नहीं। अरे...रे! कैसे जँचे? परद्रव्य का अस्तित्व आत्मा में है ही नहीं। परद्रव्य का अस्तित्व आत्मा में नास्तिरूप है, अर्थात् वह आत्मा में नहीं है। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बात कहाँ सुनी जाये? कर्म के कारण विकार है — ऐसा नहीं है। वह प्रतिक्षण उसके अपने विकार के षट्कारक का परिणमन — कर्ता पर्याय, कर्म पर्याय, करण-साधन पर्याय... सब विकार की (पर्याय) हाँ! अपादान पर्याय, होकर रखी पर्याय और पर्याय के आधार से पर्याय, यह स्वभाव है — यह पर्याय का विकार स्वभाव है। आहा...हा...! इसमें विवाद, झगड़ा — ऐ... ई...! तुम

एकान्त कहते हो, इसलिए अलग पड़ जाते हैं और झगड़ा होता है, पक्ष पड़ जाता है और पक्ष पड़ जाता है; इसलिए तुम्हारे कारण पक्ष पड़ जाता है, सब ऐसा कहते हैं। क्या हो? बापू! प्रभु! तेरा सत्य तो कुछ अलग प्रकार का है, बापू!

आ...हा...! यहाँ तो परमात्मा तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की पुकार है! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं, उनकी यह पुकार है! सीमन्धर भगवान की यह वाणी है! कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। प्रभु विराजमान हैं, पाँच सौ धनुष की देह है। प्रभु की आयु करोड़ पूर्व की है, अभी विराजमान हैं। अभी तो अरबों वर्ष रहनेवाले हैं, अरहन्त पद में हैं। भगवान महावीर आदि सब तो सिद्ध पद में — 'णमो सिद्धाणं' में चले गये हैं। यह णमो अरिहन्ताणं में हैं, महाविदेह में अभी दूसरे बीस तीर्थंकर विराजमान हैं। वहाँ पूर्व में कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले गये थे, आठ दिन (वहाँ) रहे और वहाँ से आकर (यह शास्त्र बनाया वह) यह वाणी है, यह प्रभु का सन्देह है। आहा...हा...! अरे...रे! कैसे जँचे? ऐसी दरकार कहाँ है? समय कहाँ मिलता है? पूरे दिन एक तो पाप के धन्धे में गले तक गिर गया! आहा...हा...! उसमें स्त्री, पुत्र, और.... उसमें पुत्र और स्त्री कुछ ठीक हों तो बेचारा (उनमें) फँस गया, अभी पुण्य का ठिकाना नहीं, जिसके द्वारा स्वर्ग और मनुष्यपना आदि मिले (उसका ठिकाना नहीं) तो धर्म जो आत्मज्ञान है, वह बात तो कहीं रह गयी। बापू! आहा...हा...!

आहा...! देखो न! है अन्दर? देखो, **क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति।** संस्कृत में दूसरी लाइन है। **क्रिया किल — किल** अर्थात् वास्तव में। **किल** अर्थात् वास्तव में। क्रिया वास्तव में **स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति**.... ऐसी व्याख्या और ऐसी बातें (यहाँ से सुनकर) जहाँ घर जाये वहाँ ऐ...ई...! सब हो गया। आहा...हा...! दुकान और धन्धे में दिन की दो -पाँच हजार की आमदनी होती हो... आहा...हा...! उसमें रंग गया! आहा...हा...! मर गया, मार डाला! आहा...हा...!

कहते हैं कि यह राग है, वह तेरी स्वाभाविक क्रिया है — चाहे तो शुभराग हो या चाहे तो अशुभ (राग) हो। आहा...हा...! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बाँधे, वह राग है और राग का फल गति है तो वहाँ वह गति मिलेगी। आहा...हा...! आया? **संसारी जीव को**

क्रिया.... अर्थात् शुभ या अशुभ विकारी परिणाम। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का भाव (होता है) वह पुण्य की विकारी क्रिया है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना, वह पाप की विकारी क्रिया है। पाप और पुण्य दोनों मोहवाली, रागवाली क्रिया है और वह इसकी स्वाभाविक क्रिया है। इसकी पर्याय में स्वयं उत्पन्न की हुई (क्रिया है)। आहा...हा...! **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** यह भाषा तो देखो!

यह ज्ञेय अधिकार है और ज्ञेय अधिकार अर्थात् ज्ञेय में जो विकार होता है, वह -वह ज्ञेय में उसकी पर्याय का स्वभाव है, वह पर के कारण (नहीं होता) — यहाँ ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? पहले ९२ गाथा में ज्ञान अधिकार पूर्ण हुआ था। यह ज्ञेय अधिकार है और वह भी जयसेनाचार्यदेव को कहते हैं कि यह समकित का अधिकार है। यह टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव की है परन्तु अन्दर बीच में जो जयसेनाचार्यदेव की टीका है, वे जयसेनाचार्यदेव तो ऐसा कहते हैं कि यह समकित का अधिकार है। आहा...हा...! राग वास्तव में इसका है, यह श्रद्धा में... ज्ञेय अधिकार है तो जीवरूपी ज्ञेय, उसकी पर्याय में होनेवाला विकार, वह उसकी पर्याय की स्वाभाविक क्रिया है। आहा...हा...! समझ में आया?

वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;.... वास्तव में लिया — **किल** तो लिया, **स्वभावनिर्वृत्तैव** (लिया), है न भाई! अन्दर **एव** शब्द पड़ा है। **किल** और - **एव,** अर्थात् क्या? कि आत्मा में जो पुण्य और पाप का भाव होते हैं, वह वास्तव में **एव** अर्थात् वह स्वाभाविक ही इसके हैं। आहा...! दो शब्द आये न? **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** टीका में है। देखो! **'प्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैव'** **'किल'** (अर्थात्) वास्तव में **(स्वभावनिर्वृत्तैव)** (अर्थात्) स्वभावनिवृत्त ही है। (अर्थात् कि) स्वभाव से ही उत्पन्न हुई है। अरे...! इसमें विवाद और विरोध... आहा...हा...! 'अप्पा कत्ताए विकत्ताए' बस। आत्मा कर्म का कर्ता और आत्मा कर्म का भोक्ता। अरे! कर्म जड़ है, प्रभु! तुझे पता नहीं है। जड़ का कर्ता आत्मा नहीं होता और जड़ आत्मा को कर्ता कुछ नहीं होता। आहा...हा...! अरे भाई! जिसकी सत्ता में, जिसकी सत्ता ही नहीं है, जिसकी — प्रभु की सत्ता है, भले विकारवाली पर्याय है परन्तु उसमें पर सत्ता तो है ही नहीं। आहा...हा...!

थोड़ा-थोड़ा साथ में विचार करना। यह कोई वार्ता नहीं है प्रभु! यह तो तीन लोक के नाथ (का) विरह पड़ा, प्रभु! वहाँ रह गये। आहा...हा...! उनकी बात है। भले दुनिया के साथ मिलान न खाये परन्तु सत्य के साथ तो मिलान खाये ऐसा है। आहा...हा...! सम्प्रदाय के साथ तो अभी कुछ मिलान खाये ऐसा नहीं है। सम्प्रदाय (में) तो (ऐसा ही चलता है कि) कर्म से विकार होता है, शुभ की क्रिया से धर्म होता है और उससे मोक्ष होता है। दया, दान, व्रत, अपवास-वपवास करो — व्रत से संवर होता है और अपवास से निर्जरा होती है, यह तपस्या! यहाँ कहते हैं कि यह व्रत और तप की जो क्रिया है, वह राग -क्रिया है। अरे...रे! रागभाव की क्रिया है। शरीर की क्रिया है, वह जड़ की (क्रिया है)।

जीव की यह क्रिया **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;....** आहा...हा...! **इसलिए उसके मनुष्यादिपर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है;....** आहा...हा...! एकरूप कोई नहीं है। इसे इस पुण्य और पाप के राग की क्रिया के कारण और प्रतिक्षण — क्षण-क्षण में विकार का परिवर्तन होता है; इसलिए **मनुष्यादिपर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही'.....** ऐसी की ऐसी नहीं है। **क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में....** आहा...हा...! वह क्रिया-पर्याय हुआ ही करती है। जैसे क्रिया बदला करती है, वैसे उसका फल भी बदला ही करता है। आहा...हा...! पहले कहा न? (विकार का) **प्रतिक्षण विवर्त्तन** (होता है), वैसे ही यह मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, देव — चार गति है, उसकी बात है, हाँ! अभी इसमें सिद्धगति की बात नहीं है। **मनुष्यादिपर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है;....** अर्थात् ऐसी की ऐसी गति की पर्याय है — ऐसा नहीं है। गति बदला ही करती है। आहा...हा...! एक निगोद में — लहसुन और प्याज (में) जाये... आहा...हा...! उसमें एक क्षण में — एक अन्तर्मुहूर्त में तो अठारह भव करता है, उसका विकार भी बदलता है तो उसका फल भी बदलता है, कहते हैं। यह निगोद की पर्याय कहीं कायम-एक प्रकार की रहती है — ऐसा नहीं है। भले वहीं का वहीं रहे। आहा...हा...! निगोद में से फिर मनुष्य हो, मनुष्य में से पशु हो, पशु में से निगोद में जाये। आहा...हा...!

अरे...रे! चौरासी के अवतार मिथ्यादृष्टि के कारण (अर्थात्) यह राग की क्रिया

मेरा स्वभाव-धर्म है — ऐसी मान्यता के कारण चौरासी के अवतार किये हैं। आहा...हा...! और या यह कर्म के कारण हुआ विकार है — ऐसा मानकर स्वच्छन्दी होकर (कहता है कि) विकार पर से होता है, मुझे क्या है? आहा...हा...! वह स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि भटकता है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश अब... ऐसी कोई बात आयी? अन्य (लोग) तो ऐसा कहते हैं व्रत करना, अपवास करना, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, कन्दमूल न खाना, प्रत्येक हरितकाय में कमी करना, प्रतिदिन (भोजन करने में) द्रव्य (भोजन की सामग्री) कम करना... आहा...हा...! यह सब बातें, बापू! यह तो राग की क्रिया है और इस क्रिया का फल तो चार गति है। चाहे तो शुभराग हो तो मनुष्यादि, देव आदि (होवे) अशुभ (राग) होवे तो निम्न मनुष्य या तिर्यंचादि, नरकादि में जाये, परन्तु गति मिलेगी; धर्म नहीं। इसलिए इसे सिद्धपद नहीं मिलेगा। आहा...हा...!

(यहाँ चलते विषय में) मनुष्यादि लिया न? यह चार (गतियाँ लीं)। (वह मनुष्यादि) **पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण....** अर्थात् एक की एक गति नहीं, ऐसा (कहना है)। **क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया फलरूप होने से.... वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया फलरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं।** नयी पर्याय हुई तो उसे पूर्व की पर्याय का नाश होता है। गति की बात है, हाँ! आहा...हा...! एक बार शुभभाव से स्वर्ग में जाये और फिर वहाँ से मरकर वापस तिर्यंच में जाये। आहा...हा...! ऐसी कोई गति कायम रहे — ऐसी कोई चीज नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! सर्वार्थसिद्धि में रहे तो भी तैतीस सागर रहे, वह कायम रहे — ऐसा नहीं है। वहाँ से निकलेगा और मनुष्य में आयेगा। आहा...हा...!

मनुष्य आदि दशाओं में से कोई भी दशा यही — ऐसी की ऐसी कायम नहीं रहती। **क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान....** आहा...हा...! **क्रिया फलरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं।** मनुष्य की गति नष्ट होती है, देव गति मिलती है तो देव गति उत्तर पर्याय है, मनुष्य गति पूर्व (पर्याय) है, उसका नाश होता है। जैसे राग भिन्न-भिन्न है, वैसे गति भी भिन्न-भिन्न (होती है)। नयी पर्याय होने पर पुरानी पर्याय (नष्ट होती है) गति का नाश होता है, हाँ! आहा...हा...!

एक ओर अरबोंपति मनुष्य हो, रत्न के पलंग पर सोता हो, देव जिसकी (सेवा करते) हो, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती! आहा...हा...! परन्तु फिर जो उत्तर पर्याय-नरक की पर्याय में जाने पर इस पूर्व पर्याय का नाश हो जाता है। आहा...हा...! इस चक्रवर्ती की पर्याय का, उत्तर-पर्याय अर्थात् नरक में जाने की पर्याय से (पूर्व पर्याय का) नाश हो जाता है। आहा...हा...! कर्म के कारण नाश होता है — ऐसा यहाँ नहीं कहा है। भाई! आहा...हा...! आयु पूर्ण हो गयी, इसलिए मनुष्य की गति का नाश हुआ — ऐसा नहीं कहा, भाई! आहा...हा...! बाद की पर्याय जो भिन्न-भिन्न राग है, उसका फल गति है, यह बाद की गति की पर्याय होने पर पहले की पर्याय का नाश होता है। आहा...हा...! राग भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होता है, वैसे गति भी अमुक काल बाद तुरन्त नष्ट हो जाती है। उत्तर पर्याय प्राप्त होने पर पूर्व की पर्याय नहीं रहती। पहले की पर्याय कायम रहकर बाद की पर्याय हुई (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें! उपाश्रय में जाओ तो व्रत करो, और उपवास करो, तपस्या करो — ऐसी बातें चलती हैं; मन्दिर में जाओ तो पूजा करो, भक्ति करो, और यात्रा करो यह चलता है। अरे...भाई! यह सब क्रियाएँ राग की हैं, उनका फल गति है और वह गति बाद की गति की उत्पत्ति में पहले की गति का नाश होता है, कोई गति कायम रहे — ऐसा नहीं है। कहा न? **टंकोत्कीर्ण!** ऐसी की ऐसी गति कायम — ऐसी की ऐसी रहे — ऐसा नहीं है। अमुक काल में तुरन्त गुलाँट खा जाती है। आहा...हा...! एक ओर यहाँ अरबोंपति बनिया हो, माँस न खाता हो, शराब न पीता हो और पाप-सेवन किये हों... आहा...हा...! मध्यम पाप-सेवन किये हों तो मरकर पशु-ढोर होता है। गाय के कूख में या छिपकली की कूख में अवतरित होता है। यह क्रिया का फल भिन्न-भिन्न गति देता है। आहा...हा...! उस-उस क्रिया की गति एकरूप नहीं रहती। आहा...हा...!

(मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय) **'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया फलरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं। और क्रिया का फल तो, मोह के साथ मिलन का नाश न हुआ होने से....** आहा...हा...! इस राग की क्रिया का फल तो मोह के साथ मिलन है, मोह का जुड़ान है। आहा...हा...! मोह शब्द से राग-द्वेष-मोह सब ले

लेना। **मिलन का नाश न हुआ होने से मानना चाहिए;....** (अर्थात्) गति बदलती है, वह इसे मानना चाहिए। आहा...हा...! कषाय बदलती है, वह भी इसकी वास्तव में स्वाभाविक क्रिया है; वैसे ही उसके फलरूप से गति भी बदला ही करती है। चार गति बदला ही करती है। आहा...हा...! कहाँ एक ओर अरबोंपति बनिया हो और मरकर लट हो क्योंकि धर्म का भान (नहीं है)। सम्यक्त्व क्या है? — अभी तो यह सुना भी नहीं है। अकेले पाप किये और पुण्य का भी ठिकाना नहीं। दो-चार घण्टे ऐसी सत्य बात सुने तो भी पुण्य बाँधे। यह सुनने का योग नहीं मिलता। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! **मानना चाहिए....**।

क्योंकि — प्रथम तो, क्रिया चेतन की पूर्वोत्तरदशा से.... आहा...हा...! **विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है;....** आहा...हा...!

विशेष बात आयेगी, हाँ!

प्रवचन नं. १३१ **दिनाङ्क ११ जुलाई १९७९**

प्रवचनसार, ११६ गाथा। यहाँ से लो, **प्रथम तो,....** है? २४९ पृष्ठ। **प्रथम तो क्रिया....** यह क्रिया अर्थात् राग-द्वेषवाली क्रिया। जिसमें राग हो, द्वेष हो, रति हो, विषय-वासना आदि हो, उस क्रिया को यहाँ क्रिया कहा गया है। वह **क्रिया चेतन की पूर्वोत्तरदशा से विशिष्ट....** (अर्थात्) चेतन की पूर्व दशा से दूसरी दशा भेदवाली है। पहले समय की आत्मा की जो गति होती है, वह फिर दूसरे भव में दूसरी गति हो जाती है। पूर्वोत्तरदशा से भेद (वाला) **चैतन्यपरिणामस्वरूप है;....** एक तो उसकी समय-समय की पर्याय भी भेदवाली है। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

चार गति में जो भटकना (होता है), वह क्रिया का फल है। क्रिया — शुभ या अशुभ राग... चाहे तो शुभराग हो, या चाहे तो अशुभ (राग हो)। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि हो या हिंसा, झूठ, चोरी हो परन्तु दोनों परिणाम मोह के — क्रिया के — मोहक्रिया के हैं। आत्मा को मोह के साथ मिलन की वह क्रिया है। समझ में आया? आहा...हा...! शुभ या अशुभभाव, आत्मा को मोह के साथ मिलन क्रिया है। वह पूर्व-उत्तरदशा से खास

भिन्न **चैतन्यपरिणामस्वरूप है;....** है तो भले विकार, परन्तु चैतन्यस्वरूप है — ऐसा कहते हैं, परन्तु उसकी पर्याय है न? ज्ञेय अधिकार है न? इसलिए उसकी पर्याय में राग हो या द्वेष हो या रति हो, सुख-दुःख की कल्पना हो, वे सब भेदवाली चैतन्यपरिणामस्वरूप है। आहा...हा...! वह स्वयं अपने-अपने कारण से है, कर्म के कारण नहीं। मोह मिलन कहा (तो) मिलन का अर्थ — उसका लक्ष्य वहाँ जाता है। आहा...हा...! है तो वह चैतन्य के परिणाम की (क्रिया) राग और द्वेष, पुण्य और पाप के परिणाम, दोनों क्रिया चैतन्य की विकृत क्रिया है। जिस क्रिया का फल सफल है अर्थात् मोह की क्रिया का फल सफल है, अर्थात् चार गति में भटकता है, वह भटकने का उसका फल है। आहा...हा...! ठीक से सुनायी देता है न? आहा...हा...! क्या कहा? समझ में आया?

वह क्रिया चैतन्य के पूर्व-उत्तर (दशा के) भेदवाली चैतन्यस्वरूप है। **और वह (क्रिया) — जैसे दूसरे अणु के साथ युक्त (किसी) अणु की....** एक परमाणु है। एक परमाणु, वह दूसरे परमाणु के साथ जुड़ता है, तब **द्विअणुककार्य की निष्पादक है,....** तब दो परमाणुओं के कार्य की प्राप्ति हुई। यह क्या कहा? एक परमाणु है, वह दूसरे परमाणु के साथ मिलन हो तो वह दो परमाणु का कार्य कहलाता है, एक परमाणु का नहीं। आहा...! **द्विअणुककार्य की निष्पादक है,.... उसी प्रकार — मोह के साथ मिलित आत्मा के सम्बन्ध में,....** आहा...हा...! भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यस्वरूपी अतीन्द्रिय आनन्दघन प्रभु है परन्तु उसकी पर्याय में, जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ मिले तो दो परमाणु का कार्य होता है; वैसे भगवान आत्मा, मोह के मिलन से विकारी क्रिया (निष्पन्न करता है)। जैसे वह दो परमाणु का कार्य है, वैसे यह दो एकत्रित का (कार्य होता है)। एकत्रित का अर्थ निमित्त के लक्ष्य से और अपनी उपादान की अशुद्धता-इनसे हुआ, यह राग-द्वेष का भाव है। आहा...हा...! मोह का मिलन लिया है। मोह से (होता है) - ऐसा नहीं है। मोह की ओर के लक्ष्य से जो कुछ शुभ-अशुभभाव हों, वह क्रिया सफल है, भटकने के लिये! चार गति प्राप्त करने के लिये वह क्रिया सफल है। आहा...हा...! समझ में आया?

मोह के साथ मिलित आत्मा के सम्बन्ध में, मनुष्यादिकार्य की निष्पादक

होने से.... आहा...हा...! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप है, उसे छोड़कर मोह के लक्ष्य से, मिलन से होनेवाला पुण्य-पाप का भाव, वह मोह के साथ जुड़ा हुआ होने से मनुष्यादि कार्यों का निष्पादक होने से वह भाव चार गति में से किसी गति की प्राप्ति हो — ऐसी वह क्रिया सफल है। समझ में आया? अनादि से जो गति मिलती आ रही है.... आहा...हा....! चौरासी के अवतार में अनेक-अनेक अनन्त योनि, एक योनि में अनन्त बार घूमता है, यह क्रिया का फल है। कौन सी क्रिया? मोह के साथ मिलनवाली मलिन परिणाम — शुभ-अशुभभाव। आहा...हा...! शुभ-अशुभभाव भी मोह के साथ (मिलनवाले) मलिन परिणाम हैं। आहा...हा...!

मनुष्यादिकार्य की निष्पादक.... है। जैसे दो परमाणु का कार्य दो परमाणु है। वैसे यह क्रिया — मोह से मिलनवाली क्रिया, मनुष्यादि के कार्य को उत्पन्न करती है। मनुष्य और तिर्यंच, नरक और देव आदि सभी चार गति (के कार्य को उत्पन्न करती है)। आहा...हा...! यह राग और द्वेष के परिणाम, चाहे तो शुभ हों या अशुभ हों परन्तु वे मोह के साथ मिलन है। आहा...हा...! जिसे लोग धर्म कहते हैं। आहा...हा...! तब (कोई ऐसा) कहे कि शुभभाव को धर्म कहा जाता है न? वह तो जहाँ आत्मा के आनन्द का आश्रय लेकर जो निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, तब उसे जो शुभभाव होवे, उसे उपचार से व्यवहारधर्म कहा जाता है; वरना है तो उसका फल गति। ज्ञानी को भी जो राग आता है, वह राग मोहवाला है, अर्थात् परसन्मुख की सावधानीवाला भाव है। वह स्वभावभाव सन्मुख की सावधानी का उसमें अभाव है। आहा...हा...! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान के नाम स्मरण का भाव (होवे) परन्तु वह सब भाव, पर की सावधानी — परसन्मुख के लक्ष्यवाला भाव है। आहा...हा...! इस कारण मनुष्यादि कार्य की प्राप्ति (होती) होने से वह क्रिया **सफल ही है....** वह क्रिया — भटकने की — गति प्राप्त होने के लिये सफल है। आहा...हा...!

यह ज्ञेय अधिकार है और समकित का अधिकार है। आत्मा ज्ञेय है, उस ज्ञेय में अकेले स्व के आश्रय से होनेवाले परिणाम को छोड़कर, मोह के साथ मिलनेवाले (जो) शुभ-अशुभ मलिन परिणाम (होते हैं) वे, जैसे दो परमाणु का कार्य (होता है), एक का

अकेला एक था उसका (दूसरे परमाणु के साथ जुड़ने से) दो का कार्य जैसे कार्य कहलाता है; वैसे ही भगवान आत्मा में मोह के सम्बन्ध से होनेवाला शुभ-अशुभ मलिन भाव, मनुष्यादि कार्य को उत्पन्न करने के लिये सफल है। समझ में आया ? आहा...हा... ! गति प्राप्त करने के लिये वह सफल है। कौन-सा (भाव) ? शुभभाव। अशुभ की तो क्या बात करनी ? आहा...हा... ! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण, दान आदि; दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, और तप — ऐसा जो विकल्प-राग है, वह परसन्मुख की सावधानीवाला मोह से मिला हुआ, मोह के मिलनवाला... आहा...हा... ! वह भाव मनुष्यादि कार्य करने में सफल है। चार गति में गति जिस भाव से है, उस प्रकार से गति मिलने में सफल है। आहा...हा... ! ऐसी स्पष्ट बात है।

और जैसे.... अब दूसरे प्रकार से (कहते हैं)। अनादि (से) गति क्यों प्राप्त होती आ रही है ? कि एकपने का अपना स्वभाव छोड़कर, दूसरी चीज के मिलन के लक्ष्य से, परसन्मुख की सावधानी के लक्ष्य से जो पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव असंख्य प्रकार के हैं, वे होते हैं। वे, जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु के मिलन से जैसे दो परमाणु होने का कार्य है, वैसे ही आत्मा में यह अकेले स्वभाव का कार्य नहीं है। यह परसन्मुख झुका हुआ जो मलिन स्वभाव, उसका जो मोह के साथ मलिन मिलन — मलिन मिलन मिला हुआ भाव है, वह चार गति (की) प्राप्ति के लिये वह भाव सफल है। आहा...हा... ! उसे भटकने की गति मिलेगी। आहा...हा... ! जिसे अभी दुनिया धर्म के नाम से (चलाती है)।

आज 'जैनमित्र' में आया है, भाई ! लेख आया है। अभी तक कभी ऐसा बोले नहीं, वहाँ कौन जाने रतलाम में (एक दिगम्बर साधु बोले कि) 'जितने क्रियाकाण्ड हैं, वह सब बंध का कारण है। आत्मधर्म वह आत्मा के सन्मुख का ध्यान और उसका आश्रय तथा दृष्टि वह अलग चीज है, वह धर्म है।' ऐसा लिखा है। आया है, जैनमित्र में आया है। यहाँ तो चारों ओर दूसरी बात करते हैं। रतलाम में जरा यहाँ के झुकाववाले हैं न ! आहा...हा... ! जैनमित्र में यह स्पष्ट लिखा है। 'जितना क्रियाकाण्ड का भाव है, वह सब ही बंध का कारण है, वह धर्म नहीं है।' तब अभी तक यह (दूसरे प्रकार से) प्ररूपण करते हैं न ?

आहा...हा...!

धर्म तो आत्मा आनन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का पुंज, सुख का सागर, उसमें एकाग्रता — स्व में एकाग्रता, वह आत्मधर्म है और वह धर्म मुक्ति का कारण है। उसे यहाँ परमधर्म कहेंगे, क्योंकि उस शुभभाव को — समकिती के शुभभाव को व्यवहार से धर्म कहा जाता है। क्या कहा ? आत्मज्ञानी को शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान हुआ, वहाँ आगे शुभभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है। है पुण्य और क्रिया बन्ध का कारण परन्तु उपचार से उसे (धर्म) कहा जाता है।

इस कारण यहाँ कहेंगे, **जैसे दूसरे अणु के साथ सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है....** आहा...हा...! एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ का सम्बन्ध नष्ट हो गया है। अकेला परमाणु रहा है। पृथक् अकेला रहा है, दूसरे परमाणु के साथ का मिलन नष्ट हुआ है। आहा...हा...! **जैसे दूसरे अणु के साथ सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है — ऐसे अणु की परिणति द्विअणुक कार्य की निष्पादक नहीं है....** उस अणु की पर्याय दो अणु के कार्य की प्राप्ति (की निष्पादक) नहीं है, क्योंकि अकेला परमाणु रहा, (इसलिए) दो (अणु का) निष्पादक नहीं रहा। आहा...हा...! क्या बात करते हैं!

उसी प्रकार, मोह के साथ मिलन का नाश होने पर.... दो परमाणु का कार्य एक परमाणु में नहीं होता। एक परमाणु में दो (परमाणु का) कार्य नहीं है। उसी प्रकार अकेला भगवान आत्मा, पर तरफ की सावधानी के बिना, पर के साथ मिलनेवाले पुण्य और पाप के भाव... आहा...हा...! उनका नाश करने से, आहा...हा...! है ? **मोह के साथ मिलन का नाश होने पर वही क्रिया....** शुद्धपरिणति... वह पुण्य और पाप (की) क्रिया मोह की थी और उस क्रिया का फल गति था और अब जैसे जो अकेला परमाणु रहा, उसमें दो पने का कार्य नहीं रहा, वैसे ही अकेला भगवान आत्मा मोह के मिलन से रहित हुआ। आहा...हा...! वह शुभ और अशुभभाव से रहित होता हुआ... है ? **वही क्रिया....** अर्थात् वह शुद्धपरिणति। **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से....** आहा...हा...! वह शुभाशुभ क्रिया थी, वह मोह के साथ मिलान (वाली) मलिन थी। आहा...हा...! और यह पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति के परिणामरहित (क्रिया)। (शुभ और

अशुभपरिणाम) वह दूसरे के साथ मिलन था। आहा...हा... ! एक ज्ञेय को दूसरे ज्ञेय के साथ मिलन था। अब एक ज्ञेय रहा, उसके साथ जिसे मिलन है, और पर के मिलन का नाश किया है। आहा... !

वही क्रिया... क्रिया शब्द तो प्रयोग किया है, भाई ! वही क्रिया शब्द प्रयोग किया है परन्तु वह क्रिया कौन सी ? कि (जो) **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से....** आहा...हा... ! पुण्य और पाप के राग के भाव से रहित चैतन्यप्रभु की एकाग्रता, वस्तु भगवान परमानन्द प्रभु ! सुख के सागर के जल से भरा हुआ प्रभु ! उस जल में जहाँ डुबकी लगायी.... आहा...हा... ! उस आत्मा के आनन्द में जहाँ डुबकी लगाई, वहाँ मोह के साथ के मिलन का नाश हुआ। इस कारण दो परमाणु का कार्य जैसे दो में होता है, वैसे यह मोह के मिलन से आत्मा में होनेवाली जो क्रिया थी, उससे जो गति प्राप्त हुई, उसका यहाँ अभाव होता है। ऐसी बातें हैं। आहा...हा... ! अरे... ! **द्रव्य की परमस्वभावभूत....** भाषा ऐसी है। पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत के परिणाम से भिन्न भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसकी एकाग्रता (हुई वह) स्वद्रव्य का मिलन है। पहले राग में मोह का मिलन है। आहा...हा... ! यह क्रिया **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से 'परमधर्म'....** (है) उसे परमधर्म कहा, क्योंकि ज्ञानी को निश्चयधर्म है, उसके साथ शुभ (भाव को) व्यवहारधर्म कहा; इस कारण उसका निषेध करके यहाँ परमधर्म लिया है। आहा...हा... ! निश्चयधर्म कहो, परमधर्म कहो (दोनों एकार्थ हैं)। समझ में आया ? आहा...हा... !

सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि है, वह परमधर्म है। यह चैतन्यवस्तु भगवान आत्मा अनन्त गुण का सागर (है), आहा...हा... ! उसके मिलन से — पर्याय को उस तरफ — सन्मुख करके जो क्रिया हुई, वह क्रिया द्रव्य के परमस्वभावभूत है। वह (राग की क्रिया) मोह के मिलनवाली थी, यह **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से....** आहा...हा... ! द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से.... यद्यपि राग को भी स्वभाव तो कहा था, आया था न ? कल आया था। वह **क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है....** ऐसा आया था। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम, वह क्रिया भी वास्तव में स्वभावभूत है। वह पर्याय का स्वभाव है। अहा... ! है विभाव, तथापि उसकी पर्याय की स्वभावभूत वह क्रिया है।

वह कहीं पर के कारण हुई है और पर में हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अरे ! मिथ्यात्व और दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव को यहाँ स्वभावभूत क्रिया कहा है। (ऐसा सुनकर) लोग चिल्लाते हैं ! उसकी पर्याय का वह स्वभाव है। अज्ञान में उस परमधर्म स्वभाव को छोड़कर, ऐसे राग-द्वेष के परिणाम में जो आया, उसे भी स्वभावभूत क्रिया कहा गया है। है विकारी (परिणाम) आहा...हा... ! अहा... ! समझ में आया ? ऐसा वीतराग का धर्म ! बेचारों को सुनने को नहीं मिलता। ऐ...ई... ! पूरे दिन सिरपच्ची, धन्धे में से फुर्सत हो तो (ऐसा सुनने को मिलता है कि) व्रत करो, वह संवर और उपवास करो, वह निर्जरा ! वह संवर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि व्रत का विकल्प और उपवास का विकल्प है, वह क्रिया मोह से मिलनवाली है और इस कारण उसका फल गति है, संसारगति है, संसार फल है। आहा...हा... ! चार गति संसार है न ? ऐसी बातें हैं।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की यह दिव्यध्वनि है। प्रवचनसार है न ? प्र = विशेष, वचन = दिव्य (वचन)। आहा...हा... ! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य, (सीमन्धर भगवान के पास) गये थे, वहाँ से यह लाये। सच्चे सन्त-मुनि थे परन्तु विशेष निर्मलता हुई और यहाँ आकर यह (शास्त्र) बनाये। आहा...हा... ! यह क्या कहा ? '**किरिया हि णत्थि अफला**' है ? मूल पाठ में तीसरा पद है। ११६ (गाथा) '**किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिष्फलो परमो**' (अर्थात्) परमधर्म है, वह निष्फल है अर्थात् उसमें भटकने का फल नहीं आता। आहा...हा... !

भगवान आत्मा, ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता (हुई), वह परमस्वभावभूत क्रिया है। क्रिया तो कही। पर्याय है न ? वह कहीं द्रव्य-गुण नहीं है। आहा...हा... ! वह विकारी क्रिया, गति को उत्पन्न करती है अर्थात् संसार को उत्पन्न करती है और जो क्रिया पर के मिलन रहित (है, वह परमधर्मस्वरूप है)। अकेला भगवान द्रव्यस्वभाव जो त्रिकाली पवित्र प्रभु, आहा...हा... ! वह अनन्त मुख को, एक-एक मुख में अनन्त जीभ से भी जिसके गुणों की संख्या नहीं कही जा सकती, इतने गुणों से भरपूर भगवान हैं। आहा...हा... ! निर्मलानन्द है ! अनन्त मुख करे और एक मुख में अनन्त जीभ बनाये तो भी प्रभु के गुण

की संख्या नहीं कही जा सकती !! आहा...हा... ! ऐसा तो महिमावाला प्रभु महा बड़प्पन लेकर पड़ा है !! आहा...हा... ! उसकी महिमा के समक्ष जगत की कुछ महिमा नहीं है। आहा...हा... ! सब अरबोंपति हुए और यह राजा हुए और यह इन्द्र हुए — यह सब महिमा, प्रभु के समक्ष तो हीन है।

यहाँ कहते हैं कि **वही क्रिया....** आहा...हा.... ! **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से 'परमधर्म' नाम से कही जानेवाली ऐसी....** है (अन्दर) ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) जो आत्मा की परमधर्म क्रिया — निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र... निश्चय अर्थात् स्व के अवलम्बन में से हुआ; जहाँ पर के अवलम्बन का नाश हुआ और स्व के अवलम्बन से हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परमधर्मरूप स्वभावरूप क्रिया.... आहा...हा... ! वह क्रिया **'परमधर्म' नाम से....** उसे परमधर्म कहते हैं। आहा...हा... ! और वह परमधर्म निष्फल है। (अर्थात्) संसार प्राप्ति होने के लिये निष्फल है। आहा...हा... ! भटकने की गति मिलने के लिये वह निष्फल है। आहा...हा.... ! ऐसा तो सुना नहीं होगा ? धार्मिक क्रिया निष्फल और सांसारिक क्रिया सफल है। आहा...हा... !

यह राग और द्वेष तथा पुण्य और पाप के भाव असंख्य प्रकार के हैं, वह क्रिया सफल है, अर्थात् अनादि से जो कोई गति मिलती आ रही है, वह गति मिलेगी। आहा...हा... ! और जो मोह के मिलनरहित अर्थात् जैसे एक परमाणु भिन्न है और दो परमाणु का कार्य उसमें नहीं है; वैसे भगवान आत्मा, मोह के मिलनरहित क्रिया... आहा...हा... ! भगवान आत्मा पूर्ण परमात्मस्वरूप अखण्ड गुण का सागर... जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... की संख्या का पार नहीं, उन सब गुणों का समुदाय प्रभु है, उसके ओर की जो क्रिया है, वह परमधर्म स्वभाव है। आहा...हा... ! और वह परमधर्म नाम से कही जानेवाली ऐसी क्रिया **मनुष्यादिकार्य की निष्पादक न होने से.....** आहा...हा... !

जिसमें से गति मिले, वह धर्म नहीं। आहा...हा... ! जिससे संयोग मिले, वह धर्म नहीं। तीर्थंकरपने के भाव से भी संयोग मिलता है तो वह भाव धर्म नहीं। आहा...हा... ! उस भाव को भी मोह के (साथ) मिलन है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। एकान्त लगे ऐसा है, इसलिए लोग चिल्लाते हैं न ! ए... सोनगढ़ का एकान्त है, व्यवहार से (धर्म) नहीं

कहते। (समयसार की) १२ वीं गाथा का आज 'करुणादीप' में विरोध आया है। १२वीं गाथा में ऐसा कहा है कि अपरमेय भावे स्थित.... श्रावक और मुनि को दया-धर्म, दया -व्रत, प्रत्याख्यान, व्यवहार व्रत में होते हैं, और श्रावक तथा मुनि का वह धर्म है — १२ वीं गाथा में ऐसा कहा है। अरे! प्रभु! नहीं कहा, तुझे पता (नहीं)। आहा...हा...! गाथा के अर्थ का पता नहीं होता। (दूसरा ऐसा कहते हैं कि) 'पुण्य फला अरहन्ता' — पुण्य का फल अरहन्त पद है। यहाँ पुण्य का फल संसार गति है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! और एक ओर (ऐसा कहते हैं कि) यह शुभभाव धर्म की धार्मिक क्रिया है, इससे धर्म होता है — ऐसा कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि यह क्रिया सफल है। अनन्त काल से संसार (की) गति मिलती आ रही है, वह तुझे मिला करेगी। आहा...हा...!

आहा...हा...! अरे! इसने कब विचार किया है? पूरे दिन संसार के पाप का धन्धा -पानी, स्त्री-पुत्र को प्रसन्न रखने के लिये हा-हो... (किया करता है)। अर...र...! अरे...रे! इसने आत्मा के लिये समय नहीं निकाला। अरे! मेरा क्या होगा? इसकी इसे दया नहीं है। आहा...! ऐसे अकेले शुभ-अशुभभाव में रचे-पचे प्राणी को उसके फलरूप में गति मिलती है, उसे जीव की — अपनी दया नहीं है। आहा...हा...! अरे...रे! यह कहाँ जाकर भटकेगा? किस गति में कहाँ जायेगा? आहा...हा...! अशुभभाववाला नरक और निगोद आदि में जायेगा, शुभभाववाला फिर कोई देव और मनुष्यादि में (जायेगा)। यह पैसा-वैसा, धूल हो, वह सब गति में भटकनेवाले हैं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि वह परमधर्म नाम से कही जानेवाली... आहा...हा...! पर के मिलन, अर्थात् स्वयं मिलता है, हाँ! मिलने जाता है, वह उसके कारण नहीं, कहते हैं। स्वयं मोह से मिलने जाता है। मिलन लिया है न? आहा...! शुभ और अशुभ परिणाम — क्रिया है, उस (क्रिया में) पर सन्मुख सावधान (होता है)। आहा...! उसी क्रिया के स्थान में स्वद्रव्य के साधन से उत्पन्न हुई जो (क्रिया, वह परमधर्म है) आहा...हा...! अरे! भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो है वह है। बापू! आहा...हा...! अरे! ऐसा अवसर कब आयेगा? आहा...! आँख बन्द करके चला जाता है।

देखो न (भाई का) सुना है न ? आहा... ! आधा पक्षघात (लकवा) तो था, आते थे, यहाँ बैठते थे, मरने से पाँच दिन पहले दूसरा आधा पक्षघात हो गया, पूरे शरीर में पक्षघात ! और तुरन्त हेमरेज हो गया। वे पाँच दिन से असाध्य ! आहा... ! तीन लोक का नाथ जिसकी महिमा का पार नहीं, वह असाध्य में पड़ा है। वैसे तो दुनिया बाहर से असाध्य कहती है परन्तु जिसे मिथ्यात्वभाव है, वह असाध्य में ही पड़ा है। आहा...हा... ! उसे स्व के साध्य का पता नहीं है। दुनिया माने न माने, सत्य को संख्या की कोई आवश्यकता नहीं कि अधिक लोग मानें तो सत्य और थोड़े मानें तो असत्य — ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, ऐसा जो परम धर्म, **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से....** यह पर्याय की बात है, हाँ ! त्रिकाली की नहीं। क्या कहा यह **द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से....** यह पर्याय की बात है। द्रव्य परमस्वभावभूत त्रिकाली है, वह तो द्रव्य है, परन्तु उसका आश्रय लेकर, परसन्मुखता के झुकाव को छोड़कर, स्व के झुकाव में आकर जो पर्याय प्रगट हुई, उसे यहाँ परमस्वभावभूत धर्म कहा है। आहा...हा... ! अरे...रे ! सत्य सुनने को नहीं मिलता, उसे कहाँ जाना ? भाई ! आहा...हा... ! कोई शरण नहीं; शरण तो अन्दर आनन्द का नाथ है। आहा.... ! वहाँ नजर करने से निधान दिखता है, बाकी नजर में — बाहर में कहीं नहीं, धूल-धमाका ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **'परमधर्म' नाम से कही जानेवाली ऐसी — मनुष्यादि.....** चार गति के **कार्य की निष्पादक न होने से.....** इन मनुष्यादि चार गति के कार्य की प्राप्ति, परमधर्म — द्रव्य परमस्वभाव धर्म की पर्याय से वह अफल है। चार गति मिलने के लिये वह परमधर्म निष्फल है। आहा...हा... ! वह तो आत्मा की शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये सफल है। आहा...हा... !

अकेला भगवान आत्मा अतीन्द्रिय शान्ति का सागर है, अतीन्द्रिय शान्ति से भरपूर है। शान्त... शान्त... शान्त... शान्त... जहाँ तीर्थंकर गोत्र का विकल्प भी अशान्त है, आहा...हा... ! ऐसे अशान्त से भी भिन्न भगवान ! सभी आत्माएँ परमात्मा है, हाँ ! भाई ! आहा...हा... ! प्रत्येक आत्मा परम शान्तरस से, अनन्त-अनन्त शान्ति से, अनन्त-अनन्त

अतीन्द्रिय शान्ति से भरपूर भगवान तो अपनी अनन्त शान्ति को अवलम्बता है। वह अवलम्बन की जो क्रिया है, वह वस्तु की परम स्वभावभूत क्रिया है। आहा...हा...! क्योंकि वह परमस्वभाव है, उसमें से वह प्रगट हुई पर्याय है। उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा उपदेश लो!

अन्य (अज्ञानी) तो कहते हैं यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... करो और मरो! यहाँ तो कहते हैं, करे वह मरे, जाने वह जीवे। आहा...हा...! भगवान जाननेवाला ज्ञायक है, वह स्वयं को जानने से पर ज्ञात हो जाता है, वह स्वयं जाननेवाला है, वह जाननेवाला जीता है। आहा...हा...! राग की एकतावाला, जाननेवाले को मार डालता है। मार (डालता है) अर्थात् वस्तु तो है परन्तु उसके लिये नहीं। मेरे लिये नहीं — ऐसा हुआ। मेरे लिये तो राग है, आहा...हा...! ऐसा जीव का धर्म, बापू! आहा...हा...!

यह मनुष्यादि कार्य की प्राप्ति नहीं होने से, द्रव्य के स्वभावभूत होने से धार्मिक क्रिया, वीतरागी पर्याय... वह शुभ-अशुभरागवाली क्रिया थी, यह वीतरागी पर्याय परम स्वभावभूत होने से, मनुष्यादि गति की प्राप्ति के लिये निष्फल है, उसे गति नहीं मिलेगी, उसे सिद्धगति मिलेगी, यह भटकने की गति नहीं मिलेगी। आहा...हा...! उसे यह पैसा नहीं मिलेगा, इज्जत नहीं मिलेगी, यह सब बाहर की धमाल, पाँच-पच्चीस लाख के मकान और पचास करोड़ (उसे नहीं मिलेगा)। लो, यह पचास करोड़! मुम्बई में वैष्णव है, (दर्शन करने) आया था। आते तो हैं सब! नाम बड़ा (परन्तु) कुछ पता नहीं होता।

मुमुक्षु - आपका आशीर्वाद लेने तो आवे न!

पूज्य गुरुदेवश्री - उसे (ईश्वर) कुछ करता है, करता है, करता है, (— ऐसी मान्यता थी) कहा, भाई! कर्ता होवे तो तुम्हारे नरसिंह मेहता ने कहा है 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिन्यौ नहीं, त्याँ लगी साधना सर्व झूठी' — यह नरसिंह मेहता वैष्णव है। इन्होंने ऐसा कहा है। जब तक आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं और आचरण नहीं, तब तक पूजा, भक्ति, व्रत, तप, सब निष्फल... निष्फल हैं। निष्फल अर्थात् धर्म के लिये निष्फल, भटकने के लिये सफल। आहा...हा...! यहाँ पचास करोड़ और धूल के अरब (रुपये) आहा...हा...!

अष्टपाहुड़ में कहीं आता है कि शरीर सुन्दर हो, और ऐसा हो और अमुक हो और अमुक हो, तथापि सम्यग्दर्शन बिना वह सब कुशील है, यह गाथा आती है और एक बीमार है, शरीर में रोग है, दीनता है, गरीब है, खाने का साधन नहीं है — ऐसा आता है, एक श्लोक आता है, अष्टपाहुड़ में आता है, परन्तु यदि उसे आत्मज्ञान है तो वह बादशाह है। आहा...हा... ! जिसे बादशाह — तीन लोक के नाथ का साक्षात्कार हुआ... आहा... ! भले बाहर में महीने में पाँच रुपये भी न मिलते हों, एक बार खाने को भी ठीक से नहीं मिलता हो ! आहा...हा... ! यह कोई कहता था कि एक बार खावें इतनी आमदनी होती है। (ऐसी) आमदनी लाखों की परन्तु कहीं परदेश में इतना खर्च होता है कि एक बार खाने का, बस ! इतना लाखों का खर्च होता है, हजारों रुपये।

नैरोबीवाले भाई ने लिखा है कि तीन सौ लोगों का तीस हजार का खर्च ! नैरोबी में मन्दिर हुआ है न ? मन्दिर ! दिगम्बर मन्दिर हुआ है, सबको बुलाते हैं न ? आओ... आओ... आओ... ! यह रहे नैरोबीवाले ! ऐसा सुना था कि तीन सौ लोगों का खर्च तीस हजार रुपये ! इतना सब वहाँ तूफान है। आहा...हा... ! यह कोई कहता था कि यूँ आमदनी बढ़ी है परन्तु एक बार खायें इतना पहुँचता है। कोई था, परन्तु याद नहीं रहता, कोई था। गृहस्थ पैसेवाला था। एक बार खाते हैं, बस, इतना। उसकी आमदनी को पहुँचता है, दो बार (खाये) नहीं। बहुत बड़े लाखोंपति थे (परन्तु) अब (नाम) भूल गये। कोई था, बहुत आते हैं और बहुत बातें करते हैं। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, **मनुष्यादिकार्य की निष्पादक न होने से....** कौन ? द्रव्य की परम स्वभावभूत क्रिया आहा....हा.... ! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द का नाथ सागर प्रभु की दृष्टि और उसके ज्ञान में जो धर्मदशा प्रगट हुई, वह गति को प्राप्त करने के लिये निष्फल है, उसे गति नहीं मिलेगी। उसे गति नहीं मिलेगी, पैसा नहीं मिलेगा, कीर्ति नहीं मिलेगी, यह करोड़ों रुपये नहीं मिलेगे — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! उसे अरबों रुपये नहीं मिलेंगे, स्त्री नहीं मिलेगी, पुत्र नहीं मिलेंगे, कुछ नहीं मिलेगा — ऐसा कहते हैं और यह पुण्य-पाप के करनेवाले को यह सब मिलेगा। आहा...हा... ! भटकने का ! आहा...हा... ! ऐसी बात सुनने को (मिलना) कठिन पड़ती है।

यह सर्वत्र दोकला... दोकला... दोकला माना है न? परद्रव्य के साथ दोकला माना है परन्तु राग के साथ दोकला माना है, वह भी मिथ्याभ्रम है। आहा...हा...! आत्मा के अतिरिक्त अनन्त आत्माएँ और अनन्त रजकण हैं, उसमें किसी के साथ 'यह मेरा पुत्र यह मेरी स्त्री, और यह मेरा लड़का, यह मेरा मकान और यह मेरी बहियाँ और मेरा मकान....' प्रभु! (यह सब) कहाँ तेरा था? यह सब तो जगत की चीजें हैं न! आहा...हा...! स्वयं को स्वयं का माहात्म्य छोड़कर और पर की विशेषता में स्वयं को अधिकपना मानता है। आहा...हा...! हमारे अच्छी स्त्री, अच्छे लड़के, समधी अच्छे, लड़कियाँ अच्छी जगह व्याही और लड़कों को अच्छी जगह से कन्या आयी... परन्तु क्या है प्रभु? यह सब तो श्मशान की हड्डियों की चमक है। आहा...हा...! तुझे क्या हुआ है? प्रभु! आहा...हा...!

मोह के मिलन में जो क्रिया के परिणाम होते हैं, उसमें गति मिलेगी, नरक मिलेगा, निगोद मिलेगा, आहा...हा...! वह सब विकारी क्रिया सफल है। आहा...हा...! अन्दर तत्त्वज्ञान का विरोध किया है... आहा...हा...! वह ऐसी जगह जायेगा कि दूसरे उसे आत्मा मान सकें — ऐसा स्थान नहीं रहेगा। आहा...हा...! आहा...हा...! यह क्या कहा? अपना नास्तिपना माना है — यह स्वयं महाप्रभु है, वह मैं नहीं हूँ, मात्र राग और पुण्य का फल वह मैं — आहा...हा...! यह सब निगोद जानेवाले हैं, आहा...हा...! वहाँ गति (होनी) है क्योंकि तत्त्वज्ञान का विरोध किया है, वास्तविक तत्त्व का विरोध है, उसका फल निगोद है और वास्तविक तत्त्व की आराधना है, उसका फल मुक्ति है तथा शुभाशुभभाव का फल गति है।

भावार्थ - चैतन्यपरिणति वह आत्मा की क्रिया है। स्पष्टीकरण करते हैं। जो चैतन्यप्रभु है, उसकी परिणति, अर्थात् पर्याय, अर्थात् अवस्था, अर्थात् हालत, वह क्रिया है। वह **मोह रहित क्रिया मनुष्यादि-पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती,....** आहा...हा...! है तो वह क्रिया। यह तो (समयसार में) कर्ता-कर्म (अधिकार में) कहा है न? कि अमुक इस क्रिया (का) निषेध नहीं। ६९-७० गाथा में (आता है)। आहा...हा...! शास्त्र में तो अपार बात है! जो स्वाभाविक क्रिया है, उसका निषेध नहीं है — ऐसा कहा है। कर्ता -कर्म (अधिकार में) ६९-७० (गाथा)! आहा...हा...! जो द्रव्य की उदासीन क्रिया

उत्पन्न नहीं करके यह (क्रिया उत्पन्न) करते हैं (अर्थात्) भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा की रागरहित उदासीन क्रिया को उत्पन्न नहीं करके, 'इस अवस्था को छोड़कर' — ऐसा शब्द है। मानो कि होवे! आहा...हा...! ६९-७० (गाथा में आता है)। मानो कि होवे (और उस अवस्था को छोड़ दी है — ऐसी बात की है) प्रभु! परन्तु तू है न बड़ा! आहा...हा...! उसकी जो निर्मल पर्याय है, उसे छोड़कर.... निर्मल (पर्याय) होनी चाहिए, वस्तु निर्मलानन्द का नाथ प्रभु है, उसकी निर्मल दशा होनी चाहिए, उसे छोड़कर — ऐसा पाठ कहा है। छोड़कर अर्थात् थी और छोड़कर, ऐसा (उसका अर्थ) नहीं है। आहा...हा...! वह उत्पन्न होनी चाहिए, उसे छोड़कर तूने राग और द्वेष को उत्पन्न किया। प्रभु! आहा...हा...! इस कारण यह तेरा चौरासी का परिभ्रमण नहीं मिटा है। आहा...हा...! ऐसा है।

जगत् को बाहर की धमाधम बहुत रुचती है (यह भाई) कहते हैं न धामधूम -धमाधम चली, धामधूम से धमाधम चली, यह रथयात्रा, उपवास, निर्जल आठ उपवास किये.... आहा...! बहुत जबरदस्त किया! और १५ वर्ष की उम्र! उसने यह किया! ओहो...! धन्य अवतार! उसकी रथयात्रा निकालते हैं, उसे कुछ देते हैं, उसमें कुछ धूल भी नहीं है। बापू! आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञानमार्ग रहा दूर, रागमार्ग रहा नजदीक। आहा...हा...!

चैतन्यपरिणति वह आत्मा की क्रिया है। मोह रहित क्रिया मनुष्यादि -पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती, और मोह सहित क्रिया.... (मूल पुस्तक में) नीचे (फुटनोट में क्रिया शब्द का) स्पष्टीकरण किया है न? ***'क्रिया' शब्द से मोह सहित क्रिया समझनी चाहिये। मोह रहित क्रिया को तो 'परम धर्म' नाम दिया गया है।*** आहा...! क्रिया शब्द तो प्रयोग किया है परन्तु उसे परमधर्म कहा है। अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु! आहा...हा...! जिसमें विकार की — शुभभाव की गन्ध नहीं और जिसके गुण की गन्ध का पार नहीं! आहा...हा...! जिसमें अनन्त गुणों की गन्ध-वासना अन्दर आती है। आहा...हा...! उसका पार नहीं और राग की गन्ध की जहाँ गन्ध नहीं, आहा...हा...! और राग की गन्धवाले को आत्मा की गन्ध सूझती नहीं, आहा...हा...! आहा...! ऐसा है।

मोह सहित क्रिया अवश्य मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न करती है। मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते,..... एक प्रकार के नहीं, इसलिए गति चार है न?

मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते, इसलिए उसके फलरूप मनुष्यादिपर्यायें भी टंकोत्कीर्ण-शाश्वत्-एकरूप नहीं होतीं। आहा...हा...! कहाँ निगोद का जीव लहसुन में पड़ा हो, अनन्त (जीव है), वहाँ जाकर उत्पन्न हो। आहा...हा...! अरे...रे! कोई शरण नहीं है। कहते हैं कि विकार के ऐसे अनन्त प्रकार हैं। उस विकार के फलरूप से गति में जाना होता है। आहा...! आहा...! मनुष्यादि पर्यायें भी एकरूप नहीं है — ऐसा कहना है। अनेकरूप है, आहा...हा...! एक निगोद में जाये और एक चींटी में जाये और एक लट होवे और.... आहा...हा...! जिसे एक ही जीभ, मुँह ही होता है। एकेन्द्रिय निगोद में तो मुँह भी नहीं, मात्र स्पर्श इन्द्रिय होती है। लट में फिर मुँह होवे तो उसे नाक, आँख, और कान नहीं होते। आहा...हा...! तीन इन्द्रिय होवे तो फिर उसे नाक होती है, आँख और कान नहीं होते। यह मक्खी चार इन्द्रिय होती है तो इसे कान नहीं होते। आहा...हा...! अन्दर (स्वरूप में) तो इन्द्रिय है नहीं, वह तो इन्द्रियरहित है परन्तु यहाँ तो उसे बाहर के सुनने के साधन हैं, वे भी जहाँ ठीक नहीं.... आहा...हा...! वह कब अन्दर में (निर्णय करे)? जैन में जन्मा हो तो भी क्या? आहा...हा...!

अभी हिन्दी में एक लेख आया है, आत्मधर्म का! अरे...! आपका आत्मधर्म पढ़कर हमारी दृष्टि बदल गयी, हमारी लाइन बदल गयी, हम दूसरी दिशा में थे (ऐसा) आया। कहाँ का कहाँ, बापू! यह दुनिया क्या करे? दुनिया की विशेषता में तेरी विशेषता कहाँ आयेगी? प्रभु! आहा...हा...! वह यहाँ कहा।

एकरूप नहीं रहती — ऐसा कहते हैं। दशा अनेकरूप होगी — एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, आदि (अनेकरूप दशा होगी)। आहा....!

विशेष कहेंगे।

गाथा - ११७

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति -

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।।११७।।

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति।।११७।।

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्‌गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः। क्रियाऽभावे पुद्‌गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात्। अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति ? कर्मस्वभावेन जीवस्वभावभिभूय क्रियमाणत्वात्, प्रदीपवत्। तथाहि -यथा खलु ज्योतिस्स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिष्कार्यं, तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम्।।११७।।

अथ मनुष्यादिपर्यायाः कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति -**कम्मं** कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षणं कर्म कर्तृ। किंविशिष्टम्। **णामसमक्खं** निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो विपरीतं नामेति सम्यगाख्या संज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्यं नामकर्मेत्यर्थः। **सभावं** शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभावं **अह** अथ **अप्पणो सहावेण** आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन **अभिभूय** तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य तं पूर्वोक्तमात्मस्वभावम्। पश्चात्किं करोति। **णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि** नरतिर्यग्नारकसुररूपं करोतीति। अथमत्रार्थ :- यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कर्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्याय-रूपेण परिणमयति। ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति।।११७।।

अब, यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायें जीव को क्रिया के फल हैं —

स्वभाव से ही नाम नामक, कर्म जीव-स्वभाव को।
अभिभूत कर तिर्यञ्च-नर, देव-नारक करता जीव को॥

अन्वयार्थ - [**अथ**] वहाँ [**नामसमाख्यं कर्म**] 'नाम' संज्ञावाला कर्म [**स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**आत्मनः स्वभावं अभिभूय**] जीव के स्वभाव का पराभव करके, [**नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं**] मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक अथवा देव (इन पर्यायों को) [**करोति**] करता है।

टीका - क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है, (अर्थात् आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है — पहुँचता है, इसलिए वास्तव में क्रिया ही आत्मा का कर्म है।) उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ (द्रव्यकर्मरूप से परिणमन करता हुआ) पुद्गल भी कर्म है। उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायें मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं, क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों को कर्मपने का अभाव होने से उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों का अभाव होता है।

वहाँ, वे मनुष्यादिपर्यायें, कर्म के कार्य कैसे हैं? (सो कहते हैं कि —) वे कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाती हैं, इसलिए दीपक की भाँति। वह इस प्रकार — जैसे ज्योति[1] (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जानेवाला दीपक, ज्योति का कार्य है; उसी प्रकार कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादिपर्यायें, कर्म के कार्य हैं।

भावार्थ - मनुष्यादिपर्यायें ११६ वीं गाथा में कही गई राग-द्वेषमय क्रिया के फल हैं, क्योंकि उस क्रिया से कर्मबन्ध होता है, और कर्म, जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादिपर्यायों को उत्पन्न करते हैं॥ ११७॥

प्रवचन नं. १३२ **दिनाङ्क १२ जुलाई १९७९**

११७ गाथा है न? 'प्रवचनसार', 'ज्ञेय अधिकार', ११७ गाथा। **अब, यह व्यक्त**

१. ज्योति = ज्योत; अग्नि।

करते हैं... यह प्रगट बताते हैं, ११७ (गाथा)। **कि मनुष्यादिपर्यायें जीव की क्रिया के फल हैं :—** क्या कहते हैं ? कि जो चार गति हैं — मनुष्यगति, देवगति, तिर्यंचगति, नरकगति, ये चार गति, जीव की राग और मोह की क्रिया का फल हैं। जीव अपना स्वभाव — शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं करने से, अपनी जीव की सम्भाल नहीं करने से और राग — दान, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध — ऐसा जो विकारी भाव (है), यह क्रिया (है), यह क्रिया करने से, इस क्रिया का फल चार गति मिलती है। शुभक्रिया हो शुभ — स्वर्ग, मनुष्यादि की (प्राप्ति होती है और) अशुभ हो तो नरक और निगोद आदि (की प्राप्ति होती है), परन्तु वह क्रिया का फल है।

अपना शुद्धस्वभाव चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु! शुद्ध शान्तरस से भरा पड़ा प्रभु! उसकी जिसको सावधानी — उस ओर का झुकाव और सावधानी नहीं (है और) विकार की ओर सावधानी है, विकार की पर्याय का — क्रिया का कर्ता होता है, इस क्रिया का फल चार गति है। समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो!

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि।। ११७।।

नीचे हरिगीत –

स्वभाव से ही नाम नामक, कर्म जीव-स्वभाव को।
अभिभूत कर तिर्यञ्च-नर, देव-नारक करता जीव को॥

इसमें से (अज्ञानी) बहुत (विपरीत अर्थ) निकालते हैं कि देखो! नामकर्म से आत्मा में गति होती है; कर्म से गति होती है। इस श्लोक में से निकालते हैं। (किन्तु) ऐसा नहीं है। यही कहते हैं, देखो!

टीका – क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है,... जड़कर्म तो बाद में निमित्त से होता है। जड़कर्म अपने में (अपने) उपादान से (परिणमित होता है) और उसमें राग-द्वेष की क्रिया निमित्त (होती है)। अत: वास्तव में आत्मा का कर्म / कार्य क्या है ? कि **क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य...** दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के

शुभाशुभभाव (होते हैं), यह क्रिया आत्मा का कार्य — कर्म है। समझ में आया? यह क्रिया, आत्मा का कर्म है, आहा...हा...! है?

क्रिया अर्थात् मोह, राग, द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध आदि, यह **क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से... आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से...** — (ऐसा कहा है)। कर्म के द्वारा यह विकार प्राप्य होने से — ऐसा नहीं (कहा है)। आ...हा...! समझ में आया? आत्मा अपना स्वरूप, भूलकर अपने द्वारा विकारी परिणाम प्राप्त करता है। आहा...हा...! अतः वास्तव में तो आत्मा का शुभाशुभ विकारी परिणाम (है), वह उसका कर्म है — कार्य है। जड़कर्म है, वह उसका कार्य नहीं। आहा...हा...! निश्चय से इस क्रिया का फल गति मिलती है, परन्तु यह क्रिया उसका कर्म (-कार्य) है और कर्म के अनुसार नये कर्म बँधते हैं, ये जड़ कर्म (हैं)।

(अर्थात् आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है — पहुँचता है...) आ...हा...हा...! कर्म से नहीं (हुआ)। जो आत्मा में शुभ-अशुभभाव हुआ — हिंसा, झूठ, चोरी, विषय -वासना या दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का भाव (हुआ), वह कोई कर्म से नहीं (हुआ)। यह क्रिया वास्तव में आत्मा के द्वारा (प्राप्त हुई है)। आहा...हा...! आत्मा के द्वारा कर्म प्राप्य है। कर्म अर्थात् कार्य। उसका कर्ता आत्मा (है और) अपनी विकारी पर्याय को प्राप्य करता है। आ...हा...! समझ में आया? कर्म से नहीं (हुआ)। (इसलिए) **(आत्मा का कर्म है)।**

उसके निमित्त से... इतनी बात है। वास्तविक शुरुआत तो यहाँ से हुई (कि) अपने स्वभाव को भूलकर, चैतन्य ज्ञाता आनन्द का स्वभाव शुद्ध शान्तरस से भरा पड़ा प्रभु! उसकी दृष्टि — आश्रय — अवलम्बन छोड़कर दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का परिणाम, जो विकार है, वह आत्मा का प्राप्य — आत्मा के द्वारा होनेवाला यह विकार उसका कर्म है; जड़ कर्म उसका (कार्य) नहीं है। आहा...हा...! इसमें से कई लोग (विपरीत अर्थ) निकालते हैं। (किन्तु यह) कथन किस अपेक्षा से है?

(आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है — पहुँचता है...) आहा...हा...! विकारी पर्याय अपनी है न? विकारी पर्याय को तो वास्तव में स्वभाव भी कहा है। पहले आ गया

है — स्वाभाविक क्रिया ही है। स्वभाव (अर्थात्) आत्मा की पर्याय का यह स्वभाव है। विकारी पर्याय का स्वभाव विकार करना है। आ...हा...! उसे स्वभाव भी कहने में आया है परन्तु स्वभाव का अर्थ **स्पष्ट भवनम् स्वभावः** अपनी पर्याय में होता है; इस कारण से उसे स्वभाव (कहने में आता है); है विभाव। आहा...हा...! समझ में आया? पहले आ गया है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव है; विकारीभाव भी आत्मा का स्वभाव है। आहा...हा...!

बड़ी चर्चा हुई थी न? (संवत् - २०१३) की साल में। (दिगम्बर के बड़े विद्वान) के साथ (चर्चा हुई थी, तब कहा था कि) जो विकार होता है, वह अपनी षट् कारक की परिणति से होता है। उसमें कर्म के कारक की अपेक्षा नहीं है। 'पंचास्तिकाय संग्रह' की ६२ गाथा बताई थी। २०१३ की साल! २२ वर्ष हुए। बड़ी चर्चा हुई थी, परन्तु उन्हें (बात)नहीं बैठी। (कहने लगे) 'नहीं, कर्म के बिना हो तो (विकार) स्वभाव हो जायेगा।' परन्तु अपनी पर्याय, वह स्वभाव ही है। कर्म के निमित्त से, अपने उपादान से, अपने द्वारा अपना कार्य है; इस कारण से अपना कर्म कहने में आया है। आ...हा...हा...! बापू! मार्ग ऐसा है। कहा है?

(वास्तव में क्रिया ही आत्मा का कर्म है)। जो कर्मबन्धन होता है, वह आत्मा का कार्य नहीं है। समझ में आया? कर्म तो जड़ की अवस्था है। जड़ की अवस्था को अपनी पर्याय में छूते ही नहीं। आ...हा...हा...! आत्मा, शुभ-अशुभ विकारी भाव करता है तो यह शुभाशुभभाव, कर्म का उदय-विपाक जड़ है, उसे वह भाव छूता ही नहीं और जड़ कर्म का जो पाक आया, उसे विकार भी छूता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? सम्प्रदाय में अभी कर्म की बड़ी गड़बड़ी है — कर्म से होता है, कर्म से होता है। कर्म से विकार होता है और उससे चार गति में भटकता है। आहा...हा...!

यहाँ यह लिया कि, **उसके निमित्त से...** क्रिया का कार्य तो आत्मा का है। पुण्य और पाप का भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव है तो विकारी; और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव भी विकारी (है), परन्तु आत्मा द्वारा हुआ है, आत्मा का प्राप्य है तो आत्मा का कर्म है। यह कर्म का कार्य नहीं है। आ...हा...हा...! परद्रव्य की पर्याय और अपनी पर्याय

में तो अत्यन्त अभाव है। अभाव है तो पर को छूता ही नहीं, पर अपने को छूता नहीं, आत्मा पर को छूता नहीं। आहा...हा...!

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तुझे यह जो चार गति मिलती है, संसार (में) भटकता (है), वह तेरी क्रिया का फल है। तेरी जो विकारी क्रिया तू करता है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति हो परन्तु वह विकारी (क्रिया) है, उसका कर्म ही वह है। उसका निमित्त पाकर कर्म बँधते हैं और कर्म का उदय आता है, तब अपने स्वभाव को छोड़कर विभाविक पर्याय हुई, वह पूर्व की क्रिया का फल है। फिर उसे कर्म से हुआ ऐसा कहने में (आता है)। वह उपचार से कथन है। आ...हा...हा...!

उसके निमित्त से... उसके निमित्त से, अर्थात् (क्या)? पुण्य और पाप का जो विकारी भाव करता है, वह आत्मा का कार्य है। कार्य कहो या कर्म कहो (एक ही बात है)। अपने में उसकी परिणति होती है, **उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ (द्रव्यकर्मरूप से परिणमन करता हुआ) पुद्गल भी कर्म है।** वह तो निमित्त हुआ, (अर्थात्) विकारी परिणाम निमित्त (है)। निमित्त पर को कुछ करता नहीं। उस समय में परमाणु कर्मरूप पर्याय की होने की योग्यता से (कर्मरूप परिणमित होते हैं)। विकारी परिणाम तो निमित्तमात्र हैं। कर्म (में) अपने से कर्मरूप पर्याय उत्पन्न हुई है। निमित्त है तो उत्पन्न हुई है — ऐसा भी नहीं। समझ में आया? आ...हा...! ऐसी कठिन बातें। (फिर भी) उसे समझना पड़ेगा, भाई!

चौरासी लाख के अनन्त-अनन्त अवतार करते-करते तू भूल गया, प्रभु! आहा...हा...! भूल गया इसलिए नहीं था — ऐसा कैसे कहें? भूल गया, इसलिए नहीं था — (ऐसा नहीं है)। आ...हा...! अपना जन्म होने (के बाद) छह महिने, बारह महिने में क्या हुआ मालूम है? मालूम नहीं है, इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे कहें? जैसे नरक के, निगोद के, तिर्यंच के अनन्त-अनन्त अवतार (हुए हैं)। आहा...हा...! भाई! तू भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे (कहें)? नहीं था — ऐसा कैसे कहा जाये? आहा...हा...! जैसे अवतार मिटाने हो तो कहते हैं कि यह राग, द्वेष, पुण्य, पाप की क्रिया है, उसे छोड़नी पड़ेगी। आ...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी क्रिया — राग

है और उससे कर्मबन्धन होता है। उसके निमित्त से (बन्धन होता है), कर्मबन्धन तो अपने उपादान से (होता) है परन्तु यहाँ राग-द्वेष है, **उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ...** परिणमन को पुद्गल कर्म प्राप्त हुआ। उस **परिणमन को प्राप्त होता हुआ (द्रव्यकर्मरूप से परिणमन करता हुआ) पुद्गल भी कर्म है...** पुद्गल को भी कर्म कहने में आता है (क्योंकि) वह भी अपनी कर्म की जो वर्गणा थी, वह वर्गणा कर्म की पर्यायरूप परिणमित हुई तो वह पुद्गल का ही कर्म है। आहा...हा...! समझ में आया?

आठ कर्म बँधते हैं। यहाँ तो नामकर्म की व्याख्या (करेंगे)। तो आठ कर्म में भी कर्म की वर्गणा जो है, उसकी उस समय में कर्मरूप होने की पर्याय से पुद्गल परिणमता है। आत्मा का विकार तो निमित्तमात्र है। निमित्त है तो वहाँ ऐसा पुद्गल की पर्याय का परिणमन हुआ — ऐसा है नहीं। (मात्र) निमित्त है। पुद्गलपरिणाम अपने से कर्मरूपी कार्य करते हैं तो उसे भी कर्म कहते हैं। आत्मा का विकारी परिणाम भी आत्मा का कर्म है, इसी तरह उसका निमित्त पाकर पुद्गल जो अपने से कर्मरूप होता है, उसे भी कर्म कहने में आता है। दोनों कर्म हुए — एक भावकर्म, एक जड़कर्म। आहा...हा...! समझ में आया? धीरे-धीरे समझने की चीज है, भाई! यह वीतराग का धर्म बहुत सूक्ष्म है।

अभी तो विकार कर्म से होता है, कर्म से होता है, उसकी बड़ा विवाद है। (दिगम्बर के बड़े विद्वान् के साथ) चर्चा हुई तो (कहते थे), 'नहीं, (विकार) कर्म से होता है। कर्म के बिना हो तो स्वभाव हो जाएगा।' ऐसी चर्चा हुई थी। यहाँ कहते हैं, स्वभाव ही है। उस समय की पर्याय का — अवस्था का स्वभाव है। वह आत्मा द्वारा प्राप्त होने से, चाहे तो मिथ्यात्वभाव हो या राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव हो, परन्तु वह आत्मा का ही कर्म है — आत्मा का ही कार्य है। निश्चय से तो यह पुण्य-पाप की विकारीपर्याय षट् कारक से अपने से परिणमन करती है। जिसे कर्म के षट् कारक की अपेक्षा से नहीं परन्तु जिसे अपने द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया? क्योंकि **उत्पाद -व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** सत् है। विकार भी सत् है तो विकार पर्याय आत्मा का ही कार्य है। वह भी व्यवहार से कहते हैं। निश्चय से तो पर्याय का कार्य पर्याय का है परन्तु यहाँ आत्मा का कार्य बताना है और क्रिया का फल चार गति बताना है और चार गति में निमित्त

नामकर्म है, तो नामकर्म कैसे हुआ ? यहाँ जीव ने विकारी पर्याय की, शुभ (भाव किये) तो पुण्य के नामकर्म का बन्ध हुआ, अशुभ (भाव किये तो) अशुभ (नामकर्म का बन्ध हुआ)। परन्तु वह तो उसका निमित्त पाकर जड़ (पुद्गल परमाणु) अपने से कर्मरूप परिणमित हुए हैं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! मार्ग बहुत (सूक्ष्म है)।

यहाँ तो अभी (सम्प्रदाय में ऐसा कहते हैं कि) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह धर्म है। यहाँ कहते हैं कि दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति की क्रिया आत्मा (की) अधर्म की क्रिया है, क्योंकि निमित्त से कर्मबन्धन होता है और कर्मबन्धन का जब उदय आता है, तब आत्मा के स्वभाव का घात करके चार गति की पर्याय उत्पन्न करता है। वास्तव में तो चार गति की क्रिया (जो) उत्पन्न (होती है), वह अपनी क्रिया का फल है। समझ में आया ? आहा...हा... ! (ऐसी) बीच में (जो) क्रिया हुई तो क्रिया का निमित्त पाकर अपनी योग्यता से द्रव्यकर्म (का) परिणमन हुआ, उसे भी कर्म कहने में आया। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा निर्णय करने का समय कहाँ मिलता है ?

अरे... ! ऐसा समय, मनुष्यपना (मिला)। कठिनता से तो अनन्त काल के बाद मनुष्यपना मिला, उसमें बाहर की अनुकूलता में (विशेषता लगती है) और वहाँ रुक जाता है। अपना नाथ अन्दर चिदानन्द प्रभु (है) उसकी उसे विशेषता, राग की क्रिया से भी भिन्न उसकी विशेषता भासित नहीं होती। आहा...हा... ! समझ में आया ?

....उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त होता हुआ (द्रव्यकर्मरूप से परिणमन करता हुआ) पुद्गल भी कर्म है... दोनों कर्म हुए। आत्मा की विकारी क्रिया भी कर्म (है) क्योंकि आत्मा द्वारा प्राप्त हुई। प्राप्त हुई, इसलिए कर्म कहने में आया और उसका निमित्त पाकर कर्म अपने से परिणमन करते हैं तो उसे जड़कर्म कहने में आया है। आहा...हा... ! यह तो निमित्त से (कथन है)। निमित्त का अर्थ ? उस समय कर्म की पर्याय होने का द्रव्य का काल ही ऐसा था। कर्म का — स्वद्रव्य का काल — निज क्षण कर्मरूप परिणमने का काल था तो कर्मरूप परिणमन हुआ है। यहाँ राग-द्वेष है तो (कर्मरूप) परिणमन किया है — ऐसा नहीं। उसे तो निमित्त कहा है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत... उस पुद्गलकर्म की कार्यभूत **मनुष्यादिपर्यायें**

मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से... देखो! पुद्गल नामकर्म जो बँधा, उसकी कार्यभूत (कहा, वह) व्यवहार उपचार (से कहा)। मनुष्य आदि (अर्थात्) मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देव पर्यायें, (उसकी) मूलकारणभूत। चार गति संसार की पर्याय उत्पन्न (होने) में मूलकारणभूत **ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से...** वह तो जीव ने राग-द्वेष किया उस क्रिया का फल वह चार गति हैं; कर्म तो निमित्तमात्र है। आहा...हा...! समझ में आया ? भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो बहुत सूक्ष्म (हैं)।

इस (बात का) बहुत विरोध करते हैं। यहाँ से (अर्थात् हम) कहते हैं कि कर्म से विकार नहीं (होता)। (तो कहते हैं कि) यह रहा। नामकर्म आत्मा के स्वभाव का तिरस्कार करता है, किन्तु वह तो निमित्त से कथन है। यही तो यहाँ कहा।

(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायें... तिर्यंच, देव आदि पर्यायें **मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं;...** वास्तव में तो वह क्रिया का फल है। पुद्गल कर्म तो निमित्तमात्र है। आहा...हा...! है (पाठ में) ? दूसरी चीज — वस्तु है — ऐसा सिद्ध करना है, परन्तु दूसरी चीज है तो उससे मनुष्यादि चार गति की पर्याय मिली — ऐसा नहीं। जैसे कर्मबन्धन में विकारी पर्याय निमित्त थी — ऐसे अपनी मनुष्य आदि क्रिया में कर्म का उदय निमित्त है। उपादान तो पूर्व की जो क्रिया है, उसका यह फल है। आ...हा...हा...!

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' — कर्म से नहीं। मूल में विरोध (इस बात का है)। बड़ी चर्चा, (संवत्) १९७१ से (यह) चर्चा चली। ७१ की साल! ६४ वर्ष हुए। 'लाठी' में चातुर्मास था, उस समय (चर्चा हुई थी)। उसमें से पहले निकाला कि कर्म से विकार बिलकुल नहीं होता। विकार अपने से होता है, अपने उल्टे पुरुषार्थ से (होता है) और सुलटे पुरुषार्थ से विकार का नाश करता है। कर्म तो दूसरी चीज मात्र उपस्थित है। उससे कोई दु:ख होता है, विकार होता है, वह जाये तो विकार का नाश होता है — ऐसा है नहीं। सादी बात है परन्तु मूल बात है। तीनों सम्प्रदाय में यह (विपरीत) बात चलती है। आहा...हा...! १९७१ में बड़ी चर्चा हुई थी, संवत् १९७१! ६४ वर्ष (हुए)! तुम्हारे जन्म से पहले!

कर्म से अपने में मिथ्यात्व होता है, (वह) बात बिलकुल झूठ है। मिथ्यात्व (होता) है, (वह) अपने आत्मस्वभाव को छोड़कर, भूल से मिथ्यात्व करते हैं तो मिथ्यात्व की क्रिया अपना कार्य है। यह दर्शनमोहकर्म का कार्य है — ऐसा है नहीं। ऐसे अपने ज्ञान में हीनदशा होती है, वह अपने कारण से अपना कार्य है। ज्ञानावरणीय तो निमित्त है। ज्ञानावरणीय का उदय हुआ तो ज्ञान की हीनदशा हुई — ऐसा है नहीं और ज्ञान में उग्रदशा हुई तो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से हुई, ऐसा है नहीं। आ...हा...हा...! यह बड़ी चर्चा (दिगम्बर के विद्वान्) के साथ हुई (थी)। (उन्होंने कहा), 'नहीं, ऐसा नहीं। अपने में ज्ञान की हीनदशा होती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से होती है और ज्ञान का विकास होता है, (वह) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से विकास होता है।' (हमने कहा) ऐसा है नहीं। लेकिन कहाँ पड़ी है? दुनिया को पड़ी नहीं है। जिस (सम्प्रदाय में) जन्म लिया उसमें जो गुरु मिले वे जो कहें वह, जय नारायण! सत्य क्या है? और परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कैसे सत्य की प्रसिद्धि करते हैं? — उसका निर्णय (करने का) ठिकाना नहीं। आ...हा...! (गुरु कहे कि) 'गोम्मटसार' में लिखा है कि ज्ञानावरणीय कर्म (अर्थात्) ज्ञान को आवरण करनेवाला कर्म।' अरे...! सुन तो सही, प्रभु! जड़कर्म, ज्ञान को (आवरण करे)? जड़कर्म तो आत्मा की पर्याय को छूते ही नहीं। जड़ कर्म की अवस्था और अपनी अवस्था के बीच में तो अत्यन्त अभाव है। ज्ञानावरणीय कर्म का उदय आत्मा के ज्ञान की हीनदशा करे, ऐसा है नहीं। आ...हा...!

प्रश्न – ७१ की साल में आपने आधार दिया था?

समाधान – श्वेताम्बर के 'भगवतीसूत्र' का आधार दिया था। उस समय तो ये सब शास्त्र कहाँ देखे थे। दिगम्बर शास्त्र तो ७८ की (साल में) देखा। ७८! ७१ (की साल में) तो देखा नहीं था परन्तु 'भगवतीसूत्र' में एक अधिकार है, संशय का अधिकार है, उसमें से निकाला। सब को सुनाया था। ७१ (की साल में) दोपहर के व्याख्यान में (सुनाया था)। दोपहर में (हम व्याख्यान करते थे), सबेरे गुरु व्याख्यान देते थे। कर्म से विकार होता है, यह बिलकुल झूठ बात है। खलबली, खलबली मच गई! गुरु तो (कुछ) बोले नहीं, गुरु तो भद्रिक थे (लेकिन) दूसरे एक सेठ थे। 'दामनगर' में एक बड़ा गृहस्थ

था, उन दिनों में दस लाख रुपये थे! ६५-७० वर्ष पहले! वर्तमान तो पाँच-दस लाख साधारण आदमी के पास (होते हैं)। उनके पास दस लाख (रुपये थे), गृहस्थ आदमी था। उन्होंने विरोध किया कि 'यह बात हमारे गुरु ने कही नहीं और कभी सुनी नहीं। नया कहाँ से लाये ?' मेरे पास नहीं कहा, (दूसरे से) कहा, मेरे पास (तो) डरते थे। पैसेवाला हो या नया हो, मुझे क्या ? हम उसमें (सम्प्रदाय में) आ गये, इसलिए ऐसी मानते हैं, ऐसे हम नहीं; हम तो सत्य की कसौटी करके सत्य उपदेश मानते हैं। समझ में आया ?

यहाँ यह कहा, देखो! उसके निमित्त से कर्म पुद्‌गल को भी कर्म कहते हैं। **पुद्‌गल भी कर्म है। उस (पुद्‌गलकर्म) की कार्यभूत...** भाषा ऐसी है, देखो! निमित्त से कथन (है)। **(पुद्‌गलकर्म) की कार्यभूत...** मनुष्य, तिर्यंच, देव, निगोदादि पर्यायें **मूलकारणभूत...** है ? **(पुद्‌गलकर्म) की कार्यभूत...** मनुष्य, निगोद आदि पर्याय (कहा), परन्तु उसके **मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से...** वास्तव में वह मनुष्य आदि पर्याय जीव की क्रिया का फल है, कर्म का फल नहीं। आहा...हा...! है ? आ...हा...हा...! इसमें से बहुत चर्चा चलती है। 'देखो! नामकर्म भी आत्मा का पराभव करते हैं।' नामकर्म तो निमित्त कहा। वह तो निमित्त हुआ, परन्तु उस समय आत्मा में जो मनुष्यगति, तिर्यंचगति, निगोदगति मिली, वह अपनी पूर्व की क्रिया का फल है। आहा...हा...! मिथ्यात्व और राग-द्वेष किये, उसका फल निगोद है। निगोद में ज्ञानावरणीय का बहुत तीव्र उदय है तो ज्ञान अक्षर के अनन्तवें भाग में खुला है — ऐसी बात (नहीं), वह तो निमित्त से कथन है। अपनी योग्यता से अक्षर के अनन्तवें भाग में विकास रहा, वह पूर्व की मिथ्यात्व आदि क्रिया का फल है। आहा...हा...!

प्रश्न – परन्तु उसमें पूर्व पर्याय का तो अभाव है न ?

समाधान – भले अभाव है, किन्तु वर्तमान में उसका फल आया न ? वर्तमान फल उस भूल का आया है। (वर्तमान में) भले अभाव हो, परन्तु फल आया वह पूर्व की (भूल का) फल आया। उसका ही वह फल है। आ...हा...हा...!

यहाँ तो दोनों को कर्म कहना है। एक तो जीव का मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, काम-क्रोध क्रियारूपी कर्म है और इस क्रिया का निमित्त पाकर जड़ कर्म है,

(उस) जड़ कर्म का कार्य चार गति हुई — ऐसा कहा, परन्तु उस चार गति में मूल कारण क्या हुआ? ऐसा कहा न? देखो! **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायें मूलकारणभूत...** है या नहीं?

यह तो सन्तों की वाणी! दिगम्बर मुनि की (वाणी)! आ...हा...हा...! दुनिया में कहीं है नहीं। दिगम्बर सन्त माने केवलज्ञानी के आढ़तिया! सर्वज्ञ भगवान के आढ़तिया! अल्प काल में वे केवलज्ञान लेंगे!! ऐसे सन्त की यह वाणी है। आ...हा...हा...! ऐसी वाणी कहीं है नहीं। श्वेताम्बर में है नहीं तो दूसरे अन्य धर्म में तो कहाँ होगी? प्रभु! ऐसी बात है। समझ में आया? श्वेताम्बर में कर्म से... कर्म से... कर्म से... कर्म से (विकार होता है), बस! एक ही बात है। लिखावट भी कैसी है, 'कर्मबन्धन को जानो' — परन्तु बन्धन तो पर है। पहले आत्मा को जाने यह तो कह। श्वेताम्बर की पूरी शैली ही निमित्त और पर से है। समझ में आया?

एक (मुमुक्षु) थे, 'खेडा' (गाँव के) थे। पहले श्वेताम्बर थे। यहाँ का सुनकर उन्हें शंका हो गई कि यहाँ तो दूसरी बात कहते हैं। कर्म से कुछ होता नहीं, ऐसा कहते हैं। तो उन्होंने पचास प्रश्न निकाले। उसमें एक का उत्तर दिया वह भी झूठा था। फिर श्वेताम्बर के एक बड़े आचार्य हैं न? उनके साथ चर्चा करने का नक्की हुआ। उनको ऐसा था कि यदि अपने श्वेताम्बर में (ऐसी बात) निकले तो मुझे सम्प्रदाय छोड़ना न पड़े। दिगम्बर में आना नहीं पड़े। अपने सम्प्रदाय के शास्त्र में मिले तो (यहाँ आना नहीं पड़े)। अतः पचास प्रश्न की चर्चा उनके आचार्य के साथ (करने का नक्की किया) तो उन्होंने पहले ऐसा कहा कि 'कर्म से विकार होता यह पहली (बात) मान्य है? तो चर्चा करें।' (इन्होंने) यहाँ का सुना था तो कहा, 'यह हमें मान्य नहीं। कर्म से विकार होता यह हमें मान्य नहीं।' परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ हो (ऐसा है नहीं)। परद्रव्य की पर्याय स्वतन्त्र, स्वद्रव्य की पर्याय स्वतन्त्र; परद्रव्य की पर्याय से अपनी पर्याय में (कुछ) हो, यह बात तीन काल में झूठ है। समझ में आया? श्वेताम्बर की शैली कर्म से (होता है ऐसी है)। यह भाषा देखो! दिगम्बर सन्त की वाणी!

कर्म तो दो प्रकार के कहे। अपने स्वभाव को भूलकर, भगवान आनन्द ज्ञाता-दृष्टा

है उसे भूलकर, पुण्य और पाप आदि का भाव करता है, वह जीव की क्रिया मोह की क्रिया है। वह आत्मा की स्वाभाविक क्रिया नहीं। स्वाभाविक अर्थात् शुद्ध। है तो स्वभाव; मोह भी स्वभाव है। इसमें अपने आया है न? ११६ गाथा की टीका की तीसरी पंक्ति। ११६ गाथा! उसकी तीसरी पंक्ति। **संसारी जीव को क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;...** है? विकार है, वह स्वभाव निष्पन्न ही है। संस्कृत में है। समझ में आया? **क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति।** संस्कृत में है, संस्कृत में दूसरी पंक्ति है। ऊपर 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' की टीका (है)। आहा...हा...! दूसरी पंक्ति है, देखो! राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रतादि के परिणाम **किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति** — दो शब्द पड़े हैं। **किल** अर्थात् वास्तव में और **स्वभावनिर्वृत्तैव, स्वभावनिर्वृत्तैव** (अर्थात्) स्वभाव से ही उत्पन्न हुई है। विकार को यहाँ स्वभाव कहा है। है (संस्कृत में)? समझ में आता है? यहाँ तो **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;...** ऐसा कहा। मिथ्यात्वभाव — मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेषभाव स्वभाव निष्पन्न ही है। **वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है;... — किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति।** समझ में आया? आ...हा...हा...!

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय (उस) समय में स्वतन्त्र (होती) है। पूर्व की कोई पर्याय की अपेक्षा नहीं। पर की तो अपेक्षा नहीं, (लेकिन) द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं। ऐसी बात है, क्योंकि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं और मिथ्यात्व, राग-द्वेष विकार होता है, वह तो अशुद्ध है, तो द्रव्य-गुण की अपेक्षा कहाँ आई? पर्याय में ही अपना कार्य — अपना स्वभाव उत्पन्न हुआ। आ...हा...हा...! विभाव अपने स्वभाव से विरुद्ध (है) परन्तु अपना स्वभाव है और उसका फल, निमित्त पाकर कर्म हुआ — पुद्गल कर्म हुआ और उस पुद्गल कर्म का कार्य चार गति की, परन्तु उस चार गति का मूल कारण क्रिया है। है?

मनुष्यादिपर्यायें मूलकारणभूत... आहा...हा...! भाषा ऐसी ली **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत...** यह निमित्त से, उपचार से कथन (किया)। मनुष्य, तिर्यंच, निगोद, लट, चींटी, कौवे, कुत्ते का जो आयुष्य बँध गयी (और) जो पर्याय हुई... आहा...हा...! (वह) निगोद की पर्याय हुई, कोवे की, कुत्ते की पर्याय हुई, ये **मनुष्यादिपर्यायें मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं;....** आ...हा...हा...!

निमित्त कहा और निमित्त का कार्य भी कहा, परन्तु उसका मूल कारण क्या है? उसने विभाव की क्रिया जो स्वाभाविक क्रिया की, उसके कारण से चार गति मिलती है। आ...हा...हा...! नामकर्म से नहीं। आहा...हा...! ऐसे ज्ञान में हीनदशा ज्ञानावरणीय से नहीं (होती) और ज्ञान में केवलज्ञान की उग्रदशा (हुई), वह ज्ञानावरणीय (कर्म के) क्षय से नहीं (हुई)।

प्रत्येक द्रव्य की उस-उस समय की अवस्था (उस द्रव्य के कारण से होती है)। यहाँ (प्रवचनसार में) १०१ गाथा में तो यहाँ तक कहा है कि जो विकार उत्पन्न हुआ, यह उत्पन्न हुआ, उसे व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं; पर की तो अपेक्षा नहीं, परन्तु जो विकार उत्पन्न हुआ, मिथ्यात्व हुआ... आ...हा...हा...! १०१ गाथा में आया है, उस उत्पाद को व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बात है, भाई! अरे...! निवृत्ति लेकर (इसका निर्णय करना चाहिए), बापू! यह मनुष्यपना मिला वह चला जायेगा।

ये देखो न, इनका सुना न? बेचारे (एक मुमुक्षु) यहाँ आते थे। अर्ध पक्षघात (हुआ है)। मृत्यु के पाँच दिन पहले अर्ध पक्षघात था, वह पूरा पक्षघात हो गया। पूरा शरीर थम्भ गया। आ...हा...हा...! और एकदम हेमरेज हो गया। असाध्य! पाँच दिन असाध्य! आ...हा...हा...! यह कोई कर्म का फल नहीं है। वह पूर्व की क्रिया का फल है, कर्म को तो निमित्तमात्र कार्य कहा। कर्म के निमित्त का कार्य तो निमित्त और उपचार से कहा परन्तु उस कार्य में मूलकारण... है? **मूलकारणभूत...** मूल कारण ऐसे भी नहीं लिया है। मूलकारणभूत — पूर्व का जो मौजूद कारण है, वह वास्तविक कारण है। आ...हा...हा...! **ऐसी जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं;...** आहा...हा...!

क्योंकि क्रिया के अभाव में... आ...हा...हा...! दया, दान, व्रत, काम, क्रोध आदि विकारी पर्याय के **अभाव में पुद्गलों को कर्मपने का अभाव होने से...** (अर्थात्) आत्मा विकारी पर्याय न करे तो पुद्गल कर्म होवे ही नहीं। पुद्गलकर्म का अभाव होने से; विकार पर्याय का अभाव होने से, कर्म का अभाव होने से **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत...** जो पुद्गलकर्म का कार्य चार गति — निगोद, लट, चींटी, मकड़ी के भव कहे थे... आहा...हा...! उस **मनुष्यादिपर्यायों का अभाव होता है।(पुद्गलकर्म)**

की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों का अभाव होता है। मूलकारण (है), वह क्रिया का कारण है। आ...हा...हा... ! शान्ति से पढ़े नहीं तो (ऐसा कहे कि) देखो! कर्म का आया। आया न? **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों का अभाव होता है।** रागादि क्रिया नहीं करे तो कर्म नहीं होते, कर्म नहीं है तो कर्म का कार्य जो गति (है), उसका अभाव (होता) है। आहा...हा... ! समझ में आया?

धर्म समझने के लिए जैसा सब समझना पड़ता होगा? दया पालो, व्रत करो, उपवास करो (यह सब आसान है)। करो और मरो! करने की जो क्रिया है (कि) राग को करूँ और पर को करूँ, वह तो मिथ्यात्वभाव है। जीव की शांति का मरण है। आहा...हा... ! भावमरण है। आ...हा...हा... ! 'क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे को अहो राची रहो?' श्रीमद्! 'श्रीमद्जी' ने सोलह वर्ष की उम्र में कहा! 'क्षण क्षण भयंकर भावमरणे...' यह राग की क्रिया मेरी और राग से मुझे सुख (है — ऐसा भाव) क्षण-क्षण में भावमरण है। चैतन्य का भावमरण है।

वह तो 'कलशटीका' में आता है न? मरणतुल्य हो गया है। 'कलशटीका' में आता है (कि) जीव को मरणतुल्य कर दिया है। तीर्थंकर की वाणी सुनकर, उसने जीव का जीवन किया। कौन से (श्लोक में) आता है? (पुस्तक) है? २८ श्लोक! **कर्मसंयोग से ढँका हुआ होने से मरण को प्राप्त हो रहा था...** भगवान मरण को प्राप्त हो रहा था। **वह भ्रान्ति परमगुरु श्री तीर्थंकरदेव के उपदेश सुनने पर मिटती है,...** तीन लोक के नाथ की वाणी सुनकर समझेगा तब (भ्रान्ति) मिटेगी। आहा...हा... ! अज्ञानियों के कथन, अज्ञानी की वाणी सुनकर वह नहीं मिटेगी, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! कलश है, २८ वाँ कलश है। 'पण्डित राजमलजी' की टीका है। आहा...हा... !

(यहाँ चलते विषय में) भाषा तो दोनों जगह (ऐसी) ली है, देखो! पहले ऐसे लिया कि **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायें मूलकारणभूत ऐसी जीव की क्रिया...** आहा...हा... ! यहाँ ऐसे कहा **(पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादिपर्यायों का...** अर्थात् जब (विकार की) क्रिया नहीं की तो मनुष्यादि का फल भी (प्राप्त) नहीं हुआ। वीतरागभाव किया। अपने ज्ञाता-दृष्टा (स्वभाव) में तो ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द

है। मैं तो राग भी नहीं और पुण्य भी नहीं; मैं तो शान्ति स्वभाव का सागर (हूँ)। शान्ति.... शान्ति... शान्ति... शान्ति... विकल्प उठता है, वह अशान्ति और दु:ख का भण्डार है, मैं तो आनन्द का भण्डार हूँ। आ...हा...हा...हा...! ऐसी अनुभवदृष्टि होने से भव का अभाव होता है। उसे भव नहीं मिलते। आहा...हा...!

वहाँ, वे मनुष्यादिपर्यायें कर्म के कार्य कैसे हैं? कर्म का — नामकर्म का कार्य कहा न? (तो वह) कैसे हैं? (तो कहते हैं कि) **वे कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके...** वे कर्मस्वभाव के द्वारा... कर्मस्वभाव के द्वारा (ऐसा कहा)। कर्म के स्वभाव के द्वारा **जीव के स्वभाव का पराभव करके...** निमित्त से, उपचार से कथन (है)। आहा...हा...! इस प्रकार (ध्यान से) पढ़े नहीं और (विपरीत अर्थ निकाले)। पहले तो बात कह दी कि कर्म का कार्य कहा परन्तु मूल कारण तो क्रिया है, उसके कारण से यह गति और संसार है। आ...हा...हा...! उस बात को रखकर यह बात करते हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

मनुष्यादिपर्यायें कर्म के कार्य कैसे हैं? (सो कहते हैं कि —) वे कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाती हैं,... विकार (की क्रिया)। **इसलिए दीपक की भांति। वह इस प्रकार — जैसे ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके...** अग्नि, तेल का अभाव करके **किया जानेवाला दीपक ज्योति का कार्य है...**तेल जलता है, तब यहाँ दीपक होता है।

उसी प्रकार कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादिपर्यायें कर्म के कार्य हैं। इस अपेक्षा (बात) है। है तो वह कार्य क्रिया का फल, परन्तु निमित्त से समझ लेने से, अज्ञानपने (में) जैसी राग-द्वेष की क्रिया की, (उसका) निमित्त पाकर कर्म हुआ और कर्म का कार्य चार गति (प्राप्त हुई) — ऐसा कहकर, उस चार गति का मूलकारण वह क्रिया है — यह निमित्त से कथन है। इस बात को ऐसे नहीं (समझकर ऐसा कहते हैं कि) 'देखो! कर्म के कारण, नामकर्म के कारण स्वभाव का घात होता है; नामकर्म के कारण (स्वभाव का घात होता है)' परन्तु नामकर्म जड़ की पर्याय आत्मा की पर्याय को छूती ही नहीं, कभी स्पर्श किया नहीं, छूती नहीं। आहा...हा...!

तीसरी गाथा में आया न ? 'समयसार' की तीसरी गाथा ! प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म को चूमते हैं परन्तु परद्रव्य की पर्याय को (चूमते नहीं)। गुण को, द्रव्य को तो (चूमते नहीं क्योंकि) द्रव्य-गुण तो ध्रुव तो हैं। आहा...हा...! ध्रुव-निरन्तर वर्तमान है, निरन्तर वर्तमान है, परन्तु पर्याय जो होती है... आहा...हा...! अपने से जो विकारी पर्याय हुई, उसका फल चार गति है, संसार है। कर्म की तो निमित्त से बात की। विकार हुआ (उसका) निमित्त पाकर कर्म(बन्ध) हुआ, (किन्तु चार गति को) कर्म का कार्य कहकर, उस कार्य का मूलकारण किया है (ऐसा कहा)। इस प्रकार पढे नहीं, विचार करे नहीं और एकदम (कहे कि) कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है ! कौन सी अपेक्षा से (बात है उसे समझते नहीं)।

भाषा ऐसी ली कि (जीव के स्वभाव का पराभव) **करके की जानेवाली मनुष्यादिपर्यायें कर्म के कार्य हैं।** आहा...हा...!

भावार्थ - मनुष्यादिपर्यायें ११६ वीं गाथा में कही गई राग-द्वेषमय क्रिया के फल हैं;... राग-द्वेषमय क्रिया का फल है। संसार अपनी भूल का फल है। चार गति में भटकना (होता है) वह अपनी भूल का फल है, कर्म का नहीं। कर्म तो बेचारे जड़ हैं। 'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई' भजन में आता है, स्तुति में आता है। आहा...हा...! कर्म विचारे कौन ? वे जड़ हैं, मिट्टी हैं। उसे तो मालूम भी नहीं कि हम हैं या नहीं। हम जड़ हैं या नहीं उसकी खबर नहीं। खबर है उसे अपनी खबर नहीं। जड़ को खबर नहीं (क्योंकि) वह तो उसका स्वभाव ही नहीं और चैतन्यस्वभाव जो अपने को मालूम है कि मैं ज्ञान हूँ, तो खबरवान को (खुद की) खबर नहीं। मैं राग हूँ, मैं दया हूँ, मैं दया करता हूँ, मैं व्रत पालता हूँ, मैं पूजा करता हूँ (— ऐसा मानता है)। यह तो सब राग की क्रिया है (और) राग की क्रिया का अभिमान तो मिथ्यात्व है। आहा...हा...! मार्ग बहुत अलग है, बापू !

भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' वहाँ गये थे। भगवान तो अभी विराजते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' तो स्वर्ग में गये (किन्तु) भगवान तो अभी विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। आहा...हा...!

परन्तु समझने में अपनी कल्पना से अर्थ करे (तो) उलटा अर्थ करे कि कर्म के कारण ऐसा होता है, परन्तु कर्म तो जड़ है, प्रभु! जड़ की अवस्था होती है, वह तो जड़ में है। इसकी अवस्था से तेरे में अवस्था होती है या तेरे कारण से तेरे में अवस्था होती है ? चाहे तो सिद्ध की अवस्था हो या चाहे तो निगोद की अवस्था हो... आहा...हा... ! तेरे से ही होती है; कर्म तो निमित्तमात्र कहने में आता है।

यहाँ कहा कि (जीव के स्वभाव का) पराभव करके गति उत्पन्न हुई, परन्तु यह कर्म उत्पन्न क्यों हुए ? क्रिया है वह निमित्त हुई। क्रिया के फल में कर्म का निमित्त हुआ — कर्म का निमित्त है, फल तो पूर्व की क्रिया का फल है। **राग-द्वेषमय क्रिया के फल हैं; क्योंकि उस क्रिया से कर्मबन्ध होता है, और कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादिपर्यायों को उत्पन्न करते हैं।** संसार (में) चार गति, निगोदगति भी कर्म के कारण से नहीं (मिलती)। आ...हा...हा... ! निगोद में एक शरीर में अनन्त जीव! और एक जीव में अनन्त अनन्त गुण! अनन्त मुख से और अनन्त जीभ से नहीं कह सके इतने एक आत्मा में (और) निगोद के जीव में भी गुण हैं! आ...हा...हा... ! यह निगोद की पर्याय-फल अपनी पूर्व की मिथ्यात्व आदि क्रिया का फल है, कर्म का नहीं।

विशेष कहेंगे.... !

मुनिराज : विरोधी के प्रति भी समभाव

अन्तर के चैतन्यसागर में मुनिवरों को शान्ति का ज्वार आया है; आनन्द का समुद्र उछला है; वे आनन्दसागर में झूल रहे हैं; उनके रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है - ऐसी मुनिदशा में सहजरूप से ही समिति होती है। चिदानन्दस्वरूप में लीनता से मुनिवरों को ऐसी समाधि हो गयी है कि समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा वर्तती है; आत्मा के शान्तरस का वेदन होने से शत्रु के प्रति भी द्वेष की वृत्ति नहीं उठती। वे निःशङ्करूप से मोक्षमार्ग की स्थापना करते हैं; विपरीतता का खण्डन करते हैं, तथापि द्वेष का भाव नहीं होता, विरोधी के प्रति भी द्वेष नहीं है। अन्तर में चैतन्य के आश्रय से अपना आनन्द प्रवर्तमान है; शान्ति के मुख्यमार्ग पर स्वयं विचरते हैं। - ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी***

गाथा - ११८

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति -

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि।।११८।।

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि।।११८।।

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत्। न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति, यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य। यत्तत्र नैव जीवः स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात्, पयःपूरवत्। यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रवत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपराग-विशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते।।११८।।

अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथं जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र किं जीवाभाव इति प्रश्ने प्रत्युतरं ददाति - **णरणारवतिरियसुरा जीवा** नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवाः सन्ति तावत्। **खलु** स्फुटम्। कंथभूताः। **णामकम्मणिव्वत्ता** नरनारकादिस्वकीयस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ताः। **ण हि ते लद्धसहावा** किंतु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङकणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभावः। कथंभूताः सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति। **परिणममाणा सकम्माणि** स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदुःखरूपेण परिणममाना इति। अयमत्रार्थः- यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणतः सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलादि-स्वभावं न लभते, तथायं जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणतः सन्मपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वाद-नैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूहं न लभत इति।।११८।।

अब, यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है? —

नामकर्म निष्पन्न हैं जीव, तिर्यक-सुर-नर-नारकी।
निज-निज कर्म से परिणमित, स्वभाव-उपलब्धि नहीं॥

अन्वयार्थ - [**नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव [**खलु**] वास्तव में [**नामकर्म निर्वृत्ताः**] नामकर्म से निष्पन्न हैं। [**हि**] वास्तव में [**स्वकर्माणि**] वे अपने कर्मरूप से [**परिणममानाः**] परिणमित होते हैं, इसलिए [**ते न लब्धस्वभावाः**] उन्हें स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।

टीका - प्रथम तो, यह मनुष्यादिपर्यायें नामकर्म से निष्पन्न हैं, किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है; जैसे कनकबद्ध (सुवर्ण में जड़े हुये) माणिकवाले कंकणों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता तद्नुसार। जो वहाँ जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता — अनुभव नहीं करता, सो स्वकर्मरूप परिणमित होने से है, पानी के पूर (बाढ़) की भाँति। जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्बचन्दनादिवनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ (अपने द्रवत्व[1] और स्वादुत्वरूप[2] स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग[3] विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

भावार्थ - मनुष्यादिपर्यायों में कर्म कहीं जीव के स्वभाव को न तो हनता है और न आच्छादित करता है; परन्तु वहाँ जीव स्वयं ही अपने दोष से कर्मानुसार परिणमन करता है, इसलिए उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है। जैसे पानी का पूर प्रदेश की अपेक्षा से वृक्षों के रूप से परिणमित होता हुआ अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध करता हुआ अनुभव नहीं करता, और स्वाद की अपेक्षा से वृक्षरूप परिणमित होता हुआ अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा से स्वकर्मानुसार परिणमित होता हुआ अपने अमूर्तत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता और भाव की अपेक्षा से स्वकर्मरूप परिणमित होता हुआ उपराग से रहित विशुद्धिवालापनारूप

---

१. द्रवत्व = प्रवाहीपना। २. स्वादुत्व = स्वादिष्टपना।

३. निरुपरागविशुद्धिमत्व = उपराग (मलिनता, विकार) रहित विशुद्धिवालापना [अरूपीपना और निर्विकार-विशुद्धिवालापना आत्मा का स्वभाव है।]

अपने स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता। इससे यह निश्चित होता है कि मनुष्यादिपर्यायों में जीवों को अपने ही दोष से अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य किसी कारण से नहीं। 'कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है' ऐसा कहना तो उपचार कथन है; परमार्थ से ऐसा नहीं है॥ ११८॥

प्रवचन नं. १३३ **दिनाङ्क १३ जुलाई १९७९**

(प्रवचनसार, ११८ गाथा)। **अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादिपर्यायों में...** यह शरीर तो जड़ है, यह कोई मनुष्यगति नहीं। आत्मा में चार गति होती है — मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति, चार जो विकृत गति हैं, (उसमें) **जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है ?** आत्मा में चार गति का जो परिणाम होता है तो (इसमें) स्वभाव का विरोध कैसे होता है ? अपना स्वभाव तो नहीं (है)। चार गति का मिलना, यह अपना स्वभाव नहीं। आहा...हा...!

अपना स्वभाव चिदानन्द अमृत से भरा पड़ा प्रभु है। आत्मा तो चिदानन्द ज्ञान के आनन्द से भरपूर भरा पड़ा प्रभु (है)। उसमें चार गति होती है, वह स्वभाव का घात होकर होती है। कर्म के कारण से गति होती है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! कर्म तो जड़ है, अजीव, मिट्टी-धूल है और यह गति है, वह आत्मा में उदय का विकृतभाव है, तो स्वभाव का घात होकर यह विकृतभाव कैसे होता है ? यह कहते हैं। आहा...हा...! ११८ (गाथा)।

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि।। ११८।।

नामकर्म निष्पन्न हैं जीव, तिर्यक-सुर-नर-नारकी।
निज-निज कर्म से परिणमित, स्वभाव-उपलब्धि नहीं॥

आ...हा...हा...! **टीका - प्रथम तो...** मुख्य बात यह है कि मनुष्यगति, तिर्यंचगति, निगोदगति, लट, चींटी, मकड़ी आदि की जो अन्दर गति है और देव की या नारकी की (गति है) ये **नामकर्म से निष्पन्न हैं...** ऐसा कहने में आया है, **किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है;...** क्या कहते हैं ? नामकर्म जड़ है। भगवान

आत्मा तो अरूपी चिद्घन आनन्दकन्द है, तो नामकर्म से गति मिली — ऐसी बात यथार्थ नहीं। समझ में आया? नामकर्म से चार गति अथवा संसार मिलता है, ऐसा नहीं, **किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है,...** क्या कहा? जड़ नामकर्म का उदय है तो उससे आत्मा के स्वभाव का पराभव नहीं (होता)। वह तो पर चीज है। समझ में आया? आहा...हा...! पर चीज में आत्मा अन्दर निमित्तरूप से रहा (है), तो पर के कारण-नामकर्म से — जड़ के उदय से आत्मा के स्वभाव (का) पराभव — घात नहीं होता। आहा...हा...!

जैसे कनकबद्ध (स्वण में जड़े हुये) माणिकवाले कंकणों में... कंकण होता है न? उस सोने में माणिक जड़े हो तो **माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता...** क्या कहते हैं? सोने के गहने में, दागीना कहते हैं? क्या (कहते हैं)? जेवर! उसमें माणिक जड़े हो तो उस माणिक के स्वभाव का घात नहीं (होता)। माणिक तो माणिक ही है। वैसे कर्मरूपी सुवर्ण (है), उसमें भगवान आत्मा जो माणिक जैसा है तो उतने मात्र से उसका पराभव नहीं (है)। आ...हा...हा...! क्या कहा?

नामकर्म जो है — मनुष्यगति, देवगति जो कर्म है न? तो इस कर्म मात्र से आत्मा के स्वभाव का पराभव — घात होकर गति नहीं हुई है। समझ में आया? जैसे सोने के जेवर में माणिक जड़ने से माणिक के स्वभाव का घात नहीं हुआ, वह तो भिन्न है। आहा...हा...! वैसे जड़ कर्म के उदय में भगवान आत्मा तो अन्दर भिन्न है। उस जड़ कर्म से आत्मा में स्वभाव का पराभव हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह 'ज्ञेय अधिकार' है। समकित का अधिकार है। ज्ञेय आत्मा जो है, (वह) उसके कर्म में रहा तो कर्म मात्र से आत्मा के स्वभाव का घात नहीं होता। आहा...हा...! सोने के जेवर में माणिक जड़ने से माणिक के स्वभाव का घात नहीं होता। अन्दर में माणिक तो माणिक है। समझ में आया? जैसे भगवान आत्मा! कर्म-नामकर्म का उदय है और उसमें भगवान आत्मा रहा है, तो इतने मात्र से आत्मा के स्वभाव का पराभव नहीं है। आहा...हा...! है?

जो वहाँ जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता... आहा...हा...! तो कैसे है? सोने में — सोने के जेवर में माणिक जड़े तो माणिक के स्वभाव का घात नहीं है, माणिक

तो माणिक ही है। वैसे भगवान आत्मा! यहाँ शरीर की बात नहीं है। यह तो जड़ है, इसकी बात है नहीं। कर्म जड़ है, इसके समीप में रहते हैं। अन्दर अजीव नामकर्म का उदय है तो अजीव का उदय तो अजीव की पर्याय है। अजीव की पर्याय में भगवान आत्मा रहा तो उससे आत्मा के स्वभाव का घात होकर संसार की चार गति मिलती है — ऐसा नहीं है। आ...हा...हा...! तो है क्या?

जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता... आ...हा...हा...! भगवान आत्मा चिदानन्द अमृत का पूर, ज्ञानानन्द का अमृत का पूर है, उसका अनुभव नहीं करता... आहा...हा...! तो स्वभाव का घात होकर चार गति उत्पन्न होती है। समझ में आया? आहा...हा...! भगवान आत्मा तो चिदानन्द अमृत का पूर है। ज्ञान का नूर का — तेज का पूर है। ऐसा भगवान आत्मा! जैसे सोने के जेवर में माणिक के स्वभाव का घात नहीं। वैसे कर्म का उदय जड़ है तो साथ में आत्मा है तो उससे आत्मा के स्वभाव का घात नहीं है। आ...हा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! तो है क्या? ये संसार — चार गति मिलती है (कैसे)? मनुष्यगति, तिर्यंचगति, निगोदगति, देवगति... आहा...हा...! ऐसी गति की विकृत अवस्था हुई कैसे? नामकर्म के मध्य में रहने से उसके कारण से तो होती नहीं। आहा...हा...! आ...हा...हा...! तो क्या है?

जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता... आ...हा...हा...! भगवान आत्मा, शरीर से तो भिन्न है, कर्म से तो भिन्न है परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जो हैं, उससे भी भगवान भिन्न है। (ऐसे) आत्मा का अनुभव नहीं करता है, उस कारण से स्वभाव का घात दिखने में आता है। आ...हा...हा...! अरे...! दुनिया (ऐसा मानती है) कर्म से होता है, कर्म से होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से ज्ञान का हीनपना होता है, ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम में ज्ञान की वृद्धि होती है। सब झूठ बात है। कर्म के मध्य में पड़ा आत्मा, जैसे सोने के जेवर में माणिक जैसा है वैसा ही है। आहा...हा...! वैसे जड़ कर्म अजीव है, उसकी अवस्था तो अपनी पर्याय को छूती नहीं। नामकर्म की अवस्था जड़ की है, वह तो अपनी पर्याय को छूती नहीं और अपनी पर्याय, जड़ कर्म की पर्याय को कभी छूती नहीं। दोनों के बीच में तो अत्यन्त अभाव है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहा...हा...! तो है क्या? यह

संसार चार गति मिली वह है क्या? आप तो ना कहते हो कि नामकर्म (मध्य में) रहा (है) फिर भी उसका पराभव नहीं। आ...हा...! समझ में आया? तो क्या है? प्रभु! (वास्तविकता) यह है कि अपने अन्दर अमृत का सागर भगवान (विराजमान है) उसका अनुभव नहीं करते हैं, इस कारण से चार गति मिलती है। आहा...हा...! समझ में आया?

लोग तो (ऐसा ही मानते हैं कि) कर्म से होता है, कर्म से होता है, कर्म से होता है। ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो तो ज्ञान की हीनदशा होती है, ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो तो ज्ञान की अधिक शुद्धि दिखती है। सब झूठ है। आहा...हा...! वह तो जड़ कर्म की पर्याय में रहा तो वहाँ पर्याय को वह छूता है? आ...हा...! भगवान तो भिन्न पड़ा है। कर्म सत्ता में तो भले हो, उससे तो भिन्न (है) परन्तु सत्ता में से पाक में आया — कर्म का पाक — उदय आया, उदय आया तो आत्मा तो वैसा उससे भिन्न है। उससे आत्मा में कोई पराभव हुआ — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु - जैनधर्म तो अनेकान्तमय है।

पूज्य गुरुदेवश्री - अनेकान्त (ही) कहते हैं — कर्म से नहीं, अपने से है, यह अनेकान्त (है)। परद्रव्य से नहीं और अपने द्रव्य से है, यह अनेकान्त है। कर्म से भी होता है और अपने से भी होता है, वह अनेकान्त है, (ऐसा कोई कहे तो) यह अनेकान्त है ही नहीं। मिथ्या एकान्त है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात, बापू! आ...हा...! यह बड़ा विवाद (है)।

यहाँ तो दृष्टान्त भी क्या दिया है! आ...हा...हा...! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने तो नाम(कर्म) मात्र कहा है। 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने दृष्टान्त दिया। सोने के जेवर में माणिक है तो उसमें माणिक में क्या पराभव हुआ? वह तो है ही। वैसे जड़ की पर्याय के बीच में भगवान आत्मा है तो उसमें पराभव क्या हुआ? आ...हा...हा...हा...! तो (फिर) संसार कैसे हुआ? (कोई कहे कि) कर्म के कारण (हुआ), तो कर्म तो जड़ है। आत्मा, जैसे सोने के जेवर में माणिक पड़ा है, वैसे जड़ के उदय में आत्मा तो भिन्न पड़ा है। आ...हा...! इतने मात्र से आत्मा में पराभव और यह चार गति संसार की उत्पत्ति है — ऐसा नहीं है। आ...हा...हा...! तो फिर है क्या?

भगवान अमृत का पूर चैतन्य प्रभु! ब्रह्मानन्द आत्मा! ब्रह्म अर्थात् आनन्द का पूर

प्रभु ! आ...हा...हा... ! सुख का सागर ! सुख के सागर के जल से भरा पड़ा प्रभु ! अमृत के सुख के सागर से भरा पड़ा (है), उसका अनुभव नहीं करता है, उस ओर की सन्मुखता नहीं करता है, उसका आश्रय नहीं करता है, उस कारण से संसार मिलता है। समझ में आया ? बहुत फेरफार है, भाई ! आ...हा...हा... ! सभी पण्डित लोग भी (ऐसा कहते हैं) कर्म से होता है, कर्म से होता है। यहाँ तो भगवान ना कहते हैं।

परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ होता है — ऐसा कभी होता नहीं, यह सिद्ध करना है। परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ होता है, यह बात झूठी (है), तो कर्म परद्रव्य है, आत्मा उससे परद्रव्य है, तो कर्म परद्रव्य से आत्मा में पराभव हो — ऐसा कभी होता नहीं। आ...हा...हा...हा... ! ऐसी बात है। जैन में जन्मे (उनको भी मालूम नहीं)। लोग ईश्वरकर्ता (मानते हैं) और यहाँ जैन में कर्मकर्ता (मानते हैं)। वहाँ तो ईश्वर (को) चैतन्य मानते हैं, (वह भी) है तो झूठ, और जैन में कर्म कर्ता — जड़ कर्ता (मानते हैं)। आ...हा...हा... ! (दोनों) मिथ्या भ्रान्ति, अज्ञान है। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! तो फिर है क्या ?

कर्म का उदय है, नामकर्म सत्ता में पड़ा है, उसका उदय भी आया। उसमें भगवान आत्मा, तो जैसे सोने के जेवर में माणिक पड़ा है, तो माणिक तो माणिक ही है। माणिक में कुछ पराभव हुआ है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसे आठ कर्म जड़ हैं, जड़ के मध्य में भगवान आत्मा है तो उससे कोई पराभव है नहीं। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? तो फिर संसार-नरक और निगोद क्यों मिलता है ? निगोद में अनन्त-अनन्त भव किये, एक श्वांस में अठारह भव ! लहसून, प्याज जैसे निगोद में अनन्त बार अनन्त भव किये। किसके कारण से ? कर्म के कारण से नहीं (होते) तो किसके कारण से है ? वही कहते हैं।

प्रभु ! तू सुन तो सही ! परद्रव्य के बीच में प्रभु है तो परद्रव्य के कारण अपने में पराभव (हो) — शान्ति का और आनन्द का अभाव दिखता है — ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? तो है क्या ? कि **वहाँ जीव स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता...** आहा....हा... ! चिदानन्द, ज्ञानानन्द अमृत प्रभु ! उस अमृत का स्वाद वह नहीं लेता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? अपना अमृतस्वरूप भगवान आत्मा ! परमब्रह्मस्वरूप प्रभु अन्दर है ! भगवत्स्वरूप है ! वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है ! वीतरागस्वरूप विराजमान

आत्मा है ! उसका अनुभव वीतरागभाव से नहीं करता है तो राग का अनुभव करता है तो चार गति संसार मिलता है। आ...हा...हा... !

बड़ा विवाद, पण्डितों के बीच में यह विवाद (चलता है)। (संवत् - २०१३) की साल में बहुत तकरार हुई थी। (दिगम्बर के बड़े विद्वान के साथ चर्चा हुई थी)। वे कहते थे, 'कर्म से होता है, अपने में ज्ञान की हीनदशा होती है, वह कर्म से होती है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो तो यहाँ ज्ञान की वृद्धि होती है।' (हमने कहा), 'बिलकुल झूठ है।' बहुत चर्चा चली थी। सब पण्डितों की यह श्रद्धा है। यहाँ ना कहते हैं कि कर्म के मध्य में रहने पर भी कर्म से आत्मा में कुछ होता नहीं। आहा...हा... ! अपना चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा ! अपने स्वरूप का अनुभव नहीं करता और राग-द्वेष और विकल्प को अनुभव करता है, उस कारण से स्वभाव का पराभव होता है। कर्म से पराभव होता है — ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! बहुत अन्तर है।

हमें तो मालूम है न। (संवत् - १८७१) की साल से हम तो कहते हैं। ७१, ७१ ! ६४ वर्ष हुए ! ६० + ४ ! तब से हम कहते हैं — पहले से (कहते हैं) कि कर्म से आत्मा में बिलकुल कुछ होता नहीं। वह परद्रव्य है, भगवान आत्मा स्वद्रव्य है, तो परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ हो — ऐसी वस्तु की चीज (—स्थिति) है नहीं। दूसरे लोग ईश्वर कर्ता मानते हैं और तुम कर्म कर्ता मानते हो (तो) सब एक ही (प्रकार के) मिथ्यादृष्टि हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? कितने स्पष्टीकरण हैं ! आ...हा...हा... !

यहाँ दृष्टान्त भी कैसा दिया है ! सुवर्ण के जेवर में माणिक को जड़ दिया, जड़ दिया तो उससे माणिक में क्या पराभव हुआ ? उसके प्रकाश में, उसके सामर्थ्य में कहाँ अभाव हुआ ? आ...हा...हा... ! वैसे आठ कर्म जड़ हैं, उसके संयोग में साथ में आत्मा रहा तो उससे आत्मा में पराभव — संसार कहाँ से आया ? उससे संसार है नहीं। संसार तो अपने स्वरूप के अनुभव का अभाव करके, राग-द्वेष और पुण्य-पाप का अनुभव करता है और यह मेरी चीज है — ऐसा मानता है उस कारण से चार गति संसार मिलता है। आहा...हा... !

उस दिन तो हमने यह शास्त्र देखा भी नहीं था। यह शास्त्र तो (संवत् - १९७८) में मिला। ७८ ! ७० + ८ ! कितने वर्ष हुए ? ५७ वर्ष ! हम तो ७१ (की साल में) कहते

थे। यह तो ७८ में (मिला), (उस वक्त) तो शास्त्र भी देखा नहीं था। वह तो अन्दर में से (बात) आयी। अभी तक सम्प्रदाय — जैन सम्प्रदाय (में) लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान हीन होता है और दर्शनमोह के कारण से आत्मा में मिथ्यात्व होता है और अन्तराय कर्म के कारण से दानादि में अन्तराय पड़ती है, ऐसी बात है, यह सब झूठ है। ७१ ! ६४ वर्ष हुए, ६० + ४ ! दीक्षा को ६६ वर्ष हुए न ? उसमें दीक्षा ली न ? ढूंढिया में — स्थानकवासी में ! ६६ = ६० + ६ !

शरीर को ९० (वर्ष) पूरे हुए। आ...हा... ! ९० ! ... कहते हैं क्या कहते हैं ? नब्बे ! परभव में से जब हम यहाँ आये हैं, **महाविदेह में से हम आये हैं!** महाविदेह में से आकर आज नब्बे वर्ष पूरे हुए, ९१ आज बैठा। क्योंकि जन्म वैशाख सुद, २ का था। जन्म के पहले सवा नव मास माता के पेट में रहे, वह आयुष्य तो यहाँ का है। आहा...हा... ! वास्तव में तो यहाँ मनुष्य (होकर) आये, तब से आयुष्य शुरु हुआ है। आहा...हा... ! समझ में आया ? लोग जन्म से गिने। सवा नव महिने हैं, वह यहाँ का आयुष्य है। यहाँ की योग्यता से यहाँ रहा है, कर्म से भी नहीं। आ...हा...हा... !

अपनी पर्याय की योग्यता, अपना अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन बिना होता नहीं। सम्यग्दर्शन में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का पूर का स्वाद आता है तो स्वाद से जानने में आता है कि यह आत्मा पूर्ण आनन्द(स्वरूप) है। समकिती को अपने स्वभाव की विपरीत दृष्टि से जो पराभव (होता) था, वह पराभव होता नहीं। आहा...हा... ! थोड़ी कमजोरी जो अस्थिरता की है, इतना पराभव होता है। उस अस्थिरता की भी अन्दर स्थिरता करके अस्थिरता छोड़ देते हैं तो पूर्ण आनन्द और पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त होगा। कोई पर के कारण से होगा — ऐसी बात है नहीं। आ...हा...हा... ! ऐसी बात ! यही कहते हैं, देखो !

आ...हा... ! (जीव) अपने **स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता....** उपलब्ध का अर्थ **अनुभव नहीं करता...** आ...हा...हा... ! यह राग, पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध ये विकार के अनुभव में दृष्टि पड़ी है, पर्यायदृष्टि वहाँ पड़ी है तो अपने स्वभाव का अनुभव नहीं करता। आ...हा...हा... ! और स्वभाव का अनुभव

नहीं करता है, उस कारण से विकृत (भाव) का अनुभव करता है उससे अपने स्वभाव का पराभव होता है, कर्म से नहीं। आ...हा...हा...हा...! भारी कठिन बात! तीनों फिर के में (— सम्प्रदाय में) एक ही बात चलती है — कर्म से होता है, कर्म से होता है, कर्म से होता है। अपने ज्ञान की हीनदशा क्या अपने से होती है? दूसरी चीज है, उससे अपने में ज्ञान की हीनदशा होती है, ऐसा अज्ञानी कहते हैं। आहा...हा...!

यह सन्त तो आढतिया हैं। यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा और है, ऐसी बात दिगम्बर सन्त कहते हैं। ऐसी बात कहीं दूसरी (जगह) है नहीं। आहा...हा...! श्वेताम्बर में तो कर्म से होता है, कर्म से होता है, सारी बात ऐसी है। वह तो नया कल्पित शास्त्र बनाया है। भगवान का वह शास्त्र है ही नहीं। यह तो भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ 'सीमन्धर' प्रभु विराजते हैं, वहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे, आठ दिन रहे थे। आहा...हा...! वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया। आहा...हा...! भगवान की वाणी है, सन्त तो आढ़तिया हैं, माल भगवान का है। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि चार गति संसार मिला क्यों? निगोददशा मिली क्यों? लहसुन और प्याज, प्याज कहते हैं न? प्याज! उसमें अनन्त भव किये तो कारण क्या? कर्म का बहुत जोर है तो उस कारण से वहाँ निगोद हुआ है? आ...हा...हा...!

प्रश्न – गति नामकर्म के उदय से मिलती है न?

समाधान – नहीं, ऐसा नहीं। ऐसा भी नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। यहाँ तो (कहते हैं कि), गति नामकर्म का उदय तो जड़ की दशा है और आत्मा में गति है, वह जो चैतन्य की विकृत अवस्था है। यह विकृत अवस्था जड़ को छूती ही नहीं और जड़ की जो उदय अवस्था है, वह आत्मा की विकृत अवस्था को छूती ही नहीं। आहा...हा...! बात में बहुत फेरफार है, भाई! मालूम है। आ...हा...! दुनिया को कुछ पड़ी नहीं है कि मैं क्या हूँ? और कैसे यह संसार है? ये चार गति...! आ...हा...हा...! करोड़ोंपति मनुष्य हो, अरबोंपति मनुष्य हो, वह मरकर देह छोड़कर निगोद अथवा तिर्यंच — पशु में जाये। क्या कारण है? कर्म कारण है? नहीं। अपने स्वभाव का अस्तित्व का, अपनी सत्ता शुद्ध निर्मलानन्द प्रभु (है), उसकी उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति बिना, शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति, उपलब्धि अर्थात्

प्राप्ति, प्राप्ति अर्थात् अनुभव... आहा...हा... ! स्वस्वरूप भगवान है, उसके अस्तित्व के अनुभव बिना, राग और द्वेष का अनुभव करता है तो अपने स्वभाव का पराभव होता है और उससे चार गति मिलती है। आहा...हा... ! समझ में आया ? कठिन बात है, भाई ! आहा...हा... !

(यहाँ) मनुष्य हो और एक क्षण में देह छूटकर जा...य निगोद में... ! आ...हा...हा... ! कारण क्या ? शास्त्र में तो ऐसा आये कि नामकर्म में एक आनुपूर्वी नाम की प्रकृति है (उसका) उदय वहाँ ले जाता है।

मुमुक्षु – कर्मशास्त्र में है।

पूज्य गुरुदेवश्री – कर्मशास्त्र में है, मालूम है न। कर्मशास्त्र तो पहले से देखा है, ७१ की साल से देखा है। जैसे पशु है, बैल ! (उसे) नाथ करते हैं न ? (बैल के नाक में जो डोर डालते हैं उसे नाथ कहते हैं)। नाथ से खींचकर ले जाते हैं। ऐसे नामकर्म में एक आनुपूर्वी नाम की प्रकृति है। यह आनुपूर्वी प्रकृति आत्मा को गति में से जाती है। ऐ... ई... ! वह तो निमित्त से कथन है, भगवान ! आहा...हा... !

'श्रेणिक' राजा (को) नरक का आयुष्य बँधा है तो नरक के आयुष्य के कारण नरक में गये हैं, ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! अपना चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा ! उसके अनुभव बिना... आ...हा...हा... ! आयुष्य के कारण से वहाँ नरक में नहीं गये। अपनी पर्याय की योग्यता से स्वभाव का पराभव करते हैं (तो) यहाँ से गये हैं। आ...हा...हा... ! बहुत फेरफार, भाई ! आयुष्य बाँधा है तो उससे भी नरक में नहीं जाते हैं, यह क्या ? आयुष्य तो जड़ मिट्टी-धूल है। प्रभु ! तुम तो अरूपी अमूर्तस्वरूप हो। अमूर्तस्वरूपी जड़ में रहता है (तो) कभी मूर्त हो जाता है ?

मुमुक्षु – आनुपूर्वी तो ले जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री – बिलकुल झूठ बात है। वह तो निमित्त का कथन है। इसलिए तो दृष्टान्त दिया। आनुपूर्वी खींचकर ले जाती है। अपनी पर्याय की योग्यता से यहाँ से नरक में जाते हैं। आनुपूर्वी से नहीं, नामकर्म के आयुष्य के कारण भी (नहीं) नारकी का आयुष्य बँधा है, उस कारण से भी नहीं। अरे...रे... ! ऐसा कैसे बैठे ?

यह समकित का विषय है। यह सम्यग्दर्शन — ज्ञेय का विषय है। पहली ९२ गाथा

ज्ञान का विषय है और १०८ गाथा (अर्थात्) २०० गाथा तक ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय (अधिकार) दर्शन का अधिकार है — सम्यग्दर्शन का अधिकार है। आहा...हा...! तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि ऐसा मानते हैं कि कर्म के कारण से मेरे में गति आदि मिलती है — ऐसा है नहीं। मेरे स्वभाव की जितनी उपलब्धि नहीं, इतना मेरे में राग के भाव का अनुभव होता है, वह गति का कारण है। भाषा कैसी ली! **स्वभाव को उपलब्ध...** पूर्ण स्वभाव की प्राप्ति हो तो गति है ही नहीं, परन्तु अपूर्ण स्वभाव का अनुभव है तो भी वहाँ जितना पराभव — राग होता है, इससे गति मिलती है। कोई कर्म के कारण से गति मिलती है — ऐसी बात है नहीं। आहा...हा...! कैसे बैठे?

जन्म हुआ जैन में (और) जन्म से ऐसे संस्कार — कर्म से ऐसा होता है, कर्म से ऐसा होता है। ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है। हमारा ज्ञान क्यों खिलता नहीं? ज्ञानावरणीय कर्म का जोर है (इसलिए) खिलता नहीं। सब झूठ है। ऐसा है ही नहीं। ज्ञान की पर्याय अपने कारण से हीनत्वरूप परिणमती है तो अधिकपना का नाश होकर हीन अवस्था अपने कारण से होती है। आ...हा...हा...! ऐसी बात है। ४४ वर्ष और चार महिने तो यहाँ हुए, यहाँ 'सोनगढ़' में! ४४ वर्ष और चार माह! २१ वर्ष चार माह स्थानकवासी (में रहे)। उसमें धर्म है नहीं। स्थानकवासी, श्वेताम्बर में जैनपने की पद्धति नहीं है। जैन की पद्धति से विरुद्ध सब बना दिया (है)।

मुमुक्षु - दिगम्बर में पद्धति है परन्तु पण्डित कहाँ मानते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री - उसे मालूम नहीं है, मालूम नहीं है। वह तो बड़ी चर्चा हुई थी। (दिगम्बर के बड़े विद्वान् के साथ) बहुत चर्चा हुई थी। पुस्तक है? हम वहाँ गये थे बाद में बनाया है। (एक विद्वान ने) प्रश्न किया था। 'कानजीस्वामी' ऐसा कहते हैं कि 'आत्मा में ज्ञान की हीनदशा ज्ञानावरणीय कर्म से नहीं होती, अपनी योग्यता से होती है — ऐसा कहते हैं।' ऐसा प्रश्न है। पुस्तक है? यहाँ नहीं है? यहीं होना चाहिए। (संवत् - २०१३) की साल की बात है। 'ज्ञानावरणीय के कारण से आत्मा में ज्ञान की हीनदशा होती है। 'कानजीस्वामी' ना कहते हैं कि वह तो अपनी योग्यता से हीनदशा होती है।' १३ की साल की बात है। हम तो (संवत् - १९७१) से कहते हैं। ६४ वर्ष से (कहते हैं)। जैन

में अभी ऐसी गड़बड़ी हो गयी है और जैन के श्रावक को निर्णय करने की निवृत्ति नहीं है, धन्धा-पानी में सारा दिन पाप! आहा...हा...! (पुस्तक) आया? विरोध क्रिया है न? लो, वही आया।

'कानजीस्वामी' यह कहते हैं कि महाराज! ज्ञानावरणीय कर्म को तो नहीं करते। अपनी योग्यता से ज्ञान में कमी होती है। महाराज! ज्ञान में कमी होती है, वह अपनी वजह से होती है, अपनी योग्यता से होती है। 'कानजीस्वामी' यह कहते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म कुछ नहीं करता। महाराज! क्या ये सब ठीक है?' (ऐसा किसी ने) प्रश्न किया था। तो कहते हैं कि, 'ये ठीक है, आप ही ध्यान से सुनो ये कैसे ठीक है? यह ठीक नहीं है। कोई भी कहे, हम तो कहते हैं चाहे अंगधारी भी कहे तो भी ठीक नहीं।' हजारों पुस्तक छप गये। पहले १३ की साल में छपा है, अब फिर से (किसी ने) छपवाया है। 'कानजीस्वामी' के लिये (ये बड़े विद्वान्) ऐसा कहते हैं। (इसलिए) 'कानजीस्वामी' का विरोध है।

यहाँ तो पुकार करके ढिंढोरा पीटकर कहते हैं कि अपनी पर्याय में जितनी कमी होती है या वृद्धि (होती है), वह अपने कारण से है। कर्म के कारण से बिलकुल है नहीं। आ...हा...हा...! अभी एक (यहाँ के) विरुद्ध का खुलासा (किसी ने) लिखा है। 'ज्ञानावरणीय कुछ करते नहीं, ऐसा कहते हैं।' (तो वे विद्वान् कहते हैं कि), 'नहीं, झूठ है। ज्ञानावरणीय के उदय से अपने में ज्ञान की हीनदशा होती है।' यहाँ ना कहते हैं।

जैसे ज्ञानावरणीय से हीनदशा नहीं होती है, ऐसे नामकर्म के कारण से संसार की गति नहीं होती है। समझ में आया? है कि नहीं? संसार — जो गति मिलती है... आहा...हा...! कोई भी गति में तो है ही, चाहे नरक में है, निगोद में है, चाहे पशु है, मनुष्य है, चाहे स्वर्ग में हो — तो इस गति में कारण क्या है? गति (मिलने में) अपने स्वरूप के अनुभव के अभाव के कारण गति मिलती है। आहा...हा...! यह है? है उसमें? आ...हा...! क्या करें, भाई? प्रभु का मार्ग तो यह है।

अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली परमात्मा विराजते हैं, उनकी यह दिव्यध्वनि है। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' वहाँ से लाये। मुनि थे, आचार्य थे, सन्त थे! भावलिंगी सन्त!

अनुभवी थे परन्तु वहाँ गये, आठ दिन रहकर सुना और फिर थोड़ी चर्चा श्रुतकेवली के साथ की। छद्मस्थ श्रुतकेवली थे। फिर यहाँ आकर यह 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार' बनाया है। 'नियमसार' (में) तो कहते हैं कि मैंने तो मेरे लिये 'नियमसार' बनाया है। मेरी भावना के लिये मैंने तो 'नियमसार' बनाया है। आ...हा...!

'कुन्दकुन्दचार्य' 'नियमसार' में तो वहाँ तक कहते हैं कि चार भाव जो है — उदय, उपशम, क्षयोपशम (और) क्षायिक, इन चार भावों के आश्रय से आत्मा को लाभ नहीं होता। चार भाव का आश्रय करने से आत्मा को राग और नुकसान होता है। कर्म के कारण से नुकसान होता है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? क्षायिकभाव के आश्रय से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। कर्म से तो नहीं, क्षायिकभाव की पर्यय है और पर्याय का आश्रय करने जाते हैं तो विकल्प उठता है, (वह) राग है। भगवान! बात तो ऐसी कोई अलग है। आ...हा...हा...! वहाँ तो यहाँ तक कहा है कि भगवान आत्मा! सच्चिदानन्द प्रभु! अमृत का सागर! क्षायिकभाव से भी गम्य नहीं, अगोचर है! ऐसा टीका (में) लिखा है। 'पद्मप्रभमलधारिदेव'! उसका अर्थ कि क्षायिकभाव के आश्रय से अपना अनुभव नहीं होता। अपना द्रव्यस्वभाव त्रिकाली आनन्दकन्द है, उसके आश्रय से अनुभव होता है। समझ में आया? बहुत अन्तर है, बहुत अन्तर है। पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है।

यहाँ 'अमृतचन्द्राचार्य' दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं। आ...हा...! अपना स्वभाव **उपलब्ध नहीं करता...** उस कारण से विभाव में आता है और विभाव से चार गति मिलती है। आ...हा...हा...! समझ में आया? अन्दर भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अमृत का पूर है! आ...हा...! सच्चिदानन्द प्रभु! अन्दर ज्ञानानन्द का अमृत का पूर प्रभु है! आ...हा...हा..! उसका अनुभव नहीं करना और राग और पुण्य आदि की क्रिया को धर्म मानना, उससे — मिथ्यात्व से चार गति मिलती है। आहा...हा...! मिथ्यात्व से आत्मा का पराभव होता है। अपनी विपरीत मान्यता से पराभव होता है, कर्म से नहीं। आ...हा...! क्या हो? चीज तो यह है। परमात्मा तीर्थंकरदेव अनादि से यह कहते आये हैं। यहाँ 'अमृतचन्द्राचार्य' भगवान की वाणी को स्पष्ट करते हैं।

जैसे स्वर्ण के जेवर में माणिक (है) उस माणिक का पराभव नहीं होता। ऐसे कर्म

के मध्य में — जड़ में भगवान आत्मा (रहता है) तो उससे पराभव नहीं होता। आ...हा...हा... ! तो है क्या ? कि अपने आनन्द का अनुभव का अभाव और राग-द्वेष का सद्‌भाव, उसका अनुभव (है), उससे चार गति — संसार मिलता है। आ...हा...हा... ! ऐसी बात है। भाषा समझते हैं न, भैया! (यह भाई) कन्नड़ है, कन्नड़!

आठ कर्म हैं, वे तो जड़ हैं और उसकी अवस्था जड़ है और चैतन्य भगवान तो अमूर्त वस्तु है, तो जड़ में रहकर अमूर्तपना का मूर्त(पना) हो जाये, ऐसा है नहीं, परन्तु अमूर्त में से अपने शुद्ध चैतन्य का स्वाद न लेकर, अपने आनन्द का अनुभव न लेकर, राग का, पुण्य का, विकार का अनुभव करते हैं तो अपने स्वभाव का पराभव होता है और उसके पीछे गति-संसार मिलता है। आहा...हा... ! एक बात भी सत्य होनी चाहिए न ? लम्बी-लम्बी, बड़ी-बड़ी बात करे, लेकिन उसमें सत्य कुछ नहीं होता और सुननेवाले को कुछ भान नहीं होता। जो कहे उसे, जय नारायण! जी, हाँ! जी, हाँ! करे। आहा...हा... !

स्वकर्मरूप परिणमित होने से... क्या कहा, देखो! नामकर्म के कारण से नहीं। क्या ? **स्वकर्मरूप परिणमित होने से...** राग और पुण्य-पाप के भाव जो स्वकर्म हैं... आहा...हा... ! उससे परिणमित होने से पराभव होता है। आ...हा...हा... ! **स्वकर्म** शब्द पड़ा है न ? **स्वकर्मरूप परिणमित होने से...** अपना राग और द्वेष, पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, शुभ-अशुभराग अपना स्व-भावकर्म है, उससे परिणमित होने से अपने स्वभाव का पराभव-घात होता है; कर्म से नहीं। है या नहीं ? आ...हा...हा... ! थोड़ी भी सत्य बात होनी चाहिए न ? भैया! लम्बी-लम्बी बात करे और अन्दर सत्य का खून हो जाये। आहा...हा... !

यहाँ तो भगवान 'अमृतचन्द्राचार्य' कहते हैं, सन्त हैं, भावलिंगी हैं, छट्ठे-सातवें गुणस्थान में विराजमान हैं, वे कहते हैं कि नामकर्म के मध्य में आत्मा रहा तो आत्मा का पराभव होता है — ऐसा नहीं परन्तु नामकर्म के मध्य में रहकर अपने स्वभाव का अनुभव नहीं करने से और स्वकर्म (अर्थात्) अपना पुण्य-पाप का विकारी (भाव) स्वकर्म (है) उसरूप परिणमित होने से चार गति मिलती है। समझ में आया ? है या नहीं ? आहा...हा... !

दूसरा दृष्टान्त (देते हैं)। **पानी के पूर (बाढ़) की भांति।** पानी की बाढ़ आये

बाढ़! भरती — बाढ़! **जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से...** पानी के पूर के प्रदेश से — पानी के प्रदेश और पानी का स्वाद **निम्ब...** नीम कहते हैं न? नीम! **निम्बचन्दनादि-वनराजरूप...** नीम और चन्दन (की) वनराज (अर्थात्) पंक्ति। आहा...हा...! **(नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ...** पानी। आ...हा...हा...! पानी है, वह वृक्ष में जाता है, वृक्ष की लम्बी पंक्ति है, उसमें जाता है। आहा...हा...! **(वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता,...** देखो! पानी अपना द्रवत्व (अर्थात्) प्रवाहीपना, प्रवाहीपना(रूप) नहीं रहता। प्रवाहीपना नहीं रहता, वृक्ष में जड़ जाता है और स्वाद (अर्थात्) पानी का स्वाद नहीं रहता। नीम के स्वाद में कड़वा हो जाता है। थोर... थोर को क्या कहते हैं? थोर! थोर में पानी जड़ जाये तो ऐसा स्वाद हो (जाता) है। वहाँ अपना (मूल) स्वाद नहीं रहता। आ...हा...हा...हा...!

(अपने द्रवत्व...) (अर्थात्) पानी का द्रव्यपना - प्रवाहपना और स्वादपना **स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता,...** पानी का स्वाद और प्रवाह का (जो) अपना स्वभाव (है) उसे उपलब्ध — प्राप्त नहीं करता। वृक्ष में जड़ जाता है (तो) वहाँ प्रवाह नहीं रहता और उसका स्वाद भी नहीं रहता। आहा...हा...! यह पानी के कारण से है, कोई वृक्ष के कारण से नहीं। आ...हा...! है? (स्वभाव को) **उपलब्ध नहीं करता,...**

उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से... अपने अरूपी प्रदेश से **और भाव से...** (अर्थात्) विकार से। **स्वकर्मरूप परिणमित होने से...** आहा...हा...! योग और चारित्र-कषाय दो लेना है। अपने **प्रदेश से और भाव से...** पुण्य-पाप का विकार — दया, दान, काम, क्रोध (इत्यादि) विकाररूप। **स्वकर्मरूप परिणमित होने से...** अपना जो विकार (का) कार्य है, उसरूप आत्मा परिणमित होने से **अमूर्तत्व...** छोड़ देता है। जैसे पानी का प्रवाह है (वह) वृक्ष में चढ़ जाता है तो प्रवाह छूट जाता है। वैसे अमूर्त भगवान आत्मा राग-द्वेष के परिणाम में चढ़ जाता है तो अपना अमूमर्तपना छूट जाता है। आहा...हा...! राग-द्वेषपना (है वह) मूर्तपना — जड़पना है। आ...हा...हा...हा...! ऐसी बात, ऐसा उपदेश!

व्रत करो, उपवास करो, त्याग करो, ये करो (ऐसा कहे तो) लोगों को समझ में

आये। क्या समझना ? वह तो अज्ञान है। क्रिया का करना तो राग है और राग का करना, यह मरण — मिथ्यात्व का भाव है। करना, यह तो मिथ्यात्व का भाव है। आ...हा...हा... ! आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है। उसे राग करना, यह तो मिथ्यात्वभाव है। आ...हा...हा... ! वह मिथ्यात्वभाव भी दर्शनमोह के जोर से होता है या नहीं ? यहाँ ना कहते हैं। आत्मा दर्शनमोहनीय कर्म के मध्य में रहा (है) तो उसके कारण से स्वभाव का पराभव नहीं हुआ। तो किस (कारण से पराभव होता है) ? अपना आनन्द का स्वभाव (है) उसकी उपलब्धि — प्राप्ति नहीं करता और राग को अपना मानता है, ऐसा राग का अनुभव करता है तो स्वभाव का पराभव होकर गति मिलती है, संसार में रुलना पड़ता है। आहा...हा... ! ऐसी सूक्ष्म बात ! (यह) 'ज्ञेय अधिकार' है।

स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व... देखो ! भगवान आत्मा तो अमूर्त है। आ...हा... ! **और निरुपराग विशद्धिभत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।** आ...हा...हा... ! (मूल ग्रन्थ में नीचे फूटनोट में अर्थ दिया है)। निरुपरागविशुद्धिमत्व = 'उपराग (मलिनता, विकार) रहित विशुद्धिवालापना (अरूपीपना और निर्विकार — विशुद्धिवालापना आत्मा को स्वभाव है)।' आहा...हा... ! अपने स्वभाव को छोड़कर रागरूप परिणमन होता है तो अमूर्तपना छूटकर राग हो गया तो वास्तव में तो यह (राग) भी मूर्त है। आहा...हा... ! और अपना आनन्द का स्वाद छोड़कर राग का स्वाद आया — दया, दान का स्वाद आया तो यह भी जड़ का स्वाद आया। आ...हा...हा... ! ऐसा सुनना कठिन पड़ता है। मार्ग यह है, तीन काल तीन लोक में मार्ग यह है। सर्वत्र त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ! उनका यह हुकम और प्रवचन — दिव्यध्वनि यह है। आ...हा...हा... ! यहाँ कहा न ?

जैसा निरुपराग — रागरहित प्रभु आत्मा ! जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधे वह (भाव भी) राग है, उस राग से रहित आत्मा है। आ...हा... ! राग उसके स्वरूप में है ही नहीं। निरुपराग — राग से रहित — मलिनता से रहित विशुद्धिवालापना; अरूपीपना और निर्विकार विशुद्धिवालापना आत्मा का स्वभाव है। आहा...हा... ! इस **विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।** आ...हा... ! अपने अनुभव को प्राप्त नहीं करता है और राग — स्वकर्म राग आदि का परिणाम अपना स्वकर्म — कार्य है, उसमें परिणमन

करता है तो स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। आहा...हा...! धर्म नहीं होता। राग और दया, दान, पुण्य-पाप के विकार को अपना मानकर अनुभव करता है, उसे स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। आ...हा...! यहाँ (सम्प्रदाय में) तो कहते हैं कि व्यवहार — दया, दान, व्रत करो तो निश्चय (धर्म) होगा। ऐसा नहीं है।

यहाँ तो (कहते हैं कि) अपना अमूर्त और विशुद्ध स्वभाव, रागादि स्वकर्म में परिणमन करने से विशुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती है तो इस राग के कारण से पराभव हुआ है, कर्म के कारण से नहीं।

विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. १३४ **दिनाङ्क १४ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार' ११८ गाथा। भावार्थ, भावार्थ है न? **मनुष्यादिपर्यायों में कर्म कहीं जीव के स्वभाव को न तो हनता है और न आच्छादित करता है;...** क्या कहते हैं? कि, मनुष्यादि चार गति हैं, उस पर्याय में, कोई कर्म आत्मा को मनुष्यपना प्राप्त कराता है और गति प्राप्त कराये — ऐसा है नहीं। कर्म तो जड़ अवस्था — भिन्न अवस्था है। भिन्न अवस्था का द्रव्य दूसरे द्रव्य की अवस्था करे, यह तीन काल में नहीं होता। समझ में आया?

मनुष्य, तिर्यंच, निगोद.... निगोद में जाता है, वह भी कोई **कर्म कहीं जीव के स्वभाव को न तो हनता है...** निगोद में जीव है, वहाँ कर्म से निगोदपना हुआ, अपने जीव की पर्याय का कर्म ने घात किया, ऐसा है नहीं। आहा...हा...! अभी तो कर्म से... कर्म से (होता है — ऐसा) सब चलता है। यहाँ तो परमात्मा (की) दिव्यध्वनि द्वारा जो आगम आये, उन आगम की यह वाणी है। यह वीतराग की वाणी है।

चार गति में निगोद हो या सर्वार्थसिद्ध के देव की गति हो या सातवीं नरक की गति हो, एकेन्द्रिय में — निगोद में एक श्वास में अठारह भव हो, तो यह कर्म से ऐसा हुआ है — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! अपनी पर्याय में ऐसी योग्यता से ऐसा हुआ है। 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' दुनिया को अभी श्रद्धा का पता नहीं। कर्म से होता है, कर्म

से होता है, विकार कर्म से होता है, कर्म के कारण संसार है। यहाँ इसकी ना कहते हैं। संसार तेरी भूल के कारण तेरी पर्याय में विकार (होता है), वह संसार है। यह विकार कोई कर्म से होता है और कर्म घात करके विकार होता है — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

मनुष्यादिपर्यायों में कर्म कहीं जीव के स्वभाव को न तो हनता है और न आच्छादित... (करता है)। कर्म से आत्मा आच्छादित हुआ, यह बात भी झूठ है। आहा...हा...! कल दृष्टान्त आया था न? उसमें से है। स्वर्ण का... क्या कहते हैं? जेवर! हमारे (में) दागीना कहते हैं। सोने का जेवर है, उसमें माणिक जड़ दिया तो क्या माणिक का घात हुआ है? माणिक तो वैसा का वैसा प्रकाशमय अन्दर रहा है। वैसे यह प्रभु आत्मा आठ जड़ कर्म के बीच में पड़ा है, उसमें क्या आत्मा का घात होता है और आत्मा की पर्याय हीन होती है? ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

परन्तु वहाँ जीव स्वयं ही अपने दोष से... निगोद में (जाता है, वह) भी और लट, चींटी, कौआ, कुत्ता होता है (तो) अपने दोष से वह पर्याय उत्पन्न होती है, कर्म से नहीं। आ...हा...हा...! 'चन्द्रपभ' (भगवान की) स्तुति में आता है — 'कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़ है — 'अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई' आहा...हा...! अपना निजानन्द स्वरूप प्रभु! सच्चिदानन्द — सत् शाश्वत् चिदानन्द ज्ञानानन्दस्वभाव की प्राप्ति नहीं करने से विकार की प्राप्ति करता है। आहा...हा...! चार गति में रुलना, वह संसार है। वह संसार कर्म से होता है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! अपना निजानन्द स्वरूप प्रभु शुद्ध आनन्दकन्द है, अनाकुल शान्ति का पूर्ण रस से भरा पड़ा है — ऐसा अनुभव न होने से और रागादि — पुण्य-पाप का विकल्प को अनुभव में अपना मानने से इस स्वकर्म के कारण से रुलता है। आहा...हा...! पर कारण — पर कर्म के कारण — परद्रव्य से नहीं (रुलता), क्योंकि परद्रव्य और अपने द्रव्य के बीच में तो अत्यन्त अभाव है। आ...हा...हा...!

यहाँ तो यह लेना है कि तेरा विकारी परिणाम तुम करते हो तो उस कारण से संसार अर्थात् चार गति है और तुझे परिभ्रमण को रोकना हो तो उसकी क्रिया क्या? आहा...हा...! इसका उपाय क्या? सबेरे आया था। अपना सहजानन्द प्रभु.... स्वभाविक अतीन्द्रिय

आनन्द और अतीन्द्रिय शान्तरस से भरा पड़ा प्रभु, उसके सन्मुख होकर दृष्टि को वेदन करना, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करना, यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, यह संसार से छूटने का उपाय है, दूसरा कोई उपाय है नहीं। आहा...हा... ! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि का भाव, यह सब शुभभाव संसार है। आहा...हा... ! संसार से संसार का नाश नहीं होता।

आगे आयेगा, **संसरण इति संसारः, संसरण इति संसारः** अपनी चीज सच्चिदानन्द प्रभु... अनाकुल आनन्द आदि गुण का पिण्ड है, उससे संसरण (अर्थात्) उससे हट जाता है (और) हट कर राग और द्वेष, पुण्य और पाप को अपना मानकर संसार उत्पन्न करता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। सम्प्रदायवालों को कठिन पड़े। सम्प्रदाय में तो यही बात चलती है — व्रत करो, उपवास करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, लाख-दो लाख-पाँच लाख (दान में दो), मन्दिर तो जड़ की पर्याय है।

यह मन्दिर बना है तो किसी ने बनाया है — ऐसा है नहीं। यह मकान (—परमागम मन्दिर) किसी ने बनाया नहीं। छब्बीस साल का यह मकान है। परमाणु की उस समय में ऐसी रचना की पर्याय अपने से — परमाणु से हुई है। दूसरे परमाणु से भी यह पर्याय नहीं हुई तो दूसरे जीव से यह पर्याय — मन्दिर बनता है, यह बात अत्यन्त झूठ बात है। आ...हा...हा... ! ऐसी बात है। ऊपर का जो... क्या कहते हैं उसे ? ऊपर जो यह पत्थर का (बना) है, वह नीचे के (पत्थर के) कारण से वहाँ रहा है, ऐसा है नहीं। ये पाठडा है न पाठडा ? पाठडा ! वह पाठडा नीचे के आधार से रहा है, ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु – खंभे के आधार पर तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री – खंभे के आधार पर है ही नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। अनन्त परमाणु का स्कन्ध जो है, उसमें एक-एक परमाणु भिन्न है, ये परमाणु की पर्याय अपने कारण से वहाँ उत्पन्न होती है। दूसरे परमाणु से नहीं, दूसरे कारीगर से नहीं, प्रमुख से नहीं। अरे... अरे... ! ऐसी बात ! ऐसा मकान बने। २६ साल का ! ये खंभे, पासडा।

प्रभु ऐसा फरमाते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की अपनी पर्याय उत्पन्न (होने) का जन्मक्षण होता है। जन्म अर्थात् उस परमाणु में (वह) पर्याय उत्पन्न होने का काल होता है, तो उस

काल से वह पर्याय उत्पन्न होती है। स्वकाल से उत्पन्न होती है, पर से नहीं। आहा...हा... ! यहाँ (अज्ञानी को) तो अभिमान का पार नहीं, मैं मकान बनाता हूँ, उसमें मैं रहता हूँ। आहा...हा... ! कठिन बात, बापू !

मुमुक्षु - रहने के लिये मकान तो बनाना चाहिए न !

पूज्य गुरुदेवश्री - कौन बनाये ? एक-एक परमाणु की पर्याय उस-उस समय में... निश्चय की बात थोड़ी सूक्ष्म है, प्रभु ! परमाणु में जो पर्याय उत्पन्न होती है, उस उत्पन्न (हुई) पर्याय को उसके व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहा...हा... ! 'प्रवचनसार' १०१ गाथा। १०१ गाथा में आ गया है।

उत्पाद जो परमाणु का होता है... ये देखो, यह अंगुली (है)। यह अंगुली जैसे चलती है तो पर्याय (का) उत्पाद हुआ। पहले ऐसे थी और (अब) ऐसे हुई तो उस (पहलेवाली) पर्याय का व्यय हुआ और नई पर्याय उत्पन्न हुई, वह (नई) पर्याय उत्पन्न हुई, उस पर्याय को व्यय की भी अपेक्षा नहीं और उसके ध्रुव परमाणु की भी अपेक्षा नहीं। उस समय में वह पर्याय अपने कारण से — सत्ता से उत्पन्न हुई है। आ...हा...हा... ! ऐसी बात है। करोड़ोंपति और अरबोंपति (ऐसा माने कि) हम ऐसा व्यापार और ऐसा धन्धा करते हैं, दुकान पर बैठकर नौकर के पास व्यवस्थित काम लेते हैं। सब झूठ बात है। आहा...हा... !

यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि जो चार गति मिलती है, वह कर्म से नहीं (मिलती)। गति तो अपनी विकारी पर्याय है और कर्म परद्रव्य है, तो परद्रव्य से अपने में पर्याय हो — (ऐसा) तीन काल में कभी होता नहीं। आ...हा...हा... ! यह बात वीतराग के अलावा कहीं है नहीं। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने एक समय में तीन काल देखे हैं।

यह ज्ञेय का अधिकार चलता है। यह अधिकार क्या है ? दूसरा ज्ञेय अधिकार (है)। है अन्दर है ? 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' ! है ऊपर ? 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' ! ज्ञेय अर्थात् जड़ और चैतन्य जो ज्ञेय हैं, वे ज्ञान में जाननेयोग्य चीज हैं, उस चीज में जो पर्याय होती है, (वह अपने कारण से होती है)। ये चार गति (की) पर्याय उत्पन्न हुई, वह कर्म से तो नहीं परन्तु जो गति की पर्याय उत्पन्न हुई — उत्पाद (हुआ), वह व्यय हुआ उससे भी नहीं

(हुआ) और ध्रुव से भी नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ बैठे? (लोगों को) निवृत्ति नहीं है, प्रवृत्ति की आड़ में निवृत्ति नहीं मिलती। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि **अपने दोष से कर्मानुसार परिणमन करता है,...** कर्म के अनुसार अपने दोष से करता है, कर्म नहीं करवाता। आहा...हा...! 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' दूसरे उसे भूलाते हैं और हैरान करते हैं इसमें कुछ (सत्य) है नहीं। यह आत्मा, राग करे तो संसार है, तो राग हुआ उस समय कर्मबन्धन होता है, तो राग हुआ तो कर्मबन्धन की पर्याय हुई — ऐसा है नहीं। वह कर्मबन्धन की पर्याय कर्मरूप नहीं थी, वह कर्मरूप परिणमन हुआ, उसका स्वकाल है तो कर्मरूप पर्याय हुई है। आहा...हा...! ऐसी बातें सुनी नहीं जाए। जगत में भगवान का वीतरागमार्ग, उसमें भी एक ही दिगम्बर धर्म के अलावा और कहीं यह बात है नहीं। आ...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अपने दोष से निगोद में रहते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जब तक एकेन्द्रिय है, तब तक तो कर्म का जोर है। बाद में जब पंचेन्द्रिय होता है, तब कर्म का जोर नहीं (है), अपने पुरुषार्थ की कमी है, ये सब बात झूठ है। एकेन्द्रिय में तो मन नहीं, वचन नहीं, देव-गुरु-शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं तो भी उसे शुभभाव होता है। निगोद के जीव में भी शुभभाव होता है। एक क्षण में शुभ और दूसरी (क्षण में) अशुभ, तीसरे (समय) शुभ और चौथे (समय) अशुभ। ऐसे निगोद के जीव में भी क्रमसर-क्रमबद्ध शुभ-अशुभ, शुभ-अशुभ हुआ ही करते हैं, वह कर्म के कारण से नहीं।

प्रश्न - उसे कर्मचेतना कहते हैं?

समाधान - कर्मचेतना का अर्थ रागरूपी कार्य (है) वह कर्मचेतना (है)। कर्म जड़ की चेतना — ऐसा नहीं। कर्मचेतना का अर्थ यह है — रागरूपी कर्म नाम कार्य, उसे चेतना (अनुभवन) क्रिया, वह कर्मचेतना। जड़ की चेतना की बात यहाँ है नहीं। आहा...हा...! बात ऐसी सूक्ष्म है, बापू! और कर्मफलचेतना (का अर्थ) — जड़ के फल की चेतना — अनुभव होना, वह कर्मफलचेतना (है) — ऐसा नहीं। कर्मफलचेतना उसे कहते हैं कि अपने में जो राग और द्वेष की विकृतदशा हुई, उसका वेदन आया वह कर्मफलचेतना (है)। जड़ के फल की चेतना (का अनुभवन होता है), वह बात यहाँ है

नहीं। कर्म का अनुभाग है वह आत्मा (भोगता है — ऐसा है नहीं)। 'तत्त्वार्थसूत्र' (अध्याय-८, २१ नम्बर के सूत्र) में आता है 'विपाकोऽनुभवः' 'तत्त्वार्थसूत्र' में आता है। मालूम है न ? वह निमित्त से कथन है। कर्म का विपाक हुआ तो यहाँ अनुभव करते हैं, वह तो अपनी पर्याय के अपराध के कारण से करते हैं। कर्म का विपाक आया तो अनुभव करते हैं — ऐसी बात है नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बात !

१०१ गाथा में तो यहाँ तक कहा है, (अपने) बात आ गई है कि प्रत्येक पदार्थ की जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है (वह) उसी समय उत्पन्न होगी और वह उत्पन्न होने में कर्म-परपदार्थ का तो कारण नहीं परन्तु वह उत्पन्न होने में व्यय (और ध्रुव भी कारण नहीं)। ऐसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो उसे मिथ्यात्व के व्यय की अपेक्षा है, ऐसा भी नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! प्रभु का मार्ग पूरा अलग जाति का है।

(यहाँ) यह कहते हैं (कि) स्वकर्म अनुसार, ऐसे आया न ? अपने दोष से कर्म अर्थात् कार्य, अपने कार्य के अनुसार परिणमन करते हैं अथवा कर्म के अनुसार, जड़ की ओर के लक्ष्य से अपने अपराध से दोष करते हैं। कर्म के कारण से दोष होता है, इस बात में कोई सच्चाई नहीं, सब झूठ है। आहा...हा... ! **इसलिए उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।** क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा ! राग और द्वेष, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध (के) परिणाम संसार हैं और संसार अपने से उत्पन्न करते हैं, उस कारण से उसे आत्मा का अनुभव नहीं। आहा...हा... ! संसार की पर्याय को उत्पन्न करते हैं, उस कारण से अपना अतीन्द्रिय आनन्द सहजानन्द प्रभु ! उसका इस कारण से अनुभव नहीं (होता), कर्म के कारण से (अनुभव) नहीं (होता) — यह ऐसी बात बिलकुल झूठ है। आहा...हा... ! (ऐसी बात) गले उतारनी (कठिन पड़े)। समझ में आया ?

ये पैर हैं पैर। जमीन पर चलते हैं न ? सुनो ! ये पैर जमीन को छूते नहीं और चलते हैं। ये पैर भी जमीन को छूये बिना चलते हैं क्योंकि जमीन की पर्याय और पैर की पर्याय के बीच में अत्यन्त अभाव है, तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का चुम्बन करता है, स्पर्श करता है, छूता है — ऐसा कभी है नहीं। आ...हा...हा... ! ऐसी बहुत कठिन बात ! जैनधर्म में जन्म लिया, परन्तु पचास-पचास, साठ-साठ वर्ष निकल जाते हैं फिर भी मालूम नहीं। अन्धा... अन्धा... अन्धा... ! आ...हा...हा... !

कहते हैं कि पैर जो चलते हैं, वह आत्मा की प्रेरणा से तो नहीं (चलते)। आत्मा (को) इच्छा होकर (पैर) चले तो इच्छा के कारण से तो पैर चलते नहीं। पैर की चलने की पर्याय अपने से उत्पन्न होती है तो चलने में नीचे की जमीन को छूए बिना वह अपनी पर्याय को उत्पन्न करता है और गति होती है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! पूरी दुनिया से अलग जात लगे, पूरी अलग जात है, बापू!

यहाँ ये कहा, **इसलिए...** इसलिए अर्थात् ? जड़ कर्म के अनुसार अपनी पर्याय में विकार करते हैं, उस कारण से। **इसलिए उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।** इस कारण से अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु है, (उसकी उपलब्धि नहीं होती)। आहा...हा...! आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द (से) लबालब भरा पड़ा है। आहा...हा...! जैसे, बर्फ है बर्फ, पचास मन की शिला (होती) है, 'मुम्बई' में होती है न ? पचास-पचास, साठ (मन की होती है), उसमें तो अनन्त परमाणु हैं। यह आत्मा है, वह शान्ति की शिला है। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय उपशमरस की शिला है। तो कहते हैं कि उस आनन्द की शिला का अनुभव क्यों नहीं होता ? (तो कहते हैं कि) पर्याय में कर्म के अनुसार विकृत परिणमन करता है, इस कारण से अपना अनुसरण नहीं करता। समझ में आया ? आ...हा...हा...! बात में बहुत अन्तर है, बापू! क्या हो ? आहा...हा...!

यह कहते हैं, **इसलिए...** इसलिए अर्थात् ? जड़ कर्म का अनुसरण करके अपनी पर्याय अपने से करते हैं। विकारी दशा — काम, क्रोध, मान, माया, व्रत, तप, पूजा, भक्ति सब विकार है, संसार है। इस संसार की उत्पत्ति करते हैं, इसलिए निज स्वभाव के अनुभव की प्राप्ति नहीं होती। आ...हा...हा...! ऐसी बात!

लोग ऐसा कहते हैं, 'सोनगढ़' (का) एकान्त है। मालूम है, बापू! कहो, भाई! एकान्त है, वे व्यवहार से निश्चय कहते नहीं। निमित्त से पर में — उपादान में होता है यह कहते नहीं।' हम कहते नहीं (ऐसा) नहीं है, अनन्त तीर्थंकर नहीं कहते। आहा...हा...! पण्डित (लोग) इतना पेपर में (देते) हैं कि उपादान में अनेक प्रकार की योग्यता है। जैसा निमित्त मिले वैसा कार्य होता है। ऐसा पण्डित लोग पेपर में (देते) हैं। यह सब मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। आहा...हा...! आत्मा में और परमाणु में एक समय में एक ही पर्याय उत्पन्न

होने की (योग्यता है)। एक अर्थात् एक गुण की (पर्याय), वैसे तो अनन्ती पर्याय हैं, अनन्त गुण हैं न? तो एक समय में अनन्त गुण की अनन्ती पर्याय उत्पन्न होती है परन्तु अनन्त गुण की एक-एक पर्याय उत्पन्न होती है (वह) दूसरी पर्याय के कारण से भी नहीं। द्रव्य के कारण से नहीं, पर्याय के कारण से नहीं और साथ में (दूसरी) पर्याय उत्पन्न हुई है, उसके कारण से भी नहीं। आहा...हा...! वह पर्याय अपने से उत्पन्न होती है, कर्म के अनुसार अपना (परिणमन) करते हैं (तो होती है)।

'समयसार' में 'परसंग एव' (ऐसा) एक शब्द पड़ा हे। उसकी बड़ी चर्चा हुई थी। 'इन्दौर' के एक बड़े विद्वान यहाँ आये थे, (तब) बहुत चर्चा हुई थी। 'परसंग एव'! वहाँ 'इसरी' में चर्चा हुई थी कि कर्म के कारण से, कर्म के निमित्त से आत्मा में विकार होता है। वहाँ कहा था, बिलकुल झूठ बात है। देखो! 'पंचास्तिकाय' की ६२ गाथा। विकार अपने में षट्कारक से अपने से होता है। विकार का कर्ता पर्याय, पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय करण — साधन, पर्याय अपनी करके रखना, पर्याय अपने से हुई — अपादान, पर्याय के आधार से पर्याय हुई। उस समय (संवत् २०१३) की साल (में कहा था)। २२ वर्ष हुए। (बात उनको) नहीं बैठी। यह बात चलती नहीं थी, सारे हिन्दुस्तान में नहीं थी। सब सम्प्रदाय कर्म से होता है, कर्म से होता है — ऐसा (ही मानते थे) और श्रोता को एकाद घण्टा (सुनने को) मिले तो कहे उसे जय नारायण (करके मान लेते हैं)। निर्णय करने की कहाँ तकत है। सारा दिन धन्धा-पानी (के) पाप में! आहा...हा...! करोड़पति और अरबपति हो तो खूब पाप में रुके। आहा...हा...! आ...हा...! और थोड़ा समय मिले तो रात्रि में नींद में जाये, थोड़ा समय स्त्री-पुत्र को प्रसन्न करने में जाये, अर...र...र...! सारी जिन्दगी इसी में जाये। धर्म तो नहीं (होता) लेकिन पुण्य का भी ठिकाना नहीं। समझ में आया? ये भाव भी क्यों होता है? कि अपने अपराध से होता है। कोई कर्म का बलवान / जोर है तो अपनी पर्याय में ऐसा विकार होता है, इस बात में बिलकुल सत्यता है नहीं। आ....हा...! वह कहते हैं।

स्थूलपने विकार के परिणाम असंख्य प्रकार के हैं, सूक्ष्मपने अनन्त प्रकार के हैं, तो शुभ-अशुभ भाव तो निगोद के जीव में भी होते हैं। अभी तक निगोद में इतने जीव हैं कि जो त्रस नहीं हुए। अभी तक निगोद के इतने जीव पड़े हैं कि अभी तक कोई लट नहीं

हुए, त्रस नहीं हुए, परन्तु उसे भी शुभ-अशुभभाव होते हैं, कर्म के कारण से नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! उसे भी शुभ-अशुभभाव होते हैं। वहाँ देव-गुरु-शास्त्र नहीं है। वन्दन व्यवहार (नहीं है) तो (शुभभाव) कहाँ से हुआ? वह तो अपनी पर्याय की योग्यता से उस समय शुभभाव होने की योग्यता से शुभभाव होता है। निगोद के जीव में शुभभाव होता है। अभी तक नहीं निकले और त्रस भी नहीं हुए। 'छहढाला' में आता है। 'छहढाला' है न? उसमें आता है कि निगोद में से त्रस हो त्रस — लट, वह भी चिन्तामणि रत्न जैसा है! 'छहढाला' में आता है। सब मालूम है न। अनन्त अनन्त काल प्रभु! एकेन्द्रिय (में से) छूटकर दो इन्द्रिय नहीं हुआ। आहा...हा...! और दो इन्द्रिय होता है तो कहते हैं कि मानो चिन्तामणि रत्न हुआ!! आहा...हा...! उसमें से मनुष्यपना (मिलना या) लट या निगोद (की पर्याय होना), वह अपनी पर्याय के अपराध से होता है, पर के कारण से बिलकुल है नहीं। आहा...हा...!

अपने स्वभाव की उपलब्धि... (अर्थात्) अनुभव नहीं होता। आ...हा...हा...! चार गति की पर्याय करने से, कर्म के कारण से नहीं, उसकी पर्याय करने से अपना स्वभाव का अनुभव नहीं करते। वहाँ रुक गया है। चार गति बनाने में, संसार बनाने में, चार गति (की) रचना में अनादि से मिथ्यादृष्टि वहाँ पड़ा है। आहा...हा...! उस कारण से अपना निजानन्द प्रभु आत्मा! सहजात्मस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द और दल है, उसका अनुभव नहीं करते; और उसका अनुभव करे तो सम्यग्दर्शन होता है तो भव का अन्त आ जाता है। आहा...हा...! इसके सिवा कोई व्रत, तप, भक्ति, पूजा लाख-करोड करे तो भव का अन्त आता है — (ऐसा) तीन काल में नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! यह कहते हैं। **इसलिए उसे अपने स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।**

जैसे, पानी का पूर प्रदेश की अपेक्षा से वृक्षों के रूप से परिणमित होता हुआ... पानी-जल नीम में, पीपल (के) वृक्ष में चढ़ा तो पानी वहाँ उस प्रदेशरूप परिणमन करता है, वह अपने कारण से है। **अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता...** आहा...हा...! क्या कहा? जल अपनी योग्यता से वृक्ष में चढ़ता है (तो) प्रवाहीपना रुक जाता है। प्रवाहीपना — प्रवाही होना, यह नहीं होता, वह अपने कारण से है। आहा...हा...!

जल के एक बिन्दु में भी असंख्य जीव हैं। जल का एक राई जितना बिन्दु है, उसमें असंख्य जीव हैं और एक एक जीव के साथ तैजस और कार्माण दो शरीर हैं और एक एक जीव में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण भरे हैं। क्षेत्र भले इतना छोटा हो, (परन्तु) गुण की संख्या अमाप... अमाप... अमाप... ये गुण की संख्या का अनुभव क्यों नहीं करते ? अपना निधान... आ...हा...हा... ! आनन्द का नाथ प्रभु ! उसका अनुभव क्यों नहीं करते ? कि पर्याय में कर्म के अनुसार विकार करते हैं तो अपना (अनुभव) नहीं करते। आहा...हा... समझ में आया ? दुनिया से बहुत अन्तर है, भाई !

यह टोपी है, वह सिर के आधार से रही नहीं। यह चश्मा है तो नाक के आधार से चश्मा रहा नहीं। यह कौन माने ? पागल (जैसा) लगे ! पागल लोगों को पागल लगे। आ...हा...हा... ! उसमें एक-एक परमाणु है, वह दूसरे परमाणु के आधार से नहीं (रहा) तो सिर के आधार से टोपी रही है, वह बात झूठ है। अरे...रे... !

यहाँ यह कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता होकर अपने त्रिकाली ज्ञान को भूल जाते हैं। जड़ को तो (कुछ) खबर नहीं। अपने स्वभावरूप परिणमित नहीं होता। है ? **अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध...** नहीं होता। आ...हा...हा... ! **और स्वाद की अपेक्षा...** जल का स्वाद है, उस स्वाद की अपेक्षा। **वृक्षरूप परिणमित होता हुआ...** नीमरूप पानी (का) परिणमन होता हुआ। नीम... नीम... ! कड़वा, पानी वहाँ चढ़ गया तो पानी का स्वाद बदल गया। आहा...हा... ! नीम में... निम्बोणी, निम्बोणी कहते हैं न ? उसमें पानी चढ़ गया तो अपने स्वाद का नाश हो (गया) और कड़वा स्वाद आ गया। पानी पेड़रूप परिणमित हो गया। आहा...हा... ! कठिन बात लगे। क्या हो ? **अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं,...** होता। नीम और पीपर आदि के वृक्ष पर चढ़ जाने से जल का स्वाद-पानी का स्वाद वहाँ दूसरे रूप हो गया। स्वाद का अनुभव होता नहीं।

उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा से स्वकर्मानुसार... (अर्थात्) अपने विकारी परिणाम के अनुसार **परिणमित होता हुआ...** आ...हा... ! अथवा जड़ कर्म है उसके अनुसार अपनी पर्याय में परिणमन करता हुआ, परन्तु अपने कारण से। कर्म

अनुसार का अर्थ कर्म ने करवाया नहीं। कर्म के अनुसार अपने (में परिणमन) किया है। आ...हा...हा...! स्वकर्म अनुसार का अर्थ यह (है)। कर्म का अनुसरण (स्वयं ने) किया है, कर्म ने कुछ करवाया नहीं। अरे...! एक भी बात का ठिकाना नहीं। श्रद्धा का ठिकाना नहीं तो चारित्र और व्रत तो कहाँ से आया? अभी तो सम्यग्दर्शन क्या चीज है... आहा...हा...! उसका पता नहीं (और) उसे व्रत और प्रतिमा आ गयी (वह सब) एक अंक बिना के शून्य हैं। आ...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **स्वाद की अपेक्षा से वृक्षरूप परिणमित होता हुआ अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता...** पानी का स्वाद नहीं आता। **उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश की अपेक्षा से स्वकर्मानुसार परिणमित होता हुआ अपने अमूर्तत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता...** आहा...हा...! राग और द्वेष, दया और दान, व्रत और भक्ति के परिणाम में चढ़ गया तो अपना जो अमूर्तस्वरूप है, वह छूट गया, वह राग में रुक गया। समझ में आया? आहा...हा...!

एक न्याय से तो राग को मूर्त भी कहा है। अरे...! एक न्याय से तो राग को — दया, दान को पुद्गल कहा है। 'समयसार'! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का परिणाम पुद्गल — जड़ है। पुद्गल का परिणाम कहकर बाद में पुद्गल कह दिया है। 'समयसार' ७५ गाथा। समझ मं आया? आहा...हा...! रागादि पुद्गल के परिणमन में अपना स्वाद — आनन्द का स्वाद उसे नहीं आता; राग का स्वाद आता है। आहा...हा...! विषय में, पैसे में, आबरू में, पाँच-पच्चीस लाख (रुपया) मिला तो प्रसन्न होता है, वह राग का वेदन है। आहा...हा...! पर का नहीं, स्व का नहीं, राग का वेदन है। पर का वेदन कभी होता नहीं और राग के वेदन में स्व का वेदन है नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है, बापू! कठिन बहुत, बापू! जन्म-मरण कर करके चौरासी के अवतार में... आहा...हा...! अरे...! उसने कभी आत्मा की दया की नहीं। मैं कौन हूँ? और क्या करता हूँ और क्या करने से मेरा जन्म-मरण मिट जाये? ऐसा निर्णय किया नहीं। आहा...हा...! बाहर के काम में रुक गया। पैसे थोड़े ज्यादा हो तो... आहा...हा...!

एक पैसेवाले थे। उसके पास दो अरब चालीस करोड़! 'गोवा' में! उसका लड़का

है (वह) 'मुम्बई' में दर्शन करने आया था। दो अरब चालीस करोड! अढ़ाई अरब रुपया! बहुत धन्धा करे, अढाई अरब रुपया! तीन सौ तो आगबोट (थी)। क्या कहते हैं उसे? मेंगेनीट निकलता था। इतने करोड़ की तो कमाई (थी)। आ...हा...हा...! तो एक बार उसे (किसी ने) कहा कि, 'आप ये क्या करते हो?' (तो उन्होंने कहा) 'क्या हम हमारे लिये करते हैं? लोगों को पैसा मिले और सुखी हो, इसलिए हम तो यह धन्धा करते हैं।' ये मूर्ख के सरदार! अरबपति! दो अरब चालीस करोड़! अढ़ाई अरब रुपया! धूल में क्या है? उसने ऐसा जवाब दिया। (किसी ने) ऐसा कहा कि 'इतना पैसा है तो अब क्या यह व्यापार-धन्धा (करते हो)?' (तो कहा कि) 'क्या हम हमारे लिये करते हैं? हजारों मनुष्य का निभाव होता है, इसलिए हम करते हैं।' मूर्ख के सरदार हैं! अभिमान है। पर का कौन करे? पर को सुखी कौन करे? ऐसा कहा कि 'हमारा धन्धा चलता है तो हजारों मनुष्यों की आजीविका चलती है।' आहा...हा...! मिथ्यात्व का अभिमान है। मर गया तो पाँच-दस मिनट में मर गया। 'मुम्बई' आया था। दो-पौने दो साल हुए। स्त्री को हेमरेज (हुआ था)। चालीस लाख का तो बँगला है। दस-दस लाख के दो बँगले। साठ लाख के तीन बँगले हैं। 'गोवा' में! पैसा बहुत है। उसकी स्त्री को हेमरेज हो गया था। दवाई के लिये 'मुम्बई' आये थे तो थोड़े दिन बाद रात्रि में डेढ़ बजे उठे (और कहने लगे), 'मुझे दुखता है। डॉक्टर को बुलाओ।' डॉक्टर आये तब तक तो... भाईसाहब जाये, पशु में भटकते होंगे। माँस और दारू न खाये (इसलिए) पशु में जाये। आहा...हा...! ये दशा!

अरे...रे...! अनन्त काल में वह कभी स्वसन्मुख हुआ ही नहीं। पर से विमुख हुआ ही नहीं। पर के सन्मुख रुककर अपने से विमुख हुआ। पर के सन्मुख होकर अपने से विमुख हुआ, किन्तु पर से विमुख होकर अपने स्वसन्मुख हुआ नहीं। आहा...हा...! अन्तर में भगवान विराजते हैं... आ...हा...हा...! उस भगवान पर नजर नहीं की और ये विकारी परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम पर नजर रखी तो वह तो मिथ्यादृष्टि पर्यायबुद्धि है। वह अपने से है। कर्म की कोई भी असर उसे है, (ऐसा) बिलकुल नहीं। आहा...हा...! जगत को ऐसा बैठना कठिन पड़े। फिर पण्डित लोग (कहे) 'सोनगढ़'

एकान्त है, एकान्त है। सुनाओ, बापू! तुम्हारी सब खबर है। आहा...हा...! यहाँ तो ६६ वर्ष तो दुकान छोड़कर हुए हैं। ६६, ६६! दो छह! चौवालीस वर्ष और चार महिने तो यहाँ (आकर) हुए हैं। इस जंगल में! २१ वर्ष उसमें — स्थानकवासी साधु (में) थे। पिताजी स्थानकवासी थे तो उसमें दीक्षा ले ली थी। आ...हा...! सब की खबर है, दुनिया की; कहाँ कैसी मान्यता है (मालूम है)। आ...हा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि आत्मा (अमूर्तस्वरूप को) उपलब्ध नहीं करता। है? **भाव की अपेक्षा से स्वकर्मरूप परिणमित होता हुआ...** (अर्थात्) राग और दया, दान, काम, क्रोधरूप परिणमित होता हुआ **उपराग से रहित विशुद्धिवालापनारूप अपने स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।** आ...हा...हा...! शुभ-अशुभ राग में रुकने से, उसका स्वाद लेने से विशुद्ध स्वभाव प्रभु आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भूल गया। आ...हा...हा...! शास्त्र का थोड़ा-बहुत जानपना होता है तो अभिमान हो जाता है। थोड़ी व्रत, तप की क्रिया करे, शरीर का ब्रह्मचर्य पाले तो क्रिया का अभिमान हो जाता है। आ...हा...! सब मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। आ...हा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, विशुद्धिवालापना प्रभु आत्मा का स्वभाव! देखो! विशुद्धि -स्वभाववालापना कहा! (कोई) ऐसा कहता है न कि विशुद्धि है उसमें लाभ है। शुभ (भाव) को विशुद्धि (कहा है)। परन्तु शुभ को भी विशुद्धि कहा है, यहाँ शुद्ध को भी विशुद्धि कहा है। विशुद्धि शब्द दोनों में आते हैं। 'समयसार' में शुभभाव को भी विशुद्धि कहा है और यहाँ शुद्धि को विशुद्धि कहते हैं। शुभ जोग को भी विशुद्धि कहते हैं परन्तु वह तो जहर है, राग है, मैल है, मलिन है और शुद्ध जोग — शुद्ध उपयोग, शुद्ध जोग कहो कि शुद्ध उपयोग कहो, वह विशुद्धि स्वभाव है। आ...हा...हा...! अपना विशुद्धिस्वभाववालापना — **विशुद्धिवालापनारूप...** देखो, भाषा! भगवान तो विशुद्धिवालापना(रूप) है। आहा...हा...! वह कर्मपने तो नहीं, शरीरपने तो नहीं परन्तु विकारपने भी वस्तु नहीं। वह तो विशुद्धिवालापना(रूप) है। आ...हा...हा...! विशुद्धि शब्द से शुभभाव नहीं, शुद्ध! आ...हा...हा...! **विशुद्धिवालापनारूप अपने स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।**

इससे यह निश्चित होता है कि मनुष्यादिपर्यायों में जीवों को अपने ही दोष से... चार गतिरूप संसार में **अपने दोष से अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है,...** अपने स्वभाव की प्राप्ति होती नहीं। आ...हा...हा...! लट, कीड़े, कौवे (का) भव करते-करते अपने स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। भव का प्रेम और भव का कारण विकार के प्रेम (में स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती)। आहा...हा...! राग का छोटे से छोटा कण है, उसकी एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है, तो मिथ्यात्व के कारण अपने स्वभाव का अनुभव नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया? राग का छोटा कण, छोटा! दया, दान, व्रत (का) छोटा कण भी राग है, वह जहर है।

भगवान अमृत का पूर है। अमृत के पूर का स्वाद क्यों नहीं आता? (क्योंकि) राग के स्वाद में रुक गया, इस कारण से नहीं आता। आ...हा...हा...! कर्म के कारण से नहीं आता — ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! अरे...रे...! बाहर की कुछ अनुकूलता मिले, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ रुपये मिले, शरीर ठीक मिले, स्त्री ठीक मिले, लड़का ठीक होता हैं (तो मानते हैं कि) हम सुखी हैं। धूल में भी सुखी नहीं। आहा...हा...! दुःखी है। पर की अनुकूलता अपनी है — यह मान्यता मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व है, वह बड़ा दुःख है। आहा...हा...! बड़ा पाप है, मिथ्यात्व ही बड़ा पाप है। आहा...हा...! बाद में राग-द्वेषादि होते हैं, वह तो अल्प पाप है। आ...हा...हा...!

विशुद्धिवालापनारूप अपने स्वभाव को... आ...हा...हा...! भगवान आत्मा का स्वभाव (विशुद्धिवालापनारूप है)। भगवान कहकर बुलाया है। ७२ गाथा, 'समयसार' ७२ गाथा! भगवान आत्मा! आचार्य महाराज 'भगवान आत्मा' ऐसा (कहकर) बुलाते हैं! आ...हा...हा...! ७२ गाथा (में) शुभ और अशुभ भाव को अशुचि कहते हैं और अन्दर भगवान आत्मा शुचि-पवित्र है। दोनों में अत्यन्त भेद है। दया, दान, व्रत, तप का परिणाम मैल है, अशुचि है, जड़ है, दुःख है। भगवान चेतन है, आनन्द है, सुख है, आत्मा ज्ञायक है। आ...हा...हा...! दोनों के बीच में बहुत अन्तर है।

विशुद्धिवालापनारूप... विशुद्धिवालापनारूप! देखो भाव! आत्मा (का) तो विशुद्धिपना स्वभाव है। उसका तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावपना है। आहा...हा...! **अपने स्वभाव को उपलब्ध...** अर्थात् अनुभव **नहीं करता।** अपने स्वभाव

को प्राप्त नहीं करता। राग को प्राप्त करता है तो अपन स्वभाव को प्राप्त नहीं करता। आ...हा...हा... ! भारी कठिन काम !

इससे यह निश्चित होता है कि मनुष्यादिपर्यायों में जीवों को अपने ही दोष से अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य किसी कारण से नहीं। कर्म से या कोई काल से ऐसा कोई कारण नहीं। आहा...हा...कहा है। 'पद्मप्रभमलधारिदेव' हैं, 'नियमसार' की टीका की है न ? (उन्होंने) एक कलश में लिखा है कि आत्मा निरन्तर सुलभ है — ऐसा लिखा है। समझ में आया ? आत्मा निरन्तर भगवान पड़ा है, निरन्तर सुलभ है। आ...हा...हा... ! कोई कलश में है — निरन्तर सुलभ है। आहा...हा... ! कहाँ होगा ? निरन्तर सुलभ है, ऐसा है सही। **'सततम् सुलभम्!' 'सततम् सुलभम्'** एक कलश में है। *'सततम् सुलभम्'* सुलभ आनन्द है, ऐसा कहते हैं। आत्मा तो निरन्तर सुलभ है। 'आलोचना' (अधिकार) में है। आलोचना, आलोचना ! 'आलोचना अधिकार' है न ? २१८ श्लोक (परम-समाधि अधिकार)। **महामोहांध जीवों को निरन्तर सुलभ है...** विकार की बात है, ये तो विकार की बात है, ये नहीं। (श्लोक) मिले तब काम आये न ? पाठ में है — 'सततम् सुलभम्' यह तो अज्ञानी को विकार सततम् सुलभ है। बाद में निकालना। समझ में आया ? अज्ञानी को मिथ्यात्व निरन्तर — सतत सुलभ है। आहा...हा... ! और दूसरे (ठिकाने) है, 'आलोचना' (अधिकार में) है कि ज्ञानी को आत्मा निरन्तर — सततम् सुलभम् (है)। आ...हा...हा...हा... ! मिला नहीं, मिले तब मिले न ? बाद में देखना, हाँ ! 'नियमसार' पुस्तक है (उसमें) 'आलोचना' (अधिकार में) कहीं पर है। वह सतत् सुलभ तो दूसरी बात है। वहाँ चिह्न किया है। लोग कहते हैं कि अरे...रे...' ' धर्म तो महा दुर्लभ है। बोधिदुर्लभ कहते हैं उस अपेक्षा से है, परन्तु वस्तु पड़ी है, यहाँ निरन्तर आनन्द का नाथ पड़ा (है)। आ...हा...हा... ! 'तेरी नजरने आणसे रे निरख्या न नयणे हरि' आ...हा... ! 'नजरने आणसे...' नजर पर में रहती है और अपने में न आयी। आ...हा... ! राग और द्वेष, पुण्य-पाप का परिणमन अपने से करते हैं तो वह कर्ता होकर अपने स्वभाव का अनुभव नहीं करते। आहा...हा... ! अनुभव नहीं होता उसका यह कारण है। बहुत करके 'आलोचना' (अधिकार में) है, चिह्न किया है, नीचे की ओर है। बहुत ग्रन्थ ! पार नहीं। है ?

१७६ कलश है। देखो! आहा...हा...! 'सततसुलभं' **तत्त्वों में वह सहज तत्त्व जयवन्त है — कि जो सदा अनाकुल है, जो निरन्तर सुलभ है...** यह आत्मा की बात है। आहा...हा...! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय बड़ा प्रभु निरन्तर विराजता है। तुम वहाँ नजर करो तो निरन्तर... निरन्तर सुलभ है परन्तु नजर राग और पुण्य, दया, दान और विकल्प करते-करते होगा (— ऐसा मानता है) तो मिथ्यादृष्टिपना में रुककर अपने स्वभाव का अनुभव होता नहीं। 'परम-आलोचना अधिकार' (का) १७६ (नम्बर का श्लोक है)। **'जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं, सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम्। परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः, स्फुटित सहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम्॥ १७६॥'** 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ने अलौकिक अधिकार किया है!

(यहाँ कहते हैं, अपने ही दोष से) **''अपने स्वभाव की अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य कारण से नहीं। 'कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करता है' ऐसा कहना तो उपचार कथन है; परमार्थ से ऐसा नहीं है।''**

अब, ११९ गाथा विशेष कहेंगे।

उपशान्त रस के पिण्ड : मुनिराज

जिन्होंने अध्यात्म के सार का निर्णय किया है; अर्थात्, ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा का अन्तर में निर्णय किया है; जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ है और तदुपरान्त अन्तरस्वरूप में लीन होने से शान्त... शान्त... दशा प्रगट हो गयी है; अर्थात्, समाधि परिणमित हो गयी है। जिन्हें सहज वीतरागदशा अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से वर्त रही है; उपशान्तरस जम गया है - ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर, वीतरागी समिति द्वारा सांसारिक क्लेशजाल को जलाकर **मुक्ति-सुन्दरी के नाथ** होते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - ११९

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति -

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा।।११९।।

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित्।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना।।११९।।

इह तावत्र कश्चिज्जायते न म्रियते च। अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणक्षभङ्गोत्पादः। न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्व-नानात्वाभ्याम्। यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः।तथाहि -यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता- मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वा-संभवात्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभव-विलयस्वरूपे संभवतः। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते। ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः।।११९।।

अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्वं दर्शयति - **जायदि णेव ण णस्सदि** जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन। क्व। **खणभंगसमुब्भवे जणे कोई** क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि। क्षणं क्षणं प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र संभवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्ग-समुद्भवे विनश्वरे पर्यायार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतुं वदति। **जो हि भवो सो विलओ** द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवस्स एव विलयो यतः कारणात्।

तथाहि -मुक्तात्मनां य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्ग-पर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूतं यत्परमात्मद्रव्यं तदेव, मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिका-द्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधार-भूतसंसारिजीवद्रव्यवद्वा। क्षणभङ्गसमुद्भवे हेतुः कथ्यते। **संभवविलय त्ति ते णाणा** संभवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यतः कारणात्ततः पर्यायार्थिकनयेन भङ्गोत्पादौ। तथा हि-य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति। ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण। विनाशोऽस्तीति। ।११९।।

अब, जीव की द्रव्यरूप से अवस्थितता[१] होने पर भी पर्यायों से अनवस्थितता (अनित्यता-अस्थिरता) प्रकाशते हैं —

उत्पाद-व्यययुत जीव भी, उपजे नहीं, नहिं विनशे।
उत्पाद वो ही विनाश है, इससे हि भिन्न भी वे कहे॥

अन्वयार्थ - **[क्षणभङ्गसमुद्भवे जने]** प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोक में **[कश्चित्]** कोई **[न एव जायते]** उत्पन्न नहीं होता और **[न नश्यति]** न नष्ट होता है; **[हि]** क्योंकि **[यः भवः सः विलयः]** जो उत्पाद है, वही विनाश है; **[संभव -विलयौ इति तौ नाना]** और उत्पाद तथा विनाश, इस प्रकार वे अनेक (भिन्न) भी हैं।

टीका - प्रथम तो यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है (अर्थात् इस लोक में कोई न तो उत्पन्न होता है और न नाश को प्राप्त होता है)। और (ऐसा होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीव लोक प्रतिक्षण परिणामी होने से क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ (भी) जुड़ा हुआ है। और यह विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उद्भव और विलय का एकपना और अनेकपना है। जब उद्भव और विलय का एकपना है, तब पूर्वपक्ष है, और जब अनेकपना है तब उत्तरपक्ष है। (अर्थात् — जब उत्पाद और विनाश के एकपने की अपेक्षा ली जाए, तब यह पक्ष फलित होता है कि — 'न तो कोई उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है'; और जब उत्पाद तथा विनाश के अनेकपने

---

१. अवस्थितता = स्थिरपना; ठीक रहना।

की अपेक्षा ली जाए तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है।) वह इस प्रकार है —

जैसे — 'जो घड़ा है वही कूँडा है' ऐसा कहा जाने पर, घड़े और कूंडे के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है, वही विनाश है' ऐसा कहा जाने पर उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है; इसलिए देवादिपर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादिपर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है, वही विलय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान् जीवद्रव्य प्रगट होता है (लक्ष्य में आता है); इसलिए सर्वदा द्रव्यपने से जीव टंकोत्कीर्ण रहता है।

और फिर, 'अन्य घड़ा है और अन्य कूंडा है' ऐसा कहा जाने पर उन दोनों की आधारभूत मिट्टी का अन्यपना (भिन्न-भिन्नपना) असंभवित होने से घड़े का और कूंडे का (दोनों का भिन्न-भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है, उसी प्रकार 'अन्य उत्पाद और अन्य व्यय है' ऐसा कहा जाने पर, उन दोनों के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यपना असंभवित होने से उत्पाद और व्यय का स्वरूप प्रगट होता है; इसलिए देवादिपर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादिपर्याय के नष्ट होने पर, 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उत्पाद और व्ययवाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्ष्य में आती है); इसलिए जीव प्रतिक्षण पर्यायों से अनवस्थित है॥ ११९॥

प्रवचन नं. १३५ दिनाङ्क १५ जुलाई १९७९

'प्रवचनसार' भगवान की दिव्यध्वनि (है), उसका सार है। सर्वज्ञ परमात्मा 'सीमन्धर' भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्य' दो हजार वर्ष पहले, संवत् ४९ में गये थे तो वहाँ दिव्यध्वनि सुनी। दिव्य अर्थात् प्रधान आवाज - ॐ आवाज! उसमें से यह 'प्रवचनसार' बनाया। प्र-वचन कहो या दिव्य वचन — दिव्यध्वनि कहो (सब एकार्थ है)। सूक्ष्म विषय है, भगवान!

अनन्त काल हुआ (लेकिन) कभी आत्मा क्या चीज है और कैसे (उसका)

अनुभव हो ? — (इसका) कभी प्रयत्न और प्रयास किया नहीं (और) बाहर की झंझट में (रुक गया)। अपने सिवा परवस्तु की कोई भी पर्याय आत्मा कर नहीं सकता क्योंकि परवस्तु में अपना अभाव है और अपनी चीज में पर का अभाव है। इस कारण (से) यह आत्मा है, वह अपनी पर्याय करे और द्रव्यपने कायम रहे, ऐसा कहेंगे। यह 'ज्ञेय अधिकार' है। पर्याय अपने से हो उसमें दूसरे का अधिकार बिलकुल नहीं। आहा...हा...! अपनी पर्याय में राग-द्वेष हो या आत्मा का अनुभव हो, मैं आनन्दस्वरूप हूँ, शुद्ध चिद्घन हूँ, ऐसा विकल्प से — राग से रहित... आ...हा...हा...! द्वैत-अद्वैत से रहित।

यहाँ कहेंगे कि आत्मा उत्पन्न भी होता नहीं और आत्मा (का) विलय होता ही नहीं। वह तो द्रव्य त्रिकाली वस्तु है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य से (देखो तो) त्रिकाली है, वही है। उत्पन्न होना, विलय होना द्रव्यदृष्टि में नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि में वर्तमान अवस्था जो होती है, उसका ज्ञान करने से उत्पन्न और व्यय होता है। नयी अवस्था का उत्पन्न होना और पुरानी अवस्था का व्यय होना, वह अपनी पर्याय का — अनित्य का — अस्थिरता का स्वभाव है। आहा...हा...! फिर भी पर्याय अपने में जो होती है, वह पर के संयोग से कभी नहीं होती। भाई! होटल चला नहीं सकते — ऐसा कहते हैं। अपने में अहंकार करे (कि) पर का मैं कर्ता हूँ, मैं कर सकता हूँ, व्यवस्थित व्यवस्था कर सकता हूँ, व्यवस्थित व्यवस्था कर सकता हूँ! ऐसा मिथ्यात्व, अभिप्राय करे, परन्तु पर का तो कुछ कर सकते नहीं। आहा...हा...! वह बात यहाँ कहते हैं।

उत्पन्न और व्यय हो तो अपनी पर्याय में हो। पर को उत्पन्न करे और पर का व्यय करे, वह तो उसमें है नहीं; और पर से अपने में पर्याय उत्पन्न हो और व्यय हो, ऐसे होता नहीं। द्रव्य से देखो तो त्रिकाली वस्तु है, पर्याय से देखो तो उत्पाद-व्यय है, परन्तु वह उत्पाद-व्यय पर से नहीं (होते)। आ...हा...हा...! यह कहते हैं। देखो! ११९ (गाथा)।

अब, जीव की द्रव्यरूप से अवस्थितता... है ऊपर ? जीव यह भगवान आत्मा! उसके द्रव्यरूप वस्तु अपेक्षा से, **अवस्थितता...** (अर्थात्) स्थिरपना, स्थिर रहना। ऐसा **होने पर भी पर्यायों से...** (अर्थात्) अवस्थादृष्टि से, पलटने की अवस्था से **अनवस्थितता (अनित्यता-अस्थिरता) प्रकाशते हैं —** परन्तु वह अपने — अपने कारण से है, कोई पर के कारण से नहीं। गाथा।

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा।।११९।।

उत्पाद-व्ययुत जीव भी, उपजे नहीं, नहिं विनशे।
उत्पाद वो ही विनाश है, इससे हि भिन्न भी वे कहे॥

थोड़ी सूक्ष्म बात है। भगवान का मार्ग ही अचिन्त्य है! ऐसा कहीं है नहीं। यहाँ तो समय-समय में आत्मा द्रव्यदृष्टि से, द्रव्य से — वस्तु से देखो तो कायम है और उसकी अवस्था — पलटन अवस्था दे देखो तो अस्थिर है परन्तु वह अस्थिरपना पर के कारण से नहीं। पर, शरीर आदि की चीज भी कायम नित्य है और उसकी अवस्था भी पलटती है तो उस अवस्था का आत्मा कर्ता है — ऐसा तीन काल में नहीं। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! यह कहते हैं।

प्रथम तो यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है... भगवान आत्मा वस्तु है। वह कहाँ जन्मती है और कहाँ मरती है? आ...हा...हा...! जो वस्तु है अन्दर, ये देह तो मिट्टी का पिण्ड — धूल है, वाणी धूल है, यह वाणी — आवाज भी मिट्टी है। आहा...हा...! अन्दर एक मन है। विचार करने में जड़ परमाणु (का बना) मन निमित्त है, उससे भी आत्मा तो भिन्न है। ऐसा आत्मा न कोई जन्मे और न कोई मरे। आहा...हा...! एक-एक आत्मा की बात है। द्रव्यदृष्टि से — द्रव्यार्थिक दृष्टि से न हि आत्मा उत्पन्न होता है और न ही आत्मा मरता है (या) व्यय होता है। द्रव्य समझे? त्रिकाली दृष्टि से न ही उत्पन्न होता है और न ही व्यय — मरण होता है — अभाव होता है। है (पाठ में)?

(इस लोक में कोई न तो उत्पन्न होता है और न नाश को प्राप्त होता है)। और (ऐसा होने पर भी)... ऐसा होने पर भी, **मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक...** जो चार गति हैं। मनुष्यगति... मनुष्यगति का अर्थ यह शरीर नहीं। शरीर तो मिट्टी — धूल है, वह मनुष्यगति नहीं, मनुष्य का शरीर नहीं। यह तो मिट्टी है, धूल — पुद्गल का शरीर है। आत्मा जो त्रिकाल ज्ञानरूप शरीर है, उसकी वर्तमान अवस्था में नरकगति, मनुष्यगति का जो भाव है, वह क्षणिक है। चार गति की उत्पत्ति अपनी पर्याय में है वह क्षणिक है। यह शरीर क्षणिक है और उसके कारण से क्षणिक है — यह बात

नहीं। आहा...हा... ! अपने कारण से आत्मा की दृष्टि (से), द्रव्य से देखो तो न उत्पन्न होता है, न व्यय होता है परन्तु उसकी पर्यायदृष्टि से देखो... वही (कहते) हैं, देखो! **(ऐसा होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण...** आ...हा...हा... ! प्रत्येक समय में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक अवस्था में **प्रतिक्षण परिणामी होने से...** पदार्थ प्रतिक्षण अर्थात् प्रत्येक अवस्था में बदलने का, परिणमने का स्वभाव होने से क्षणिक अवस्था, कायम नित्य होती है। ये क्षणिक अवस्था अपने से होती हे। समझ में आया ? आहा...हा... ! है ? दुनिया में धूल के आड़े निवृत्ति कहाँ (मिलती है) ? पैसा... पैसा... पैसा... पाँच-पचास करोड़ धूल मिले तो वहीं घुस गया। आ...हा... !

एक सेठ की बात नहीं कहते थे ? 'गोवा' में (रहते थे)। दो अरब चालीस करोड़ ! दो अरब चालीस करोड़ !! धूल... धूल... ! दुःखी है। पौने दो वर्ष पहले वे तो गुजर गये। बड़ा गृहस्थ है। चालीस लाख का तो एक बँगला है, दूसरे दस-दस लाख के दो बँगलें हैं। साठ लाख के तो बँगले हैं। धूल बहुत धूल ! पुद्गल ! क्या कहते हैं ? मेंगनिट का धन्धा है, बड़ा धन्धा है। बहुत करोड़ पैदा करते हैं। वे तो पौने दो वर्ष पहले गुजर गये। उसका लड़का आया था। 'मुम्बई' हम गये थे, तब आया था। परन्तु धूल आड़े कहाँ (समय मिलता है) ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि पैसा तो धूल है, पुद्गल है, उसकी अवस्था पुद्गल में पुद्गल के कारण से होती है। पुद्गल का आना-जाना पुद्गल की अवस्था से आना-जाना होता है। तेरे कारण से पुद्गल पैसे का आना-जाना (होता) है, ऐसी बात वस्तु के स्वरूप में नहीं। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का फरमान है कि प्रत्येक पदार्थ — वस्तु.... यहाँ जीव लेना है (कि) जीव उत्पन्न होता नहीं और मरता नहीं। यह वस्तुदृष्टि से (है)। पर्यायदृष्टि से मनुष्यपना की पर्याय उत्पन्न होती है और मनुष्यपना की पर्याय का नाश होकर स्वर्ग में जाते हैं, तो स्वर्ग में उत्पन्न होता है और मनुष्यपना की गति का व्यय होता है। (शास्त्रकर्ता) मुनि है तो बात ऐसी करते हैं। मुनि हैं तो मनुष्य में से देवगति में जाना है। पंचम काल है तो केवलज्ञान है नहीं। मनुष्यगति का व्यय होकर ऊपर स्वर्ग है, वहाँ उत्पन्न होंगे।

कहते हैं कि पर्यायदृष्टि से देखो तो **मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण...** प्रत्येक समय में **परिणामी होने से...** (अर्थात्) प्रतिक्षण अपना बदलने का स्वभाव होने से। आहा...हा...! **क्षण-क्षण में...** है? **क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ (भी) जुड़ा हुआ है।** वस्तु अपेक्षा से कायम है, फिर भी उत्पाद और व्यय से जुड़ा हुआ है। द्रव्य जो वस्तु है, (उसका) उत्पाद-व्यय के साथ मिलन — सम्बन्ध है। आहा...हा...! पर के साथ का मिलन और जुड़ान तीन काल में है नहीं। चाहे तो शरीर हो, वाणी हो या मन हो, सब जड़ मिट्टी — धूल की दशा (है), उसके साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी को ऐसा लगता है) मानो पूरी दुनिया हमारी... हमारी... हमारी स्त्री, हमारा लड़का, हमारा पैसा, हमारा मकान। ये सब पैसेवाले हैं। आहा...हा...! धूल... धूल...! परमात्मा उसे पुद्गल कहते हैं, छह द्रव्य में पुद्गल कहते हैं। पुद् अर्थात् पुरना और गल अर्थात् गलना। आये और जाये (जिसका) स्वभाव है, वह पुद्गल है; वह अपना स्वभाव नहीं। अपने में त्रिकाल रहने का स्वभाव है वह मरता नहीं और जन्म होता नहीं, परन्तु पर्याय की दृष्टि से नारक, मनुष्यगति देखो तो क्षण-क्षण में परिणमता है और बदलता है। आ...हा...! है?

क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ (भी) जुड़ा हुआ है। द्रव्य — वस्तु है, भगवान (का) अस्तित्व है, अपने से अस्तित्व है, मौजूद चीज है, वह मौजूदगी (रखनेवाली) चीज त्रिकाली है। निरन्तर वर्तमान है। वह पाठ कल कहा था। वस्तु जो अन्दर है, वह निरन्तर वर्तमान है। त्रिकाली है, इसलिए ध्रुव है — ऐसा यहाँ नहीं। वह तो अपेक्षा से (कहते हैं)। बाकी वर्तमान ध्रुव है, आत्मा निरन्तर वर्तमान है। आ...हा...हा...! ऐसी ध्रुव दृष्टि से देखो तो जन्म-मरण है नहीं; उत्पाद-व्यय है नहीं, परन्तु उसका क्षण-क्षण में परिणमन होता है, इस अपेक्षा से उत्पाद-व्यय (है)।

मनुष्यगति का नाश होकर... आहा...हा...! यहाँ करोड़ोंपति, अरबोंपति हो और जहाँ देह छूटा (तो) माँस और दारू खाते हो तो नरक में जाते हैं, माँस और दारू नहीं खाते हो (और) माया कषाय, लोभ, मान आदि किये हो तो मरकर तिर्यंच पशु होता है। यहाँ देखो तो अरबोंपति हो और जहाँ देह छूटा तो पशु हो जाता है। आहा...हा...! समझ में

आया ? (ऐसा) क्षण-क्षण में परिणमने का — बदलने का उसका स्वभाव है। आहा...हा... ! तीसरी बात बाद में कहेंगे, आहा...हा... ! अभी दो बात सिद्ध करनी हैं।

और यह विरोध को प्राप्त नहीं होता;... क्या कहते हैं ? वस्तु है, (वह) कायम रहने पर भी। उत्पाद-व्यय द्रव्य में तो है नहीं और पर्याय में उत्पाद-व्यय, पलटती अवस्था है (फिर भी) **विरोध को प्राप्त नहीं होता;...** द्रव्य स्वभाव कायम रहता है और पर्याय प्रतिक्षण होती है (उसमें) विरोध नहीं (है)। आहा...हा... ! बदलना उसका स्वभाव है और कायम रहने का भी स्वभाव है। आहा...हा... ! पर की अपेक्षा से कुछ नहीं।

यहाँ तो दूसरा कहना है कि, यह एकपना है, वह अद्वैतपना है और पर्याय प्रतिक्षण पलटती है, वह द्वैत है, परन्तु वह अद्वैत और द्वैत का विकल्प भी मैं नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? 'नियमसार' में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' की गाथा है। मैं अद्वैत हूँ और द्वैत हूँ — ऐसा (विकल्प) भी मैं नहीं। आहा...हा... ! क्योंकि अद्वैत एकरूप हूँ, वह भी एक विकल्प — राग आता है और पर्याय क्षण-क्षण पलटती है, वह भी एक राग है। द्वैत-अद्वैत में भी मैं नहीं। मैं तो अखण्डानन्द पूर्णानन्द प्रभु ! उसका अनुभव करनेवाला विकल्प से रहित, राग की अपेक्षा बिना, मैं आत्मा हूँ। आ...हा...हा... ! यह तो 'ज्ञेय अधिकार' है तो ज्ञेयपना (में) जीव का नित्य-अनित्यपना सिद्ध करते हैं। (जैसे) जीव का (सिद्ध) किया, वैसे सर्व द्रव्य का ले लेना। समझ में आया ? आहा...हा... !

क्षण-क्षण में शरीर पलटता है, वाणी पलटती है (वह) जड़ है। आहा...हा... ! यहाँ अभी एक (मुमुक्षु) नहीं गुजर गये ? आधा पक्षघात तो था। यहाँ आते थे, यहाँ बैठते थे। अर्ध पक्षघात था (फिर भी) व्याख्यान में हमेशा आते थे। (बाद में) तुरन्त दूसरा आधा पक्षघात हो गया तो सारा देह हिले नहीं, चले नहीं और एकदम हेमरेज हो गया। आहा...हा... ! वह जड़ की अवस्था है तो होने की होगी, होगी (और) होगी, परन्तु वह तेरे से नहीं और तेरे में नहीं। आ...हा... ! दवाई से मिटे — यह बात भी यहाँ नहीं। दवाई के परमाणु भिन्न हैं और शरीर के परमाणु भिन्न हैं तो शरीर के परमाणु में दवाई के परमाणु का अत्यन्त स्वभाव है, तो दवाई से रोग मिटता है — यह बात तीन काल में सत्य नहीं। ऐसी बात है।

प्रभु ! 'भगवान' कहकर बुलाते हैं। अन्तर वस्तु भगवानस्वरूप है, प्रभु ! तुझे अभी

मालूम नहीं। जो भगवत्स्वरूप न हो (तो) उसकी पर्याय में — दशा में — पलटती दशा में भगवत्स्वरूप आयेगा कहाँ से ? बाहर से आता है ? समझ में आया ? जैसे छोटी पीपल है — छोटी पीपल, ये लैंडी पीपल — छोटी पीपल (होती है न) ? कद से नानी — छोटी (है), कद छोटा है, रंग काला है और चरपराई अल्प है परन्तु अन्दर में चौसठ प्रहरी चरपराई भरी है। अन्दर चौसठ प्रहरी चरपराई भरी है तो घूंटने से प्राप्त की प्राप्ति है। जो अन्दर में है वह बाहर आयी है। भले कद छोटा और रंग काला (हो और)... क्या कहते हैं ? चरपराई अल्प है। फिर भी अन्दर में चौसठ अर्थात् पूरा रुपया — चौसठ पैसे। पूरा रुपया (अर्थात् पूर्ण) चरपराई अन्दर भरी है। पूर्ण चरपराई और पूर्ण हरा रंग भरा है, तो है उसमें से प्राप्त होता है। हरा रंग और चौसठ पोरी चरपराई घूंटने से जब बाहर आते हैं (तो) अन्दर है उसमें से आते हैं। (मात्र) घूंटने से आये तो लकड़ी और कोयले को चौसठ पहर घूँटे तो आनी चाहिए। (लेकिन) अन्दर में कहाँ है ? उसमें है उसमें से आता है। वैसे यह भगवान आत्मा अन्दर में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति(स्वरूप) ऐसा अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है। आहा...हा... ! उसमें विकार तो नहीं परन्तु अन्दर क्षण क्षण में अवस्था होती है (वह) उसमें नहीं, वह पर्याय में है — अवस्था में है। क्षण-क्षण में पलटती अवस्था वस्तु में नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो आचार्य ऐसा कहते हैं कि नित्य और अनित्य वस्तु होने पर भी, अद्वैत -द्वैत का विकल्प करना नहीं। उसका तात्पर्य यह है। यह कहने का तात्पर्य यह है। आहा...हा... ! मैं नित्य हूँ और पर्याय अनित्य है, उससे क्या ? वह आता है न ? 'समयसार' ४१-४२ गाथा। मैं शुद्ध हूँ, अभेद हूँ, अखण्ड हूँ — ऐसा विकल्प आया तो उससे क्या हुआ ? उससे तुझे क्या लाभ है ? आ...हा... ! उससे क्या, ऐसा पाठ है। '**किम**' आ...हा... ! संस्कृत में '**किम**' (पाठ है)। मैं अभेद अखण्ड नित्यानन्द प्रभु सच्चिदानन्द हूँ — ऐसा विकल्प आया तो उससे क्या लाभ है ? आहा...हा... ! यहाँ उसका तात्पर्य बताकर (कहते हैं कि) विकल्प से रहित निर्विकल्प (स्वरूप) का अनुभव करना, वह धर्म है और वह भव के अन्त का कारण है। बाकी सब 'एक बिना की शून्य' है। आहा...हा... ! एकड़ा (को) क्या कहते हैं ? एक ! बिना एक की बिन्दी (— शून्य)।

यहाँ ये कहते हैं कि **उद्भव और विलय का एकपना और अनेकपना है।** है ? **यह विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उद्भव और विलय का एकपना...** वही द्रव्य उत्पन्न होता है और वही द्रव्य विलय होता है, (ऐसी) द्रव्यदृष्टि से देखो तो द्रव्य वही है और पर्यायदृष्टि से देखो तो अनेकपना है। जो उत्पन्न होता है, उससे विलय दूसरी चीज है। मनुष्यपना का विलय — नाश हुआ और स्वर्ग की उत्पत्ति हुई। मनुष्यपना का नाश हुआ और नरक में उत्पत्ति हुई तो इस उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से क्षणिक है। समझ में आया ? है ? **अनेकपना है।** उत्पन्न और व्यय की अपेक्षा से अनेकपना है और द्रव्य की अपेक्षा से एकपना है। एकपना और अनेकपना (कहा तो) दोनों में विरोध नहीं। ऐसा मार्ग! (लोगों को) कहाँ निवृत्ति है ? फुरसत नहीं। आहा...हा...!

प्रभु तो मार्ग (ऐसा) कहते हैं कि यह ज्ञेय का अधिकार है। भगवान तीर्थंकर ने जगत में छह द्रव्य हैं (ऐसा) देखा। (उन) द्रव्य को ज्ञेय कहते हैं। ज्ञेय क्यों (कहते हैं ?) कि ज्ञान का विषय बनाकर, ज्ञान में उस ज्ञेय का ज्ञान आता है तो उसे ज्ञेय कहते हैं। ज्ञेय कहो कि प्रमेय हो। प्रमेय चीज का — ज्ञेय का आत्मा में ज्ञान होता है, वह भी व्यवहार है। समझ में आया ? प्रमेय का ज्ञान (कहा, किन्तु) ज्ञान तो अपना अपने से होता है। परन्तु क्षणिक अपनी पर्याय में जो हुआ तो उत्पन्न और व्यय की अपेक्षा अनेक है और द्रव्य की अपेक्षा से एक है। आ...हा...हा...हा...! ऐसा मार्ग है।

जब उद्भव और विलय का एकपना है, तब पूर्वपक्ष है,... क्या (कहते हैं ?) वही द्रव्य उत्पन्न हुआ और द्रव्य ही व्यय हुआ तो द्रव्य तो वही है। उत्पन्न और व्यय की अपेक्षा छोड़कर (देखा जाय तो) द्रव्य ऐसा ही है (यह) पूर्वपक्ष है। है (अन्दर) ? **एकपना है, तब पूर्वपक्ष है.....**

और जब अनेकपना है, तब उत्तरपक्ष है। उत्पन्न होना और व्यय होना। मनुष्यगति में से नाश होकर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। मनुष्य का नाश होकर पशु में उत्पन्न हुआ; कीड़े, कौवे में उत्पन्न हुआ। आहा...हा...! निगोद में — लहसुन में, प्याज में (उत्पन्न हुआ)। मनुष्य मरकर प्याज में उत्पन्न होते हैं। आ...हा...हा...! इस उत्पन्न-व्यय की अपेक्षा से अनेक है और द्रव्य की अपेक्षा से एक है। आहा...हा...! यहाँ क्या सिद्ध करना है ? कि

अनेकपना है, वह अपने से है। अनेकपना पर से है, कर्म के कारण से है और पर से अनेकपना है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! अरे...रे...! चौरासी लाख के अवतार में अनन्त अनन्त भव (किये)। एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये, परन्तु कभी उसने आत्मज्ञान क्या चीज है? (इसका अनुभव नहीं किया)।

अन्दर भगवान आत्मा निर्विकल्पानन्द प्रभु! अमृत के सागर से, जल से भरा पड़ा (है)! आ...हा...हा...! राग और द्वेष का विकल्प उठता है, वह दुःख है और उसका स्वरूप तो सुख का सागर है। आहा...हा...! प्रभु! आत्मा का स्वभाव तो आनन्द -अतीन्द्रिय आनन्द है। जैसे (छोटी पीपल में) चौंसठ प्रहरी चरपराहट भरी है, ऐसे प्रभु आत्मा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... चौसठ अर्थात् पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहा...हा...! और पर्याय में जो पुण्य-पाप का भाव होता है — दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव पुण्य (है)। हिंसा, झूठ, चोरी, पैसे कमाना ये पाप (है)। दोनों भाव दुःखरूप हैं। आत्मा के आनन्द स्वभाव से उसकी विपरीतता है और उस अपेक्षा से — उत्पन्न-व्यय की अपेक्षा से अनेकपना है। त्रिकाली आनन्द की अपेक्षा से एकपना है। आहा...हा...! ऐसा (समझने के लिये) कब फुरसत मिले?

एक-अनेकपना होने पर भी उसका तात्पर्य, उसका सार क्या? समझ में आया? 'नियमसार' में तो ऐसा कहा है कि अद्वैत और द्वैत ऐसा विचार आया, उससे तुझे क्या लाभ हुआ? वस्तु से मैं एकरूप हूँ, अद्वैत हूँ; पर्याय से अनेक हूँ, उससे तुझे लाभ क्या है? उससे रहित अन्दर निर्विकल्प दृष्टि हो तो तुझे सम्यग्दर्शन होता है, तब तुझे धर्म की प्राप्ति होती है, तब तेरे भव का अन्त आता है। समझ में आया? और टीकाकार 'पद्मप्रभमलधारिदेव' ने एक बार तो ऐसा कहा कि आत्मा में अखण्ड आनन्द का नाथ प्रभु! उसका ध्यान करते हैं, ध्यान करते हैं, उसमें जो भेदवासना उत्पन्न हुई, विकल्प आया तो अरहन्त के मत में भेदवासनावाले को मुक्ति होगी कि नहीं कौन जानेगा? 'नियमसार' में ऐसा पाठ है। आहा...हा...! अभेद अखण्डानन्द प्रभु है, उसका ध्यान करने से आत्मा का सम्यग्दर्शन और आनन्द का स्वाद आता है। उसमें पाठ है, 'पद्मप्रभमलधारिदेव' सन्त की टीका है (उसमें कहते हैं), उसमें भेद का विकल्प उत्पन्न हुआ तो भेदवासना उठी तो अरहन्त के मत में उसकी मुक्ति होगी कि (नहीं) कौन जाने? अर्थात् उसमें मुक्ति कहाँ है?

आ...हा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! 'नियमसार' है न ? कल तो 'नियमसार' शुरु करना है न ? कल दोपहर को तीन से चार है। 'नियमसार' 'शुद्धभाव अधिकार !' कल सबेरे 'समयसार' का 'सर्वविशुद्ध अधिकार' (चलेगा)। यहाँ बीस का दिन शिविर है न ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य से — वस्तु से देखो तो एकपना है और उत्पन्न-व्यय की अपेक्षा से अनेकपना है, (फिर भी) दोनों में विरोध नहीं। उत्पन्न-व्यय की अपेक्षा अनेक है और ध्रुव की अपेक्षा से एक ही है। उसका ध्यान करने में भेद का विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं पर्याय हूँ, मैं राग हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं पूर्ण हूँ — ऐसा विकल्प — राग उत्पन्न हो तो अरहन्त के मत में उसे धर्म होता है या नहीं, मुक्ति होती है या नहीं कौन जाने ? अरहन्त के मत में उसकी मुक्ति नहीं होगी। अज्ञानी कहे कि मुक्ति होगी तो वह अज्ञानी जाने। आहा...हा... ! समझ में आया ?

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु देहदेवल में विराजते हैं। यह (शरीर) तो मिट्टी-धूल राख है, श्मशान की राख होगी। फू... होकर उड़ जायेगा, वह तो मिट्टी है। प्रभु तो अन्दर चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्द — सत् अर्थात् शाश्वत् चिदानन्द अर्थात् ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु है। आ...हा... ! उसका अनुभव करने से, (आत्मा) अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है तो उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, उसका नाम ज्ञान कहना, उसकी श्रद्धा को समकित कहना और आनन्द आया, उसका नाम स्वरूपाचरण स्थिरता कहना। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! यहाँ तात्पर्य तो यह कहना है।

'पंचास्तिकाय' (की) १७२ गाथा है, उसमें यह आया है। 'पंचास्तिकाय' ! चारों अनुयोग का तात्पर्य क्या है ? पर्याय अनित्य है और द्रव्य नित्य है, पर्याय से अनेकपना है, द्रव्य से एकपना है, परन्तु उसका तात्पर्य क्या ? उसका परिणाम क्या ? उसका तात्पर्य वीतरागता है। वीतरागता अर्थात् रागरहित दशा है। यह वीतरागता उत्पन्न कैसे होगी ? चारों अनुयोग का तात्पर्य वीतरागता है परन्तु वीतरागता उत्पन्न होगी कैसे ? कि, त्रिकाली भगवान आनन्द का नाथ प्रभु ! वीतरागमूर्ति आत्मा है। 'घट-घट अन्तर जिन वसे, घट

-घट अन्तर जैन, मत-मदिरा के पान सौ, मतवाला समझे न' — मतवाला अभिमानी समझते नहीं। मैं कौन हूँ अन्दर में? आहा...हा...! अपने स्वरूप को भूलकर राग, पुण्य और पुण्य के फल को अपना मानते हैं, वह बड़ा मूर्ख का सरदार है, ऐसा कहते हैं। वह मूर्खाई से भरा पड़ा है। दुनिया में सयाना कहे (तो) कहो। पागल लोग तो पागलपन की प्रशंसा करे। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि एक-अनेकपना हो। आहा...हा...! **(जब उत्पाद और विनाश के एकपने की अपेक्षा ली जाए, तब यह पक्ष फलित होता है कि — न तो कोई उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है; और जब उत्पाद तथा विनाश के अनेकपने की अपेक्षा ली जाए, तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है)। वह इस प्रकार है :—** अब दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं। आ...हा...हा...! ऐसा कैसा उपदेश? भगवान की भक्ति करो, दान करो, मन्दिर बनाओ, व्रत करो, अपवास करो (— ऐसा करना आसान है)। ये सब राग की क्रिया है, भगवान! और राग का कर्ता होना, वह तो आत्मा का मरण है। करना वह मरना है। अपना जीवन चैतन्यज्योति प्रभु है। आहा...हा...! ज्ञान, दर्शन से भरा पड़ा, उसे राग का कर्ता बनाना... आहा...हा...! अज्ञान है। राग का कर्ता, हाँ! पर की क्रिया तो (कर सकते ही) नहीं। यह धन्धा-व्यापार (करने) होशियार आदमी दुकान पर बैठे तो बराबर व्यवस्थित काम कर सके। इस बात में एक पैसे का भी सत्य नहीं। सब झूठ है। आहा...हा...! समझ में आया? अरबोंपति होते हैं तो कितने करोड़ पैदा करते हैं कि हम सयाने हैं, समझदारी और होशियारी काम आती है। यह होशियारी अज्ञान की है। मिथ्याभ्रम, अज्ञान की दशा है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अब दृष्टान्त देते हैं। **जैसे — 'जो घड़ा है, वही कूँडा है' ऐसा कहा जाने पर...** घड़ा होता है न घड़ा? मिट्टी का घड़ा और मिट्टी का कूँडा, कूँडा। घड़ा है वही कूँडा है — **ऐसा कहा जाने पर, घड़े और कूँडे के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से...** आहा...हा...! **उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है,...** क्या कहा? घड़ा है वह कूँडा है (— ऐसा कहो तो) इसमें तो मिट्टी प्रगट होती है। वह

मिट्टी है। है ? **जो घड़ा है, वही कूँडा है — ऐसा कहा जाने पर, घड़े और कूँडे के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है,...** मिट्टी है, वही घड़ा है और मिट्टी है, वही कूँडा है। आ...हा...हा... ! घड़ा बना है, वह मिट्टी से बना है, कुम्हार से नहीं। कुम्हार से घड़ा नहीं बनता क्योंकि कुम्हार का जीव भिन्न द्रव्य है और घड़ा — मिट्टी का घड़े का द्रव्य भिन्न है, तो मिट्टी घड़े की कर्ता है परन्तु कुम्हार घड़े का कर्ता है यह अज्ञान, मिथ्या भ्रम (है), अज्ञानी की मान्यता में भ्रम है। आहा...हा... ! ऐसी बात बैठनी (कठिन पड़े)। पूरा दिन मैं करूँ, मैं करूँ, मैं करूँ...

'नरसिंह महेता' कहते हैं। अन्यमती में 'नरसिंह महेता' हुए न ? 'जूनागढ़' में ! 'हूँ करूँ, हूँ करूँ ये अज्ञान है, शकट को भार जेम श्वान ताणे' बैलगाड़ी के नीचे कुत्ता — कुत्ते की (पीठ) थोड़ी छूती है तो (कुत्ता मानता है कि) गाड़ी मुझ से चलती है। बैलगाड़ी है, दो बैल चलते हैं, पीछे के भाग में नीचे कुत्ता (चलता है और उसकी थोड़ी पीठ छूती है तो उसे लगता है कि) मेरे से गाड़ी चलती है। ऐसा अज्ञानी जहाँ बैठा हो, वहाँ जड़ की जो क्रिया होती है (तो मानता है कि) यह क्रिया मेरे से हुई है। दुकान की व्यवस्थित व्यवस्था मैं करता हूँ। वे सब कुत्ते जैसे अज्ञानी हैं। आहा...हा... ! अर...र...र... ! ऐसा मार्ग है, भाई ! वीतराग को दुनिया की कुछ पड़ी नहीं है कि समाज को ठीक लगेगा या नहीं ? ये तो दिगम्बर नग्न मुनि ! 'नागा बादशाह से आघा' ! उन्हें किसी की पड़ी नहीं है कि दुनिया को ठीक लगेगा या नहीं ? सत्य यह है। समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं) घड़ा है, वही कूँडा है, उसमें एकपने का असम्भव होने से.... **घड़े और कूँडे के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है, वही विनाश है' — ऐसा कहा जाने पर उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से...** दोनों का एकपना कैसे हो सकता है ? ऐसा कहते हैं। घड़ा और कूँडा दोनों एक कैसे हो ? दोनों में एक मिट्टी प्रसिद्ध होती है कि मिट्टी ही घड़ेरूप हुई है और मिट्टी ही कुँडेरूप हुई है। दुनिया से विरुद्ध है।

अँगुली में एक परमाणु है। यह (अँगुली) तो अनन्त परमाणु का पिण्ड है।

(उसके) टुकड़े करते, करते, करते अन्तिम टुकड़ा रहे, उसे परमात्मा जिनेश्वरदेव परमाणु कहते हैं। इस परमाणु की जो पर्याय होती है, वह अपने से होती है। उसमें दूसरा परमाणु है, उससे भी नहीं होती और आत्मा अन्दर है तो आत्मा की प्रेरणा से यह शरीर चलता है — यह तीन काल में नहीं (है) क्योंकि वह परमाणु भी कायम रहनेवाली चीज है और अवस्था क्षण-क्षण में पलटती है, उसकी वह अवस्था भी उसका स्वभाव है, तो वह परिणमन आत्मा से हो (— ऐसी मान्यता) मूर्खपना है। यहाँ तो (कहते हैं कि) आत्मा से (पर का कार्य) तो (होता) नहीं परन्तु मैं तो मेरी पर्याय से कर्ता हूँ और मैं द्रव्य से अकर्ता हूँ — ऐसा विकल्प आता है, वह भी आत्मा का नहीं। आहा...हा...! उसमें तात्पर्य तो यह है। ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है, यह कहने में तात्पर्य — परिणाम क्या? उसका फल क्या? कि क्षण-क्षण में परिणमन होता है (तो) उत्पाद-व्यय की अपेक्षा अनेकपना गिनने में आता है और ध्रुव की अपेक्षा से एकपना गिनने में आता है। फिर भी उस एक और अनेकपना का विकल्प करना, वह सार नहीं। आहा...हा...!

आ...हा...हा...! मैं प्रभु आत्मा चिदानन्दस्वरूप आनन्द का दाता हूँ। अपनी पर्याय में जो आनन्द होता है, उसका मैं दाता हूँ। आ...हा...! ऐसा भेद है, वह भी विकल्प है। आनन्द की पर्याय का दाता और मैं लेनेवाला — ऐसा पर्याय में लेनेवाला (हूँ) — ऐसा भेद करना, वह भी विकल्प है, राग है। सूक्ष्म बात है, भाई! अरे...रे...! चौरासी के अवतार में अनन्त काल ऐसे ही कष्ट में और अज्ञान में व्यतीत किया। कभी अन्दर आत्मा, पर्याय से परिणमनेवाला (और) द्रव्य से ध्रुव (है), तो परिणमन (करनेवाली) पर्याय, ध्रुव की दृष्टि करे, तब उसकी यथार्थ दृष्टि होती है। आहा...हा...! पर्याय पर्याय की दृष्टि नहीं (करती)। पर्याय है, उसे ज्ञान जाने कि उत्पाद-व्यय है, वह पर्याय है और कायम रहनेवाला ध्रुव है (— ऐसा) ज्ञान जाने परन्तु दृष्टि (जो) है, उत्पन्न हुई पर्याय की दृष्टि (जो) है, वह दृष्टि ध्रुव को अपना मानती है। आ...हा...हा...! अरे... अरे...! ऐसी बात है। जगत को फुरसत कहाँ है? सारा दिन हो...हा..., हो...हा... रथ निकालना, संघ निकालना, गजरथ निकालना, मन्दिर बनाना..... वह तो उसके कारण से (होता है)।

यह मकान (—परमागम मन्दिर) किससे बना? छब्बीस साल का यह मकान है!

अकेला संगमरमर है। उद्‌घाटन के समय छब्बीस हजार आदमी आये थे और छब्बीस साल का है। किसने बनाया? प्रमुख ने भी नहीं बनाया, किसी ने नहीं बनाया। कारीगर ने भी नहीं बनाया। अरे... प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? वह तो अपनी पर्याय से — परमाणु से बना है। आ...हा...हा...! दूसरा उसे करता है — ऐसा कहना, वह उस चीज के अस्तित्व का नाश करना है। आ...हा...हा...! यह चीज दूसरे ने की है — ऐसा कहना, मानना तो उस चीज के अस्तित्व का अभाव करना है और वह चीज अपने से है और अपने से क्षण-क्षण में परिणमन करते-करते बँगला हो गया। अरे... प्रभु! परन्तु यहाँ नहीं था और बना (तो सही)? पहले तो यहाँ जंगल था, अभी बना है तो कोई बनानेवाला है तो बना है या नहीं? (तो कहते हैं) नहीं। कठिन बात है, भाई! दुनिया कहाँ है? — यह सब हम तो जानते हैं न!

६६ वर्ष तो दुकान छोड़कर हुए हैं। ६६ वर्ष! शरीर को ९० वर्ष हुए। ९०! १०० में १० (कम), ९०! आ...हा...हा...! ६६ वर्ष से सब देखते हैं। हम तो दुकान पर भी देखते थे। दुकान 'पालेज' में है। 'भरुच' और 'बड़ोदरा' के बीच में 'पालेज' है। अभी दुकान है। पिताजी की दुकान थी। अभी दुकान है, बड़ी दुकान है। ४० लाख रुपया है, ४ साल की आमदनी है। अभी है, वही दुकान उस वक्त थी। उस समय कमाई थोड़ी थी। छोटी दुकान थी, अभी बहुत बढ़ गई, परन्तु वह तो जड़ के कारण से बनते हैं और जड़ के कारण से नाश होता है। आहा...हा...! तू वहाँ व्यापार-धन्धे की जगह पर बैठे (और माने कि) मेरे से यह सब हुआ है, तो वह अस्तित्व — जगत् के अस्तित्व की चीज है या नहीं? वह सत्तावाली चीज है या नहीं? और सत्ता — अस्तित्ववाली चीज है तो उस अस्तित्व(वाली) चीज का परिणमन उसके कारण से होता है या दूसरे अस्तित्व के कारण होता है? दूसरे के कारण से होता है तो उसके परिणमन का अस्तित्व उसने माना ही नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...!

फिर भी समकिती तो भी शुभभाव आता है। मन्दिर का दर्शन करते हैं, भगवान के दर्शन करते हैं — ऐसा भाव आता है। समझ में आया? ऐसी बात! ऐसा भाव आता है तो लक्ष्य (वहाँ) जाता है। समझ में आया? स्वर्ग में भी असंख्य प्रतिमा (हैं)। अनादि से

भगवान की जिनप्रतिमा है। स्वर्ग में अनादि से असंख्य हैं और नन्दीश्वरद्वीप (में) बावन जिनालय (हैं)। एक-एक जिनालय में १०८ रत्न की प्रतिमा हैं। स्वर्ग का इन्द्र एकावतारी (है), एक भव करके मोक्ष जानेवाला है। अभी इन्द्र है, वह एक भव में मोक्ष जानेवाला है। आत्मा का भान है, सबका स्वामीपना उड़ा दिया है। आहा...हा...! वे भी वहाँ भगवान की पूजा करने जाते हैं, तो शुभभाव हो। ऐसा माने कि अशुभ से बचने को यह शुभभाव (आता) है, (वह) धर्म नहीं। और यह शुभभाव करते-करते धर्म होगा — ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात!

यहाँ यह कहते हैं कि **ऐसा कहाँ जाने पर उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकपना असम्भव होने से उन दोनों का आधारभूत...** क्या कहते हैं? कि मनुष्यपना का व्यय हुआ, देवपना उत्पन्न हुआ तो दोनों में एकपना नहीं हुआ। दोनों में अनेकपना हुआ न? है? **एकपना असम्भव होने से...** किसके एकपने का असम्भव होने से? कि मनुष्य में था और मनुष्य का देह छूट गया, वह जड़ देह (छूट गया) (और) अपनी पर्याय यहाँ शरीर में रहने के लायक थी, तब तक रहा और छूट गया, तब स्वर्ग में गया तो इन दोनों में एकपना का असम्भव है। दो में एकपना कहाँ (से आया)? दो आया न? आहा...हा...! दो में एकपना का असम्भव है तो (दृष्टान्त में) मिट्टी प्रसिद्ध होती है, इसमें जीव प्रसिद्ध होता है। जीव (का) अपनी पर्याय में व्यय हुआ और जीव उसकी पर्याय में उत्पन्न हुआ। आहा...हा...! क्या कहा समझ में आया?

उत्पाद-व्यय का एकपना असम्भव है। उत्पाद-व्यय दो हैं तो दो (भाव) हैं। दो में एकपना असम्भव है, तो दो में एकपना कैसे आता है? कि उत्पाद-व्यय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव... आ...हा...हा...! मैं तो ज्ञायक त्रिकाली हूँ — ऐसी दृष्टि होने से अनेकपना की दृष्टि छूटकर एकपना की दृष्टि होती है। भाई! तुम्हारे न्याय में ऐसा एक भी (न्याय) आया नहीं होगा। आहा...हा...!

(एक बात) याद आयी। हम दुकान पर थे न? माल लेने जाते थे। छोटी उम्र से सत्रह साल (की उम्र से) बाईस साल — पाँच वर्ष व्यापार किया। माल लेने हम 'मुम्बई', 'अहमदाबाद' सब (जगह) जाते थे। एक बार 'भरुच' गये। 'भरुच' गये तो उस वक्त तो

माल लेने नहीं गये थे। हम स्थानकवासी थे न ? तो साधु आये तब हम (उनकी) सम्भाल करते थे। बाद में मालूम हुआ कि 'भरुच' स्टेशन है और वहाँ धर्मशाला है। रात्रि को निवृत्ति थी तो हम नाटक देखने गये। 'वांकानेर' वाले 'डाह्याभाई घोणशा' का नाटक था। आठ दिन में तीन बार (नाटक करते थे), एक रात्रि का १५०० रुपया (लेते थे)। उस वक्त, हाँ! संवत् — १९६४-६५ के साल की बात है। संवत् ६४-६५! एक रात्रि का १५०० रुपया नाटकवाला (लेता था)। मुझे दूसरा कहना है। नाटक (किसने) बनाया, उस 'डाह्याभाई' को हमने देखा था। हम गये थे, टिकट लिया था। वे 'डाह्याभाई' देह छूटने के समय जब मरने पड़े (तो कहा) 'डाह्या, तारुं डहापण हम तब कहते हैं कि, अभी समाधि — शान्ति से देह छोड! अभी तक नाटक बनाया और पैसा आया, वह तेरा जीवन नहीं।' आहा...हा...! डाह्या तेरा डहापण... डहापण समझते हैं ? हिन्दी में क्या कहते हैं ? चतुराई! डाह्या तेरी चतुराई — डहापण तब कहते हैं कि शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... आनन्द और निर्विकल्प (दशा में) देह छूटे तो तेरा डहापण और चतुराई कहने में आती है, नहीं तो तू मूर्ख है। 'डाह्याभाई' ने नाटक बनाया था। ६४-६५ (के साल) की बात है। नाटक में हम गये थे। नाटक हमारे गाँव में भी बहुत आते थे। बड़ी दुकान (थी)। सौ गाँव का... क्या कहते हैं ? हटाणुं! सौ गाँव का हटाणुं! हटाणुं समझे ? सौ गाँव के आदमी आते हैं। हमारी दुकान की सौ गाँव की आठ लाख की तो वसूली थी, आठ लाख की वसूली थी! बड़ी दुकान थी, अभी (भी) बड़ी दुकान है। पर का अभिमान (करता है कि) मैं ऐसा बनाया और मैंने किया। समझ में आया ? तो 'डाह्याभाई' मरते समय ऐसा कहते थे (कि) तूने ऐसा किया, नाटक ऐसा बनाया (— ऐसा मानेगा) तो मर जाएगा। डाह्या तेरी होशियारी तो तब कही जाए.... आ...हा...हा...! भगवान आत्मा! पुण्य और पाप के विकल्प — राग से भिन्न चीज मैं हूँ — ऐसा अनुभव करना और अनुभव से शान्ति से देह छोड़ना, वह समझदारी, चतुराई का कार्य है, बाकी नाटक बनाया और लाखों (रुपया) पैदा किया, वह कोई चतुराई का कार्य नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि एकपना का असम्भव होने से **दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है;...** उत्पाद और व्यय दो में एकपना सम्भव नहीं। दो हुए न ? तो उसमें

एकपना का सम्भव नहीं। उसमें से एकपना का ध्रुव प्रगट होता है। आहा...हा...! भगवान आत्मा मनुष्यपने था, वही स्वर्गपने गया... आहा...हा...! और मनुष्यपने है, वह छोड़कर तिर्यंच — पशु, चींटी, कौआ, कुत्ते में उत्पन्न होता है। कषाय होता है, बहुत राग-द्वेष होता है, धर्म तो है नहीं। राग और द्वेष, माया, लोभ (करता है तो तिर्यंच होता है)। तिर्यंच! तिर्यंच समझे? मनुष्य का शरीर ऐसा (सीधा) है। तिर्यंच का शरीर तिरछा है। गाय, भैंस, घोड़ा, गिलहरी तिरछे हैं न? ये तिरछे क्यों हुए? (क्योंकि) उसने पूर्वभव में तिरछे राग और द्वेष — टेढ़ापन बहुत किया था। 'गोम्मटसार' में पाठ है कि तिरछा क्यों हुआ? मनुष्य ऐसा (सीधा) हुआ और घोड़ा, गाय, भैंस ऐसे तिरछे (क्यों हुए) ? गिलहरी क्या कहते हैं? गिलहरी! तिरछी है न? नेवला, सर्प (आदि) टेढ़े (हैं)। क्योंकि पूर्व में स्वरूप को भूलकर राग और द्वेष, कषाय बहुत किये। माया, कपट और कूटिलता (बहुत किये)... आहा...हा...! तो मरकर देह भी तिरछा हो गया। तिरछा समझे? टेढ़ा! टेढाई बहुत की तो टेढ़ा शरीर हो गया और टेढाई को मन्द करके राग मन्द हो तो मनुष्य होता है। फिर मनुष्य होकर माँस आदि खाए, व्यापार-धन्धा करे, माया-कपट करे तो पशु (होता है)। ऐसे अवतार अनन्त किये।

कहते हैं कि उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से कहो तो दो एक नहीं है। दो एक नहीं है, दो दो है। या मनुष्य भव या तिर्यंच का भव, या मनुष्य का भव या स्वर्ग का भव, या मनुष्य का भव या नरक का भव। आहा...हा...! 'ब्रह्मदत्त' चक्रवर्ती! ९६ हजार स्त्री, ९६ करोड़ सेना! हीरे के ढोलिये पर... ढोलिया (को) क्या कहते हैं? पलंग! पलंग में सोते थे। सोलह हजार देव सेवा करते थे। 'ब्रह्मदत्त' चक्रवर्ती बड़ा पापी था। यहाँ देह छूटा और सातवीं नरक में अभी गये हैं। अभी सातवीं नरक में हैं। तैंतीस सागर (का आयु है)। नीचे सात नरक हैं। नीचे सात नरक की भूमि है। (आयु की) जघन्य स्थिति दस हजार (वर्ष) की है और विशेष बड़ी स्थिति तैंतीस सागर की है। वहाँ भी अनन्त बार जन्म लिया है। अनादि काल में वहाँ अनन्त बार जन्म लिया है। आहा...हा...!

भिन्न-भिन्न अवस्था में एकपना सम्भव नहीं। भिन्न-भिन्न अवस्था में एकपना (देखो तो) आत्मा प्रगट होता है। समझ में आया? आ...हा...! **इसलिए देवादिपर्याय**

के उत्पन्न होने और मनुष्यादिपर्याय के नष्ट होने पर 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य प्रगट होता है... उसमें से दृष्टि द्रव्य पर जाती है। उत्पन्न है, वह व्यय नहीं और व्यय है, वह उत्पन्न नहीं तो दूसरी चीज है। आहा...हा...! सूक्ष्म है। तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर! उनकी यह दिव्यध्वनि है। यह कोई वार्ता-कथा नहीं है। आ...हा...हा...! बड़ी गम्भीर चीज है।

यह कहते हैं — **ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य प्रगट होता है (लक्ष्य में आता है);...** क्या कहते हैं? आत्मा में मनुष्यपना का व्यय हुआ, देवपना उत्पन्न हुआ। दो-पने में एकपना का सम्भव नहीं। दो-पने में जब ध्रुव की दृष्टि करे तो एकपना का सम्भव है। दो-पना की दृष्टि में एकपना सम्भव नहीं। मैं मरा और मैं उत्पन्न हुआ — ऐसी दृष्टि में एकपना का सम्भव नहीं, यह कहते हैं। समझ में आया? आ...हा...हा...! दो-पना में एकपना का सम्भव कब हो? मैं ही आत्मा पूर्व की पर्याय में व्यय होकर उत्तर की पर्याय में उत्पन्न हुआ, वह ध्रुव मैं ही हूँ। ऐसी दृष्टि में दो-पना उत्पन्न न होकर एकपना उत्पन्न होता है।

विशेष कहेंगे...!

मुक्तिसुन्दरी के नाथ : वीतरागी मुनिराज

भगवान से साक्षात् भेंट करने के लिए निकले मोक्षमार्गी मुनिवर, आनन्दसागर में झूल रहे हैं; अन्तर के चैतन्यसागर में शान्ति का ज्वार आया है... आनन्दसागर उछला है... रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है। ऐसे मुनि मानो 'चलते-फिरते सिद्ध' हों - ऐसी उनकी अद्भुत दशा है। मुक्तिसुन्दरी कहती है कि 'मैं ऐसे शुद्ध रत्नत्रय के साधक मुनिवरों का ही वरण करती हूँ।' ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर ही मुक्तिसुन्दरी के नाथ होते हैं। 'जय हो उन मुक्ति-सुन्दरी के नाथ की!'....

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १२०

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति -

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स।। १२०।।

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य।। १२०।।

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति। यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः। तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात्। अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम्।।१२०।।

अथ विनश्वररत्वे कारणमुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणां कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्वं सूचितं तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानीं तस्योपसंहारमाह - **तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति** तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति। यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वं व्याख्यातं तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षण-परमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्यः कोऽपि नास्ति। क्व। **संसारे** निस्संसारशुद्धात्मनो विपरीते संसारे। संसारस्वरूपं कथयति - **संसारो पुण किरिया** संसारः पुनः क्रिया। निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशी मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया संसारस्वरूपम्।सा च कस्य भवति। **संसरमाणस्स जीवस्स** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य संसरतः परिभ्रमतः संसारिजीवस्येति। ततः स्थितं मनुष्यादिपर्यायात्मकः संसार एव विनश्वरत्वे कारणमिति।।१२०।।

अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं —

संसार में निजभाव अवस्थित, ऐसा कोई है नहीं।
संसार है संसरण करते, द्रव्य की किरिया कही॥

अन्वयार्थ - **[तस्मात् तु]** इसलिए **[संसारे]** संसार में **[स्वभावसमवस्थितः इति]** स्वभाव से अवस्थित ऐसा **[कश्चित् न अस्ति]** कोई नहीं है; (अर्थात् संसार में किसी का स्वभाव केवल एकरूप रहनेवाला नहीं है); **[संसार पुनः]** और संसार तो **[संसरतः]** संसरण करते हुये (गोल फिरते हुये, परिवर्तित होते हुये) **[द्रव्यस्य]** द्रव्य की **[क्रिया]** क्रिया है।

टीका - वास्तव में जीव, द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी, पर्यायों से अनवस्थित है; इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी स्वभाव से अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल-एकरूप रहनेवाला नहीं है); और यहाँ जो अनवस्थितता है, उसमें संसार ही हेतु है; क्योंकि यह (संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक है, कारण कि वह स्वरूप से ही वैसा है, (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है) उसमें परिणमन करते हुए द्रव्य का पूर्वोत्तरदशा का त्यागग्रहणात्मक ऐसा जो क्रिया नाम का परिणाम है, वह संसार का स्वरूप है ॥ १२० ॥

प्रवचन नं. १३६ **दिनाङ्क १६ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार', 'ज्ञेय अधिकार'। ज्ञान में जानने योग्य चीज जगत में कितनी है, उसका अधिकार है। ज्ञेयतत्त्व ! प्रमेयतत्त्व कहो, ज्ञेय कहो, (सब एकार्थ है)। प्रमाण अर्थात् अपने ज्ञान में जगत का जो प्रमेयपना है, उसका ज्ञान होता है तो (उसे) यहाँ प्रमाण कहते हैं और वस्तु को प्रमेय कहते हैं। प्रमेय (कहा) तो पर और स्व दोनों प्रमेय हैं। आहा...हा... ! अपना स्व-स्वरूप जो द्रव्य-गुण-पर्याय है, वह भी प्रमेय है और पर भी प्रमेय है। अपनी ज्ञान की पर्याय में स्वज्ञेय और परज्ञेय का ज्ञान होता है, वह ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय (है), वह धर्म है। आहा...हा... ! यह बात करते हैं। १२० (गाथा)।

अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं :— भगवान आत्मा एकरूप नहीं रहते हैं और संसार की मनुष्यपर्याय, देवपर्याय... आहा...हा... ! लील, फूग (को) क्या कहते हैं ? काई ! देखो ! यहाँ पानी भरा है न ? (तो कहते हैं कि) लील-फूग के पुंज हुए। नीचे पानी है न ? आहा...हा... ! गड्डे भरे हैं न ? एक कण में असंख्य शरीर,

एक शरीर में अनन्त जीव! तो कहते हैं कि अनवस्थित दशा एकरूप नहीं रहती, (उसका) क्या कारण है ? आहा...हा...! अनवस्थित (अर्थात्) एकरूप नहीं — ऐसी मनुष्य, देव, स्वर्ग, निगोद, ऐसी जो पर्याय होती है, पर्याय (अर्थात्) अपनी पर्याय, हाँ! शरीर आदि नहीं; शरीर तो जड़ है, परन्तु मनुष्य आदि पर्याय (अर्थात्) अन्दर तिर्यंच की, निगोद की गति की जो योग्यता (है)... आहा...हा...! वह एकरूप नहीं; भिन्न-भिन्न अवस्था में भटकता है। उस भिन्न-भिन्न मनुष्यादि पर्याय को संसार कहते हैं। यह बात है, देखो!

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स।।१२०।।

संसार में निजभाव अवस्थित, ऐसा कोई है नहीं।
संसार है संसरण करते, द्रव्य की किरिया कही॥

टीका :- वास्तव में जीव, द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी... वस्तुपने ध्रुव द्रव्य एकरूप अवस्थित है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन प्रगट करने का (उपाय), द्रव्य एकरूप अवस्थित है, उसका आश्रय (करना है), वह सम्यग्दर्शन है। अवस्थित द्रव्य ध्रुव है। आहा...हा...! ज्ञायकभाव **जीव, द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी...** वस्तुपने तो स्थिर ध्रुव वज्र के बिम्ब के समान वस्तु है। फिर भी **पर्यायों से...** पर्याँय में — अवस्था में **अनवस्थित है;...** यहाँ जो पर्याय लेनी है, वह मनुष्य और तिर्यंच गति की पर्याय (लेनी है), सिद्ध की पर्याय अभी नहीं लेनी है।

यहाँ तो संसार की पर्याय — संसरणं... आ...हा...हा...! स्वरूप में से हटकर चार गति में जो संसरण करते हैं... आहा...हा...! वह संसार है। संसार अपनी पर्याय से भिन्न नहीं वर्तता। समझ में आया? स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा-लक्ष्मी संसार नहीं (है)। आहा...हा...! वह तो परचीज है, उसके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध? भगवान आत्मा एकरूप वस्तु होने पर भी मनुष्यादि गति की योग्यता से, अपनी पर्याय से अनवस्थित है। आहा...हा...!

एक मनुष्य चक्रवर्ती राजा मरकर नरक गति में जाये। कहाँ नरक गति! आ...हा...हा...! नरक में से, निगोद में से निकले और यहाँ मनुष्य हो और चार ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ(पना)

— केवलज्ञान प्राप्त कर ले — ऐसी उसकी अवस्था! आ...हा...हा...! परन्तु ये सब अवस्था अनवस्थित हैं; स्थिर नहीं। आहा...हा...! इस अनवस्थित दशा से दृष्टि हटाने को अवस्थित द्रव्य जो त्रिकाल है, उसका आश्रय लेने (के लिये) यह कथा चलती है। मनुष्यादि चार गति की पर्याय भी ज्ञेय है और त्रिकाली वस्तु भी ज्ञेय है। आहा...हा...!

वास्तव में जीव द्रव्यपने से... एकरूप होने पर भी.... अवस्थित अर्थात् एकरूप। पर्यायों से अनेकरूप (है) **इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी...** आ...हा...हा...! संसार में चार गति में **कोई भी स्वभाव से अवस्थित नहीं...** कायम रहनेवाली संसार की कोई अवस्था नहीं। आहा...हा...! मनुष्यगति संसार, तिर्यंचगति संसार (है)। तिर्यंच में तो निगोद भी आ गया। निगोद — हरी काई। यहाँ है न? आ...हा...! हरी काई से गड्ढे भरे हैं। 'स्वाध्याय मन्दिर' के पास गड्ढे भरे हैं। काई का पुंज! तो पूरे अढाई द्वीप में तो कितनी वर्षा (होती होगी)? आहा...हा...! वह निगोद की अवस्था संसार है। वहाँ से निकलकर मनुष्यगति में आये तो मनुष्यगति भी संसार है। आहा...हा...! वहाँ से निकलकर कदाचित् देवगति को प्राप्त करे (तो) वह भी संसार है। आहा...हा...! 'संसरण इति संसार:।'

भगवान आत्मा एकरूप नहीं रहने पर भी अवस्था में अनेकरूप होता है, इसलिए अनवस्थित — एकरूप दशा नहीं है — ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! अरबों के बँगले में सोया हो... आहा...हा...! वहाँ से मरकर कोई तिर्यंच में गधी की कोख में जाये, माँस आदि न खाते हो। वह संसार। 'संसरण इति संसार:' है। चौथा पद है। **'संसरमाणस्स'** **'संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स'** द्रव्य की यह संसारक्रिया संसरण अर्थात् एकरूप नहीं रहती है। आ...हा...हा...! भगवान आत्मा वस्तु — द्रव्यपने एकरूप रहता है। पर्यायपने अनवस्थित अन्य... अन्य... अन्य... गति हुआ करती है, वह संसार है। आहा...हा...!

संसार में कोई भी स्वभाव से... स्वभाव से कायम रहे — ऐसी कोई गति नहीं, संसार नहीं। आहा...हा...! सर्वार्थसिद्धि के देव भी, उस देह को छोड़कर मनुष्य (होते हैं)। आहा...हा...! सर्वार्थसिद्धि का भव भी अनवस्थित संसार है। वहाँ से निकलकर

मनुष्य होता है, वह एकरूप अवस्थित नहीं, संसार है। आ...हा...हा... ! संसार अपनी पर्याय में अपने से अपने अपराध से ऐसी पर्याय उत्पन्न होती है। शरीर, वाणी, मन, कर्म, पैसा — यह कोई संसार नहीं, वे तो परद्रव्य हैं। संसार एक विकारी अवस्था है; मोक्षमार्ग एक अविकारी अपूर्ण अवस्था है और मोक्ष पूर्ण अविकारी दशा है। ये सभी दशाएँ हैं। उसमें यहाँ तो संसार की दशा का वर्णन है। आहा...हा... !

एक निगोद का जीव निकलकर मनुष्य होकर आठ वर्ष में केवल(ज्ञान) प्राप्त करता है। तो गति है, वह संसार है। निगोद भी संसार है और गति भी संसार है। आहा...हा... ! उस गति की रुचि — आश्रय छोड़कर, अवस्थित भगवान त्रिकाल परमात्मस्वरूप है, उस निधान पर नजर करके, नजर से अपने निधान को देखना, वह अवस्था अवस्थित है। आहा...हा... ! वह अवस्था भी अवस्थित (है — ऐसा कहा तो) अवस्थित शब्द (का अर्थ) — है तो पलटन, परन्तु वैसी की वैसी अवस्था रहती है और संसार में पलटकर एक ओर निगोद और एक ओर राजा ! निगोद (का जीव) मरकर राजा होता है, राजा मरकर निगोद होता है। आ...हा...हा... ! आप मरकर नरक में जाये, पुत्र मरकर स्वर्ग में जाये। आहा...हा... !

'श्रेणिक राजा' ! नरक में गये। अभी नरक में ८४ हजार वर्ष की स्थिति में हैं और 'अभयकुमार' आदि उनके राजकुमार... आ...हा...हा... ! अनवस्थित दशा में वे स्वर्ग में गये और कोई मुक्ति को प्राप्त हुए। आ...हा...हा... ! पिताजी नरक में गये, पुत्र स्वर्ग में गया। आहा...हा... ! (ऐसे) संसार अवस्थित नहीं, अनवस्थित है। आहा...हा... ! समझ में आया ? अनवस्थित स्थिति की दशा का लक्ष्य छोड़ना और अवस्थित (निज स्वरूप) पर दृष्टि करने के लिये यह बताया है। आहा...हा... !

(संसार में कोई भी) **स्वभाव से अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल — एकरूप रहनेवाला नहीं है);...** चाहे तो चक्रवर्ती का पद मिले, सर्वार्थसिद्धि की अवस्था हो, परन्तु एकरूप नहीं रह सकती। आहा...हा... ! **(किसी का स्वभाव केवल अविचल — एकरूप रहनेवाला नहीं है);...** आ...हा...हा... ! **और वहाँ जो अनवस्थितता है, उसमें संसार ही हेतु है;...** संसार — संसरण, यही उसका कारण है। आ...हा...हा... ! क्योंकि संसार किसे कहते हैं ? आहा...हा... ! मनुष्यादिपर्यायात्मक

है। **वह (संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक है,...** आ...हा...हा... ! संसार कोई कर्म नहीं, संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब नहीं। आ...हा... ! चार गति की मनुष्यादिपर्याय का भाव है, वह संसार है। आहा...हा... ! चाहे तो राजा-महाराजा (हो), जिन्हें करोड़ों-करोड़ों के बँगले (हो)। 'मैंसूर' (में) साढ़े तीन करोड़ का (बँगला) ! (हम) देखने गये थे। आ...हा...हा... ! संसारदशा अनवस्थित (है), कहाँ (बड़े बँगले में) रहनेवाला कहाँ दूसरे मकान में रहे ! अपनी अवस्था जो एकरूप नहीं (रहती है) उस कारण से वह उसका संसार हेतु (है)। भटकना, रुलना वह संसार का हेतु है। आहा...हा... !

मनुष्यादिपर्याय स्वरूप... मनुष्य आदि (अर्थात्) तिर्यंच, निगोद, स्वर्ग, नरक। आ...हा...हा... ! ये मनुष्यादिपर्याय स्वरूप संसार है। यह संसार है। आहा...हा... ! लोग तो स्त्री, कुटुम्ब को छोड़े तो (माने कि उसने) संसार छोड़ा। लेकिन वह कहाँ संसार है ? स्त्री, कुटुम्ब, दुकान, धन्धा छोड़ा तो संसार छोड़ा। आहा...हा... ! वह चीज संसार है ही नहीं तो तूने संसार छोड़ा कहाँ से ? आहा...हा... ! पर चीज तो कभी ग्रहण की ही नहीं तो छोड़ दी — ऐसा कहाँ आया ? यह मनुष्यगति आदि पर्याय तो तूने ग्रहण की है। आहा...हा... ! और इन गति आदि की पर्याय का कर्ता होना, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! क्योंकि अवस्थित भगवान की दृष्टि छोड़कर अनवस्थित (अर्थात्) एकरूप नहीं रहनेवाली अवस्था की रुचि, प्रेम मिथ्यात्व है, वह संसार का प्रेम है। आ...हा...हा... !

क्योंकि वह (संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक है,... लोग तो ये स्त्री, पुत्र, धन्धा छोड़ दे तो संसार छोड़ा — ऐसा कहें। वह संसार नहीं, भगवान ! तेरी गति (अर्थात्) चार गति का भाव जो तेरी पर्याय में है, वह संसार है। आहा...हा... ! उसका लक्ष्य छोड़ना और स्व का आश्रय करना, (तब) दृष्टि में संसार छोड़ा, दृष्टि में संसार छूट गया। आहा...हा... ! अनवस्थित गति का लक्ष्य छोड़कर अवस्थित भगवान नित्यानन्द प्रभु ! आहा...हा... ! उसके अन्दर दृष्टि लगाना, उसमें अनवस्थित संसार की पर्याय का लक्ष्य छोड़ा, वह दृष्टि में संसार छोड़ा। पीछे अस्थिरता का संसार है... आ...हा...हा... ! उस स्वरूप में स्थिर होने से अस्थिरता के संसार का नाश होता है। आहा...हा... !

केवली भगवान को भी असिद्ध कहते हैं। सिद्ध नहीं, असिद्ध है। पहले गुणस्थानवाले

निगोद के जीव को भी असिद्ध कहते हैं। आ...हा...हा...! और केवलज्ञानी परमात्मा को देह छूटकर मोक्ष (में जाना) है, फिर भी देह में है, इतनी अपनी योग्यता है। आहा...हा...! आयुष्य के कारण नहीं, देह के कारण नहीं। अपनी योग्यता से वहाँ प्रतिजीवी गुण का विपरीतपना में पड़ा है, वह असिद्ध है। आ...हा...हा...! समझ में आया? केवलज्ञान प्रगट हो तो भावमोक्ष कहते हैं, फिर भी पर्याय की अपेक्षा से तो उसे असिद्ध कहते हैं। आ...हा...हा...हा...! क्या कहा?

आत्मा अन्दर जलाहल ज्योति चैतन्य दरिया, सागर भरा है! आ...हा...हा...हा...! उसमें दृष्टि करके एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट किया तो उसे भगवान भावमोक्ष कहते हैं। भावमोक्ष! परन्तु द्रव्य से तो असिद्ध हैं। आ...हा...हा...! अरे...रे...! समझ में आया? गति है न? वहाँ तक (असिद्ध कहते हैं)। गति मनुष्य है न? भले केवलज्ञान पाया परन्तु गति मनुष्य है न? आहा...हा...! और गति उसकी पर्याय में है न? इसकी पर्याय में गति है न? आहा...हा...! इस अपेक्षा से असिद्ध कहा। आ...हा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि **(संसार) मनुष्यादि...** देखो! उसे मनुष्य गति है न? तो इतना भी संसार है। आ...हा...हा...हा...! मनुष्यादि अर्थात् चार गति, हाँ! यहाँ सिद्ध नहीं लेना, सिद्ध पर्याय यहाँ लेनी नहीं। यहाँ संसार पर्याय की बात चलती है न? **(संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक है, कारण कि वह स्वरूप से ही वैसा है,...** संसार स्वरूप से ही विकृत अनवस्थित दशा है। आहा...हा...! उदयभाव में आया था न? चार गति, कषाय आया था। 'नियमसार' में ४१ गाथा! क्षायिकभाव भी आत्मा में नहीं (— ऐसा) आया था। आहा...हा...! मनुष्यगति उदयभाव है। आहा...हा...! ये अनवस्थित है, अवस्थित नहीं। आ...हा...!

सबेरे आया था कि राग-द्वेष गति अतत् स्वभाव है। अतत् स्वभाव है। भगवान ज्ञायक आदि तत् स्वभाव है, तत् स्वभाव है। वे अतत् स्वभाव है। आ...हा...हा...!

अतद्भाव भिन्न (है और) अतत्त्व भिन्न (है)। अतद्भाव तो उसे कहते हैं कि द्रव्य और गुण दो अतद्भाव है। ऐसा गुण है ऐसा द्रव्य नहीं और द्रव्य है, ऐसा गुण नहीं। इस अपेक्षा से द्रव्य और गुण के बीच में अतद्भाव है। अतद्भाव दूसरी चीज है... आहा...हा...!

और अतत्त्व दूसरी चीज है। इसमें अतद्भाव आ गया है। आत्मा और परवस्तु जो कर्म, शरीर आदि हैं, उन्हें प्रदेशभेद है तो तो सर्वथा अन्यत्व है, अन्य है। परन्तु अपने प्रदेश में भी जितने द्रव्य और गुण हैं, उस द्रव्य-गुण का संज्ञा, संख्या (आदि) से भेद है। इस अपेक्षा से दो के बीच में अतद्भाव है और द्रव्य और पर्याय निर्मल हैं तो इन दोनों के बीच में भी अतद्भाव है। अतत्त्व नहीं, अतद्भाव है। अरे...रे...रे... ! अतत्त्व तो जो चार गति, रागादि (है) वह अतत्त्व है। इस अतत्त्व का अनुभव, मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... !

सबेरे (समयसार में) २०३ गाथा (में) अतत्त्व, अनियत, अनेक आया था। आहा...हा... ! भगवान आत्मा तत्स्वरूप, एकरूप, नियतरूप, निश्चयरूप, अवस्थितरूप, (है) — उसका आश्रय लेना तो अनवस्थित दशा का नाश होता है। अनवस्थित दशा का आश्रय लेने से अनवस्थित दशा का नाश नहीं होता। आ...हा...हा... ! क्या कहा ? ये गति आदि है, वह तो अनवस्थित है। उसके आश्रय से अनवस्थित दशा का नाश नहीं होता। आहा...हा... !

शरीर, कर्म, पैसा और धूल तो कहीं दूर रह गये। वह संसार नहीं और उन्हें छोड़ना, यह आत्मा में नहीं। आत्मा तो अनवस्थित जो गति है, वह अवस्थित द्रव्य के आश्रय से छोड़ता है — ऐसा मानना, यह भी एक नाम कथन से है। अन्तर में स्थिर होते हैं तो अनवस्थित दशा नाश होती हे तो अनवस्थित दशा का नाश करनेवाला आत्मा है — ऐसा कहना भी नामनिक्षेप से है। आ...हा...हा...हा... ! नाममात्र है। परमार्थ से अनवस्थित दशा का नाश आत्मा नहीं करता। आत्मा तो अपने स्वरूप में स्थिर होता है तो अनवस्थित दशा उत्पन्न होती नहीं। आहा...हा... ! अरे...रे... ! ये कब समझे ? अनादि से भटकता है। शास्त्र का ग्यारह अंग का ज्ञान भी किया परन्तु उसका आश्रय छोड़ा नहीं। आहा...हा... !

'ज्ञेय अधिकार' है न ? तो अनवस्थित जो ज्ञेय है, उसका आश्रय छोड़ना और अवस्थित ज्ञेय जो ज्ञेय है, उसका आश्रय लेना। आहा...हा... ! ज्ञेय में यह प्रकार है। अपने अपने ज्ञेय में, हाँ! परज्ञेय तो भिन्न चीज है, उसका त्याग करना आत्मा में है ही नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि **(संसार का स्वरूप ही ऐसा है)...** एक गति, दूसरी गति,

तीसरी गति... आहा...हा... ! एक अन्तर्मुहूर्त में निगोद के अठारह भव करते हैं। आहा...हा... ! (वह) अनवस्थित है। निगोद समझे ? निगोद को हिन्दी क्या कहते हैं ? लील, फूग। लहसून, प्याज। अरे... ! यहाँ नीम के फूल होते हैं न ? आ...हा...हा... ! एक-एक फूल देखो तो असंख्य शरीर का पिण्ड है और एक शरीर में अनन्त जीव हैं। ऐसे निगोद में अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव करते हैं। आहा...हा... ! (वह) अनवस्थित दशा (है)। एक अन्तर्मुहूर्त में (अर्थात्) अड़तालीस मिनट के अन्दर निगोद का जीव अठारह भव (करते हैं)। मर के (फिर) निगोद, मर के (फिर) निगोद... आहा...हा... ! ये अनवस्थित दशा है, एकरूप रहती नहीं। आ...हा...हा...हा... !

प्रश्न – अठारह भव निगोद के करता है ?

समाधान – निगोद के ! अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव निगोद के। अनवस्थित है न ? अन्तर्मुहूर्त में अनवस्थित अठारह भव किये। वह भी एक बार नहीं। प्रभु ! तुझे मालूम नहीं, अनन्त बार ऐसा किया। आहा...हा... !

(किसी मुमुक्षु के घर गये थे, तब किसी को पूछा था कि) द्रव्यदृष्टि दिया है ? (तो उन्होंने कहा) दृष्टि का विषय समझे तो न ? हमने कहा, बात सच्ची है, माँ ! माता तेरी बात सच है। आहा...हा... ! हमने तो यह पूछा था कि 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' मिला ? तो कहा, मिला है.... परन्तु वह द्रव्यदृष्टि संसार से हटकर अन्दर दृष्टि लगावे तो द्रव्यदृष्टि मिली न ? ये पुस्तक मिला (उससे) क्या ? आ...हा...हा... ! पुस्तक तो परवस्तु है और 'पुस्तक हमारा है' — ऐसा राग भी परवस्तु है, यह संसार है। आ...हा...हा... ! यहाँ तो गति को संसार कहा तो राग तो संसार है ही। आहा...हा... !

अन्तर्मुहूर्त में निगोद का जीव अठारह भव करते हैं, प्रभु ! ऐसा तो तूने अनन्त बार किया। (कोई कहे) हमको तो याद नहीं आता न ! परन्तु प्रभु ! तूने याद कब किया है ? आहा...हा... ! और याद नहीं आता, इसलिए नहीं था — ऐसा कौन कहे ? आहा...हा... ! माता के पेट में से जन्म लिया, बाद में बारह महिने में क्या हुआ मालूम है ? जन्म हुआ कि तुरन्त ऊँ... करे। आँखें बन्द हो, जन्म हुआ कि तुरन्त अभी तो उसकी माँ को मालूम हो कि लड़की है या लड़का है, उसे देखने से पहले तो ऊँ.... करके मुँह खोलता है। सवा नव

महिने तो अन्दर सब बन्द था। आहा...हा... ! माता के पेट में से आँखें बन्द करके बालक का जहाँ प्रसव होता है, तब रोता है। शुरुआत उसकी रोने से हुई।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर का कैसे होता है ?

समाधान – सम्यग्दृष्टि की शुरुआत तो एकदम मुँह खुलता है तो ये क्रिया होती है परन्तु अन्दर में भान है, भिन्न (आत्मा का) भान है। समझ में आया ? अरे... ! माता के पेट में सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर ! आ...हा...हा... ! वे सवा नव महिने रहे ! आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन और आनन्द के स्वाद की धारा कायम रहती है। पेट में, हाँ ! आ...हा...हा... ! क्योंकि सम्यग्दर्शन जो है, वह अनवस्थित दशा का लक्ष्य और आश्रय छोड़कर, अवस्थित प्रभु भगवान आत्मा का अवलम्बन लिया है... आहा...हा... ! तो उससे जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान उत्पन्न हुआ, स्वरूपाचरण चारित्र उन्हें हुआ, वह तो हमेशा रहता है। माता के पेट में सवा नव महिने रहे तो भी वहाँ हमेशा रहता है। उपयोग हो जाये या नहीं ? — उसका बहुत विचार किया परन्तु हमें सब शास्त्र से पता नहीं चला। शास्त्र के बिना कैसे कहना ? कि सवा नव महिने में कभी अन्दर उपयोग जम जाता है या नहीं ? अन्दर में उपयोग जम जाये (या नहीं यह मालूम नहीं); धारा में लब्धरूप दशा तो हमेशा रहती है। आहा...हा... ! जन्म लेकर मनुष्य होकर अल्प काल में तो केवलज्ञान लेनेवाले हैं और सिद्ध होनेवाले हैं, अन्तिम शरीर है। माता के पेट में भी तीर्थंकर का वह अन्तिम शरीर है। आहा...हा... ! तीर्थंकरदेव जैसे आत्मा सवा नव मास गर्भ में रहे !!

भगवान तो दूसरे प्रकार से कहते हैं कि माता के पेट में तुम सवा नव महिने रहे (लेकिन) कोई बार तो सवा नव महिने (के बाद) भी निकले नहीं। पेट में बारह वर्ष रहा ! देखो ! ये संसार दशा ! माता के पेट में बारह वर्ष रहा ! शास्त्र में कायस्थिति का वर्णन है। आ...हा...हा... ! तीन-तीन साल तक बालक का जन्म होता नहीं। शास्त्र में तो बारह-बारह वर्ष (कहा है) ! आ...हा...हा... ! और उसमें भी बारह वर्ष के बाद जन्म हो, फिर बारह वर्ष (पेट में रहते हैं)। उसी माता के पेट में दूसरी बार (जन्म लेता है) या दूसरी माता के पेट में (रहते हैं)। आहा...हा... ! गर्भ में रहने की काय स्थिति चौबीस वर्ष तक की है, ऐसा भगवान ने जाना है। आहा...हा... ! मुँह बन्द... आ...हा...हा... ! श्वास (कैसे)

ले ? देखो ! यह अनवस्थित दशा ! आ...हा... ! एक बार बारह वर्ष रहा (तो) ये संसरण दशा ऐसी है कि फिर भी बारह वर्ष उस माता के पेट में रहे या दूसरी माता के (पेट में रहे)। ऐसा भगवान का वर्णन (आता है)। चौबीस वर्ष तक गर्भ में रहते हैं, ऐसा पाठ है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भगवान उसका नाम कायस्थिति कहते हैं। काया में गर्भ में कितने काल रहना यह स्थिति है। ये अनवस्थित दशा है। वहाँ भी गति की पर्याय बदलती है न ? आहा...हा... ! गति की पर्याय भी — गति का उदयभाव समय... समय... समय... पलटता है। आहा...हा... ! वहाँ गर्भ में भी गति का उदय (चालू है)। शरीर की बात यहाँ नहीं (है)। उस गति का जो उदय है, वह समय-समय उदय... उदय... उदय... उदय... उदय... नवीन-नवीन अनवस्थित पर्याय होती है। आहा...हा... ! ऐसा याद नहीं आये, इसलिए वह नहीं था — ऐसा कौन कहे ? प्रभु ! माता के पेट में से निकलकर बारह महीने क्या हुआ, मालूम है ? मालूम नहीं, इसलिए नहीं था — ऐसा कौन कहे ? प्रभु ! आहा...हा... ! इस प्रकार अनन्त भव में ऐसे अवतार लिये, यह मालूम नहीं; इसलिए नहीं था — ऐसा कौन कहे ? प्रभु ! आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! **(संसार का स्वरूप ही ऐसा है)...**

उसमें परिणमन करते हुए द्रव्य का पूर्वोत्तरदशा का त्यागग्रहणात्मक... आ...हा...हा... ! मनुष्य की गति का त्याग, देवगति का उत्पन्न (होना), मनुष्यगति का त्याग, निगोद का उत्पन्न (होना), आ...हा...हा... ! तिर्यंचगति का त्याग, निगोद में उत्पन्न (होना), वह भी तिर्यंच है। आहा...हा... ! आठवें स्वर्ग का देव... आ...हा... ! जिसकी बाईस सागर की स्थिति ! एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम, एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष (जाये)। (जैसी) अठारह-बाईस सागर की स्थिति(वाला) देव... आहा...हा... ! मरकर तिर्यंचगति में जाये। देव का जीव अच्छी के पेट में, कुत्ती के पेट में (जन्म ले) ! आ...हा...हा...हा... ! ये देखो, अनवस्थित संसार दशा ! आ...हा...हा... !

यह कहने का आशय (ऐसा है कि) ऐसी संसरण करती ज्ञेय चीज अन्दर है। प्रभु ! तू उससे दृष्टि हटा ले। आहा...हा... ! है, उसकी दृष्टि हटा ले और त्रिकाल है, उसकी

दृष्टि (कर)। मनुष्यगति पर्याय — संसार भी है तो सही न? पर्यायदृष्टि से उसकी पर्याय में संसार है। आ...हा...हा...! द्रव्य ही है और पर्याय नहीं, ऐसा नहीं। भगवान दो नय का व्याख्यान करते हैं कि पर्याय में अनवस्थित दशा — निगोद में गर्भ में रहना भी है। तुझे ख्याल नहीं आये इसलिए नहीं था — ऐसा कैसे कह सकते हैं? प्रभु! आहा...हा...!

एकरूप भगवान आत्मा में यह संसरण दशा अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... हो गई। आहा...हा...! स्वरूप से ही ऐसा है। है? **द्रव्य का पूर्वोत्तरदशा...** (अर्थात्) पहले की और बाद की दशा। पहले का त्याग और उत्तर दशा का ग्रहण। है? प्रथम अवस्था का त्याग और बाद की अवस्था का ग्रहण। आ...हा...हा...! पहली गति की पर्याय का त्याग (और) दूसरी गति का ग्रहण — यह त्याग-ग्रहण (है)। ऐसी बातें हैं। आया?

पूर्वोत्तरदशा का... इसकी दशा - पर्याय, हाँ! मनुष्यगति, तिर्यंचगति, निगोदगति, एकेन्द्रिय गति... आहा...हा...! तिर्यंचगति में भी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय (होते हैं)... आहा...हा...! ये सब गति हैं। ऐसी पूर्व अवस्था का त्याग और पीछे की अवस्था का ग्रहण। **त्यागग्रहणात्मक ऐसा जो क्रिया...** आत्मा की पर्याय में वह क्रिया है। आ...हा...हा...! यहाँ जड़ के त्याग-ग्रहण की बात नहीं है। यहाँ तो गति की पर्याय का — एक गति की पर्याय का त्याग, दूसरी गति की पर्याय का ग्रहण — ऐसा त्याग-ग्रहण, त्याग-ग्रहण अनादि से चला आता है। आहा...हा...! अपना स्वरूप शुद्ध चिदानन्द भगवान की दृष्टि नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं और ये सब भव! आहा...हा...!

एक पण्डित आये थे वे ऐसा कहते थे कि मनुष्यभव है तो मोक्ष मिलता है, इसलिए मनुष्यगति कारण है। 'कूचामन' का था, नहीं? एक पण्डित था। अरे... रे...! भाई! मनुष्यगति मोक्ष का कारण (हो तो), परिभ्रमण एक के बाद एक होता है तो गति मैली है। आहा...हा...! मनुष्यगति के कारण केवलज्ञान होता है? गति का त्याग करके स्वभाव का आश्रय करते हैं, तब समकित होता है। आहा...हा...! केवलज्ञान की तो बात कहाँ (करनी)? पर्याय में गति का जो लक्ष्य है... आहा...हा...! वह पर्यायदृष्टि है।

'पर्यायमूढा परसमया' 'प्रवचनसार', 'ज्ञेय अधिकार' (में) ९३ गाथा आ गयी। पर्यायमूढ़ा! आहा...हा...! गति मिली, वह पर्याय है। उसमें मूढ़ होकर (रहता है, वह) मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! भगवान स्वभाव अवस्थित पड़ा है, उसका तो आश्रय — अवलम्बन नहीं और गति का अवलम्बन है, वह तो पर्यायमूढ़ — मूढ़ है। आहा...हा...! शरीर है, वह गति नहीं है। हाँ!

प्रश्न – गति मेरी माने वह मूढ़ है ?

समाधान – मूढ है। आ...हा...हा...! गति तो संसरण संसार है। संसार मेरा है — (ऐसा माने) वह तो मूढ़ है। आहा...हा...! इस संसार का त्याग दृष्टि में होता है। पहले सम्यग्दर्शन होता है, तब संसार का त्याग दृष्टि में होता है। इसके बिना उसका त्याग सच्चा नहीं होता। आहा...हा...! बाहर का प्रदर्शन करे, कपड़े बदल दे तो (माने कि) हम त्यागी हो गये! आ...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभू! ये त्याग-ग्रहण है, वह भी मिथ्यात्व का है।

एक समय की गति का आदर अर्थात् ग्रहण (है), उसे छोड़कर दूसरी गति का ग्रहण (होता है)... आहा...हा...! वह संसार है। आ...हा...हा...! एक राग आया और वह राग छूटकर दूसरा राग (आया) तो एक राग का त्याग (हुआ) और दूसरे राग का ग्रहण (हुआ), वह तो संसार है, वह तो मिथ्यात्व भाव है; वह अपने स्वभाव में नहीं। आ...हा...हा...!

'अष्टपाहुड़' में (एक बात) आती है न? कि स्त्री से लिपटा हुआ एक साधु था। आता है न? भाई! साधु! अन्तर में आनन्द का अनुभव! शास्त्र में आता है कि कोई ऐसा योग (था) कि उसे स्त्री के वृन्द में रहना पड़ता था, परन्तु अन्दर में निर्लेप हैं। और ये दूसरे (साधु) बाहर में स्त्री के त्यागी हैं परन्तु अन्दर जिसे राग और गति का प्रेम है... आहा...हा...! वे स्त्री के त्यागी नहीं हैं। अपने स्वभाव में दृष्टि ले जाकर अपनी जो गति की परिणति (है), इसका जिसे त्याग नहीं... आ...हा...हा...! उसका सब बाह्य त्याग झूठा है। आ...हा...! ऐसी बहुत कठिन बातें है, भाई! सहझ में आया? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीयक उपजायो' कैसे द्रव्यलिंगी मुनि! द्रव्यलिंगी (मुनि)! समकिती नहीं। परन्तु कैसे? कि चमड़ी उतारकर नमक छिडके तो भी क्रोध न करे! वैसी द्रव्यलिंग की दशा (ली)

फिर भी वह दु:खरूप दशा (है)। मुनि के पंच महाव्रत की दशा, बारह व्रत की दशा, प्रतिमा की दशा दु:खरूप हैं। अर...र...र...!

प्रश्न – इतना सहन करे तो भी?

समाधान – सहन करे तो क्या (हुआ)? वह तो कषाय की मन्दता से (करता है) कषाय रुँधा हुआ है। (बहिनश्री के वचनामृत) में आता है। रुँधा हुआ कषाय है, दवाया हुआ (कषाय है)। आता है न? वास्तविक स्वरूप का अन्तर के आदर बिना राग के त्याग का वैराग्य उसे है नहीं। वैराग्य उसे कहें... आहा...हा...! कि अस्तित्व जो अवस्थित वस्तु है, उसका अनुभव करके, पुण्य और पाप के विकल्प से विरक्त (होना), यह वैराग्य है। पुण्य और पाप के विकल्प और गति आदि... आहा...हा...! उससे विरक्त होना, यह वैराग्य है। आ...हा...! एक-एक शब्द में बहुत अन्तर है। आहा...हा...!

'निर्जरा अधिकार' में आया है। 'निर्जरा अधिकार', 'समयसार'! ज्ञान-वैराग्य दोनों शक्ति धर्मी-समकिती को हैं। ज्ञान और वैराग्य शक्ति हमेशा है। आ...हा...हा...! स्वरूप का ज्ञान — अस्तित्व का ज्ञान और पुण्य-पाप के विकल्प की नास्ति का वैराग्य — ये मेरे में नहीं हैं — ऐसा वैराग्य। यह वैराग्य (है)। आहा...हा...! भले कोई शरीर से बाल ब्रह्मचारी हो, आजीवन स्त्री का सेवन नहीं करे, फिर भी वह वैरागी नहीं। वैरागी तो (उसे कहें कि जो) अपना त्रिकाली अस्तित्व — अवस्थित वस्तु की दृष्टि करके, पुण्य और पाप के सब विकल्प से हटकर अपने में रक्त हो (और) पर से विरक्त (हो); पुण्य-पाप से विरक्त, स्वभाव में रक्त। आ...हा...हा...! ऐसी बातें! इसे ज्ञान और वैराग्य (शक्ति कहते हैं)। समकिती को ये शक्ति हमेशा होती है। आ...हा...हा...! यह गति जो है, उस पर से लक्ष्य छूट गया है। आहा...हा...! गति है, वह परज्ञेयपने ज्ञान के विषय में जानते हैं। आहा...हा...! मैं गति की दशा से तो रहित हूँ। आहा...हा...! है?

ऐसा जो क्रिया नाम का परिणाम है... आ...हा...हा...! एक गति का त्याग और दूसरी गति का ग्रहण। (एक) राग का त्याग और दूसरे राग का ग्रहण। आहा...हा...! **ऐसा जो क्रिया...** यह क्रिया, **क्रिया नाम का परिणाम...** ये क्रिया नाम का परिणाम पर्याय में है, **वह संसार का स्वरूप है।** आ...हा...हा...! ऐसी बातें हैं। संसार का यह स्वरूप है।

आहा...हा...! स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन्धा छोड़ा, इसलिए संसार छोड़ा — यह बात बिलकुल मिथ्या अभिमान है। आहा...हा...! यहाँ गति और राग (है), उसका त्याग और ग्रहण है, उसकी दृष्टि छोड़ देना। एक समय में एक गति और गति भी पर्याय में, उदय में क्रमसर होती है। आहा...हा...! उदयभाव है परन्तु एक समय का दूसरा, दूसरे समय का दूसरा, भले ऐसा है परन्तु उदय भाव भिन्न-भिन्न (है)। आहा...हा...! अनवस्थित दशा! इस अनवस्थित दशा की दृष्टि संसार है, ऐसा कहा न? ऐसा कहा न कि एक गति का ग्रहण अथवा राग का ग्रहण और पहले की गति का त्याग — ये त्यागग्रहण(स्वरूप) जो क्रिया (है)... आहा...हा...! आत्मा की पर्याय में यह जो क्रिया (है, वह संसार है)। पर्याय में, हाँ! पर में नहीं, पर का और शरीर का त्याग, वह (संसार) नहीं। आहा...हा...! एक शरीर का छूटना और दूसरे शरीर को ग्रहण करना यह कोई वस्तु में है नहीं। आत्मा में यह प्रश्न है नहीं। आहा...हा...! मात्र भगवान आत्मा! अपनी पर्याय गति आदि राग आदि जो हैं, एक पूर्व गति का त्याग और पिछली गति का ग्रहण (होता है — ऐसी) जो पर्याय में क्रिया है, यह क्रिया नाम का परिणाम, क्रिया नाम का पर्याय, क्रिया नाम का भाव, क्रिया नाम का परिणाम है। है ऐसा कहा। **वह संसार का स्वरूप है।** अरे...! गजब बात करते हैं न! ये संसार का स्वरूप! आ...हा...हा...! इस संसार के स्वरूप की रुचि छोड़कर, भगवान मुक्तस्वरूप है, संसार के भाव से मुक्तस्वरूप है, (उसकी दृष्टि करना)। आहा...हा...! बात है थोड़ी परन्तु बात है बड़ी! आ...हा...हा...!

भाषा तो कैसी कही है, देखो न! आ...हा...हा...! मात्र पूर्व गति का त्याग, उत्तर की गति का ग्रहण — ऐसी जो त्याग-ग्रहण की क्रिया (है), यह क्रिया नाम का परिणाम (है), यह परिणाम संसार (है)। आहा...हा...! अभी तो संसार किसे कहना? — यह मालूम नहीं। ऐसी बात है। आहा...हा...!

मुमुक्षु - ये बात ही कहाँ थी।

पूज्य गुरुदेवश्री - सच बात है। आहा...हा...! ये तो स्त्री, पुत्र के संसार में हम तो पड़े हैं, ऐसा (लोग) कहे। बापू! यह संसार नहीं है। वह तो पर चीज है। आहा...हा...! अपनी पर्याय में एक गति का त्याग और दूसरी (गति का) ग्रहण यह जो क्रिया नाम का

परिणाम है, इस परिणाम को भगवान संसार कहते हैं। आ...हा...हा... ! इस संसार का त्याग करना और स्वभाव का ग्रहण करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है। यह संसार जो है, उसका त्याग करना। अपनी पर्याय में जो गति का त्याग-ग्रहण है, उस परिणाम का त्याग करना। आहा...हा... ! गति (का) त्याग-ग्रहण... त्याग-ग्रहण... त्याग-ग्रहण... ऐसी जो क्रिया, ये क्रिया वह परिणाम — उसकी पर्याय, यह संसार (है)। आ...हा...हा...हा... ! संसार कहाँ है, ऐसा सुना भी न हो। आ...हा...हा... ! हम तो स्त्री, पुत्र, पैसे, दुकान के धन्धे में — संसार में घिर गये हैं, ऐसा कहते हैं। ये चीज संसार नहीं, प्रभु ! तुझे मालूम नहीं।

तेरा संसार तेरी पर्याय से दूर नहीं है। आ...हा...हा... ! तेरा संसार तेरी पर्याय में अस्ति रखता है। आ...हा...हा...हा... ! गति का त्याग-ग्रहण... त्याग-ग्रहण... त्याग -ग्रहण की क्रिया गजब है ! ये **क्रिया नाम का परिणाम...** भाषा देखो ! ऐसी जो क्रिया होती है, उसका जो परिणाम, ये क्रिया नाम का परिणाम.... **वह संसार का स्वरूप है।** आ...हा...हा...हा... ! सन्तों दिगम्बर मुनियों ! वस्तु तो देखो ! आ...हा...हा... ! ये संसार की रुचि छूटती नहीं और स्त्री, पुत्र को छोड़कर त्यागी हो गया, बालब्रह्मचारी (होकर) शरीर से स्त्री का सेवन किया नहीं, इसलिए मुझे मैथुन का त्याग है, यह बात झूठ है। आहा...हा... !

मुमुक्षु - लड़के, लड़कियों को ठिकाने तो लगाये।

पूज्य गुरुदेवश्री - लड़के को ठिकान लगाये, लड़कियों को ठिकाने लगाये। ठिकाने लगाये ! बाद में निवृत्ति मिले। आहा...हा... ! अन्दर में गति का जो त्याग-ग्रहण है, वह संसार है। ये परिणाम संसार है, ये क्रिया संसार है। आ...हा...हा... ! क्या सन्तों की शैली ! दिगम्बर मुनियों की कथनपद्धति कोई अलौकिक है !! आ...हा...हा... ! आ...हा...हा... !

तीन लोक का नाथ, संसार की क्रिया से रहित प्रभु अन्दर (है)। आ...हा...हा... ! ऐसे स्वरूप का अनुभव किये बिना संसार की क्रिया का त्याग अन्तर में होता नहीं। समझ में आया। 'संसरण इति संसार: ' यह शब्द आया। संसरण... संसरण... गति का फेरफार... फेरफार... फेरफार... होना। आहा...हा... ! पर्याय में भी एक समय का उदयभाव है,

उसका त्याग और दूसरे समय के उदय का ग्रहण, (संसार है)। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि की पुकार है! आहा...हा...! भाई! तूने सत्य क्या है, यह कभी सुना नहीं। संसार कहाँ रहता, यह तूने सुना नहीं। आहा...हा...! स्त्री छोड़ी, ब्रह्मचर्य लिया (तो माने कि) संसार छोड़ा। धूल में भी नहीं है, सुन न! आहा...हा...!

गति ओर राग, अरे...! समय-समय में गति का उदय पर्याय है न? एक समय के उदय का त्याग, दूसरे समय का ग्रहण। उदय का त्याग-ग्रहण... त्याग-ग्रहण... आहा...हा...! ऐसी जो एक समय की पर्याय में क्रिया होती है, यह क्रिया नाम का परिणाम, संसार है। कहो, कभी सुना था? 'प्रवचनसार' में तो है। आहा...हा...!

प्रभु! तेरा संसार कहाँ है? तेरी पर्याय में है। इस पर्याय में क्या है? पहली पर्याय का त्याग, बादवाली राग आदि गति का ग्रहण। आ...हा...हा...! ऐसी पर्याय का त्याग-ग्रहण यह क्रिया (है और) यह परिणाम संसार है। आहा...हा...! इस संसार को छोड़े बिना, ये संसार की क्रिया का त्याग किये बिना तुझे समकित होता नहीं। आहा...हा...! तुम्हारे जवाहरात के धन्धे के त्याग-ग्रहण की यहाँ बात नहीं है, हाँ! यहाँ तो गति का त्याग-ग्रहण उसकी पर्याय में है। हीरे का त्याग-ग्रहण तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं। आहा...हा...! हीरे का त्याग-ग्रहण, लक्ष्मी का त्याग-ग्रहण तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है, क्योंकि आत्मा पर के त्याग-ग्रहण से रहित है। ऐसा उसका त्रिकाल गुण है। आ...हा...हा...! बहुत वर्णन (किया है)! गजब वर्णन है! आ...हा...हा...!

यह गति का त्याग-ग्रहण... त्याग-ग्रहण... पर्यायबुद्धि! पर्यायबुद्धि कहते हैं। गति का त्याग-ग्रहण, त्याग-ग्रहण की क्रिया, ये परिणाम, संसार है। आहा...हा...! यह संसार अनवस्थित है, एकरूप रहनेवाला नहीं। अवस्थित तो भगवान त्रिकाल ध्रुव है, उसका आश्रय ले तो अनवस्थित दशा का नाश होगा।

विशेष कहेंगे....!

गाथा - १२१

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्‌गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति -

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।१२१।।

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसंयुक्तम्।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः।।१२१।।

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः। अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः, तस्य द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात्। एवं सतीतरेतराश्रयदोषः। न हिः, अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्। एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव, तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्।।१२१।।

एवं शुद्धात्मनो भिन्नानां कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणां विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन द्वितीयस्थलं गतम्। अथ संसारस्य कारणं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारणं मिथ्यात्व-रागादिपरिणाम इत्यावेदयति - **आदा** निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणा-नादिकर्मबन्धवशात् **कम्ममलिमसो** कर्ममलीमसो भवति। तथाभवन्सन् किं करोति। **परिणामं लहदि** परिणामं लभते। कथंभूतम्। **कम्मसंजुत्तं** कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसंयुक्तं मिथ्यात्व रागादिविभावपरिणामं। **तत्तो सिलिसदि कम्मं** ततः परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति। किम्।कर्म। यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिःपरिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति। **तम्हा कम्मं तु परिणामो** तस्मात् कर्म तु परिणामः। यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीयः सरागपरिणाम एव कर्मकारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते। ततः स्थितं रागादिपरिणामः कर्मबन्धकारणमिति।।१२१।।

अब, परिणामात्मक संसार में किस कारण से पुद्‌गल का सम्बन्ध होता है कि

जिससे वह (संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक होता है? — इसका यहाँ समाधान करते हैं —

हो कर्म से आत्मा मलिन, कर कर्मयुत परिणाम को।
हो कर्म-बन्धन उसके यों; कहते करम, परिणाम को॥

अन्वयार्थ - [**कर्ममलीमसः आत्मा**] कर्म से मलिन आत्मा [**कर्मसंयुक्तं परिणामं**] कर्मसंयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के संयोग से होनेवाले अशुद्ध परिणाम को) [**लभते**] प्राप्त करता है, [**ततः**] उससे [**कर्म शिलष्यति**] कर्म चिपक जाता है (द्रव्यकर्म का बन्ध होता है); [**तस्मात् तु**] इसलिए [**परिणामः कर्म**] परिणाम, वह कर्म है।

टीका - 'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम है, वही द्रव्यकर्म के चिपकने का हेतु है। अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? (इसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्म[१] की संयुक्तता से ही वह देखा जाता है।

(शंका :-) ऐसा होने से इतरेतराश्रयदोष[२] आयगा! (समाधान :-) नहीं आयगा; क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ संबद्ध ऐसे आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म[३] है उसका वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा (आत्मा का तथाविध परिणाम) होने से आत्मा का तथाविध परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्त्ता भी उपचार से है॥ १२१॥

---

१. द्रव्यकर्म के संयोग से ही अशुद्ध परिणाम होते हैं, द्रव्यकर्म के बिना वे कभी नहीं होते; इसलिए द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणाम का कारण है।

२. एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिये दूसरी असिद्ध बात का आश्रय लिया जाय, और फिर उस दूसरी बात को सिद्ध करने के लिये पहली का आश्रय लिया जाय - सो इस तर्क-दोष को इतरेतराश्रयदोष कहा जाता है। द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा है; फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारण के संबंध में पूछे जाने पर उसका कारण पुनः द्रव्यकर्म कहा है, इसलिए शंकाकार को शंका होती है कि इस बात में इतरेतराश्रय दोष आता है।

३. नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है, और उस अशुद्ध आत्मपरिणाम का कारण वह का वही (नवीन) द्रव्यकर्म नहीं किन्तु पहले का (पुराना) द्रव्यकर्म है; इसलिए इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

प्रवचन नं. १३७ दिनाङ्क १७ जुलाई १९७९

'प्रवचनसार' १२१ (गाथा)। **अब परिणामात्मक संसार में...** क्या कहते हैं? जो विकाररूप परिणाम (हैं), चार गति, राग-द्वेष इत्यादि परिणामस्वरूप संसार में। ये राग-द्वेष की, मनुष्य गति आदि की जो क्रिया है, यह परिणाम है और यह परिणामस्वरूप संसार (है)। आहा...हा...! **परिणामात्मक संसार में किस कारण से पुद्गल का सम्बन्ध होता है...** ये राग-द्वेष की क्रिया और मनुष्यगति की पर्याय (है), उस परिणामस्वरूप क्रिया वह संसार (है), (इस) **संसार में किस कारण से पुद्गल का सम्बन्ध होता है...** आत्मा में परिणाम (की) क्रिया तो हुई, अब नये कर्म का सम्बन्ध होता है, वह किस कारण से? **कि जिससे वह (संसार) मनुष्यादिपर्यायात्मक होता है?** जो कोई निमित्त (है वह) कौन (है)? मनुष्यादि पर्याय, रागादि पर्याय का परिणाम — क्रिया अपनी (है) परन्तु उसमें निमित्त कौन? यह बात करते हैं। **इसका यहाँ समाधान करते हैं :—** १२१ (गाथा)।

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।१२१।।

हो कर्म से आत्मा मलिन, कर कर्मयुत परिणाम को।
हो कर्म-बन्धन उसके यों; कहते करम, परिणाम को॥

टीका - 'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम... आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहना कि यह राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मनुष्यगति, यह पुद्गल का परिणाम है। आहा...हा...! वह तो त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि करवाने (कहा है)। त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि में राग-द्वेष, मनुष्यादि गति, पुद्गल का परिणाम है। आहा...हा...!

यहाँ तो 'ज्ञेय अधिकार' (चल रहा है) तो अपनी पर्याय में जो परिणाम होता है, वह अपने ज्ञेय में — अपने में होता है। राग-द्वेष भले वस्तु के स्वभाव से विपरीत हो, विसदृश हो; सदृश त्रिकाली स्वभाव की शुद्धपरिणति का अभाव हो और राग-द्वेष,

मनुष्यगति आदि संसार की पर्याय का सद्भाव (है) वह जीव की पर्याय में है। आहा...हा...!

कहाँ एक ओर चौदह गुणस्थान और राग-द्वेष पुद्गल हैं — ऐसा कहते हैं। पुद्गल का परिणाम (— ऐसा कहे, वह तो) ठीक (है) परन्तु पुद्गल (कहते हैं)! एक ओर जीवद्रव्य भगवान और एक ओर राग आदि परिणाम पुद्गल। वे हैं भले पुद्गल! परन्तु ये परिणाम हैं जीव की पर्याय में। आहा...हा...! समझ में आया? कोई ऐसा ही मान ले कि विकार पुद्गल है, इसलिए जड़ है, पर का है — ऐसा मान ले तो उसे सहज ज्ञेय की परिणति में राग-द्वेष और मनुष्यगति की योग्यता है, उसे मानी नहीं। सूक्ष्म बात है। भाई!

'समयसार' में कहते हैं न? कि जब तक भेदज्ञान न हो, तब तक मनुष्यगति, राग-द्वेष मेरा है — ऐसा मानना। मेरे में है, मेरे कारण से है — ऐसे मानना। भेदज्ञान होने के बाद गति और राग से भिन्न भगवान शुद्ध चैतन्यघन, निर्मलानन्द प्रभु की दृष्टि जब हुई, तब राग का अकर्ता मानना। आहा...हा...! यहाँ ऐसी बात है।

'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम... भाषा देखो! आ...हा...हा...! आत्मा की पर्याय में मनुष्यगति, राग-द्वेष, पुण्य-पाप का भाव (जो है), यह 'संसार' नामक आत्मा का तथाविध परिणाम (अर्थात्) उस प्रकार का परिणाम (है)। ओ...हो...! 'प्रवचनसार' (में) ज्ञानप्रधान ज्ञेय का कथन है और 'समयसार' में दृष्टि प्रधान (कथन) होने पर भी, वहाँ भी कहा है कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद — यह जीव के परिणाम हैं। 'आस्रव अधिकार' (में आता है)। आहा...हा...! एकान्त मान ले कि वह जड़ का ही है तो अपने पुरुषार्थ से नाश करने का रहता नहीं। कर्म से (होता) हो तो कर्म नाश हो तो वह (नाश) होता है, तो अपने स्वाधीन तो कोई बात रही नहीं। आ...हा...! संसार दशा का, अपना विकारी परिणाम अपने से, अपने पुरुषार्थ से यदि होता हो तो अपनी शुद्धपरिणति के पुरुषार्थ द्वारा उसका नाश होता है। आहा...हा...! ऐसा लम्बा... लम्बा...! ऐसा बहुत सूक्ष्म मार्ग है, बापू!

प्रश्न - शास्त्र में पुद्गलात्मक क्यों कहा?

समाधान - वह पुद्गल कहा है (क्योंकि) वह स्वभाव नहीं है, इसलिए कहा है। संस्कृत में (कहा है), स्वभाव से विसदृश कर्मसंयुक्त मिथ्यात्व-रागादि विभावपरिणाम।

'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका है। ऊपर से चौथी पंक्ति है। है (अन्दर) ? '**कर्मरहित-परमात्मनो**' भगवान तो कर्मरहित परमात्मस्वरूप है। आहा...हा... ! '**विसदृशकर्म**' उससे विसदृश जो जड़कर्म। अभी पहला शब्द यह लेना। विसदृश जड़कर्म और इस संयुक्त के सम्बन्ध में। है ? '**मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामं... ततः परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति**' इस परिणाम से नया कर्म बाँधते हैं। संस्कृत में है। संस्कृत है न ? यहाँ जो जड़कर्म को आत्मा विसदृश — विपरीत कहा। परन्तु विकार का परिणाम भी आत्मा के स्वभाव से विसदृस — विपरीत है। विसदृश (है)। प्रतिपक्ष — विसदृश — विरोध है। विकारी परिणाम — चाहे तो दया, दान, व्रत का हो (तो भी) भगवान आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा से — सदृश से विसदृश है, स्व से विपरीत है।

(कोई साधु) लोकरंजन करने के लिये कहते हैं। लोग भी बेचारे साधारण (हैं)। दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म हुआ (तो) साधारण क्रियाकाण्ड करे और एक घण्टा भगवान के दर्शन (आदि करे)। तत्त्व की कुछ खबर नहीं। लोगों को प्रसन्न-प्रसन्न कर दे। देखो ! पुण्य को शास्त्र में अधर्म नहीं कहा।

प्रश्न – कौन सी जगह पुण्य को अधर्म कहा है ?

समाधान – ये विसदृश — जहर कहा नहीं ? शुभभाव (को) मोक्षमार्ग में 'मोक्ष अधिकार' में जहर कहा (है)। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, तब पुण्य के परिणाम को जहर कहा। आत्मा वीतरागी मूर्ति है तो उसमें विसदृश — विपरीत परिणाम राग है। आत्मा धर्मस्वभाव है तो राग अधर्मस्वभावी है। आहा...हा... ! अरे...रे... ! क्या हो ? भाई ! जगत को प्रसन्न रखने के लिये स्वयं को क्या नुकसान होता है — यह मालूम नहीं। आहा...हा... ! लोग बाह्य त्याग देखकर बस ! झुक जाते हैं। त्याग ! नग्नपना... ! आहा...हा... ! ऐसे आहार लेने जाये... बनाया हो उसके लिये ! पूरा सदोष (आहार) ! फिर भी बाह्य त्याग देखकर प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। उसकी श्रद्धा और प्ररूपणा क्या है — उसका पता नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो तीन लोक के नाथ की वाणी दिव्यध्वनि का सार यह 'प्रवचनसार' है !! समझ में आया ? 'प्रवचनसार' है न यह ? सबेरे 'समयसार' (चलता है)। 'प्रवचनसार' = प्र (नाम) विशेषरूप से वचनों का सार। भगवान की दिव्यध्वनि निकली थी, उसका

सार (है)। प्र + वचन! मात्र वचन नहीं। दिव्यध्वनि के वचन! आ...हा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! एक बार मध्यस्थता से सुन तो सही! तुझे पक्षपात हो तो छोड़ दे। आ...हा...! वह परिणाम है जीव का। राग-द्वेष, मनुष्यगति है, वह उदयभाव में अपने आ गया है। उदयभाव नहीं (आया था)? 'नियमसार' ४१ गाथा! उदयभाव (के) १८ बोल, क्षयोपशमभाव (के) २१ बोल, उपशमभाव (के) २ बोल, क्षायिकभाव (के) ९ बोल, पारिणामिकभाव (के)३ बोल। ये आ गया है। तो ये मनुष्यगति, राग-द्वेष आदि उदयभाव में गिनने में आया है परन्तु वह उदयभाव, जड़ का उदय नहीं; जीव की पर्याय है, प्रभु! तेरे स्वभाव में है नहीं और उदय अर्थात् विकार प्रगट किया है। आहा...हा...! और यह विकारी परिणाम प्रभु! तेरा परिणाम है, तेरे से हुआ है, तेरे में है। आ...हा...हा...!

भगवान को दो नय का कथन है, तो व्यवहारनय से इसका (परिणाम) है — ऐसा बताना है। निश्चय से उसका नहीं — स्वभाव की दृष्टि से उसका नहीं परन्तु पर्याय की दृष्टि से तो उसका है। आ...हा...हा...! अरे...! ऐसा मार्ग...!

प्रश्न – पर्याय में हो तो उससे हमें क्या प्रयोजन है?

समाधान – पर्याय में तुम्हारे में है न! यह अन्दर लिखा है, देखो! आहा...हा...! **'यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिः परिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति।'** 'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत (टीका में) है। यह है तेरा परिणाम। मनुष्यगति, तिर्यंच (का) शरीर नहीं, वाणी नहीं; ये तो जड़ पर (हैं)। परन्तु तेरे परिणाम में निमित्त पुराना कर्म है और यह परिणाम नया कर्म में निमित्त है। क्या कहा? जो कोई मनुष्यगति आदि का उदयभाव, रागादि दया, दान, काम, क्रोध का परिणाम तेरी पर्याय में तेरे से, तेरे परिणमन से हुआ है। उसमें पुराना कर्म निमित्त है।

प्रश्न – हमें क्या प्रयोजन है?

समाधान – प्रयोजन है, निर्णय कर। परिणाम किसी के हो तो तुझे टालने का प्रसंग ही नहीं। कर्म का राग है, कर्म का राग है (— ऐसा कहे परन्तु) है तेरा अधर्म। अधर्म तेरे में है तो निर्मल विवेकज्योति द्वारा अधर्म का नाश होता है। है या नहीं अन्दर? पंक्ति है न? पाँचवीं पंक्ति है। **'यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योतिः परिणामेन'** आ...हा...हा...! राग के

विकल्प से मैं भिन्न हूँ — ऐसी निर्मल विवेकज्योति! विवेकज्योति कहो या भेदज्ञान ज्योति कहो (एक ही है)। आहा...हा...! ऐसी निर्मल भेदज्ञान ज्योति द्वारा मनुष्यगति और रागादि का नाश होता है। आ...हा...हा...हा...! परन्तु है तेरे परिणाम में। तेरा किया हुआ, तेरी दशा में है। आहा...हा...! समझ में आया?

वह तो कहा न? हमारे तो (संवत् - १९७१) की साल से चलता है। १९७० में स्थानकवासी में दीक्षित हुए। पिताजी स्थानकवासी थे तो उसमें दीक्षित हुए। १९७१ में यह प्रश्न चला। 'लाठी' (गाँव में) चातुर्मास था। यह प्रश्न १९७१ में चला। कितने वर्ष हुए? ६४! ६० + ४! भाई! तुम्हारे जन्म के पहले! आहा...हा...! उस समय बाहर कहा था। 'भगवती सूत्र' पढ़ते थे। १९७१ की साल! एक दिन एक बार खाना और दूसरे दिन का उपवास, तीसरे दिन एक बार खाना, चौथे दिन का एक उपवास (करते थे)। चारों महीने! १९७१ के चातुर्मास (में ऐसा करते थे)। शास्त्र का उपधान कहते हैं (उसमें) चारों महीने ऐसा (किया था)। मैं, मेरे गुरु और गुरुभाई तीनों करते थे और एक चौथा था, वह तो रोज खाता था। हम तीनों हमेशा करते थे। मैं करता था, मेरी उम्र छोटी, २५ साल का जवान! सुन्दर शरीर! गुरु और गुरुभाई को (ऐसा लगा कि) 'कानजी' ऐसा करता है तो हमें भी करना चाहिए। ऐसा शरीर! २५ साल की उम्र! जवान शरीर, सुन्दर शरीर! उस वक्त (ऐसा था)! अभी तो ९० वर्ष हुए। वे लोग भी हमारे साथ एक बार ही खाते थे। नहीं तो वे तो वृद्ध थे और बहुत वर्ष की दीक्षा थी।

वह श्वेताम्बर का भगवती सूत्र पढ़ते-पढ़ते ऐसा अन्दर में आया कि राग और मिथ्यात्व का संशय करनेवाला जीव है। वह जीव का परिणाम है, कर्म से (हुआ) नहीं। आ...हा...! उस समय तो यह (शास्त्र) कहाँ हाथ में आया था? ये तो (संवत् - १९७८) में (हाथ में) आया। ये सब शास्त्र १९७८ (में मिले)। १९७८ के फाल्गुन मास में हाथ आया, बाद में सब देखा (देखते ही लगा कि) ओ...हो...! ये कोई चीज है! मार्ग तो यह है! ऐसा मार्ग कहीं श्वेताम्बर शास्त्र में है नहीं। समझ में आया? यह पक्ष की बात नहीं (है), वस्तु का स्वरूप (ऐसा है)। बाहर में कहा कि विकार है, वह अपनी पर्याय में अपने से होता है। तीनों जैन सम्प्रदाय (के) लोग ऐसा कहते हैं, कर्म से (विकार होता है)।

दुनिया ऐसा कहे कि ईश्वर कर्ता हैं और इसके विकार का कर्ता जड़कर्म है। आहा...हा... ! विकार का कर्ता तेरी चीज तेरी अवस्था में है। पर्यायदृष्टि से तेरी पर्याय है — ऐसा न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! समझ में आया ? खलबली मच गयी थी। गुरु तो सुनते थे किन्तु दूसरे एक सेठ था, बड़ा गृहस्थ (था), दस लाख रुपया ! उन दिनों में दस लाख ! चालीस हजार की कमाई ! और दस हजार का एक गाँव घर का (था)। दशाश्रीमाली बनिया ! दस हजार की कमाईवाला गाँव (था)। ये सब पैसे तो अभी हुए। उस समय में तो दशाश्रीमाली में भी पैसे नहीं थे। दस लाख, चालीस हजार की कमाई और एक गाँव ! प्याला फट गया था ! उसे ऐसा लगे कि मैं ही एक जगत् में हूँ ! आ...हा...हा... ! उन्होंने विरोध किया। कर्म से विकार नहीं होता है, (— ऐसा) हमने तो कभी सुना नहीं। कर्म से होता है, (— ऐसा) सुना है। हमारे गुरु ने कहा नहीं और ये कहाँ से लाया ? प्रभु ! सुन तो सही ! विकार (का) परिणाम तेरे उलटे पुरुषार्थ से तेरे में होता है। कर्म तो जड़ है। जड़ कर्म को तो आत्मा कभी छूता नहीं और जड़, चैतन्य को, राग को छूता नहीं। आहा...हा... ! अरे... ! ये राग, द्वेष, विषयवासना, मिथ्यात्व-भ्रम, मनुष्यगति आदि उदयभाव तेरी पर्याय में, तेरे से, तेरा संसार का परिणाम उत्पन्न हुआ है। आ...हा...हा... ! है ?

'संसार' नामक जो यह आत्मा का... भाषा भी कैसी है ! **'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम...** भाषा तो देखो ! आहा...हा... ! एक ओर 'समयसार' ५०-५५ (गाथा) में ऐसा कहे कि सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है, सर्वज्ञ भगवान के मुख से ऐसा निकला है कि राग आदि परिणाम पुद्गल का है, जीव का नहीं। वह किस अपेक्षा से कहा ? वह तो स्वभाव में दृष्टि पड़ी और स्वभाव का भान हुआ तो उस अपेक्षा से विभाव अपना नहीं है, उसे टालना है तो टल सकता है। (इसलिए) अपनी चीज होवे तो टले नहीं। इस अपेक्षा से कहा।

यहाँ तो 'ज्ञेय अधिकार' है (इसलिए) कहते हैं कि जीव जो ज्ञेय है, उसकी पर्याय में जो विकार और चार गति होती है, वह अपने अपराध से होती है, कर्म से नहीं। कर्म तो निमित्तमात्र कारण है। समझ में आया ? 'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' आ...हा... ! 'अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई'।

मुमुक्षु – ऐसी बात आज तक किसी ने सुनाई नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री – भगवान! मार्ग तो यह है, प्रभु! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, सर्वज्ञ परमात्मा का यह कथन है। आहा...हा...! और न्याय से (बात) बैठी है। परद्रव्य के साथ क्या सम्बन्ध? परद्रव्य की पर्याय परद्रव्य से हो, यह भी अभी आयेगा। ये कर्मबन्धन जो होता है, (उसमें) राग, द्वेष और मनुष्यगति का निमित्त है। वह होता है परन्तु पर्याय अपने काल में अपने से होती है। राग-द्वेष निमित्त हो परन्तु अशुद्ध उपादान से कर्म में अशुद्ध परिणति, कर्म में कर्मरूप होने की दशा से कर्म होता है; आत्मा के कारण से नहीं। वैसे (ही) आत्मा राग-द्वेष करता है, वह कर्म के कारण से नहीं; कर्म निमित्तकारण है। आ...हा...हा...! ऐसा धर्म! परन्तु बनिये को धन्धे की आड़ में फुरसत नहीं मिले। आहा...हा...! अरे...! प्रभु!

यहाँ कहते हैं,... भाषा तो देखो! आ...हा...हा...! पंचम काल में 'अमृतचन्द्राचार्य'! गणधर का काम (किया है) और 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने तीर्थंकर जैसा काम किया!! ऐसे गणधर! 'कुन्दकुन्दाचार्य' के गणधर! आ...हा...! प्रभु! एक बार सुन! **'संसार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का)...** विकारी (परिणाम)। निर्मल परिणाम की यहाँ बात नहीं। समझ में आया? इसलिए 'तथाविध' लिया है। उस प्रकार के विकारी (परिणाम), मनुष्यगति, देवगति, तिर्यंचगति, निगोदगति... आहा...हा...!

ये नीम (का पेड़) एकेन्द्रिय तिर्यंचगति है। ये पत्ते जो दिखते हैं, वह तो जड़ हैं परन्तु अन्दर जो आत्मा है, उसमें जो तिर्यंचगति का उदय है, वह उसकी — जीव की पर्याय में है। नीम... नीम! एक पत्ते में असंख्य जीव! एक जीव में अपनी गति का उदय अपनी पर्याय में है, दूसरे जीव के कारण नहीं। कर्म से तो नहीं (परन्तु) दूसरा जीव साथ में है तो उसके कारण से नहीं। आहा...हा...! ऐसे निगोद... क्या कहते हैं? काई! देखो, न ढ़ेर पड़े हैं, वर्षा बहुत आयी। २४ इंच बारिश हुई। यहाँ तो पूरे चौमासे में बीस (इंच) चाहिए। गये साल १७-१८ (इंच) हुई थी, इस साल २४ तो अभी हो गया। काई जम गई है। आ...हा...हा...! एक-एक कण में असंख्य शरीर, एक-एक शरीर में अनन्त जीव! उस एक जीव का परिणाम जो संसार — तिर्यंचगति का है, वह राग-द्वेष संसार का

परिणाम है। वह परिणाम कर्म के कारण से नहीं, पर के कारण से नहीं; कर्म तो निमित्तमात्र कारण है। आ...हा...हा... ! अपने को आप भूल के हैरान हो गया। आहा...हा... ! 'श्रीमद्' तो ऐसा कहते हैं, तेरे परिणाम से तू भटकता है। तेरे विपरीत परिणाम का कारण तेरा जीव है। कोई पर के कारण से हुआ है — ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! यहाँ तो (लोग) कहे कि हमें कर्म का उदय ऐसा आया तो हमें विकारी परिणाम करना पड़ा, विषय का परिणाम (करना पड़ा)। अरे... प्रभु ! क्या करते हो तुम ?

भगवन्त ! आहा...हा... ! तेरी पर्याय में जो विकार होता है, मिथ्या भ्रान्ति — पुण्य को धर्म मानना, पाप में सुख मानना, पुण्य परिणाम में सुख मानना, ये भाव — उदयभाव तेरी पर्याय में तेरा परिणाम (है), वह संसार है। आ...हा...हा... ! संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, ये तुम्हारा करोड़ रुपया संसार नहीं है — ऐसा कहते हैं। संसार (वो) प्रभु ! तेरी पर्याय में है और यह पर्याय तेरे से हुई है — ऐसा कहते हैं। यहाँ तो अभी आगे कहेंगे कि ये परिणाम भावकर्म है फिर भी उपचार से उसे द्रव्यकर्म कहने में आता है। आ...हा... ! अरे...रे... ! ऐसी बात है। सत्य बात समझे नहीं, सत्य बात जमे नहीं, तब तक उसे धर्म कैसे हो ? आहा...हा... ! ऐसी बात है, प्रभु ! आहा...हा... !

'संसार' नामक... संसार नाम का **जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम है, वही द्रव्यकर्म के चिपकने का हेतु है।** नया कर्म बँधने में जीव का विकारी, संसार परिणाम निमित्त है। समझ में आया ? नया कर्म बँधने में..... नया कर्म तो अपनी पर्याय की योग्यता से बँधता है, परन्तु उसमें निमित्तपना जीव का राग-द्वेष और पुण्य-पाप, मनुष्यगति आदि भाव — जीव का परिणाम **द्रव्यकर्म के चिपकने का...** अर्थात् बँधन में, आहा...हा... ! **हेतु है।** हेतु अर्थात् निमित्त। निमित्तकारण कहने में आता है।

यहाँ तो यह लिया है परन्तु 'पंचास्तिकाय' ६२ गाथा में तो वहाँ तक लिया है... (दिगम्बर के विद्वान के साथ) बड़ी चर्चा (संवत् - २०१३ की) साल में हुई थी। 'पंचास्तिकाय' ६२ गाथा में कर्म की पर्याय कर्म से होती है और आत्मा में विकार अपने से होता है। इस विकार (होने) में कर्म के कारक की अपेक्षा नहीं — ऐसा पाठ है। यहाँ तो अभी निमित्त — हेतु कहने में आता है परन्तु वहाँ तो उसे कर्म के कारक की अपेक्षा

नहीं (ऐसा कहा है) । ६२ गाथा है । बड़ी चर्चा हुई थी । विरोध बहुत हो गया । (उनको) भी जमी नहीं । मूल तो सब को कर्म से होता है, ऐसी परम्परा चली । बस ! कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है । जैसा कर्म उदय में आये, वैसा विकार परिणाम जीव (में) होता है । बिलकुल झूठ है । आ...हा... ! इस एक गाथा में दोनों बात हैं । कर्म की पर्याय जो अकर्मरूप थी, वह कर्मरूप हुई, वह अपने कारण से हुई है । जीव ने राग-द्वेष किया वह तो निमित्त है । निमित्त है तो वहाँ कर्म की बँधन की पर्याय हुई — ऐसा है नहीं । षट्कारक से (हुई है) । कर्म की पर्याय अपनी पर्याय में षट्कारक से (हुई है) । पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म आदि षट्कारक से कर्मरूप पर्याय हुई । वहाँ ६२ गाथा (में) पहला बोल यह है । फिर दूसरे बोल में आत्मा लिया है ।

ऐसे आत्मा (में) कोई भी विकारी परिणाम (होते हैं), मिथ्या भ्रान्ति, पर में सुख माने — ऐसा मिथ्यात्व या राग-द्वेष या अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ को लक्ष्य में लेकर, बनाकर, (वैसे तो) कोई परपदार्थ अनुकूल-प्रतिकूल है नहीं । परन्तु यह ठीक नहीं है, यह ठीक है, ऐसा अनुकूल-प्रतिकूल बनाकर जो राग-द्वेष करते हैं, इस राग-द्वेष की पर्याय में कर्म के कारक की अपेक्षा बिलकुल नहीं है । ऐसा पाठ 'पंचास्तिकाय' ६२ गाथा (में है) । बहुत चर्चा हुई । (फिर भी) नहीं, नहीं कहते थे । कर्म के कारक बिना हो तो स्वभाव हो जाये, परन्तु स्वभाव ही है । उसका विकारी / विभाव स्वभाव ही है । आ...हा...हा... ! अरे...रे... ! अभी इतनी बात भी स्वीकार करने नहीं आये, उसे उस (भाव से) निवृत्ति करनी (कैसे हो पायेगी ?) कर्म से विकार होता है तो कर्म हटे तो (विकार का) नाश हो तो आत्मा के हाथ में कुछ रहा नहीं । आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह तो भगवान त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि (सुनी) उसमें से 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने शास्त्र बनाया । आ...हा...हा... ! भगवान की वाणी में यह आया है । तीन लोक के नाथ परमात्मा यह कहते हैं । 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ऐसा कहते हैं कि 'जिणे इमं भणिया' — जिनेश्वर ने ऐसा कहा है । आ...हा...हा... ! क्या (कहा) ? समझ में आया ? आ...हा... !

चिपकने का हेतु.... क्या ? आत्मा में जो मनुष्यगति आदि पर्याय, राग-द्वेष की पर्याय, शुभ-अशुभपरिणाम (होता है, यह चिपकने का हेतु है) । ये शुभपरिणाम संसार है

— ऐसा कहा ना ? भाई ! शुभपरिणाम संसार है। स्वभाव, संसाररहित है। उससे विरुद्ध — विपरीत वह संसार है। आहा...हा... ! अर्थात् क्या ? कि आत्मा मुक्तस्वरूप है। आहा...हा... ! द्रव्यस्वभाव मुक्तस्वरूप है। जबकि राग-द्वेष और मनुष्यगति उससे विपरीतस्वरूप है, तो वह संसारस्वरूप है। समझ में आया ? आहा...हा... ! भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है। कलश में आ गया है — मुक्तस्वरूप (कहो), अबद्ध कहो। (समयसार की) १४-१५ गाथा। भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव, राग से बँधा नहीं। और अपने ३२० गाथा में आ गया — त्रिकाल सकल निरावरण अखण्ड एक प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध परिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। आ...हा...हा... ! वहाँ द्रव्य में परिणाम अपना है, (— ऐसा) नहीं लिया। वह तो भेदज्ञान किया, उस अपेक्षा से (कहा)। भेदज्ञान किया उस अपेक्षा (से कहा)। वस्तु त्रिकाल द्रव्यस्वभाव सकल निरावरण आवरणरहित (है) अर्थात् मुक्त है। इस मुक्त (स्वरूप से) विपरीत गति का परिणाम, राग-द्वेष का परिणाम, वह संसार है। यह मुक्त है तो यह संसार है.... तो पुण्यपरिणाम भी संसार है।

कल (एक मुमुक्षु) आये थे (वे कहते थे)। (कोई दिगम्बर साधु का) चातुर्मास 'इन्दौर' में है। पाँच-पाँच, दस-दस हजार लोगों की सभा भरती है। लोग प्रसन्न होते हैं। लोगों को बेचारों को कुछ मालूम पड़ता नहीं। 'जय नारायण'! बाहर का त्याग देखे, नग्नपना देखे (परन्तु) प्ररूपणा कैसी (करते हैं) वह मालूम नहीं पड़ता। आ...हा... ! वे ऐसा कहते हैं कि पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है ? शास्त्र (में) आचार्य ने तो कहीं कहा नहीं — ऐसा कहते थे। आहा...हा... ! (यहाँ) क्या कहा ? परिणामधर्मस्वभावी वस्तु भगवान, उससे विकारी परिणाम जो (होते हैं), वह तो विपरीत है तो (वस्तु) धर्म है तो यह (विकारी परिणाम) अधर्म है। चाहे तो पुण्यपरिणाम (हो) तो (भी) वह अधर्म है। धर्म से बन्धन होता नहीं। तो (जिस) परिणाम में बन्धन होता है, वह परिणाम धर्म नहीं, अधर्म है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। लोगों को कुछ मालूम नहीं। जो कहते हैं (उसे मान लेते हैं)। आ...हा...हा... ! नग्नपना देखे, सभा भरे, लोगों को प्रसन्न करे (इसलिए लोग ऐसा बोले) विश्वधर्म की जय ! परन्तु जैन धर्म की जय बोल न ! आहा...हा... ! दुनिया को फिर अच्छा लगता है। यहाँ तो बापू ! लोकरंजन का मार्ग है नहीं। समझ में आया ? यहाँ तो

आत्मा अन्दर में प्रसन्न हो — आनन्द में आये, यह मार्ग है। राग से प्रसन्न हो, यह कोई मार्ग नहीं, प्रभु! आहा...हा...!

यह कहते हैं (कि) परिणाम — संसार परिणाम द्रव्यकर्म बँधने का हेतु है। आहा...हा...! **अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ?** उस परिणाम का हेतु कौन (है) ? **उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? (इसके उत्तर में कहते हैं कि :) द्रव्यकर्म उसका हेतु है,...** द्रव्यकर्म निमित्त है **क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता से...** है ? (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में इसका अर्थ लिखा है)। 'द्रव्यकर्म के संयोग से ही...' संयोग से, हाँ! विशेष तो वहाँ (संस्कृत टीका में) लिखा है। देखो! संस्कृत है। **निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि** 'जयसेनाचार्यदेव' (की टीका की) दूसरी पंक्ति। **निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणा-नादिकर्मबन्धशात्** कर्मबन्ध से नहीं, कर्मबन्धवशात् (कहा है)। स्वयं आधीन होता है। आहा...हा...! क्या कहा ? **व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात्** कर्मबन्ध के वश होता है। कर्मबन्ध उसको वश करता है — ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! क्या हो ?

अब, इस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? द्रव्यकर्म उसका निमित्त (है)। **क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता से...** (अर्थात्) सम्बन्ध से 'ही वह देखा जाता है।' नीचे (फुटनोट में) लिखा है। 'द्रव्यकर्म के संयोग से ही अशुद्धपरिणाम होते हैं...' संयोग, हाँ! 'द्रव्यकर्म के बिना वे कभी नहीं होते;...' यहाँ तो अपेक्षा सिद्ध करनी है। आ...हा...हा...! 'पंचास्तिकाय' में तो द्रव्यकर्म के कारक की, कर्तापने की कोई अपेक्षा उसमें है नहीं (— ऐसा लिया है)। वहाँ 'पंचास्तिकाय' में अस्तिकाय सिद्ध करना है। जीवास्तिकाय अपनी पर्यायसहित सिद्ध करना है। यहाँ ज्ञेय सिद्ध करना है। आहा...हा...! समझ में आया ? आ...हा...! **क्योंकि द्रव्यकर्म की संयुक्तता से ही वह देखा जाता है।**

(शंका :-) ऐसा होने से इतरेतराश्रयदोष आएगा! कर्म के निमित्त से (विकार) हुआ और उससे कर्म बँधते हैं। यह तो एक-दूसरे का आश्रय हुआ तो इतरेतराश्रयदोष आता है। इतरेतराश्रयदोष आता है। (अर्थात्) कर्म, विकार में निमित्त (है) और वह विकार, कर्मबन्धन में निमित्त (होता है)। तो यह तो इतरेतराश्रयदोष आया। (तो कहते हैं)

सुन तो सही! इतरेतराश्रयदोष की व्याख्या की है — 'एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिये दूसरी असिद्ध बात का आश्रय लिया जाए, और फिर उस दूसरी बात को सिद्ध करने के लिये पहली का आश्रय लिया जाए — सो इस तर्क-दोष को इतरेतराश्रयदोष कहा जाता है।' अब सिद्धान्त क्या है? कि 'द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम है;...' वह तो पुराना कर्म निमित्त कहा। वह का वही कर्म बँधते हैं और वह का वही कर्म, राग में निमित्त होता है — ऐसा नहीं। क्या कहा? पुराना कर्म निमित्त है और नया कर्म बँधते हैं, उसमें राग-द्वेष निमित्त है। वह का वही कर्म बँधता है (और) वही कर्म निमित्त (है) और उस बँधे कर्म में जीव के परिणाम निमित्त (हैं) — ऐसा नहीं। क्या कहा? कि जो पूर्व का कर्मबन्ध है, वह विकारी परिणाम में निमित्त (है) और यह विकारी परिणाम पूर्वबन्ध कर्म में निमित्त (होते हैं)। ऐसा होता है तो इतरेतराश्रयदोष आता है परन्तु ऐसा है नहीं। क्या कहा?

कर्म जो पुराने हैं, वे विकार में निमित्त (हैं) और वही परिणाम कर्म का परिणाम बन्ध है, उसमें विकारी परिणाम निमित्त (होते हैं — ऐसा हो) तो इतरेतराश्रयदोष आया। (परन्तु) ऐसा है नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! आया? 'द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा है; फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारण के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसका कारण पुनः द्रव्यकर्म कहा है, इसलिए शंकाकार को शंका होती है कि इस बात में इतरेतराश्रयदोष आता है'। तो कहते हैं, नहीं, पहले सुन, सुन! दोष नहीं आता है। क्यों?

क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध ऐसे आत्मा का जो पूर्व का... अनादिसिद्ध में निमित्त की बात नहीं है, ऐसा कहते हैं। ये कर्म अनादि (से) पड़ा है। **अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध ऐसे आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म...** ये पूर्व का द्रव्यकर्म (है)। **आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है, उसका वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।** आत्मा की गति, राग-द्वेष में पुराना कर्म जो अनादि है, उसे निमित्त में कहा है और नये बन्धन में — नया कर्मबन्धन में इस (परिणाम को) निमित्त कहा है। उसी कर्म में (वर्तमान परिणाम) निमित्त, वह के वही कर्म परिणाम में निमित्त और उस कर्म में परिणाम निमित्त (हो) तब तो इतरेतराश्रयदोष आता है। क्या कहते हैं?

विकारी परिणाम तो अपने से होता है, पर के अधीन (होने से), परन्तु वही परिणाम कर्म का निमित्त हो (अर्थात्) पुराना कर्म है, उसमें यह परिणाम निमित्त हो तो पूर्वकर्म का निमित्त परिणाम और वही परिणाम पुराने द्रव्यकर्म का निमित्त हो तो इतरेतराश्रयदोष आता है, किन्तु ऐसा तो है नहीं। विकारी परिणाम करते हैं तो उसमें पुराना कर्म निमित्त (है) और वह विकारी परिणाम कर्म को निमित्त नहीं (है), नया बन्धन में निमित्त (है)। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! निर्णय करने का (समय नहीं मिलता)। है ?

क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ संबद्ध ऐसे आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है, उसका वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है)। 'नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है,...' समझ में आया ? 'नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है, और उस अशुद्ध आत्मपरिणाम का कारण वह का वही द्रव्यकर्म नहीं...' आनेवाला कर्म, वह का वही नहीं। 'किन्तु पहले का (पुराना) द्रव्यकर्म है; इसलिए इस में इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।' क्या कहा ? कि नया कर्म आता है, उससे आत्मा का विकार हो और वह विकार का परिणाम नया कर्म में (निमित्त) हो तो तो इतरेतराश्रयदोष आता है.... परन्तु ऐसा है नहीं। पुराना कर्म विकार में निमित्त है और नये कर्म में यह विकारी परिणाम निमित्त है; इसलिए इतरेतराश्रयदोष आया नहीं। वह का वही कर्म, परिणाम में निमित्त हो और वह का वही परिणाम उसी कर्म में निमित्त हो तो इतरेतराश्रयदोष आता है। न्याय समझ में आया ? बनिये / व्यापारी को ये समझना ! आहा...हा... !

क्या कहते हैं ? तुम कहते हो कि इतरेतर — एक-दूसरे के आश्रय से एक दोष आया कि पुराना कर्म है, वह विकार में निमित्त (है) और वही कर्म में कर्म बँधा है, उसमें विकारी परिणाम निमित्त (हो) तो तो इतरेतराश्रयदोष आता है परन्तु ऐसा है नहीं। पुराना कर्म है, वह विकारी परिणाम में निमित्त है और विकारी परिणाम पूर्व के कर्म में निमित्त नहीं। विकारी परिणाम नया बन्ध में निमित्त है। है ? आहा...हा... ! Logic – न्याय से तो प्रभु कहते हैं। आ...हा... !

(पूर्व के द्रव्यकर्म को) **वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।** नये

कर्म (को) विकारी परिणाम (में) निमित्तपने स्वीकार नहीं किया है। क्या कहा? नया कर्म जो बँधा वह विकार में निमित्त है — ऐसा नहीं कहा है; पूर्व का कर्म, विकार में निमित्त है। नये कर्म में विकारी परिणाम निमित्त है। जो नया कर्म आता है, उससे विकार परिणाम हो और नया (कर्म) आने में वही विकारी परिणाम निमित्त हो तो दोष आता है। आहा...हा...! भाई! ऐसा कभी कहाँ विचार किया है? ठिकाना कहाँ है? निर्णय... निर्णय (करना चाहिए)। आहा...हा...!

(संवत् - १९७१ में) बहुत खलबली हो गई थी। ऐसी बात कहाँ से लाये? हमारे गुरु ने कभी कहा नहीं, हमने सुना नहीं कि कर्म के बिना विकार होता है। विकार अपने से होता है, कर्म के कारण से (नहीं होता)। कर्म तो निमित्तमात्र है। (ऐसा) कहाँ से लाये? हमारे गुरु ने तो कहा नहीं। ये कहाँ से लाये? ये पढ़ाई उड़कर कहाँ जाएगी? पढ़ाई समझे? पतंग! (एक) सेठ ऐसा कहते थे। यह पतंग उड़कर कहाँ जाएगी? ये तो घर की बात कहते हैं। हमारे गुरु ने कभी कहा नहीं, हमने सुना नहीं, शास्त्र में ऐसा लिखा नहीं। शास्त्र में यह क्या (लिखा) है? आ...हा...! सुनने में आया नहीं, गप्प मारे! आहा...हा...!

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है... क्या (कहते हैं)? नवीन कर्म जिसका कार्यभूत, अर्थात् विकारी परिणाम कारण-निमित्त (है) और नया कर्म, कार्य (है)। निमित्त से कहते (हैं)। नये कर्म के कार्य का निमित्त विकारी परिणाम है। **नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है,...** (ऐसा) परिणाम। विकारी परिणाम नया कर्म में निमित्त है और इस परिणाम में पुराना (कर्म) कारणभूत है। **ऐसा (आत्मा का तथाविध परिणाम) होने से आत्मा का तथाविध परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है,...** आ...हा...हा...हा...! विकारी परिणाम को उपचार से द्रव्यकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म निमित्त है तो भावकर्म को भी उपचार से द्रव्यकर्म कहने में आता है। आहा...हा...! ऐसी लम्बी लम्बी बातें! हैं? **(आत्मा का तथाविध परिणाम) होने से आत्मा का तथाविध परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है,...**

और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से... आत्मा अपने विकारी

परिणाम का कर्ता होने से **द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।** जड़ में व्यवहार-उपचार से (कर्ता) कहने में आता है। निमित्त है तो उपचार से कहने में आता है। बाकी जड़कर्म का कर्ता आत्मा है नहीं और जड़कर्म, विकारीपरिणाम का कर्ता नहीं। जड़कर्म बँधा, उसमें विकारी परिणाम कर्ता नहीं और विकारीपरिणाम में पुराना जड़कर्म कर्ता नहीं। आहा...हा... ! भाषा तो देखो! **आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।** ●●

गृहस्थदशा में मुक्ति का अभाव

तीन काल के अनन्त सन्तों का एक ही प्रकार है कि आत्मा के भानपूर्वक पहले तो मुनि होने का विकल्प उत्पन्न होता है, परन्तु उसका आश्रय नहीं मानते और बाह्य में परिग्रह का सङ्ग नहीं होता। पश्चात् अन्तर चैतन्यस्वभाव में लीन होने पर मुनियों को प्रथम सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। जिसको मुक्ति होती है, उसको यह दशा आये बिना कभी मुक्ति नहीं होती। गृहस्थपने में सम्यग्दर्शन और एकावतारीपना हो, परन्तु इस दशा के बिना किसी सम्यग्दृष्टि की भी गृहस्थपने से मुक्ति नहीं हो जाती।

कोई जीव, द्रव्यलिङ्गी मुनि होकर यह मानता है कि मैं वस्त्र के त्याग की क्रिया करता हूँ, तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। साधुपद में स्वरूप के भानसहित राग टूटने पर शरीर की निर्ग्रन्थता उसके कारण हो जाती है, उस काल में ऐसा ही उन पुद्गलों के परिवर्तन का काल है; आत्मा का स्वकाल अपने में स्थिरता का है। जहाँ आत्मा के स्वकाल में भाव निर्ग्रन्थता हुई, वहाँ अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायकर्म के परमाणुओं का नाश हो जाता है, यह पुद्गल का स्वकाल है और बाह्य में वस्त्रादिक छूटना, वस्त्रादिक के परमाणुओं का स्वकाल है। इस प्रकार प्रत्येक का स्वकाल स्वतन्त्र होने पर भी, जब आत्मा में स्थिरता का स्वकाल होता है, तब परमाणुओं में तीन कषायकर्मों का अभाव न हो - ऐसा नहीं होता और वस्त्रादि का वियोग नहीं हो - ऐसा भी नहीं होता। ऐसा ही निर्मल मुनिदशा का और वस्तु का स्वभाव है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १२२

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति -

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।।१२२।।

परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता।।१२२।।

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतंत्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत्। पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति।।१२२।।

अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता, न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति। अथवा द्वितीयपातनिका - शुद्धपारिणामिकपरभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि सांख्येन यदुक्तं तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्ध्यर्थं कथंचित्परिणामित्वं व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वयं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति - **परिणामो सयमादा** परिणामः स्वयमात्मा, आत्मपरिणामस्तावदात्मैव। कस्मात्। परिणामपरिणामिनोस्तन्मयत्वात्। **सा पुण किरिय त्ति होदि** सा पुनः क्रियेति भवति, स च परिणामः क्रिया परिणतिरिति भवति। कथंभूता। **जीवमया** जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी। **किरिया कम्म त्ति मदा** जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधीनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन

प्राप्यत्वात्सा क्रिया कर्मेति मता संमता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूपं जीवदभिन्नं भावकर्मसंज्ञं निश्चयकर्म तदेव ग्राह्यम्। तस्यैव कर्ता जीवः। **तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता** तस्माद्द्रव्यकर्मणो न कर्तेति। अन्नैतदायाति - यद्यपि कथंचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्वं जातं तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता, पुद्गलकर्मणां व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्षं साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता, जीवपरिणामानां व्यवहारेणेति।।१२२।।

अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं —

परिणाम स्वयं है आत्मा, अरु क्रिया है वह जीवमयी।
क्रिया वही है कर्म, जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं॥

अन्वयार्थ – **[परिणामः]** परिणाम **[स्वयम्]** स्वयं **[आत्मा]** आत्मा है, **[सा पुनः]** और वह **[जीवमयी क्रिया इति भवति]** जीवमय क्रिया है; **[क्रिया]** क्रिया को **[कर्म इति मता]** कर्म माना गया है; **[तस्मात्]** इसलिए आत्मा **[कर्मणः कर्ता तु न]** द्रव्यकर्म का कर्त्ता तो नहीं है।

टीका – प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्त्ता होने से परिणाम से अनन्य है; और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है; और फिर, जो (जीवमयी) क्रिया है वह आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य[१] होने से कर्म है। इसलिए परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का ही कर्त्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणाम –स्वरूप द्रव्यकर्म का नहीं।

अब यहाँ ऐसा प्रश्न होता है कि '(जीव भावकर्म का ही कर्त्ता है तब फिर) द्रव्यकर्म का कर्त्ता कौन है ?' इसका उत्तर इस प्रकार है — प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्त्ता होने से परिणाम से अनन्य है; और जो उसका (पुद्गल का) तथाविध परिणाम है वह पुद्गलमयी

१. प्राप्य = प्राप्त होने योग्य, (जो स्वतन्त्रपने करे सो कर्ता है; और कर्ता जिसे प्राप्त करे सो कर्म है।)

ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है; और फिर, जो (पुद्गलमयी) क्रिया है वह पुद्गल के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होने से कर्म है। इसलिए परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्त्ता है, किन्तु आत्मा के परिणामस्वरूप भावकर्म का नहीं।

इससे (ऐसा समझना चाहिए कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गल -स्वरूप परिणमित नहीं होता॥ १२२॥

प्रवचन नं. १३७ का शेष **दिनाङ्क १७ जुलाई १९७९**

अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं :— १२२ (गाथा)। द्रव्यकर्म की पर्याय तो द्रव्यकर्म से होती है, आत्मा उसका कर्ता है नहीं। स्वतन्त्रपने करे, सो कर्ता। तो कर्म अपनी पर्याय से स्वतन्त्रपने कर्मरूप परिणाम होता है। जीव ने राग-द्वेष किया, इसलिए वहाँ कर्मरूप पर्याय हुई, (— ऐसा है नहीं)। ऐसा है। १२२ (गाथा)।

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।।१२२।।

परिणाम स्वयं है आत्मा, अरु क्रिया है वह जीवमयी।
क्रिया वही है कर्म, जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं॥

आहा...हा...! **प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है,...** भाषा देखो! विकारी परिणाम स्वयं आत्मा है। आहा...हा...! विकारी (परिणाम) लेना है न? मनुष्यगति, चार गति, क्रोध, मान, माया, लोभ, वेद के विषय की वासना, ये सब जीव का परिणाम होने से जीव है। **आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है,...** आ...हा...हा...! पर्यायदृष्टि से जो अपना परिणाम है, वह अपना है। विकारी-राग-द्वेष और मिथ्यात्व, जीव का परिणाम होने से वह जीव है, जड़ नहीं।

क्योंकि परिणामी, परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य

है;... क्योंकि परिणामी ऐसा द्रव्य, परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से परिणामी अनन्य है। परिणाम और परिणामी एक ही है। अन्य अन्य नहीं, अनन्य है। परिणाम और परिणामी अनन्य है। अल्प परिणाम और अल्प परिणामी — ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! है?

परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से... परिणामी अर्थात् द्रव्य, परिणाम अर्थात् पर्याय — राग-द्वेष, पुण्य-पाप भाव के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से परिणामी अनन्य है। परिणाम से परिणामी — विकार से आत्मा अनन्य है। अन्य-अन्य विकार और अन्य आत्मा — ऐसा है नहीं। आ...हा...हा...! परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। (वह तो) छूते ही नहीं। आ...हा...! जीव विकार करता है तो कर्म को छूता नहीं और अजीव जड़कर्म (का) उदय आया तो आत्मा का विकार — राग को छूता नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है। (लोगों को) फुरसत नहीं मिलती, निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती। आहा...हा...!

तेरा ज्ञान का — ज्ञेय का विकारी परिणाम चाहे तो मिथ्यात्व हो और राग-द्वेष हो (तो भी) वह परिणाम परिणामी का है तो (वह) परिणामी ही है। वह आत्मा का परिणाम आत्मा है। आत्मा का परिणाम आत्मा है। आ...हा...हा...! एक ओर जब दृष्टि का विषय कहे, तब कहे कि विकारी परिणाम पुद्गल है। पुद्गल का परिणाम भी नहीं; परिणाम कहकर फिर पुद्गल है, (— ऐसा कहे)। 'समयसार' (की) ७५ गाथा! कौन सी अपेक्षा है? प्रभु! है तो उसकी पर्याय में अपना पुरुषार्थ (से), परन्तु जब स्वभाव की दृष्टि हुई... आहा...हा...! मेरा त्रिकाली आनन्द का नाथ, प्रभु (है), ऐसा जहाँ शुद्ध (स्वरूप का) अनुभव हुआ, उस कारण से विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं। उस विकारी परिणाम का कर्ता कर्म (है — ऐसा) उस समय भिन्न करने को कहा। समझ में आया? वहाँ विकारी परिणाम को कर्म कहे, यहाँ विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा कहे। कौन सी अपेक्षा से कथन है? भाई! आ...हा...! परिणाम से परिणामी अलग नहीं। विकारी परिणाम से आत्मा अलग नहीं। आहा...हा...!

(समयसार) ६८ गाथा में तो ऐसा कहा, जौ में से जौ होता है। इसी तरह विकारी

परिणाम, कर्म में से होता है, आत्मा से नहीं। ६८ गाथा! चौदह गुणस्थान, भेद कर्म में से होता है। आत्मा त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से (विकार) आत्मा का नहीं। आहा...हा...! स्वभाव (का) जब अन्दर अनुभव हुआ तो विकार तो उसका व्याप्य है नहीं। दृष्टि जहाँ सम्यक् हुई और वस्तु का भान हुआ (कि) मैं तो आनन्दकन्द हूँ, तो उसका व्याप्य तो निर्मलपरिणाम है और व्यापक आत्मा है। विकारीपरिणाम उसका व्याप्य और आत्मा व्यापक — सम्यग्दर्शन की दृष्टि में और दृष्टि के विषय में यह चीज है नहीं। आ...हा...हा...! कभी ऐसा कहे... कभी वैसा कहे! पर्यायदृष्टि से पर्याय उसकी है (— ऐसा) सिद्ध करना है और द्रव्यदृष्टि से पर्याय में राग है, वह अपना नहीं — ऐसा सिद्ध करना है। आ...हा...हा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – दोनों में से एक बात सच हो, वह बता दो।

पूज्य गुरुदेवश्री – साला होता है, साला! तो उसकी बहन है, इस अपेक्षा से उसे साला कहने में आता है और अपनी बहन उसको दी हो तो उस अपेक्षा से बहनोई कहने में आता है। भाई! है या नहीं? आपके घर में — संसार में होता है। आहा...हा...!

प्रश्न – यह सिद्धान्त है?

समाधान – सिद्धान्त ही हुआ न! आहा...हा...! (ऐसा) होता है न? पहले किसी ने अपनी कन्या दे दी हो, फिर उसे भाव हुआ हो कि मेरे साले को मेरी बहन देनी है, (तो) दे देते हैं। एक की अपेक्षा से साला भी कहने में आता है और बहनोई भी कहने में आता है। ऐसे यहाँ भी पर्यायदृष्टि से परिणाम, आत्मा कहने में आता है और द्रव्यदृष्टि से विकार-परिणाम, कर्म का कहने में आता है। समझ में आया? आहा...हा...!

और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है... जीवमयी ही क्रिया है! क्या कहा? किया है ऐसे नहीं, क्रिया है (— ऐसे कहा है)। राग-द्वेष, मनुष्यगति जीव की ही क्रिया है। आहा...हा...! वह क्रिया संसार है और वह परिणाम संसार है। फिर भी वह परिणाम परिणामी आत्मा का है। आहा...हा...! **तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी.... जीवमयी**! भाषा तो देखो! **जीवमयी ही क्रिया है,...** जीवमयी (अर्थात्) जीव के साथ तन्मय। आ...हा...हा...हा...! गति उदयभाव

है, राग उदयभाव है, वह जीवमयी... जीवमयी होने से वह क्रिया जीव की है, वह जीव ही है। वह क्रिया जीव की है तो जीव ही है। आहा...हा... !

एक ओर 'समयसार' में दृष्टि का विषय चले, तब (और) कुछ चले। कौन सी अपेक्षा है ? बापू ! वहाँ द्रव्यदृष्टि के विषय की अपेक्षा से बात चले, तब विकार परिणाम जीव का नहीं — ऐसा कहने में आता है किन्तु उसकी पर्याय की स्थिति उसमें है, वह वर्णन जब चलता है, तब इस पर्याय का कर्ता (जीव है), वह परिणाम जीवमयी होने से जीव ही है। यह क्रिया जीवमयी होने से जीव ही है। आत्मा का विकारी परिणाम आत्मपने होने से आत्मा ही विकारी परिणाम है। वह विकारी परिणाम आत्मा ही है। आहा...हा... ! कभी यह, कभी वह ! कौन सी अपेक्षा है ? भाई ! दोनों अपेक्षा समझे बिना उसे अनेकान्त का ज्ञान नहीं होता। आहा...हा... !

क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया आत्ममयता... आ...हा...हा... ! क्या कहते हैं ? **सर्व द्रव्यों की परिणाम...** अर्थात् पर्यायलक्षणक्रिया आत्मामय (अर्थात्) निजस्वरूप है। आत्ममयता का अर्थ ? यहाँ तो सभी द्रव्य की (बात है)। आत्ममय अर्थात् निजस्वरूप है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस द्रव्य का निजस्वरूप ही है। आत्ममयता का अर्थ आत्मपना यहाँ नहीं लेना। आत्ममयता का अर्थ प्रत्येक द्रव्य की पर्याय आत्ममय अर्थात् उस द्रव्यस्वरूप है। प्रत्येक विकार आदि परिणाम द्रव्यस्वरूप है। है ? (ऐसी आत्ममयता) **स्वीकार की गई है;...** ऐसा भगवान की वाणी में स्वीकार किया गया है। आ...हा...हा... !

और फिर, जो (जीवमयी) क्रिया है, वह आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होने से कर्म है। ये विशेष कहेंगे.... !

प्रवचन नं. १३८ **दिनाङ्क १८ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार' १२२ गाथा। चार पंक्ति चली है। फिर से लेते हैं। **प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है,...** चाहे तो शुद्ध परिणाम हो या अशुद्ध, परन्तु आत्मा है, यहाँ तो यह सिद्ध करना है। आहा...हा... ! 'ज्ञेय अधिकार' है न ? तो शुद्ध

परिणाम हो या अशुद्ध हो, परन्तु वह आत्मा ही है। आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहे कि अशुद्ध परिणाम जो है, वह कुशील है; एक ओर कहे कि शुभ-अशुभभाव, स्वभाव से विरुद्ध स्वभाव है; एक ओर ऐसा कहे कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव से पुण्य -पाप अत्यन्त विपरीत है। आ...हा...! परन्तु है उसकी पर्याय में — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

मोक्षमार्ग और स्वभाव के आश्रय से शुद्धता प्रगट हो, वह धर्म (है) और अशुद्धता रहे, वह धर्म नहीं, वह तो मोक्षमार्ग की व्याख्या करनी हो वहाँ (— ऐसा कहा जाता है)। परन्तु जीवस्वरूप... आ...हा...हा...! शुद्ध या अशुद्ध जो परिणाम (है), वह तो आत्मा ही है। वह कोई परमाणु है या पुद्गल है (— ऐसा नहीं)। आहा...हा...! एक ओर दृष्टि का विषय बताते हुए ऐसे कहे कि पुण्य-पाप का अशुद्ध परिणाम, पुद्गल है। कौन सी अपेक्षा से (कहते हैं)? अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, अनुभव हुआ तो इस अपेक्षा से जो विकार बाकी रहा, (उसे पुद्गल कहा)। वह आता है न? जब तक कर्म की विरति न हो। कर्म की विरति अर्थात् विकारी की विरति, जब तक न हो, वहाँ तक राग आता है परन्तु है तो कुशील, आ...हा...! है तो अपना परिणाम।

मुमुक्षु - चारित्रदोष होता है तब तक (कुशील है)।

पूज्य गुरुदेवश्री - जब तक पूर्णता नहीं होती, तब तक ज्ञानधारा (अर्थात्) स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई धर्मधारा और कर्मधारा — राग है, वह कर्मधारा है (दोनों धारा रहती है)। आहा...हा...! (कर्मधारा को) अधर्म नहीं कहना, (ऐसा कहते हैं)! अरे...! प्रभु... प्रभु...! क्या करता है?

पुण्य परिणाम है तो अपनी पर्याय में। ज्ञानी भी ऐसा जानते हैं कि जो पुण्य और पाप के परिणाम हुए, वे हुए हैं मेरी पर्याय में, मेरे से हुए हैं। भले कर्तृत्वबुद्धि नहीं (है) परन्तु कर्तारूपी परिणमन है। यह क्या? कर्तृत्वबुद्धि — करनेयोग्य है — ऐसी धर्मी की बुद्धि नहीं (है)। परन्तु धर्मी में जब तक पूर्ण वीतराग न हो तब (तक) आत्मधारा — स्वभावसन्मुख का दर्शन, ज्ञान, चारित्र और रागधारा... आ...हा...हा...! जो विरुद्ध स्वभाव है, स्वभाव से अत्यन्त विपरीत है (ऐसी दोनों धारा बहती है)। वह तो त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन करना हो, तब उसकी बात करने में आती है, तो भी जो पुण्य

और पाप का परिणाम हुआ, वह है तो जीवमय। आहा...हा...! ऐसी बात! और उस परिणाम को (समयसार) ७५ गाथा में पुद्गल कहा। 'पुण्य-पाप अधिकार' में पुण्य को कुशील कहा। जो संसार में प्रवेश कराये, वह अपना स्वभाव कैसे (हो सकता है)? वह त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से बात है। समझ में आया? आहा...हा...! अरे...! और ७४ गाथा में आता है न? अविरुद्ध स्वभाव नहीं है, वध्य-घातक स्वभाव है। आ...हा...हा...! भगवान आत्मा की दृष्टि से शान्ति प्रगट हुई तो उस शान्ति को पुण्य-पाप (के परिणाम) पर्याय में अल्प घात करते हैं। आ...हा...हा...! फिर भी है जीव की पर्याय! ऐसी बात कहाँ (सुनी हो?) समझ में आया?

'संवर अधिकार' में तो ऐसा कहा न कि शुभ-अशुभभाव के प्रदेश भिन्न है। अरे...अरे...! यहाँ कहते हैं कि पुण्य-पाप का परिणाम जीवमय है। क्या अपेक्षा (है)? प्रभु! अनेकान्तमार्ग समझना। आहा...हा...! जब दृष्टि — सम्यग्दर्शन का विषय चलता हो, तब सम्यग्दर्शन का विषय तो शुद्धस्वरूप पवित्र है; पुण्य-पाप का परिणाम तो नहीं परन्तु पर्याय भी — सम्यग्दर्शन की पर्याय भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। समझ में आया? फिर भी वह विषय नहीं होने पर भी, पर्याय में जितना पुण्य और पाप का भाव आता है, वह स्वभाव से विरुद्ध, स्वभाव से अत्यन्त विपरीत और पुण्यभाव, कुशील (है)। फिर भी जीव की पर्याय में है तो जीव कहने में आया। इतना सब (समझना कठिन पड़े)। ऐसी बात है।

यहाँ ज्ञानप्रधान अधिकार में ज्ञेय की मर्यादा में क्या है? आत्म-ज्ञेय की मर्यादा में क्या है? कि द्रव्य और गुण है और शुद्धाशुद्ध पर्याय उसकी मर्यादा में है। तो वह जीवमय है। आहा...हा...! अरे...! समझ में आया? तो यहाँ कहा, **आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है,...** 'परिणाम' शब्द (का अर्थ) भले पुण्य-पाप का शुभ-अशुभ भाव हो... आहा...हा...! परन्तु वह **आत्मा का परिणाम वास्तव में...** आहा...हा...! और ७५ आदि गाथा में ऐसा कहे कि पुण्य-पाप का भाव वास्तव में पुद्गल है। वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई तो स्वभाव के स्वरूप में वह है नहीं (तो) दृष्टिवान समकिती को दृष्टि की अपेक्षा से पुण्य-पाप का भाव पृथक् है।

अरे... ! (समयसार की) ७२ गाथा में तो वहाँ तक कहा है न, भाई ! (शुभ-अशुभ भाव) अशुचि और जड़ (है) और भगवान शुचि और चेतन (है)। पुण्यपरिणाम (को) जड़ (कहा)। 'अजीव अधिकार' में पुण्य-पाप को अजीव कहा। यहाँ कहते हैं कि जीवमय (है)। पर्याय है, परन्तु जब धर्म — मोक्षमार्ग की व्याख्या चलती हो... आहा...हा... ! तब भगवान ! तेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है।

यहाँ तो और एक दूसरी बात कहेंगे। यहाँ तो शुद्ध है — ऐसा भान हुआ तो यह शुद्ध उपयोग भी आत्मा का एक कर्म है। जैसे राग-द्वेष भावकर्म है, ऐसे शुद्ध उपयोगी जीव को शुद्ध उपयोग भी उसका कर्म है। गाथा में अभी आगे आयेगा। कर्मचेतना और अकर्मचेतना की व्याख्या करेंगे। कर्मचेतना में राग-द्वेष (है), वह कर्मचेतना है। फिर भी यह जीवमय क्रिया है और वह जीव का परिणाम है — ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा... ! समझ में आया ? और कर्मचेतना — राग-द्वेष करना और उसे भोगना, वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि पुण्य और पाप का भाव जो कर्मचेतना कहा, वह जीवमय है, जीव की पर्याय में है। आहा...हा... ! ऐसा ज्ञानी जानते हैं। आ...हा...हा... ! कहो, समझ में आया ? आप के हीरों से तो यह अलग जाति की बात है। कौन सी अपेक्षा से (बात है) ? क्या चलता है ? क्या अधिकार (चलता) है ? — उस अपेक्षा से न समझे और एकान्तर खींचे तो यह वस्तु नहीं। वहाँ पुण्य-पाप को तो जड़ कहा, 'जीव-अजीव अधिकार' में पुण्य-पाप को अजीव कहा। यहाँ कहते हैं कि जीव की पर्याय में है; इसलिए जीव है। ऐसी बात है, प्रभु ! कठिन मार्ग ! आहा...हा... ! वीतराग तीन लोक के नाथ जिस अपेक्षा से कहते हैं, वह अपेक्षा जाननी चाहिए। अपने घर की अपेक्षा लागू नहीं करनी। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **स्वयं आत्मा ही है,...** है ? कौन (आत्मा है) ? मिथ्यात्व परिणाम आत्मा ही है। उसका परिणाम है न ? जड़ पुद्गल में है ? पुद्गल का है ? आहा...हा... ! फिर भी वह गाथा भी आती है या नहीं ? 'विद्वज्जनो भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करे' आहा...हा... ! वह तो धर्म और मोक्षमार्ग की व्याख्या चलती है। विद्वान् नाम

धराकर शास्त्र में से निश्चय को छोड़कर व्यवहार निकाले और उससे लाभ निकाले तो वह तो संसार का कारण है। (भले) संसार का कारण है परन्तु है तो जीवमय पर्याय। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ तो (अज्ञानी) कहते हैं कि पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है ? इसलिए आचरण करना। आहा...हा... ! 'पुण्य-पाप अधिकार' में तो ऐसा कहा (कि) भगवान ने तो अनुभूति (करने) को कहा है। राग का अनुभव करना, वह कोई धर्म नहीं। भले जीव की पर्याय में हो। समझ में आया ? वह धर्म नहीं परन्तु उसे आचार्य के शब्दों में कहें तो जहर का प्याला है ! राग जहर है। फिर भी है जीव की पर्याय। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? तो वह **आत्मा ही है,...**

क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से... परिणामी जो द्रव्य (है वह) जो शुभ, अशुभ या शुद्ध परिणमन करता है। **परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है;...** अपनी पर्याय से — परिणाम से वस्तु — परिणामी अभेद है — अनन्य है। अन्य परिणाम और अन्य परिणामी, ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! ७५-७६ (गाथा में) ऐसा कहे कि राग और पुण्य-पाप का परिणाम (जो होता है, उसमें) व्यापक कर्म (है) और विकार की दशा व्याप्य (है)। आ...हा...हा... ! वह तो त्रिकाली आनन्द के नाथ आश्रय लेकर (जो) स्वभाव की दृष्टि हुई, तब जो धर्म (प्रगट हुआ, उस अपेक्षा से बात है)। आहा...हा... ! भाई ! ऐसी बातें हैं, बापू ! क्या हो ? आहा...हा... ! सर्वज्ञ के मार्ग में अनेकान्त की अपेक्षा से क्या कहा है ? — यह बराबर समझ में लेना। कोई एकान्त खींचे, वह नहीं चलेगा। आ...हा...हा... !

यहाँ कहते हैं, **और जो उसका (आत्मा का) तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है,...** आ...हा...हा... ! जीव की क्रिया है (— ऐसा तो नहीं किन्तु) जीवमयी क्रिया है (— ऐसा कहा) ! भगवान ! जीव उसरूप परिणमता है, जड़ परिणमता नहीं। आहा...हा... ! वह परिणमता है तो धर्म है — ऐसा नहीं। आ...हा...हा... ! धर्म तो, धर्मी जो भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन (है), उसका आश्रय लेकर जो शुद्ध परिणति उत्पन्न होती है, वह धर्म है। उस अपेक्षा से अशुद्ध पर्याय जीवमयीपने होती है, परन्तु है

वह अधर्म। धर्म से विरुद्ध अधर्म (— ऐसा कहते हैं तो अज्ञानी) चिल्लाते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

वहाँ तो कहा था न? (संवत् - १९८५ में) प्रश्न चला था। 'बोटाद'! 'बोटाद' में स्थानकवासी के तीन सौ घर (थे)। उसमें तो हमारी बहुत प्रसिद्धि थी न! हम व्याख्यान देने बैठते थे (और लोगों को मालूम पड़े कि) 'कानजीस्वामी' व्याख्यान (देने बैठे) हैं तो लोगों की भीड़ लग जाती! उपाश्रय खचाखच (भर जाये) और खिड़की और पूरी गली आदमियों से भर जाय! तीन सौ घर (थे) इसलिए बहुत लोग (आते थे)। १९८५ की बात है। कितने वर्ष हुए? पचास वर्ष पहले की बात है। (उस वक्त) कहा था, प्रभु! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्धन होता नहीं। बंधभाव से बंध होता है। धर्म से बंध होता नहीं, अत: तीर्थंकरगोत्र बाँधे वह बंध भाव है। धर्म की अपेक्षा से वह बंध भाव है। वस्तु की अपेक्षा से वह जीव का परिणाम है। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत विरोध आता है तो उसका ज्यादा स्पष्टीकरण चलता है। आहा...हा...! आप के गाँव में ये सब चल रहा है, 'इन्दौर'!

अरे...रे...! कहते हुए शर्म आती है। भगवान ऐसा कहते हैं कि हमें खेद आता है! आ...हा...हा...! परन्तु ये चीज ऐसी है, ऐसा हम प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा...! अरे...रे...! राग को धर्म मानते हैं (तो) मुनि को खेद आता है। मुनि (को) विकल्प है न अभी? निर्विकल्पदशा तो है परन्तु दु:खी प्राणी और विपरीत दृष्टिवालों को देखकर करुणा आती है। आहा...हा...! विकल्प आता है। विकल्प आता है, वह है जीवमयी; फिर भी धर्मी की दृष्टि हुई है, इसलिए ये करनेयोग्य है — ऐसी दृष्टि छूट गई है। परन्तु परिणमन मेरे में है, ऐसा ज्ञान रह गया। आहा...हा...! समझ में आया?

तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी... है। जीवमयी कहो या आत्ममयी कहो (सब एकार्थ है)। ऐसा लेंगे। **क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया...** (अर्थात्) छहों द्रव्य की परिणतिरूप — पर्यायरूप क्रिया **आत्ममयता...** आत्ममयता माने? जड़ की आत्ममयता — ऐसे नहीं। आत्ममयता अर्थात् स्वरूपमयता, वह निजस्वरूप है। आहा...हा...! पुद्गल में परमाणु की जो पर्याय होती है, वह निजमयता — अपने स्वरूपमय

है। धर्मास्तिकाय में भी जो परिणाम होता है, वह निजमय — आत्ममय है। आत्ममय नाम निजमय है। आत्मा शब्द से यहाँ आत्मा — ऐसा (अर्थ) नहीं (लेना)। निजमय! आहा...हा...! समझ में आया? चाहे तो राग की — अधर्म की पर्याय (हो वह भी निजमय है)। आहा...हा...! गजब बात है!

(निजमयता) से स्वीकार की गई है;... विकारी परिणाम अपने निजमय है — ऐसा परमात्मा ने ज्ञान में स्वीकार किया है — ऐसा जगत को बताया है। आ...हा...हा...हा...! अरे...! ऐसा मार्ग! समझ में आया? कर्म से विकार होता है, यह बात झूठी दृष्टि से कथन है। विकार अपने से होता है, यह सत्य ज्ञान की दृष्टि से बात है। समझ में आया? भाई! ऐसा कब समझे! अरे...! ऐसा काल कब मिले? भाई!

कोई पूछ रहा था कि ये नीम के पत्ते में कितने जीव होंगे? भाई! एक-एक पत्ते में असंख्य जीव! एक एक पत्ते में, हाँ! ये सब हरितकाय है न? उसमें एक कण लो तो उसमें असंख्य शरीर! एक-एक शरीर में — प्रत्येक में एक जीव! आ...हा...! भाई! तुझे दुर्लभता से (यह चीज सुनने) मिली है, बापू! आ...हा...! और यह काई (उसके) एक कण में असंख्य शरीर! एक शरीर में सिद्ध की संख्या से अनन्त (गुने जीव)! छह मास और आठ समय में ६०८ (जीव) मुक्ति में जाते हैं तो अभी तक की जितनी संख्या है, उससे अनन्तगुने जीव एक शरीर में हैं!! आहा...हा...! प्रभु! तुझे मनुष्यपना मिला... आहा...हा...! आर्यक्षेत्र मिला, आर्य — वीतरागवाणी सुनने का योग मिला! आ...हा...हा...! प्रभु! यह महा दुर्लभ है!! आ...हा...हा...! तो उसमें करनेयोग्य तो यह है। आ...हा...!

राग मेरी पर्याय में है, परन्तु वह आत्मस्वभाव, धर्म नहीं। समझ में आया? राग कोई जड़ में होता है और जड़ से होता है — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! **क्योंकि सर्व द्रव्यों की...** है? सर्व छहों द्रव्य। (इस हाथ में) एक-एक परमाणु भिन्न हैं, उसके पर्याय — परिणाम का कर्ता वह परमाणु है। दूसरा परमाणु संयोग में है, वह कर्ता नहीं। आहा...हा...! **सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया...** भाषा तो देखो! स्पष्ट! आहा...हा...! उसकी परिणामरूपी — परिणामलक्षणवाली क्रिया। परिणामी लक्षण नहीं। परिणामलक्षणक्रिया!

आ...हा...हा... ! **आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है;...** सिद्धान्त में, वीतराग के शास्त्र में उसे जीवमयी है — ऐसा स्वीकार किया है।

और फिर, जो (जीवमयी) क्रिया है... (अर्थात्) जो जीवमयी रागादि क्रिया है या धर्म की परिणति की अरागी क्रिया है। (ऐसी) **क्रिया है, वह आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होने से...** आत्मा द्वारा स्वतन्त्र प्राप्त होने योग्य। स्वतन्त्रपने करे, वह कर्ता (और) कर्ता जिसे प्राप्त करे, वह कर्म। आ...हा... ! भगवान आत्मा जो परिणमनरूप पर्याय को प्राप्त करे, वह कर्म (और) आत्मा कर्ता। आहा...हा... ! पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? आहा...हा... !

(यहाँ) आया न ? सर्व द्रव्यों की पर्याय उसकी निजमयता — उसका स्वरूप है, ऐसा स्वीकार करने में आया है। आहा...हा... ! अरे...रे... ! पूरा दिन पर की क्रिया का अभिमान मिथ्या है। परन्तु वह अभिमान की परिणति है, वह जीवमयी है। आहा...हा... ! समझ में आया ? मैं करता हूँ, जीव की दया पाल सकता हूँ, स्त्री को प्रसन्न रखता हूँ, ऐसे भोग ले सकता हूँ, ऐसा हर्ष-शोक करके मकान बना सकता हूँ, मकान में वास्तु कर सकता हूँ, ऐसा धन्धा कर सकता हूँ... भाई ! ऐसी बात (है), प्रभु ! अरे... ! वह पर की क्रिया तो तीन काल में (कर नहीं सकता)। क्यों ? (क्योंकि) उसकी परिणति की क्रिया का (कर्ता) वह परमाणु है और वह परमाणुमयी क्रिया है, वह तेरे से कैसे हो ? आ...हा...हा... ! बहुत कठिन बात ! भाई ! वीतरागमार्ग (गम्भीर है) !

पर्याय सिद्ध करते हैं, फिर भी धर्म पर्याय के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया ? धर्म है, भव के अन्त की क्रिया (होती है), वह क्रिया आत्मा के आश्रय से होती है — द्रव्य के आश्रय से (होती है); पर्याय के आश्रय से नहीं होती। उसमें पर्याय है भले। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! भव का अन्त — सम्यग्दर्शन... भव और भव के भाव बिना की त्रिकाली चीज... आहा...हा... ! उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन — भव के अन्त की क्रिया होती है। समझ में आया ? ये सम्यग्दर्शन की पर्याय (स्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है)।

अनन्त काल से भटकता है, बापू ! उसने विचार नहीं किया है। आ...हा... !

'वादिराज मुनि' तो कहते हैं, (जिन्हें) कोढ़ (हुआ था), 'वादिराज मुनि'! भावलिंगी सन्त, हाँ! अल्प काल में केवलज्ञान लेकर मोक्ष में जायेंगे। उन्हें शरीर में कोढ़ (था), (वे कहते हैं), प्रभु! आ...हा...! मैं पिछले अनन्त काल (के) दुःख... आ...हा...हा...! वर्तमान में तो मुनि हैं, (फिर भी कहते हैं कि) भूतकाल के नरक और निगोद के दुःखों को याद करता हूँ, प्रभु! तो छुरे लगते हैं, घाव लगता है। अभी तो उसे याद करने की शक्ति जगत को नहीं है। आहा...हा...! भूतकाल के नरक और निगोद के दुःख... बापू! आ...हा...हा...! ये नीम के पत्ते हिलते हैं और एक-दूसरे से टकराते हैं तो दुःख होता है, पत्ते एक-दूसरे से टकराते हैं न? तो वहाँ दुःख होता है। आ...हा...हा...! फिर भी एक पत्ता दूसरे पत्ते को छूता नहीं। अरे...! ऐसी बात! फिर भी वह पत्ता ऐसे-ऐसे होता है, तब उसे दुःख होता है। छूते नहीं और दुःख होता है! आहा...हा...! समझ में आया? वीतराग मार्ग। बापू! वर्तमान में तो बहुत फेरफार हो गया, प्रभु! क्या करें? आहा...हा...! यह मार्ग कोई अलौकिक है! आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं, परिणामी स्वतन्त्रपने राग आदि के परिणाम का स्वतन्त्रपने कर्ता होकर प्राप्त होने से कर्म है। है? यहाँ आत्मा की बात करनी है। नहीं तो वास्तव में तो परिणामी के विकार परिणाम — पर्याय स्वतन्त्रपने परिणाम के कर्ता (हैं), परिणाम कर्म (हैं)। द्रव्य कर्ता है — ऐसा भी नहीं। परन्तु यहाँ उसके परिणाम जीवमयी कहने हैं तो आत्मा कर्ता है — ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! अरे...रे...!

एक ओर 'पंचास्तिकाय' ६२ गाथा में ऐसा कहे, वहाँ अस्तिकाय सिद्ध करना है। अस्तिकाय सिद्ध करना है। असंख्य प्रदेशी जीव, अनन्त प्रदेशी आकाश, असंख्य प्रदेशी धर्मास्ति, अधर्मास्ति सिद्ध करने हैं। वहाँ 'पंचास्तिकाय' (में) अस्तिकाय में ऐसे लिया... समझ में आया? कि विकारी परिणाम जो आता है, वह उसका कार्य है। समझ में आया? उसका परिणाम है। परन्तु वह परिणति पर्याय से उत्पन्न हुई है, द्रव्य से नहीं, गुण से नहीं। आहा...हा...! ६२ गाथा! बड़ी चर्चा हुई थी। 'ईसरी'! मार्ग तो यह है, बापू! आहा...हा...!

सिद्धान्त में यह स्वीकार किया है कि जिसमें कर्म के कारक की (अपेक्षा नहीं)।

जीव की पर्याय है तो (उस) पर्याय में जड़ की अपेक्षा कहाँ? आहा...हा...! एक ओर रागादि की क्रिया चैतन्यमय (कहना), एक ओर राग को जड़ कहना और भगवान को चैतन्य कहना!! ऐसा तो श्लोक भी आता है न? भाई! 'चिद्रूप जड़रूपता' 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' का श्लोक — कलश है। आहा...हा...! भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु और राग जड़रूप — (ऐसा) कलश है। उस जड़रूपता को यहाँ जीवमयी कहा है। जडरूपता तो किस अपेक्षा से (कहा) ? कि उसमें ज्ञानानन्दस्वभाव का अभाव (है), राग में ज्ञानस्वभाव का अभाव (है), उस अपेक्षा से जड़ कहा, परन्तु वह जीवमयी पर्याय जीव की है। जीव ने उस रागरूपी कार्य — कर्म को प्राप्त किया है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग, प्रभु! अरे...! अकेला दुःखी, अकेला सुखी, अकेला जन्मे, अकेला मरे, अकेला सिद्ध हो। उसे कोई पर की अपेक्षा नहीं। आ...हा...हा...!

'कलश टीका' में 'पुण्य-पाप अधिकार' (के) १०८ कलश में तो बहुत कठोर लिया है, (व्यवहारचारित्र) छोड़ने योग्य ही है? नहीं, वह तो घातक है। राग, जीवस्वभाव (का) घातक है। समझ में आया? (लोग कहते हैं कि) लेकिन वह तो 'राजमलजी' की (टीका) है। क्या कहा? १०८ कलश है न? **यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है, सो करने योग्य नहीं है, उसी प्रकार वर्जन करने योग्य भी नहीं है?** ऐसा कोई कहे। आहा...हा...! जीवमयी परिणाम (है) परन्तु धर्म नहीं। पुण्य करने योग्य नहीं — ऐसा कोई कहे, वर्जन करने योग्य नहीं है — ऐसा कहे तो ऐसे नहीं है। **वर्जन करने योग्य है।** अरे...रे...! जीव की पर्याय में हो (तो भी) धर्मी जीव को वह छोड़ने योग्य है, अपनी पर्याय में छोड़ने योग्य है। एक बात (हुई)। **दुष्ट है, अनिष्ट है,...** आहा...हा...! (लोग कहते हैं कि) वह तो 'राजमलजी' की टीका है, आचार्य के शब्द (कहाँ हैं?) अरे... प्रभु! आहा...हा...! कोई भी समकिती तिर्यंच हो तो भी केवली कहते हैं, वही बात समकिती कहे। उनकी श्रद्धा में कोई फर्क नहीं है। चारित्र में — स्थिरता में फर्क है। आहा...हा...! कहाँ यथाख्यातचारित्र, कहाँ मुनिदशा का चारित्र! और समकिती की दशा में उस जाति का — तथा प्रकार के चारित्र का — स्वरूपाचरण चारित्र का सद्भाव (है)। आहा...हा...! कहते है कि उसे (यह व्यवहार के परिणाम) घातक (है)। तीन शब्द प्रयुक्त किये हैं। पुण्य के परिणाम करने योग्य नहीं, वर्जन करने

योग्य नहीं — ऐसा कोई कहे तो (कहते हैं कि) वर्जन करने योग्य है। क्यों?

व्यवहारचारित्र होता हुआ... आ...हा...हा...! व्यवहार के पंच महाव्रत के विकल्प जीवमयी हैं। आ...हा...हा...! कहते हैं कि पंच महाव्रत आदि के व्यवहार परिणाम **व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है,...** दुष्ट है! **अनिष्ट है, घातक है, इसलिए विषय-कषाय के समार क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है...** ऐसे विषय-कषाय के परिणाम का निषेध है — ऐसे व्यवहारचारित्र महाव्रत आदि के पुण्यपरिणाम (निषिद्ध हैं)। आ...हा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु - पुण्य स्वयं ही मन्द कषाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री - मन्द है लेकिन कुशील है। मन्द है, वह कुशील है, दुष्ट है, अनिष्ट है। स्वभाव की शान्ति की पर्याय का घातक है। घातक है, उसे धर्म कहना?! भले जीवमयी पर्याय हो परन्तु महाव्रत के राग की क्रिया स्वभाव की शान्ति की घातक है। (लोग कहते हैं कि) ''परन्तु यह तो 'राजमलजी' की (टीका है)।'' परन्तु आचार्यों ने पहले (लिखा है), 'जड़रूपता चेतनरूपता' भगवान के चैतन्यस्वरूप है, राग जड़स्वरूप है। है भले पर्याय में परन्तु वह चैतन्य की जात नहीं। चैतन्य के स्वभाव की त्रिकाली जात है, वह जात नहीं। परन्तु है (उसकी) पर्याय में। आ...हा...हा...! भाई! ऐसा सूक्ष्म है। यह तो निवृत्ति लेकर (निर्णय करने का विषय है)। आहा...हा...! नहीं तो एकान्त लगे — ऐसा है। उसका खुद का एकान्त है, उसकी उसे खबर नहीं। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **प्राप्य होने से कर्म है।** क्योंकि परिणाम अपना कर्ता होकर प्राप्य कर्म (होता) है, वह उसका कार्य है। जीव का विकारी परिणाम जीव का कार्य है। आहा...हा...! **इसलिए परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का ही कर्ता है;...** है? आत्मा अपने परिणामस्वरूप, अपने परिणामस्वरूप भावकर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप के परिणाम का कर्ता है। अभी मलिनता (की बात है)। बाकी शुद्ध उपयोग भी भावकर्म है। भावकर्म के दो प्रकार हैं। कर्मचेतना के दो प्रकार हैं — एक राग के एकत्व का अनुभव करना, वह कर्मचेतना (है) और एक आत्मा का शुद्ध उपयोगरूप परिणमन होना, वेदन होना, अनुभव होना वह भी कर्मचेतना (है)। कर्म अर्थात् कार्य।

कर्म अर्थात् (मात्र) राग — ऐसा नहीं। आ...हा...! इसमें अभी आएगा। आत्मा शुद्ध उपयोगरूप परिणमन करे तो (उसमें भी) आत्मा कर्ता (है) और शुद्ध उपयोग उसका कार्य (है)। अशुद्धरूप परिणमन करे, तब आत्मा कर्ता और अशुद्धपना उसका कर्म (है)। आहा...हा...!

आत्मा का सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी, विकारी परिणाम का परिणमन मेरा है, मेरे में है, वह पर के कारण नहीं, मेरी कमजोरी के कारण है (— ऐसा ज्ञानी जानते हैं)। आ...हा...हा...! 'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' आहा...हा...! वह पर्याय जीवमयी होने पर भी, धर्मी की दृष्टि की अपेक्षा से वह (राग की) पर्याय घातक है... आ...हा...हा...! कुशील है। आहा...हा...! कुशील होने पर भी जीव की पर्याय में है। आहा...हा...! समझ में आया? आ...हा...!

भावकर्म का ही कर्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का... कर्ता नहीं। अपने भावकर्म का कर्ता है परन्तु पुद्गल कर्म की जो पर्याय बँधती है, उस पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं। कर्मबंधन आत्मा करता है — ऐसा नहीं। आहा...हा...!

प्रश्न – कर्म बाँधे कौन?

समाधान – कर्म बाँधे-फाँदे नहीं। भावकर्म – राग बाँधे उसका कर्ता है। जड़ कर्म की पर्याय आत्मा बाँधे (— ऐसा है नहीं)। आ...हा...हा...! ऐसी बात...!

अब यहाँ ऐसा प्रश्न होता हे कि (जीव भावकर्म का ही कर्ता है, तब फिर) द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ? द्रव्यकर्म होता है तो वह परमाणु कर्मरूप होता है। आत्मा, राग का और पुण्य-पाप का कर्ता जीवमयी पर्याय में होने से है तो परमाणु कर्मरूप परिणमते हैं। यहाँ राग आया, उसी काल में परमाणु अकर्मरूप परिणमते थे, वे कर्मरूप परिणमे। समझ में आया? वह कर्मरूप परिणमन हुआ तो यहाँ राग है तो हुआ है न? तो राग कर्ता और वह कार्य — ऐसा है या नहीं? (तो कहते हैं) नहीं। आहा...हा...! संसार का हिसाब करना हो तो बनिया पाई-पाई का (हिसाब) करे। रात को केरोसीन जलाकर (भी हिसाब करे) कि इसका क्या है? यहाँ भगवान का हिसाब (करना है तो करता नहीं)। आ...हा...हा...!

एक ओर (राग को) कुशील कहे, एक ओर दुष्ट और घातक कहे; दूसरी ओर जीवमयी परिणाम कहे। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

मुमुक्षु - बड़े आदमी जो कहे वह सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री - ऐसे सत्य नहीं (माना)। भावभासन (हुए) बिना सत्य कैसा? किसी का कहा (हुआ माना होगा तो) दूसरा ना कहेगा तो (खुद ने माना हुआ) बदल जायेगा। अपनी पर्याय में भासन होना चाहिए कि ये पर्याय आदि हैं (वह) जब तक मुझ में कमजोरी है तब तक, मुझे आत्मज्ञान हुआ है फिर भी पर्याय की कमजोरी से भावकर्म (होता है) वह मेरा कार्य है। आहा...हा..! भावकर्म की परिणति मेरी है, मेरे से है और इस भावकर्म का भोक्ता भी मैं हूँ। आहा...हा...! समझ में आया?

दृष्टि की अपेक्षा से जब स्वभाव की — धर्म की बात चले तो कहे कि राग का कर्ता भी मैं नहीं, राग का भोक्ता भी नहीं। वह द्रव्यदृष्टि — वस्तु के स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से कथन है परन्तु उसकी पर्याय की अपेक्षा से कथन चले.... आहा...हा...! पर्याय भी है न? जैसे द्रव्य है वैसे पर्याय भी है न? आकाश के फूल की भाँति पर्याय है नहीं — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! (समयसार की) ग्यारहवीं गाथा में पर्याय को असत् कहा, अभूतार्थ कही। अभूतार्थ तो (इसलिए कहा क्योंकि) द्रव्य की दृष्टि मुख्य करने को, त्रिकाली मुख्य है (सो) निश्चय (है) और व्यवहार को गौण करके नहीं (है) — ऐसा कहने में आया। व्यवहारनय का विषय (ऐसी) पर्याय बिलकुल है नहीं (— ऐसा माने) तो एकान्त हो जाता है। समझ में आया?

इसका उत्तर इस प्रकार है :— प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है,.... पहले आत्मा की बात थी, अब पुद्गल की (बात कहते हैं)। जो कर्मरूपी परिणमन हुआ, वह पुद्गल का परिणाम है। आहा...हा...! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्म पर्याय हुई, वह पुद्गल का परिणाम है। है? **पुद्गल का (परिणाम वास्तव में स्वयं) पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से...** परमाणु हमेशा (रहनेवाली) चीज परिणामी (है और) उसकी कर्म की पर्याय (हुई वह) उसका परिणाम (है)। (इस प्रकार) परिणामी, परिणाम का कर्ता

है। आहा...हा...! उसे कर्ता की खबर नहीं है। परमाणु परिणमते हैं न? कर्मरूप परिणमते हैं न? परिणमते हैं या नहीं? आहा...हा...! परिणामी का वह परिणाम है। परिणामी उस परिणाम को प्राप्त करता है तो वह परिणामी का कर्म है। परिणामी का कर्म अर्थात् कार्य। अरे...! ऐसी बातें...! है?

प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है,... देखो! **क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से...** द्रव्य जो त्रिकाली (है)... आ...हा...हा...! वह अपने **परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से...** देखो! द्रव्य कर्ता (कहा)! परिणामी परिणाम का कर्ता! एक ओर कहे कि परिणाम का कर्ता परिणाम; द्रव्य कर्ता नहीं। कौन सी अपेक्षा है? बापू! यह तो विशाल मार्ग है। आहा...हा...! अनेकान्त की दृष्टि कोई अलौकिक है!

परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है;... कौन? परिणामी, परमाणु — परिणामी। यहाँ तो कर्मबंधन (की बात है) इसलिए परमाणु का दृष्टान्त (लेते हैं)। पुद्गल कर्म के परमाणु — परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से परमाणु — परिणाम से द्रव्य अनन्य है, भिन्न नहीं। परिणाम से परिणामी भिन्न नहीं। आहा...हा...! पर्याय में परिणाम हुआ तो भिन्न आत्मा कर्ता है, ऐसा नहीं। परिणाम का कर्ता वह परिणामी है तो वह परिणामी और परिणाम अनन्य — अभेद हैं। आहा...हा...! समझ में आता है? आचार्यों ने... आ...हा...हा...! करुणा करके शास्त्र (बनाया)। करुणा तो विकल्प था। परमाणु की योग्यता से परमाणु परिणमकर टीका हुई, ऐसा कहते हैं। टीका परमाणु की पर्याय है न? तो वह परमाणु की पर्याय परमाणुमयी है तो परमाणु उस परिणाम का — परिणामी परमाणु परिणाम का (अर्थात्) टीका की पर्याय का कर्ता है; मैं नहीं। आ...हा...हा...हा...! समझ में आया?

और जो उसका (पुद्गल का) तथाविध परिणाम है... (अर्थात्) पर्याय **वह पुद्गलमयी ही क्रिया है,...** परिणाम को क्रिया कहने में आया। पुद्गल की जो परिणामरूप — कर्मरूप पर्याय हुई उसे यहाँ क्रिया कहा। परिणाम को क्रिया (कहा)। परिणाम कार्य — परिणामी भगवान कर्ता और वह परिणाम क्रिया है। क्योंकि परमाणु तो हमेशा की

निष्क्रिय चीज है। आ...हा...हा...! वैसे भगवान आत्मा हमेशा की चीज तो निष्क्रिय है, ध्रुव (है) परन्तु परिणाम है वह सक्रिय है। चाहे तो शुद्ध परिणमन हो या अशुद्ध, परन्तु वह क्रिया है। आहा...हा...! यहाँ पुद्गल की क्रिया — परिणाम वह पुद्गल की क्रिया है।

क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है,... आ...हा...हा...! यह भाषा होती है तो वह भाषा का परिणाम — पर्याय हुई न? तो वह पर्याय, भाषा के परमाणु — परिणामी की पर्याय है, परिणामी का वह कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं। भाषा जो होती है, उस भाषा के परमाणु की पर्याय, परिणामी — परमाणु का वह परिणाम है। परमाणु की वह परिणाम — क्रिया है, आत्मा की क्रिया नहीं। आ...हा...हा...! शरीर का जो हिलना-डुलना होता है वह परमाणु का परिणाम — पर्याय है, वह परमाणु की क्रिया है। परमाणु उसके परिणाम को प्राप्त होता है। इसलिए परमाणु का वह कर्म कहने में आता है। कर्म अर्थात् कार्य। आ...हा...हा...! (शरीर का) हिलना-डुलना भी आत्मा नहीं करता — ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु - आत्मा में क्रियावतीशक्ति तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री - क्रियावतीशक्ति जड़ में अपने से परिणाम करती है न? क्रियावती (शक्ति) तो गति करने में (निमित्त है)।

(यहाँ तो) परिणामी पुद्गल का परिणाम है और पुद्गल का परिणाम पुद्गल की क्रिया है, वह आत्मा की क्रिया नहीं। आहा...हा...! (किसी को ऐसा लगे कि) 'यह तो निश्चय की बातें हैं, व्यवहार (की बात होनी चाहिए)।' परन्तु व्यवहार क्या? बोलने में ऐसा आये कि उसने यह बनाया, उसने यह किया। यह टीका 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने की। वह तो निमित्त का कथन (है)। निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराया, बाकी तो निमित्त से हुआ नहीं। वह तो पुद्गल के परिणाम से टीका हुई है। आ...हा...हा...हा...! क्योंकि यह पर्याय है या नहीं? वह पर्याय परिणाम है, वह परिणाम क्रिया है। उस परिणाम का कर्ता परिणामी द्रव्य है और वह परिणाम उसका कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं। आ...हा...हा...! यह (बात) कैसे बैठे?

एक बार 'इन्दौर' में पण्डित लोग इकट्ठे हुए थे (उन्होंने ऐसा तय किया कि) पर

का कर्ता नहीं माने वह दिगम्बर नहीं। यहाँ के (विरोध के) लिये (ऐसा तय किया)! अरे... ! भगवान! प्रभु! तूने ये क्या किया? आहा...हा... ! क्योंकि कोई परिणाम परिणामी से हुआ है तो वह परिणाम दूसरे से हुआ, यह कहाँ से आया? समझ में आया?

प्रत्येक पुद्गल का परिणाम — क्रिया, परिणाम की क्रिया उस पुद्गल परिणामी की है और वह परिणामी परिणाममयी है। आहा...हा... ! आत्मा में परिणाम की क्रिया आत्मामयी है, पुद्गल के परिणाम की क्रिया पुद्गलमयी है। आहा...हा... !

(शरीर में जीव निकल जाये तो भी) परमाणु की क्रिया होती है या नहीं? मुर्दा हो तो भी खड़ा हो जाता है। (एक बार) कहा था न? हमारे घर पर बड़े भाई गुजर गये थे। बहुत होशियार थे। साठ वर्ष ब्याह को हुए थे। एक ही लड़का था। शाम को देह छूट गया था इसलिए रात को (घर पर) रखा था। वहाँ कोश (लोहे का औजार) रखा था। लोहे की कोश को क्या कहते हैं? क्योंकि (मुर्दा) खड़ा नहीं हो जाय। कोश के कारण ऊँचा नहीं होता, (ऐसा है नहीं)। ऊँचा नहीं होने की परिणति - पर्याय पुद्गल की है। कोश को क्या कहते हैं? लोहे का खोदने का (औजार)। आहा...हा... ! परमाणु का परिणाम — क्रिया परिणामी की है। परमाणु — परिणामी की वह क्रिया है। वह क्रिया दूसरे परमाणु के परिणाम की भी नहीं (है) तो आत्मा की वह क्रिया तो है ही नहीं। आ...हा...हा... !

पुद्गलमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है,... (अर्थात्) अपने स्वरूप (होती है) **ऐसा स्वीकार किया गया है;...** ऐसा स्वीकार किया गया है। सिद्धान्त में — वीतराग के मार्ग में वह क्रिया, परिणामी का परिणाम है — ऐसा स्वीकार किया गया है।

'राजकोट' में एक प्रश्न हुआ था कि आत्मा राग न करे तो कर्म (बंधन) नहीं होता। यह प्रश्न हुआ था। बापू! न करे इसकी कहाँ बात है? यहाँ तो राग है, उस समय कर्म की पर्याय होती है, (वह) राग से नहीं (हुई)। परमाणु के परिणमन से बंधन की (पर्याय) होती है। 'राजकोट' में प्रश्न हुआ था। (संवत्) २००६ की साल! मन्दिन बना तब। 'बीछिया' और 'लाठी' में २००५ की साल में (मन्दिर बना)। किसी ने प्रश्न किया

था कि राग न हो तो बंधन होता है ? लेकिन वह प्रश्न ही यहाँ कहाँ है ? राग के परिणाम जीवमय होने से (उसका) कर्ता आत्मा (है) और पुद्गल के परिणाम पुद्गलमय होने से (उसका) कर्ता पुद्गल (है)।

विशेष कहेंगे... !

प्रवचन नं. १३९ **दिनाङ्क १९ जुलाई १९७९**

(प्रवचनसार) १२२ गाथा की आठवीं पंक्ति है न? प्रश्न क्या था? **(जीव भावकर्म का ही कर्ता है तब फिर) द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ?** भावकर्म — विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा है... आ...हा...हा... ! तो जड़ कर्म बँधते हैं, उसका कर्ता कौन ? तो कहते हैं कि पुद्गलमयी क्रिया है। (कर्म) बँधते हैं (वह) कर्म की पर्याय पुद्गलमयी क्रिया है। कर्मरूप परिणमन होना, वह पुद्गल (की क्रिया है)। बहुत सूक्ष्म बातें है। उस कारण से परमाणु की पर्याय कर्मरूप हुई, वह परमाणु से हुई है, आत्मा से नहीं; आत्मा उसका कर्ता नहीं। जड़कर्म के परमाणु कर्म (की) पर्यायरूप परिणमते हैं, उस परिणाम में वह परमाणु तन्मय है। परमाणु कर्ता है और परिणाम उसका कार्य है। कार्य कहो या कर्म कहो (सब एकार्थ है)। आहा...हा... !

इसलिए परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्ता है,... जड़कर्म अपनी पर्याय को करता है। आत्मा के विकारी परिणाम का जड़कर्म कर्ता नहीं। आ...हा...हा... ! यहाँ तो ज्ञेय के द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता है — ऐसा बताना है। आ...हा... ! **पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, किन्तु आत्मा के परिणामस्वरूप भावकर्म का नहीं।** आ...हा...हा... ! विकारी परिणाम जीव करे तो उसका कर्ता आत्मा है, उसका कर्ता पुद्गल नहीं।

इससे (ऐसा समझना चाहिए कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है,... आहा...हा... ! विकारी परिणाम भी आत्मस्वरूप परिणमित होता है। आहा...हा... ! भाषा देखो ! क्या कहते हैं ? कि **आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है,...** आ...हा...हा... ! पुण्य और पाप का भाव आत्मस्वरूप ही (है)। आत्मा का स्वरूप है। आहा...हा... ! आ...हा...हा... ! ज्ञानप्रधानता से कथन है। विकारी परिणाम, आत्मस्वरूप परिणमित होता है।

मुमुक्षु - उसे अनात्मा कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह तो दृष्टि की अपेक्षा से (कहा है)। स्वभाव में दृष्टि है तो विभाव उसका नहीं, यह बताना है। यहाँ तो उसके द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्तित्वता, अपने में सत्ता है — ऐसा यह ज्ञेय है (यह बताना है)। आहा...हा...!

आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित... यहाँ भाषा (ऐसी ली है)। विकाररूप, मिथ्यात्वरूप, राग-द्वेषरूप परिणमे, वह आत्मस्वरूप है, वह आत्मा का स्वरूप है। आ...हा...हा...! **आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता।** विकारपने परिणमता है, वह आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा निर्णय किये बिना कभी सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होता नहीं। अरे...! सम्यक्ज्ञान होने के बाद भी विकार है, वह आत्मस्वरूप परिणमित है। समझ में आया? अपनी पर्याय में अपनी कमजोरी से आत्मा विकाररूप परिणमित होता है और आत्मा का वह स्वरूप है। अरे...! अरे...! आहा...हा...!●●

मुनिदशा का त्रैकालिक शाश्वत् नियम

अनादि-अनन्त सन्तों की ऐसी ही दशा है कि अन्तर में एकदम वीतरागता होती है और बाहर में वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी रखने का लक्ष्य हो और छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा टिकी रहे - ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं हो सकता। यह मार्ग किसी की कल्पना नहीं है।

आत्मा के भानपूर्वक लंगोटीरहित (नग्न दिगम्बर) मुनिदशा हो - ऐसा सनातन अनादि वस्तु स्वभाव का/पर्याय का धर्म है। इस पर्याय को अन्यथा माननेवाले ने मुनिदशा अथवा वस्तुस्वभाव को नहीं जाना है। यद्यपि आत्मा, वस्त्र के ग्रहण-त्याग का कर्ता नहीं है, तथापि जब आत्मा में तीन कषाय चौकड़ी के नाशरूप वीतरागी चारित्रदशा प्रगट होती है, तब सहजरूप से राग और वस्त्र का अभाव हुए बिना नहीं रहता - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १२३

अथ किं तत्स्वरूपम् येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति -

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।१२३।।

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता।।१२३।।

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं, तया खल्वात्मा परिणमति। यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम्। चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना।।१२३।।

एवं रागादिपरिणामाः कर्मबन्धकारणं, तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्। अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति तं परिणाम कथयति - **परिणमदि चेदणाए आदा** परिणमति चेतनया करणभूतया। स कः। आत्मा। यः कोऽप्यात्मनः शुद्धाशुद्धपरिणामः स सर्वोऽपि चेतनां न त्यजति इत्यभिप्रायः। **पुण चेदणा तिधाभिमदा सा** सा चेतना पुनस्त्रिधाभमता। कुत्र कुत्र। **णाणे** ज्ञानविषये **कम्मे** कर्मविषये **फलम्मि वा** फले वा। कस्य फले। **कम्मणो** कर्मणः। **भणिदा** भणिता कथितेति। ज्ञानपरिणतिः ज्ञानचेतना अग्रे वक्ष्यमाणा, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतनेति भावार्थः।।१२३।।

अब, यह कहते हैं कि वह कौन सा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होता है ? —

जीव, चेतनारूप परिणमे, अरु चेतना है त्रिविधमयी।
वह ज्ञान-विषयक, कर्म-विषयक, कर्मफल-विषयक कही॥

अन्वयार्थ - [**आत्मा**] आत्मा [**चेतनया**] चेतनारूप से [**परिणमति**] परिणमित होता है। [**पुनः**] और [**चेतना**] चेतना [**त्रिधा अभिमता**] तीन प्रकार से मानी गयी

है; [**पुनः**] और [**सा**] वह [**ज्ञाने**] ज्ञानसंबंधी, [**कर्मणि**] कर्मसंबंधी [**वा**] अथवा [**कर्मणः फले**] कर्मफल संबंधी — [**भणिता**] ऐसी कही गयी है।

टीका - जिससे चैतन्य वह आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना[१] है, उससे चेतना ही आत्मा का स्वरूप है; उसरूप (चेतनारूप) वास्तव में आत्मा परिणमित होता है। आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतना का उल्लंघन नहीं करता, (अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित्मात्र भी नहीं छोड़ता — बिना चेतना के बिलकुल नहीं होता) — ऐसा तात्पर्य है। और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीन प्रकार की है। उसमें ज्ञानपरिणति (ज्ञानरूप से परिणति) वह ज्ञानचेतना, कर्म परिणति वह कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति वह कर्मफलचेतना है॥ १२३॥

प्रवचन नं. १३९ का शेष **दिनाङ्क १९ जुलाई १९७९**

फिर प्रश्न हुआ कि **अब, यह कहते हैं कि वह कौन सा स्वरूप है...** (कि जो) आत्मस्वरूप परिणमित होता है? आहा...हा...! समझ में आया? आत्मा अपनी पर्यायस्वरूप — आत्मस्वरूप परिणमित होता है, वह स्वरूप क्या है? परिणमित होता है, वह स्वरूप क्या है? समझ में आया? **जिस रूप आत्मा परिणमित होता है? वह कौन सा स्वरूप है जिस रूप आत्मा परिणमित होता है?** आ...हा...हा...! उत्तर - १२३ (गाथा)।

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥ १२३॥

हरिगीत।

जीव, चेतनारूप परिणमे, अरु चेतना है त्रिविधमयी।
वह ज्ञान-विषयक, कर्म-विषयक, कर्मफल-विषयक कही॥

टीका - जिससे चैतन्य वह आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना है... क्या कहते हैं? आत्मा चैतन्य में (व्यापता) है, फैलता है। चेतनास्वरूप आत्मा है, उस चेतनास्वरूप में

१. स्वधर्मव्यापकपना = निजधर्मों में व्यापकपना।

फैलाता है, विस्तार करता है, परिणमता है। यहाँ तीनों बोल लेंगे। हाँ! शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों लेंगे। **जिससे चैतन्य वह आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना...** आ...हा...हा...! शुभ, अशुभभाव या शुद्धभाव स्वधर्मव्यापक है। अपने धर्म में आत्मा व्यापता है, फैलाता है, विस्तार करता है। आहा...हा...! समझ में आया? **उससे चेतना ही आत्मा का स्वरूप है;...** क्योंकि **चैतन्य वह आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना है, उससे चेतना ही आत्मा का स्वरूप है;...** आहा...हा...! **उस रूप (चेतनारूप) वास्तव में आत्मा परिणमित होता है।** वास्तव में पर्याय में चेतनारूप आत्मा परिणमित होता है।

आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो... आत्मा का जो कुछ भी पर्याय — परिणाम हो, **वह सब ही चेतना का उल्लंघन नहीं करता,...** आहा...हा...! भगवान आत्मा का चेतना का परिणाम हो... है? वह **चेतना का उल्लंघन नहीं करता,...** (अर्थात् वह) चेतना का परिणमन है। वह चेतन चेतना का परिणमन है। आहा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि) द्रव्यकर्म — जड़ कर्म का विकार होता है। विकार से फिर नये कर्म बँधते हैं। ये सब झूठ बात है। आहा...हा...! है?

आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो, वह सब... चेतना का ही परिणमन है। आत्मा चेतनास्वरूप (है तो) वह चेतना का ही परिणमन है। **चेतना का उल्लंघन नहीं करता, (अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित्‌मात्र भी नहीं छोड़ता...)** आहा...हा...! **(बिना चेतना के बिलकुल नहीं होता)।** चाहे तो शुद्धरूप परिणमन हो या अशुद्धरूप परिणमन हो परन्तु वह चेतना को छोड़ता नहीं, चेतना का ही परिणमन है। आहा...हा...! 'समयसार' बहुत सुना हो (तो यह बात जल्दी बैठे नहीं)। परन्तु 'समयसार' की क्या अपेक्षा है? वहाँ दृष्टिप्रधान कथन (है)। फिर भी वहाँ भी पीछे स्पष्ट बात ली है... समझ में आया? कि विकार जो होता है, वह अपने परिणमन में अपने से होता है। ज्ञानी को भी अपने परिणाम (में) राग अपने से होता है। आ...हा...! कठिन बातें, भाई! **(बिना चेतना के बिलकुल नहीं होता) — ऐसा तात्पर्य है, और चेतना...** कितने प्रकार की है। यह कहते हैं।

एक **ज्ञानरूप...** चेतना, एक **कर्मरूप...** चेतना और **कर्मफलरूप से तीन**

प्रकार की है। उसमें ज्ञानपरिणमित (ज्ञानरूप से परिणति) वह ज्ञानचेतना,... (है)। आहा...हा...! भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप की शुद्ध ज्ञानपरिणति, वह ज्ञानचेतना (है)।

कर्म परिणति वह कर्मचेतना... है, शुभ-अशुभ परिणामपने परिणमना, वह कर्मचेतना (है)। वह कर्मपरिणति, वह कर्मचेतना (है)। आत्मा शुभाशुभभावरूप परिणमे, वह कर्मपरिणति, वह कर्मचेतना (है)। यहाँ जड़ कर्म की बात नहीं। कर्म अर्थात् कार्य (की बात है)। आहा...हा...! समझ में आया? कर्मपरिणति (है), वह कर्मचेतना।

पहले ज्ञानचेतना कहा कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपपने, ज्ञानपने परिणमे, धर्मपने परिणमे, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपने परिणमे, वह ज्ञानचेतना (है)। वह चेतना उसरूप परिणमी है। कर्म परिणति — पुण्य और पाप का भावरूप कार्य — उसकी परिणति (है), वह कर्मचेतना (है)। ऐसी भाषा! **और कर्मफलपरिणति वह कर्मफलचेतना है।** राग-द्वेष और शुद्ध। राग-द्वेष का फल दुःख और शुद्ध चेतना परिणति का फल सुख — अनाकुल आनन्द। आहा...हा...! समझ में आया? यह विशेष कहेंगे। ●●

सन्तों का सनातन मार्ग : वीतरागी चारित्रदशा

चारित्रदशा के बिना अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो जाता। अट्ठाईस मूलगुणोंसहित वीतरागी चारित्रदशा ही सन्तों का सनातन मार्ग है। वह धन्य अवसर अर्थात् आत्मा की वीतरागीदशा का स्वकाल कब आयेगा? - ऐसी उग्र भावना की है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके यह भावना करने योग्य है। इस भावना से आत्मा की रागरहित दशा होकर केवलज्ञान प्रगट होना ही कल्याण है।

वैराग्य का वह प्रसङ्ग महान वैराग्य भावना का है। - *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १२४

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति -

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा।।१२४।।

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम्।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा।।१२४।।

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम्। तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम्। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदभावसामानस्वपराकारोर्थ-विकल्पस्तद् ज्ञानम्। क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मना प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः तद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात्। तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावा-सद्भावाभ्यामनेकविधम्। तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्। तत्र द्रव्यकर्मोपाधि-सान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यक्रमोपाधिसान्निध्य-सद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम्। एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूप-निश्चयः।।१२४।।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतनां विशेषेण विचारयति - **णाणं अट्ठवियप्पं** ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति। अथवा पाठान्तरम् - **णाणं अट्ठवियप्पो** ज्ञानमर्थविकल्पः। तथाहि - अर्थः परमात्मादिपदार्थः, अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति रागाद्यास्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकाराव-भासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्पः विकल्पलक्षणमुच्यते। स एव ज्ञानं ज्ञानचेतनेति। **कम्मं जीवेण जं समारद्धं** कर्म जीवेन यत्समारब्धम्। बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्यापार-रूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तृमारब्धं तत्कर्म भण्यते। सैव कर्मचेतनेति। **तमणेगविधं भणिदं** तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितम्। इदानीं फलचेतना कथ्यते - **फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा** फलमिति सुखं वा दुःखं वा। विषयानुरागरूपं यदशुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं, यच्च धर्मानुरागरूपं शुभोपयोगलक्षणं कर्म तस्य

फलं चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभोगानुभवरूपं, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दुःखमेव। यच्च रागादिविकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूपं कर्म तस्य फलमनाकुलत्वो-त्पादकं परमानन्दैक-रूपसुखामृतमिति। एवं ज्ञानकर्मकर्मफलचेतनास्वरूपं ज्ञातव्यम्।।१२४।।

अब, ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं —

है 'ज्ञान' अर्थविकल्प अरु, जीव जो करे वह 'कर्म' है।
है कर्म बहुविध, 'कर्मफल', वह सुख अथवा दुःख है॥

अन्वयार्थ - **[अर्थविकल्पः]** अर्थविकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक युगपत् अवभासन) **[ज्ञानं]** वह ज्ञान है; **[जीवेन]** जीव के द्वारा **[यत् समारब्धं]** जो किया जा रहा हो **[कर्म]** वह कर्म है, **[तद् अनेकविधं]** वह अनेक प्रकार का है; **[सौख्यं वा दुःखं वा]** सुख अथवा दुःख **[फलं इति भणितम्]** वह कर्मफल कहा गया है।

टीका - प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। वहाँ, अर्थ क्या है? स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व[१] वह अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन[२] वह विकल्प है। और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है।

जो आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है। प्रतिक्षण उस-उस भाव से होता हुआ आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जानेवाला जो उसका भाव है वही, आत्मा के द्वारा प्राप्य[३] होने से कर्म है। और वह (कर्म) एक प्रकार का होने पर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है।

उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख वह कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व

१. विश्व = समस्त पदार्थ-द्रव्य-गुण-पर्याय। (पदार्थों में स्व और पर ऐसे दो विभाग हैं। जो जाननेवाले आत्मा का अपना हो वह स्व है, और दूसरा सब, पर है।)

२. अवभासन = अवभासन; प्रकाशन; ज्ञात होना; प्रगट होना।

३. आत्मा अपने भाव को प्राप्त करता है, इसलिए वह भाव ही आत्मा का कर्म है।

–लक्षण प्रकृतिभूत[१] सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति[२] — (विकार) भूत दुःख है, क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित हुआ।

भावार्थ - जिसमें स्व, पर–रूप से और पर, पर–रूप से (परस्पर एकमेक हुये बिना, स्पष्ट भिन्नतापूर्वक) एक ही साथ प्रतिभासित हो सो ज्ञान है।

जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव वह (जीव का) कर्म है। उसके मुख्य दो भेद हैं — (१) निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म, और (२) औपाधिक शुभाशुभ–भावरूप कर्म।

इस कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त न होने से जो निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म होता है, उसका फल तो अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसा स्वभावभूत सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त होने से जो औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुःख है, क्योंकि उसमें अनाकुलता नहीं, किन्तु आकुलता है।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप कहा गया॥ १२४॥

प्रवचन नं. १३९ का शेष **दिनाङ्क १९ जुलाई १९७९**

अब, ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं। पहले कहा था कि आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है। चेतनास्वरूपे आत्मस्वरूप परिणमित होता है। चाहे विकाररूप परिणमे या धर्मरूप परिणमे परन्तु वह अपना स्वरूप ही है। आहा...हा...! समझ में आया? ज्ञानचेतना, कर्मचेतना (कहा, उसमें) कर्मचेतना के दो प्रकार लेंगे। शुभाशुभ परिणाम कर्मचेतना (है) और शुद्ध उपयोगरूप परिणमे, वह भी कर्मचेतना (है)। समझ में आया? शुभ–अशुभ भाव भी कर्मचेतना — कार्यचेतना (है) और शुद्ध

१. प्रकृतिभूत = स्वभावभूत। (सुख स्वभावभूत है।)
२. विकृतिभूत= विकारभूत (दुःख विकारभूत है, स्वभावभूत नहीं है।)

उपयोगरूपी कार्यचेतना भी कर्मचेतना (है)। 'कर्म' शब्द (का अर्थ) कार्य। कर्म शब्द (का अर्थ) जड़ कर्म नहीं। आहा...हा...! है? **ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप वर्णन करते हैं :—** १२४ गाथा।

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा।।१२४।।

है 'ज्ञान' अर्थविकल्प अरु, जीव जो करे वह 'कर्म' है।
है कर्म बहुविध, 'कर्मफल', वह सुख अथवा दुःख है॥

प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। क्या कहते हैं? आ...हा...हा...! जो स्व पदार्थ और पर पदार्थ (है), वह अर्थ (है), उसका जानना, वह विकल्प (है)। विकल्प (अर्थात्) राग नहीं। यहाँ राग के विकल्प का अर्थ नहीं। ज्ञान का स्वभाव ही विकल्प है। विकल्प का अर्थ स्व-पर का जानना वही विकल्प (है)। राग (है, वह) विकल्प नहीं। केवलज्ञान भी सविकल्प है। क्योंकि स्व-पर को जानना वही विकल्प है, वह ज्ञान का स्वभाव है। आहा...हा...! अर्थविकल्प अर्थात् पदार्थ का ज्ञान वह विकल्प है — ज्ञान है। स्व-पर के ज्ञान का नाम अर्थविकल्प (है), उसका नाम ज्ञानस्वभाव (है)। ज्ञानविकल्प अर्थात् ज्ञानस्वभाव। आहा...हा...! कठिन बात है, बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म! प्रभु! आहा...हा...!

प्रश्न - उसे भेद कहते हैं या अभेद कहते हैं?

समाधान - यहाँ वह प्रश्न नहीं है। यहाँ तो ज्ञान स्व-पर अर्थ को जानता है; इसलिए ज्ञान को विकल्प कहते हैं। राग विकल्प (की बात) नहीं। ज्ञान का स्वभाव ही विकल्प है। आहा...हा...! समझ में आया? सामने पुस्तक है न? इसलिए तो (पुस्तक सामने) रखते हैं। नहीं तो नीचे पुस्तक (रखे) और ऊपर बैठना वह ठीक नहीं, किन्तु यह कारण है। (किसी ने) विरोध किया था न? पञ्च कल्याणक के समय। बापू! भाई! हेतु क्या है? उसका वास्तविक अर्थ समझ में आवे यह विनय है। वास्तविक अर्थ समझ में आवे, उस कारण से वहाँ (रखते हैं)। समझ में आया? यह बात है, बापू! आहा...हा...! श्रोता को उस भाव का क्या अर्थ है और क्या स्वरूप है (उसे समझने के लिये) सामने पुस्तक हो तो उस पाठ का क्या अर्थ है, वह ख्याल में आये। उस प्रकार से विनय है। नहीं

तो नीचे पुस्तक (रखना) और ऊपर बैठना, वह ठीक नहीं। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! यह कारण है। सब मालूम है।

अर्थविकल्प वह ज्ञान है, वहाँ, अर्थ क्या है ? अर्थविकल्प ज्ञान है (उसमें) अर्थ क्या (है) ? **स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व वह अर्थ है।** स्व और पर। (विश्व का अर्थ मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में दिया है) ***'समस्त पदार्थ - द्रव्य-गुण-पर्याय। (पदार्थों में स्व और पर दो विभाग हैं। जो जाननेवाले आत्मा का अपना हो वह स्व है, और दूसरा सब। पर है)।'*** स्व-पर को जानना वही अर्थविकल्प है। विकल्प — राग की यहाँ बात नहीं। आहा...हा... !

ज्ञानचेतना का स्वरूप, भगवान आत्मा का चेतना का स्वरूप — ज्ञानचेतना का स्वरूप क्या ? कि ज्ञानचेतना स्वपदार्थ और परपदार्थ को जानती है, इसलिए ज्ञानचेतना को सविकल्प कहने में आता है। सविकल्प अर्थात् राग आया, उसकी बात यहाँ है नहीं। आहा...हा... ! है ? क्या (कहा) ? मात्र स्व-पर दो का विभाग। उससे अवस्थित। स्व और पर दो विभाग अवस्थित है। **विश्व, वह अर्थ है।** विश्व = 'समस्त पदार्थ — द्रव्य-गुण -पर्याय। (पदार्थों में स्व और पर दो विभाग हैं। जो जाननेवाले आत्मा का अपना हो वह स्व है, और दूसरा सब, पर है।)'

उसके आकारों का अवभासन... आ...हा...हा... ! स्व और पर दोनों के द्रव्य -गुण-पर्याय। स्व का और पर का द्रव्य-गुण-पर्याय। इन दो विभाग को जानना (हुआ तो) यह जानना, वही विकल्प है। विकल्प अर्थात् ज्ञान का स्वरूप है। आहा...हा... ! भाई ! ऐसा है। पहले बहुत बात हो गई है। इसका तो बहुत बार वाञ्चन हो गया है। अभी दो -चार-पाँच साल से नहीं हुआ था, इसलिए फिर से (लिया)।

क्या कहते हैं ? आत्मा का चेतनास्वरूप चेतनारूप परिणमन करता है, वह आत्मा का स्वरूप है। अब, चेतना तीन प्रकार की है — ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। अब, उसमें ज्ञानचेतना का अर्थ क्या ? (तो कहते हैं कि) ज्ञान जो है, वह स्व-पर को जाने यह अर्थविकल्प (है)। स्व-पर पदार्थ का जानना, यह अर्थविकल्प (है)। स्व-पर को जानना, वही अर्थविकल्प (है)। विकल्प अर्थात् राग नहीं। आहा...हा... !

भाई! हम जब पढ़ते थे, तब एक 'नरोत्तम' मास्टर ऐसे थे (उन्हें) स्त्री नहीं थी, खुद ही रसोई बनाते थे। रसोई बनाते समय जो दो-चार खास बुद्धिवाले विद्यार्थी होते हैं, उसे कहे कि जब मैं रसोई बनाऊँ, तब आप लोग पढ़कर आना, तो मैं उसका क्या अर्थ करता हूँ, वह समझ में आयेगा। समझ में आया? दोपहर को जो कोई भी पाठ देना है, उसे पढ़कर मेरे घर आना। वे दाल बनाते हो, रोटी बनाते हो, उस समय बातचीत किया करे। दो-चार होशियार लड़के हो उसे बुलाये। मैं भी जाता था, मैं होशियार में गिना जाता; इसलिए वहाँ जाते थे तो फिर कहते थे कि देखो भाई! इसका यह अर्थ है। आप उसे पढ़कर क्या अर्थ समझे? हम पढ़कर ऐसा अर्थ नहीं समझे। वैसे यह पढ़ा हुआ हो तो उसका अर्थ यहाँ क्या कहने में आता है? (यह समझना)। ऐसी बात है, भगवान! आ...हा...हा...! दस-ग्यारह वर्ष की उम्र में हमारे साथ ऐसा बनता था, हाँ! छह कक्षा तक पढ़े थे लेकिन सब में पहले नम्बर में पास होते थे। परीक्षा में पचास-साठ (विद्यार्थी बैठते थे उसमें) पहले नम्बर में पास (होते थे)। एक बार दूसरा नम्बर हुआ था। मैं बारह महिने 'गारियाधार' गया था (तो) जो आखिर में आया हो उसे तो आखिर में रखे न? पहले से ही थोड़ी पहले नम्बर में रखे? बारह महिने वहाँ रहा और यहाँ आया तो आखिर में बैठाया। अरे...! एक बार रोना आ गया। मैं आखिर में!? तो मास्टरजी ने कहा, आप आखिर में आये हो। फिर एक महिने के बाद परीक्षा हो उसमें भले आप का पहला नम्बर आये, परन्तु अभी आप का पहला नम्बर नहीं आयेगा। बहुत बात हो गई है। यहाँ कहते हैं कि इस वस्तु का अर्थ खुद पढ़कर आया हो तो यहाँ (प्रवचन में) उसका क्या अर्थ चलता है, वह मालूम पड़े। स्वयं की समझ में और यहाँ के अर्थ में क्या फेरफार है, वह समझ में ख्याल आवे। समझ में आया? ऐसे ही समझे बिना पढ़ा नहीं हो, कुछ (समझा) नहीं हो तो क्या कहते हैं, उसका वास्तविक (अर्थ) नहीं बैठेगा।

(यहाँ) क्या कहते हैं? सारा विश्व — स्व और पर (के विभाग से अवस्थित) सारा विश्व। स्व (अर्थात्) अपना और पर (अर्थात्) पर का (ऐसा) सारा विश्व, वह अर्थ है और **उसके आकारों का अवभासन...** (अर्थात्) स्व-पर पदार्थ के भाव का अवभासन **वह विकल्प है।** समझ में आया? मात्र स्व-पर का भासन (होना), वही

विकल्प है। ज्ञानविकल्प — ज्ञान का स्वभाव सविकल्प है। इसके अलावा दूसरे गुण हैं, वे सब निर्विकल्प हैं, क्योंकि दूसरे गुण हैं वे स्व-पर को जानते नहीं। आ...हा...हा... ! अपना अस्तित्त्व रखते हैं और ज्ञानगुण अस्तित्त्व रखता है, इसके अलावा स्व-पर को जानना — ऐसा स्व-पर जानना उसका विकल्प — स्वभाव है। 'विकल्प' शब्द (का अर्थ) राग नहीं। 'विकल्प' शब्द (का अर्थ) भेद नहीं। आ...हा...हा... ! मात्र स्व और पर को जानना — अवभासन (होना)। जैसी स्व चीज है और जैसी पर (चीज) है, उन दोनों का अवभासन। स्व-पर (पदार्थ) ये अर्थ (है) और उसका अवभासन (होना), वह विकल्प (है)। समझ में आया ? आहा...हा... !

स्व-पर विभागपूर्वक अवस्थित विश्व है। सारा विश्व है, स्व-पर सभी चीजें हैं, ये अर्थ है। स्व-पर सारा विश्व है, वह अर्थ है। **उसके आकारों का अवभासन...** (अर्थात्) उसके स्वरूप का भासन। आकार अर्थात् स्व द्रव्य-गुण-पर्याय और पर द्रव्य-गुण-पर्याय। उसका जो स्वरूप (है) उसका पर्याय में भासन होना, वह विकल्प है। विकल्प (अर्थात्) ज्ञानस्वभाव है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा है।

और दर्पण के निज विस्तार की भाँति... दर्पण के निज विस्तार के प्रकाश की भाँति। **(अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं,...)** दर्पण में दर्पण भी प्रकाशित होता है और प्रतिभासित पर चीज भी प्रकाशित होती है। **(दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार...)** (अर्थात्) स्व-पर का स्वरूप। आकार अर्थात् स्वरूप। **(एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प, वह ज्ञान है।** ऐसा अर्थविकल्प, ज्ञान है। ऐसा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु - बार-बार अर्थ बदल जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - यहाँ विकल्प (अर्थात्) राग नहीं। यहाँ तो ज्ञानचेतना की व्याख्या करनी है तो ज्ञानचेतना स्व-पर को जाने। वास्तव में तो पर का जानना। स्व-पर का ग्राहक ज्ञान हुआ हो, वह पर को यथार्थ जाने। क्या कहा ? स्व का ज्ञान हुआ हो, स्वरूपग्राही ज्ञान, पर की भिन्नता का ज्ञान, स्वरूपग्राही ज्ञानवाला जानता है। 'कलश

टीका' में आता है — स्वरूपग्राही ज्ञान! पानी ठण्डा है और अग्नि गरम है, उसका भेद स्वरूपग्राही ज्ञान (अर्थात्) स्व का ज्ञान हुआ उसे ही पर का ज्ञान यथार्थ होता है और स्व-पर का ज्ञान हो वही ज्ञान विकल्प अर्थात् ज्ञान का स्वभाव है। आहा...हा...! समझ में आया?

पाठ में 'अर्थविकल्प' कहा है न? अर्थ और विकल्प का दो अर्थ (हुआ)। अर्थविकल्प वह ज्ञान। अब, अर्थविकल्प वह ज्ञान अर्थात् क्या? अर्थ क्या और विकल्प क्या? अर्थ (माने) स्व-पर पदार्थ दोनों अर्थ (हैं), सारा विश्व अर्थ (है) और उसका अवभासन — उसका ज्ञान में भासन होना, वह विकल्प (है)। विकल्प अर्थात् ज्ञान की पर्याय का स्वभाव। आहा...हा...! समझ में आया?

जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं,... अपना स्व और पर (अवभासित होते हैं)। आहा...हा...! वह भी जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ, उसे स्व और पर का भासन होता है, वह स्व और पर अर्थ (है) और उसका भासन हुआ वह विकल्प (है)। विकल्प (अर्थात्) ज्ञान की पर्याय। आहा...हा...! अपने आप पढ़े तो कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है। आ...हा...! सूक्ष्म बात है न, भाई! तत्त्व ऐसा है न, बापू!

इसमें तो अभी ज्ञानचेतना में शुद्ध उपयोग का चेतनारूपी कर्म (है), वह आत्मा का (कर्म है), ऐसा बताना है। कर्मचेतना दो प्रकार की (हैं)। (१) शुभाशुभ परिणाम कर्मचेतना और (२) शुद्ध उपयोगरूपी कर्मचेतना। आ...हा...हा...हा...! आयेगा, अभी आयेगा, हाँ!

ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है। ज्ञानचेतना, अर्थविकल्प वही ज्ञान है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग अलौकिक है! ऐसी बात कहीं है नहीं और वह भी दिगम्बर धर्म के अलावा (कहीं नहीं है)। आ...हा...हा...! परम सत्य को प्रसिद्ध किया है!! दिगम्बर कोई सम्प्रदाय नहीं है। दिगम्बर (अर्थात्) विश्व का स्वरूप बतानेवाला (जो) है, वह दिगम्बर धर्म है। आहा...हा...! क्या हो? अपना पक्ष लेकर बैठे हो, उसे यह बात नहीं बैठे तो क्या सत्य, असत्य हो जाता है?

यहाँ पाठ ऐसा लिया है, देखो! **णाणं अट्ठवियप्पो** पहला पद (है)। ज्ञान, वह

अर्थविकल्प (है)। १२४ (गाथा का) पहला पद (है)। अर्थ (अर्थात्) स्व-पर पदार्थ वह अर्थ (है) और स्व-पर का भासन होना, वह विकल्प (है)। राग नहीं। समझ में आया? 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी' ज्ञान का स्वभाव ही स्व-परप्रकाशक (है), ज्ञानविकल्परूप स्वरूप है। ज्ञान का विकल्प — पर का अवभासन, वही ज्ञानविकल्प है। आ...हा...! भाई! कहाँ फुरसत ली है?

मुमुक्षु - घर से पढ़कर आते हैं फिर भी समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री - नहीं? बात सच्ची है, भाई! इसीलिए कहा न कि घर से पढ़कर आये हो तो इसका अर्थ क्या होता है, हम क्या समझे थे और यहाँ क्या फर्क पड़ता है (वह मालूम पड़े)। ऐसा हमारे मास्टर कहते थे। अकेले थे, स्त्री नहीं थी (इसलिए) खुद ही रसोई बनाते थे। रसोई बनाते समय बुलाये। वहाँ (उमराला में) सुतार गली है। यह तो ७८ वर्ष पहले की बातें हैं! परन्तु नजर के सामने सब दिखता है, खिड़की के पास बैठते थे और वे रसोई बनाते थे। पूछते थे, आप क्या पढ़कर आये हो? उसका क्या अर्थ आप समझे? उसका अर्थ ऐसा है। वैसे यहाँ (लेना)।

(यहाँ) विकल्प (शब्द) आया न तो अन्दर राग (होता है) वह विकल्प, ऐसा मान ले — ऐसे नहीं है। यहाँ तो स्व-पर दो पदार्थ (हैं), उन स्व-पर का भासन होना, वह अर्थविकल्प है। ज्ञान में स्व-पर भासित हो, वही अर्थविकल्प (है)। आहा...हा...! यह 'प्रवचनसार'! भगवान की दिव्यध्वनि! उसमें आया हुआ यह मार्ग है। आहा...हा...!

जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है। पहले एक तो ज्ञान की व्याख्या की। अब, कर्म — कार्य (की व्याख्या करते हैं)। **आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है। प्रतिक्षण उस-उस भाव से होता हुआ...** प्रत्येक क्षण में उस-उस भावरूप होता हुआ **आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जानेवाला जो उसका भाव है वही, आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से...** आत्मा के द्वारा प्राप्त। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में प्राप्य का अर्थ दिया है)। है नीचे? 'आत्मा अपने भाव को प्राप्त करता है, इसलिए वह भाव ही आत्मा का कर्म है।' आहा...हा...! आत्मा अपने शुद्ध उपयोग का परिणमन का कार्य करता है... आ...हा...! वह अपना कर्म है। क्या कहा?

कर्मचेतना तीन प्रकार की है। (१) अशुभभावरूप कर्मचेतना (है) वह अपने परिणाम का कार्य है, इसलिए कर्मचेतना (है)। (२) शुभरूप परिणमन (होता है), वह अपना कार्य है, इसलिए (वह भी) कर्मचेतना (है) और (३) शुद्ध उपयोगरूप धर्म का परिणमन (होता है), वह भी कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य है; इसलिए वह ज्ञानचेतना — शुद्ध उपयोग(रूप) चेतना को भी कर्म कहने में आता है। आहा...हा...!

आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जानेवाला जो उसका भाव है वही,... देखा! (क्या कहा?) **आत्मा के द्वारा वास्तव में किया जानेवाला जो उसका भाव...** चाहे तो शुद्ध हो, चाहे तो शुभ हो या चाहे तो अशुभ हो, तीनों वास्तव में आत्मा से किया जानेवाला उसका भाव (है)। आ...हा...हा...! **वही आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से...** आत्मा के द्वारा प्राप्य अर्थात् मिलता होने से (कर्म है)। **और वह (कर्म) एक प्रकार का होने पर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है।** आहा...हा...!

क्या कहते हैं? **(कर्म) एक प्रकार का होने पर भी,...** कार्यरूप एक प्रकार होने पर भी, द्रव्यकर्म की निमित्त की उपाधि की निकटता से जो पुण्य-पाप भाव होता है, (उसका) सद्भाव। आ...हा..हा...! **और असद्भाव के कारण...** शुभाशुभ भाव, कर्म की निकटता (के) सद्भाव से उत्पन्न हुआ (भाव है) और कर्म की निकटता का अभाव — असद्भाव, कर्म का असद्भाव (होने के कारण) **अनेक प्रकार का है।** इस प्रकार सद्भाव और असद्भाव(रूप) कर्म अनेक प्रकार का है।

फिर से, आत्मा द्वारा जो कार्य प्राप्त होता है — प्राप्त करते हैं, वह कर्म (है)। ये कर्म तीन प्रकार के हैं। पहला यह है कि आत्मा द्वारा कर्म की निकटता के सम्बन्ध से जो शुभाशुभभाव (होते हैं), वह निकटता के सद्भाव (स्वरूप कर्म है)। वह कर्म की निकटता के सद्भाव (से हुआ कर्म है)। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ पुण्य-पाप भाव — शुभाशुभभाव कर्म की निकटता के कारण सद्भाव (स्वरूप है)। और असद्भाव के कारण (अर्थात्) कर्म का निमित्त का असद्भाव से। स्वभाव के सद्भाव से (और) कर्म के असद्भाव से उत्पन्न हुआ (कर्म) अनेक प्रकार का है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म!

उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख वह कर्मफल है। क्या कहते हैं? कि कर्म जो हुआ — शुद्धपरिणाम या शुभ-अशुभपरिणाम। धर्म का शुद्ध परिणाम और विकार का शुभ-अशुभ परिणाम, **उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख...** कर्म के सद्भाव के अधीन होकर (होनेवाले) शुभाशुभभाव (हैं), वे दुःखरूप (हैं)। वह कर्म है परन्तु उसका कर्मफल दुःखरूप (है)। आहा...हा...! और कर्म का सद्भाव का अभाव और स्वभाव के सद्भाव के आश्रय से हुई शुद्धपरिणति — शुद्ध उपयोग — शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी आत्मा का चेतनारूपी कार्य है। वह कार्य कर्म के असद्भाव से उत्पन्न हुआ है। आहा...हा...! यह गाथा थोड़ी अटपटी है। आ...हा...!

सुख-दुःख का अर्थ — अपना शुद्ध उपयोगरूपी परिणमन (हुआ) वह अपना कर्म (है) और उसका फल अतीन्द्रिय आनन्द (है) और शुभाशुभभाव अपना कर्म (है), उसका फल दुःख — आकुलता (है)। समझ में आया? आहा...हा...! **उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख वह कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व -लक्षण...** आ...हा...हा...! क्या कहते हैं? कर्म के निमित्त के असद्भाव से उत्पन्न हुआ, अपने ज्ञायकस्वभाव से उत्पन्न हुआ शुद्ध परिणामरूपी कर्म का फल आनन्द (है)।

फिर से, कर्म के असद्भाव से अर्थात् उसके लक्ष्य बिना, अपने स्वभाव से उत्पन्न हुआ जो शुद्ध उपयोग — सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप परिणाम है, वह परिणाम कर्म है और उस कर्म का फल अनाकुल आनन्द है। समझ में आया?

फिर से, यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा में कर्म के असद्भाव से, अपने स्वभाव के आश्रय से शुद्ध उपयोग(रूप) धर्म की निर्मल परिणति उत्पन्न (हुई), वह कर्म (है) और उसका फल अनाकुल आनन्द (है)। समझ में आया? गाथा थोड़ी (सूक्ष्म) है। **कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख...** कर्म शब्द (का अर्थ) शुद्ध उपयोगरूपी कर्म और शुभाशुभ परिणामरूपी कर्म। यहाँ यह कर्म लेना है। आहा...हा...! यहाँ कर्म शब्द (का अर्थ) जड़ कर्म नहीं। अपने कर्म से — कार्य से **उत्पन्न किया जानेवाला सुख -दुःख वह कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के**

कारण जो कर्म... शुद्ध उपयोग **होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण प्रकृतिभूत...** आ...हा...हा... ! प्रकृतिभूत (अर्थात्) स्वभावभूत। कर्म के सद्भाव का लक्ष्य छोड़ा और स्वभाव के आश्रय से जो शुद्धपरिणति हुई, वह कर्म (है) और उस कर्म का फल (आया वह कर्मफल है)। यहाँ कर्म शब्द (का अर्थ) जड़ कर्म नहीं। कर्म शब्द (का अर्थ) कार्य। कर्म के असद्भाव से अपने स्वभाव का जो शुद्ध कार्य हुआ वह कर्म (है) और उस कर्म का फल अनाकुल आनन्द (है)। आहा...हा... ! समझ में आया ? कर्म — जड़ कर्म के कारण (यहाँ आनन्द का फल आया — ऐसा नहीं)।

यहाँ तो कर्म का असद्भाव और अपने त्रिकाली स्वभाव के सद्भाव के आश्रय से (उत्पन्न) हुआ शुद्ध उपयोग(रूप) धर्म — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र(रूप) शुद्ध उपयोग (प्रगट हुआ) वह शुद्ध उपयोग कर्म (है), वह आत्मा का कार्य (है) और उस कर्म का फल अनाकुल आनन्द (आया), वह कर्म का फल है। ऐसी बात है। यह तो वीतरागमार्ग (है), भाई ! आहा...हा... ! दिगम्बर सन्तों की शैली तो सर्वज्ञ भगवान को सिद्ध करने की है ! आ...हा...हा... !

यहाँ तो ऐसे (कहा कि) **कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला...** कर्म से उत्पन्न अर्थात् भावकर्म जो है — शुद्ध उपयोग और अशुद्ध उपयोग, ऐसे जो **कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला...** सुख। शुद्ध उपयोगरूपी कर्म उत्पन्न हुआ उसका फल सुख (है) और कर्म की निकटता के सम्बन्ध में खुद में — स्वयं में शुभाशुभ (भावरूप) परिणमन किया, वह कर्म (है) और उस कर्म का फल दुःख (है) — ऐसी बातें हैं।

फिर से, **उस कर्म से...** अर्थात् क्या ? ऊपर जो कर्म कहा न ? कार्य **(कर्म) एक प्रकार का होने पर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है।** शुभ-अशुभ परिणाम (का) एक प्रकार और एक शुद्ध (परिणामरूपी) प्रकार। उस कर्म के तीन प्रकार हैं। भावकर्म — शुद्ध उपयोगरूपी जो भावकर्म और शुभाशुभ (परिणामरूपी) भाव कर्म — ऐसे अनेक प्रकार का कर्म हुआ। आहा...हा... ! ऐसी बात है, बापू ! 'प्रवचनसार', 'समयसार' कोई अलौकिक ग्रन्थ हैं ! आ...हा...हा... !

मुमुक्षु – भावकर्म दो प्रकार के हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री – भावकर्म के दो प्रकार — (१) शुभाशुभ परिणामरूपी कर्म और (२) शुद्ध उपयोगरूपी कर्म। वैसे तीन प्रकार हुए। (१) अशुभरूपी कर्म (२) शुभरूपी कर्म और (३) शुद्धरूपी कर्म।

उस कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला... शुभाशुभ भावकर्म और शुद्ध भावकर्म, इन तीन कर्मों से उत्पन्न होनेवाला **सुख-दुःख वह कर्मफल है।** अनाकुलरूपी शुद्ध परिणमनरूपी अपना कर्म का फल आनन्द है और शुभाशुभपरिणाम अपने परिणाम से उत्पन्न हुआ, वह कर्म (है), उस कर्म का फल दुःख है। दुःख (कहा तो) भविष्य में दुःख (आयेगा) — ऐसा नहीं, उसी समय में दुःख है। आहा...हा... !

ज्ञानी को भी जितना ज्ञानचेतना का शुद्ध उपयोगरूपी कर्म (प्रगट हुआ), उसका फल उसी क्षण में आनन्द (है) और उन्हें भी बाकी रहा हुआ शुभाशुभ भाव (है), उस रूप परिणमन — कर्म का फल दुःख (है)। वर्तमान दुःख, हाँ! भविष्य में दुःख होगा, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! (समयसार की) ७४ गाथा में दुःख, दुःखफल आता है न? वर्तमान दुःख और दुःखफल भविष्य में, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो वर्तमान (दुःख) है, (उसकी बात है)। आ...हा... !

शुद्ध उपयोगरूपी भाव है, वह भावकर्म (है)। यह शुद्धभावकर्म (है), उसका फल अनाकुल आनन्द (है) और अशुद्ध उपयोगरूपी कार्य – शुभाशुभभावरूपी कार्य — कर्म का फल दुःख (है)। यह सुख तो अनाकुल आनन्द को सुख कहना है। लोग कल्पित सुख मानते हैं, वह सुख नहीं, वह तो दुःख है। आ...हा... ! समझ में आया? गहन विषय है। क्या कहा? देखो!

कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख वह कर्मफल है। कर्म शब्द (का अर्थ) शुद्ध भाव और अशुद्ध भाव वह कर्म, उससे उत्पन्न हुआ सुख और दुःख, वह कर्मफल (है)। जड़ कर्म के उदय का कर्मफल (कहते हैं) वह यहाँ नहीं। जड़ कर्म का जो अनुभाग है, उस कर्म का फल आत्मा में आये, वह यहाँ नहीं (लेना)। आहा...हा... !

प्रश्न – इतना सब याद रखना?

समाधान - याद नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहा...हा...! वस्तु कही न? ज्ञान का शुद्ध उपयोगरूपी कार्य और अशुद्ध शुभाशुभ उपयोग(रूपी) कार्य (है), ये तीनों कर्म (हैं), कर्म अनेक प्रकार का हुआ। अब, ये कर्म जो उत्पन्न हुआ — जो शुद्ध उपयोग उत्पन्न हुआ (उसका फल) अनाकुल (सुख है) और शुभाशुभ भाव(रूप) जो कर्म उत्पन्न हुआ उसका फल दुःख (है)। आहा...हा...! दुःख की सामग्री वह दुःख, वह बात यहाँ नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञेय (में) अपने में द्रव्य-गुण-पर्याय (का) अस्तित्व कितना है, यह सिद्ध करना है।

ज्ञेय (जो) आत्मा (है) उसका जो अपना स्वभाव (है, उसके) सन्मुख होकर शुद्ध उपयोगरूपी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम किया, वह कर्म (है)। कर्म अर्थात् कार्य, आत्मा का वह कार्य (है)। उस कार्य का फल अनाकुल आनन्द (है), वह कर्मफल (है)। जड़ कर्म और कर्म के फल की यहाँ बात है नहीं। आहा...हा...! गजब बात है, भाई!

अपने ज्ञेय में द्रव्य-गुण-पर्याय की जो स्थिति है, यह बतलाते हैं। परज्ञेय के साथ सम्बन्ध नहीं। परज्ञेय जानने में आये वह तो ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से अर्थविकल्प में डाल दिया। अब, अर्थविकल्प जो है, ज्ञान जो अर्थविकल्प है, वह ज्ञानचेतना - शुद्ध उपयोगरूपी चेतना, शुद्ध उपयोगरूपी कर्म (है), उसका फल अनाकुल आनन्द (है)। आहा...हा...! है?

द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण प्रकृतिभूत... (अर्थात्) स्वभावभूत **सुख है;...** कोई कल्पना से अनुकूलता में सुख की कल्पना (होती है), वह तो विकृतिभूत (है)। यह प्रकृतिभूत (सुख है)। प्रकृतिभूत (अर्थात्) स्वभावभूत, प्रकृति; अर्थात् स्वभाव। आ...हा...हा...! अपने आनन्दस्वरूप भगवान के सन्मुख होकर, जिसमें कर्म का असद्भावपना है, निमित्तपना है नहीं — ऐसा जो शुद्ध उपयोग (हुआ) वह कर्म (है) और उस कर्म से उत्पन्न हुआ अनाकुल नाम का आनन्द, वह सुख (है)। अरे...! अरे...! (अज्ञानी) कर्म और कर्मफल जड़ (का गिनते हैं)। (लेकिन) उसका तो असद्भाव

कहा (और अशुद्धभाव कर्म में) कर्म का सद्भाव निमित्त है — ऐसा कहेंगे फिर भी शुभाशुभ भाव अपने कारण से उत्पन्न हुआ है, कर्म से हुआ नहीं। आ...हा...! है ?

और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण... देखो! कर्म का निमित्तपना है उसके सद्भाव के कारण **जो कर्म होता है,...** (अर्थात्) पुण्य-पाप का भाव होता है, कर्म अर्थात् पुण्य-पाप का भाव होता है। आहा...हा...! **उसका फल विकृति...** है ? **(विकार) भूत...** (है)। दुःख विकारभूत है, स्वभावभूत नहीं। आ...हा...हा...! **उसका फल विकृति — (विकार) भूत दुःख है, क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है।** आ...हा...हा...!

(यहाँ) ऐसा कहा, प्रभु! प्रभुता का जिसे अन्दर भान हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र की पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें कर्म का असद्भाव है और उसमें आत्मा का सद्भाव आया। उसके आश्रय से शुद्ध उपयोग, सम्यग्दर्शन (का) परिणाम हुआ, वह आत्मा का कर्म है, आत्मा का कार्य है, आत्मा के कार्य (के फल में) उत्पन्न हुआ अनाकुल आनन्द — सुख है। आ...हा...हा...! समझ में आया ?

और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है,... (अर्थात्) अपना शुभाशुभ कर्म। आहा...हा...! **उसका फल विकृति...** शुभाशुभ (भाव का) फल उसी क्षण में विकार और दुःख है। **क्योंकि वहाँ सुख के कारण का अभाव है।** शुभाशुभ परिणाम में आनन्द का अभाव है। आहा...हा...! भगवान की भक्ति का भाव, विनय का शुभभाव (हुआ), वह कर्म की निकटता में निमित्त के सम्बन्ध के आश्रय से उत्पन्न (हुआ भाव है)। है अपना परिणाम परन्तु उस शुभ परिणाम — कर्म का फल उसी समय दुःख (है)। कर्म, कर्मफल। शुभराग (हुआ) वह कर्म — कार्य (है), उसका फल दुःख (है)। आ...हा...हा...! ऐसी बात है। यहाँ तो (अज्ञानी ऐसा कहते है कि) शुभभाव करो तो धीरे-धीरे कल्याण होगा। अरे... प्रभु! शुभ-अशुभभाव (है) वह अपना विकारी परिणामरूपी कार्य (है) और उस कार्य का फल उसी क्षण दुःख (है)। समझ में आया ? यह गाथा थोड़ी सूक्ष्म है। भाषा तो होती है परन्तु (भाव तो जो है सो है)। आहा...हा...! भाषा होती है, हाँ!

इस कर्म में शुद्ध धर्मदशा (हुई), उसे भी आत्मा का कार्य कहा। वह कोई कर्म का कार्य नहीं अथवा कर्म का हटना (हुआ), इसलिए यह शुद्ध उपयोगरूपी धर्म हुआ — ऐसा नहीं। उसकी कोई अपेक्षा ही नहीं, उसका तो असद्भाव (है)। आहा...हा...! भगवान आत्मा! अनाकुल आनन्द का पिण्ड प्रभु! उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ शुद्ध (परिणाम), ध्रुव के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो परिणाम (है), वह शुद्ध परिणाम (है), विकाररहित अविकारी परिणाम (है) अथवा वह मोक्षमार्ग का परिणाम (है), मोक्षमार्ग का परिणामरूप कार्य। कार्य अर्थात् कर्म। उसका फल — मोक्षमार्ग के कार्य का फल अनाकुल आनन्द है। उसी समय, हाँ! आ...हा...हा...!

आत्मा का मोक्षमार्ग का पर्यायरूपी कर्म है, वह कार्य है। कर्ता आत्मा, उसका कार्य आया तो उसे भी कर्म कहा, कार्य को कर्म कहा। कर्म है, इसलिए कार्य कहा। इस कर्म का फल उसी समय अनाकुल लक्षण सुख है और जितना कर्म के सद्भाव पर लक्ष्य जाये और अपने में अपने कारण से शुभाशुभभाव उत्पन्न हो, उस भावकर्म की अस्ति आत्मा का कार्य है। आ...हा...हा...हा...! यह शुभाशुभ परिणामरूपी कर्म आत्मा का कार्य (है) और उस कर्म का फल उसी समय दुःख (है)। आहा...हा...! यह गाथा अटपटी है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ तो (लोग ऐसा) बताये कि भगवान की भक्ति, पूजा, दान, व्रत, तप करो तो आप को धर्म होगा। यहाँ कहते हैं कि वह परिणाम विकारी है, इसलिए उसका फल उसी समय दुःख है। आ...हा...हा...! आपको उसका फल क्रमशः सुख मिलेगा — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! सत्य बात बहुत कम हो गई, प्रभु! आहा...हा...! बहुत कम हो गई। 'श्रीमद्' तो ऐसा कहते हैं न कि, 'मोक्षमार्ग बहु लोप'। बहु लोप — ऐसा कहा। 'वर्तमान आ काणमां मोक्षमार्ग बहु लोप। विचारवा आत्मार्थी ने भाख्यो अत्र अगोप्य' (कोई भी बात) गुप्त रखे बिना बात कहता हूँ। आहा...हा...!

धर्मी को भी जितना शुद्ध उपयोग(रूप) कर्म है, उसका फल आनन्द उसी क्षण में है और उन्हें भी कमजोरी से जितने शुभाशुभभाव होते हैं, उसका कर्ता आत्मा (है)। कर्ता अर्थात् करने लायक (है — ऐसी) अपेक्षा नहीं परन्तु परिणमन उनका है, इसलिए

कर्ता (हैं)। आ...हा...हा...! और उस परिणामरूपी कर्म का फल, ज्ञानी को भी उसका फल दु:ख है। आहा...हा...! समझ में आता है? बहुत बढ़िया गाथा है! नहीं समझ में आये तो रात को पूछना। भाई! नहीं समझ में आये तो पूछना। बापू! भगवान! इसमें कोई संकोच करने जैसा नहीं है। आ...हा...हा...! ऐसा प्रभु का गम्भीर मार्ग!

(यहाँ) तीनों को कर्म कहा। शुद्ध उपयोग, अशुद्ध उपयोग के दो प्रकार — शुभ और अशुभ। इन तीनों को यहाँ कर्म कहा। जड़ कर्म नहीं; और इस कर्म का फल उसी क्षण में — शुद्ध उपयोगरूपी कर्म का फल उसी समय आनन्द (है) और शुभाशुभ परिणामरूपी कर्म का फल उसी समय दु:ख। आहा...हा...! उसे साधन कहना.... शुभभाव कर्म और उसका फल दु:ख (है), उसे आत्मा का साधन कहना...! आ...हा...हा...! बहुत विरुद्ध है, बापू!

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित हुआ।

भावार्थ कहेंगे।

प्रवचन नं. १४० **दिनाङ्क २० जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार' १२४ (गाथा का) भावार्थ। ज्ञानचेतना की बात करते हैं। **जिसमें स्व, स्व-रूप से और पर, पर-रूप से...** स्व, स्व-रूप से (और) पर, पर-रूप से **(परस्पर एकमेक हुए बिना...)** (अर्थात्) स्व और पर की एकता हुए बिना **(स्पष्ट भिन्नतापूर्वक)...** पर और स्व की प्रत्यक्ष भिन्नता — जुदाईपूर्वक। **एक ही साथ प्रतिभासित हो सो ज्ञान है।** उसका नाम ज्ञान, उसका नाम ज्ञानचेतना।

अब, **जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव वह (जीव का) कर्म है।** जीव के द्वारा किया जानेवाला शुभ और अशुभभाव या शुद्धभाव जीव का कर्म है। समझ में आया? आहा...हा...! **जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव...** शुद्ध और अशुद्ध दो (भाव)। जीव के द्वारा किया जानेवाला शुद्ध उपयोगरूपी कर्म और अशुद्ध उपयोगरूपी शुभाशुभ कर्म — इन तीनों को कर्म — कार्य कहने में आता है। आहा...हा...! जीव का यह कार्य है। पर का कुछ कार्य करे वह जीव में है नहीं। आहा...हा...!

प्रश्न – ऐसा सुने फिर धन्धा कौन करेगा ?

समाधान – कौन धन्धा करे ? धन्धे का अभिमान करे। आहा...हा...! ये कार्य कहा न ? अज्ञानी को शुभाशुभ भावकर्म (-कार्य) है परन्तु वह जीव द्वारा किया (गया) है। वह भी कर्मफल सहित है। पुण्य-पाप का भाव कर्म (अर्थात्) कार्य फल सहित अर्थात् दु:ख सहित है। आ...हा...हा...! प्रभु! तेरी बात तो देख! आ...हा...हा...!

जीव के द्वारा किया... हुआ (कहा है), कर्म के कारण — द्वारा नहीं। आहा...हा...! शुभ-अशुभभाव जीव के द्वारा किया हुआ (भाव है), इसलिए उसे कर्म अर्थात् कार्य कहते हैं। कार्य का अर्थ यहाँ कर्म कहते हैं। आहा...हा...! और जीव के द्वारा किया जानेवाला शुद्ध उपयोग — शुद्ध परिणति, वीतरागी परिणतिरूप शुद्ध कर्म — कार्य जीव द्वारा किया जाता है। आ...हा...हा...! है ?

उसके मुख्य दो भेद हैं... जीव के द्वारा किये जानेवाले कार्य को यहाँ कर्म कहा। कर्म कहो या कार्य कहो। इस कार्य के दो भेद हैं। **(१) निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म,....** आ...हा...हा...! **निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म...** (अर्थात्) शुद्ध चैतन्यघन का अवलम्बन लेकर जो कोई निरुपाधिक स्वभावरूप शुद्ध परिणाम प्रगट हुआ वह एक कर्म है — वह एक कार्य है।

(कर्म — कार्य) के दो भेद हैं। (१) निरुपाधिक और (२) सोपाधिक। शुभ -अशुभभव, औपाधिक भाव हैं। वह भी जीव के द्वारा किया गया है। समझ में आया ? **औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म।** आ...हा...हा...! शरीर का कार्य, वाणी का, धन्धे का या पर का कार्य, यह उसका कर्म है ही नहीं। आ...हा...हा...! उसका कार्य तो अज्ञानभाव से शुभाशुभ परिणमन करना, वह उसका कार्य है। पर का कार्य तो तीन काल में कर सकता नहीं और ज्ञानभाव से शुद्ध परिणमन करता है तो यह शुद्धभाव (का) परिणमनरूपी कार्य (करता है) और अल्प दशा है तो वहाँ शुभाशुभपरिणाम भी होते हैं। आ...हा...हा...! शुद्धभावरूपी कर्म और शुभाशुभरागरूपी कार्य। ज्ञानी को पर्याय में तीन प्रकार हैं, वैसे दो प्रकार (हैं) — शुभाशुभभाव एक प्रकार और शुद्धभाव एक प्रकार (है)।

'पंचास्तिकाय' में ऐसा कहा है, भाई! कि ज्ञानचेतना केवली को होती है — ऐसा

कहा। आ...हा...हा...! (वहाँ) परिपूर्ण की व्याख्या है। इसलिए कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि नीचे (के गुणस्थान में) ज्ञानचेतना नहीं होती। तो यहाँ क्या कहते हैं ? वह तो परिपूर्ण की अपेक्षा से (कहा है, वह ख्याल में है)। 'पंचास्तिकाय' में शुभ-अशुभ कर्म केवली (होने से) पहले होते हैं और केवली को तो अकेली ज्ञानचेतना होती है — ऐसा कहते हैं। ऐसा पाठ है, हाँ! ज्ञानचेतना तो परिपूर्ण की अपेक्षा से कहा। उसका पक्ष लेकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि बारहवें गुणस्थान तक परसमय है, तेरहवें (गुणस्थान में) स्वसमय होता है। अरे... प्रभु! तेरहवें (गुणस्थान में) ज्ञानचेतना है न? नीचे (के गुणस्थान में) शुभाशुभ भावरूपी कर्मचेतना है तो वहाँ अभी ज्ञानचेतना नहीं है, ऐसा 'पंचास्तिकाय' में आया है। वह पूर्ण की अपेक्षा से कहा। यहाँ तो साधक की दशा और बाधक की दशा — दो का कथन है। आहा...हा...!

अज्ञानी जीव के द्वारा — मिथ्यादृष्टि जीव के द्वारा शुभाशुभभाव कर्म अर्थात् कार्य है, उसका फल दुःख है। यह कहेंगे। आ...हा...! है? **कर्म के द्वारा उत्पन्न होनेवाला...** कार्य के द्वारा, हाँ! कर्म अर्थात् कार्य। यहाँ कर्म अर्थात् जड़ कर्म नहीं। कार्य के द्वारा उत्पन्न होनेवाला **सुख अथवा दुःख कर्मफल है। वहाँ द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त न होने से...** द्रव्यकर्म के निमित्त की उपाधि भी जहाँ नहीं है और **निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म होता है,...** आ...हा...हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति, चारित्र निरुपाधिक शुद्धभावरूपी कार्य है। ऐसी बात है। आहा...हा...!

अभी 'मोरबी' की बात कही न? मुर्दे पड़े हैं, दुर्गन्ध मारते हैं। (लोग) बसें भर-भरकर 'राजकोट' चले जाते हैं। ये संसार तो देखो! आ...हा...! कुत्ते, बिल्ली, गाय, भैंस, लड़के, लड़कियों के मुर्दे पड़े हैं। दुर्गन्ध मारते हैं, इसलिए वहाँ रहनेवाले लोग वहाँ रह सकते नहीं। गाँव खाली करते हैं। आ...हा...हा...! देखो, यह दशा! आ...हा...हा...! उसके क्रम के काल में ऐसा होनेवाला था, वह हुआ है, हाँ! अकस्मात् कुछ नहीं (हुआ) है। आहा...हा...! कोई अकस्मात् है नहीं। उस द्रव्य की जिस समय जो पर्याय होनेवाली (है), वह अपने से हुई है। आहा...हा...! एक घण्टे पहले तो कितना उल्लास और हर्ष करते होंगे! और पानी (की बाढ़) जहाँ आयी तो पन्द्रह मिनट में तो (सब) समाप्त हो

गया!! पन्द्रह फीट पानी! (सब) मर गये! आहा...हा...! और मुर्दे सब पानी के ऊपर आये। यह दशा, देखो बापू! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि मुर्देरूपी शुभाशुभभाव का कर्ता अज्ञानी है। वह कर्म है। वह अज्ञानी का कर्म है और उस कर्म का फल दुःख है। कर्म शब्द (का अर्थ) जड (कर्म) नहीं। आहा...हा...! है? **द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त न होने से जो निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म...** और ज्ञानी को... आ...हा...हा...! बहुत कठिन बातें! शुद्ध स्वभाव (में) अन्तर एकाग्र होकर कर्म की उपाधि बिना का निरुपाधिक स्वभाव (प्रगट हुआ), वह भी कर्म है। है? **शुद्धभावरूप कर्म...** एक तो जगत् के कार्य जगत् में हो, वे उसके कार्य (हैं) और कर्म कर्मरूप परिणमे, वह उसका कर्म; रागरूप (परिणमन) हो, वह विकारी कर्म और शुद्धरूप परिणमे, वह शुद्ध(भाव)रूपी कर्म। आहा...हा...!

उसका फल तो अनाकुलता जिसका लक्षण है... शुभाशुभभाव बिना, अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से शुद्धभाव की परिणति और जो उपयोग प्रगट हुआ, वह कार्य है और उस कार्य का फल अनाकुल सुख है। आहा...हा...! भले निर्धन हो, भले सातवीं नरक में पड़ा हो... आ...हा...हा...! परन्तु अपने आत्मा के अवलम्बन से जो शुद्ध भाव उत्पन्न हुआ, वह कार्य (है), उसका फल अनाकुल आनन्द है। आ...हा...हा...! समझ में आया? **ऐसा स्वभावभूत सुख है;...** ऐसा स्वभावभूत सुख है।

और द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त होने से... समकिती को या मिथ्यादृष्टि को जड़कर्म के निमित्त के वश होते हैं तो **औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म होता है,...** मलिन और उपाधि(स्वरूप) शुभ-अशुभभावरूपी कार्य होता है। आहा...हा..! वह सम्यग्दृष्टि को भी होता है और मिथ्यादृष्टि को अकेले शुभाशुभ(भाव) उत्पन्न होते हैं। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धभाव कर्म अर्थात् कार्य उत्पन्न होता है (उसके) फल में अनाकुल आनन्द है और जितना शुभाशुभ परिणमन है, वह भी अपना जीव का कार्य है, जीव का (कर्म है)। आहा...हा...! उसका फल दुःख है। एक ही समय में सुख और दुःख दोनों हैं। आ...हा...हा...!

(कोई मुमुक्षु) ऐसा कहते थे न कि ज्ञानी को दुःख नहीं। दुःख वेदे, वह तीव्र

कषायवाला है। 'सोगानीजी' का पढ़कर सहन नहीं हुआ। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी को भी जब पक पूर्ण वीतराग ज्ञानचेतना नहीं (है), तब तक अपने स्वभाव के आश्रय से... भाशा हिन्दी है परन्तु सादी है। यह तो हिन्दी (मुमुक्षु) नये आये हैं इसलिए, बाद में तो गुजराती में चलेगा। आहा...हा...! चैतन्य भगवान! अपने पवित्र स्वभाव का अवलम्बन लेकर जो धर्मरूपी पवित्र दशा प्रगट हुई, वह शुद्धभावरूपी कार्य (है), उसका फल अनाकुल सुख है और समकिती (को) भी अन्दर में निमित्त के अधीन — वश होकर जितना शुभाशुभ भाव होता है, वह आत्मा द्वारा किया हुआ कर्म है, परन्तु उसका फल दुःख है। सुख और दुःख दोनों साथ में हैं। आहा...हा...! ज्ञानी को अकेला सुख है — ऐसा है नहीं। अकेला दुःख है — ऐसा भी नहीं। मिथ्यादृष्टि को एकान्त — अकेला दुःख है; केवली को अकेला सुख है; साधक को सुख और दुःख दोनों हैं। आ...हा...हा...! समझ में आया ? वीतरागमार्ग बहुत गम्भीर! आ...हा...! इसमें बाहर की कोई चीज मदद करे कि अनुकूलता है, निरोगता है, पैसा है तो यह समझ में आता है, ऐसी यह कोई चीज नहीं। आहा...हा...!

भगवान आत्मा! शुद्ध स्वभाव का पवित्र पिण्ड (है), (उस में) अन्तर में एकाग्र होकर जितना शुद्धभावरूपी कार्य अर्थात् कर्म उत्पन्न हुआ उसका उसी समय में कर्मफल — शुद्धभावरूप कर्म (है), उसका फल आनन्द है। शुद्धभावरूपी कार्य (प्रगट हुआ), उसी समय उसका फल सुख है। आ...हा...हा...! ऐसी बात है, भाई! अरे...! इसमें जवान कहाँ, वृद्ध कहाँ, बचपन कहाँ, लक्ष्मीवन्त कहाँ, निर्धन कहाँ, नारकी और देवपना कहाँ है! वह (सब) आत्मा में है ही कहाँ? फिर भी, गति के उदय जितना परिणमन है, उतना अशुभभाव है। आहा...हा...! समझ में आया? और अशुभभाव है, इतना वहाँ दुःख है। और ज्ञानी को भी जब शुभभाव होता है — देव-गुरु की भक्ति, विनय, शास्त्र श्रवण, वाँचन आदि में जो शुभभाव होता है, वह जीव द्वारा किया हुआ भाव है... आ...हा...! और वह भाव कर्मचेतना है। उस कर्मचेतना का फल वहाँ दुःख है। शुभभावरूपी कर्मचेतना... आ...हा...हा...! उसका फल दुःख है।

प्रश्न – शुभभाव का फल दुःख ?

समाधान – शुभभाव स्वयं ही दुःखरूप है — ऐसा यहाँ तो कहते हैं और वह जीव द्वारा किया हुआ है। मात्र कर्म के निमित्त के वश (होकर) जीव द्वारा वह किया है, इतना शुभाशुभभाव (है)। आहा...हा...! वह शुभाशुभभावरूपी कार्य अर्थात् कर्म जीव द्वारा किया हुआ है, कर्म द्वारा किया हुआ है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा प्रभु का मार्ग!

पहले इसका मन्थन (होना) चाहिए। अन्दर में आत्मा शुद्ध चिदानन्द है, उस ओर का अन्दर मन्थन... मन्थन (होना चाहिए)। मन्थन है तो विकल्प, परन्तु मन्थन करते (— करते जब) विकल्प छूट जाये, तब शुद्धता प्रगट होती है। समझ में आया? मन्थन का विकल्प भी आत्मा द्वारा किया हुआ शुभकर्म है और उस कर्म का फल, उसी क्षण दुःखरूप है। आ...हा...हा...! गजब बात, प्रभु!

'मोरबी' (की बाढ़ की बात) सुनकर लोग विचार करे तो वैराग्य हो जाये। आ...हा...हा...! मयूरपुरी! उसे मयूरपुरी कहते हैं। मोरबी — मोर... मोर अर्थात् मयूर, आ...हा...! मयूरपुरी! अभी हजारों मुर्दे पड़े हैं! कितने हजार, वह तो गिनती आये तब मालूम पड़े। उसकी इतनी दुर्गन्ध आती है कि जो वहाँ बँगले में रहते थे, वे वहाँ से भागकर, बसें भर-भरकर 'राजकोट' आते हैं। आ...हा...हा...! बापू! वह परस्थान है, वह अपना स्थान कहाँ है? आ...हा...!

आत्मा अपने शुद्धपरिणाम को भूलकर अथवा शुद्ध होने पर भी, परिणाम में पर निमित्त के अधीन (होकर) शुभाशुभ (भावरूप) होता है, वह कर्म है, जीव का कर्म है — जीव का कार्य है और उसका कर्मफलचेतना (है)। कर्मफलचेतना अर्थात् जड़ कर्म का फल नहीं। शुभ और अशुभभाव कर्म — कार्य (है), उसका फल उसी क्षण में दुःख (है)। आ...हा...हा...!

अरे...रे...! ऐसी बात सुनने मिले नहीं, समझने मिले नहीं। प्रभु! उसे कहाँ जाना? आहा...हा...! चौरासी लाख योनि पड़ी हैं। मिथ्यात्वभाव में अनन्त भव करने का गर्भ है। आहा...हा...! अनन्त भव के गर्भ में से अनन्त भव उत्पन्न होते हैं। आहा...हा...! और साथ में जो कषाय है, वह अनन्तानुबन्धी (कषाय है)। उसे अनन्तानुबन्धी क्यों कहा? (क्योंकि)

अनन्त ऐसा जो मिथ्यात्व (है), उसके साथ रहता है तो वह अनन्तानुबन्धी (कषाय) है। आहा...हा... ! मिथ्यात्व को अनन्त कहा और साथ में राग आदि होते हैं, उसे अनन्तानुबन्धी राग कहा। आहा...हा... ! निजपद की प्राप्ति से इसका अभाव होता है। भ्रान्ति का नाश आ गया न ? अन्तर स्वरूप के सन्मुख (होने से) निजपद की प्राप्ति होती है और भ्रान्ति का नाश होता है। आहा...हा... ! जिस में अनन्त भव करने की ताकत (है), उसका नाश करते हैं। जिस में अनन्त गुण की पर्याय प्रगट करने की ताकत (है) — ऐसे द्रव्य का अवलम्बन लेते हैं। आ...हा...हा... ! भाई ! जगत् को ऐसी बात (सुनने मिलनी) मुश्किल पड़े, इसलिए 'सोनगढ़वाले... सोनगढ़िया...' ऐसा कहते हैं ! कोई यहाँ की बात करे (तो ऐसा कहे कि) ये तो सोनगढ़िया है ! अरे... ! प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! ये कहाँ 'सोनगढ़' की बात है ? यह तो अन्तर की बातें हैं।

बात यह है कि सोने को जंग नहीं होता। (बहिनश्री के वचनामृत) में एक जगह आता है। कञ्चन को जंग नहीं होता। अग्नि में दीमक नहीं होती। आ...हा...हा... ! कञ्चन को जंग नहीं होता, अग्नि को दीमक नहीं होती, वैसे प्रभु को आवरण और अल्पता नहीं होती। आहा...हा... ! ऐसा जो भगवान आत्मा ! उसके अवलम्बन से जितना शुद्धभाव — धर्म भाव — सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का अंश (प्रगट हुआ, वह ज्ञानचेतना है)।

'कलश टीका' में आया है (कि) आप ज्ञान में एकाग्रता... ज्ञान में एकाग्रता (करनी ऐसा) कहते हो और मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन (स्वरूप) है और आप ज्ञान में एकाग्रता... ज्ञान में एकाग्रता (करनी, ऐसा कहते हो)। लेकिन सुन तो सही, प्रभु ! ज्ञान की एकाग्रता में दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों आ गये हैं। भले चौथे गुणस्थान में हो परन्तु (वहाँ भी) स्वरूपाचरणरूपचारित्र है। आहा...हा... ! एक दिगम्बर (मुनि) हैं, वे ना कहते हैं कि नहीं, स्वरूपाचरण (चारित्र) चौथे (गुणस्थान में नहीं होता)। वे लोग बाहर की क्रियाकाण्ड में घूस गये हैं। आहा...हा... ! लोग बाहर का त्याग देखे, नग्नपना देखे (तो महिमा करने लग जाये)। आ...हा...हा... ! स्वयं को सहन करने की शक्ति नहीं हो और ऐसा सहन करने की शक्तिवाले को त्यागी माने। आहा...हा... ! क्या हो, प्रभु ? यह तो वीतरागमार्ग की बात है, नाथ ! यह कोई पक्ष की बात नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि अन्तर स्वरूप का आश्रय करके ज्ञानचेतना प्रगट हुई — शुद्धभाव (प्रगट हुआ) वह शुद्धभाव सुखरूप है। चौथे गुणस्थान से स्वरूपाचरण भाव (है), वह सुखरूप है। आहा...हा...! क्योंकि अनन्तानुबन्धी की प्रकृति चारित्रमोहनीय की प्रकृति है। उस प्रकृति का अभाव हुआ तो आंशिक चारित्र आता है। आहा...हा...! स्वरूपाचरण (चारित्र) चौथे गुणस्थान से होता है। आ...हा...! वहाँ 'कलशटीका' में 'राजमलजी' ने स्पष्टीकरण किया है (कि) आप ज्ञान में एकाग्र (होना), ज्ञान में (एकाग्र होना — ऐसा कहते हो तो) दर्शन और चारित्र कहाँ गये? सुन प्रभु! आ...हा...हा...! शुद्ध चैतन्य भगवान में एकाग्रता (हुई), उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आ गये। भले चारित्र का अंश हो। आहा...हा...! समझ में आया? 'राजमलजी' की टीका में दो-तीन जगह लिखा है।

अनन्त शक्ति उछलती है, यह बराबर है। आकाश के प्रदेश से अनन्तगुने (गुण) हैं — ऐसा 'धवल' में विषय है। आज देखा था। है (यहाँ)? आकाश के प्रदेश की संख्या से भगवान के गुण की संख्या अनन्तगुनी हैं। भगवान अर्थात् आत्मा की, हाँ! आहा...हा...! बहुत चर्चा हुई थी। एक (मुमुक्षु) थे न? उसने 'षट्खण्डागम' बहुत पढ़ा था। छोटी उम्र का था लेकिन बहुत पढ़ा था। जवान आदमी! 'षट्खण्डागम' बहुत पढ़ा था। फिर, उसके साथ बात हुई थी। बाद में उसने बताया था कि इस में है। आकाश के प्रदेश से अनन्तगुने गुण हैं (— ऐसा) 'धवल' में है, यह कौन सी जगह है? ऐसा पूछा था। (हमें तो) इतना याद नहीं रहे, लेकिन भाव याद रहे। इस शास्त्र में है और इस जगह है, इतना सारा (याद रहे) — ऐसा क्षयोपशम कहाँ है? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि **द्रव्यकर्मरूप उपाधि में युक्त होने से जो औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुःख है,...** आहा...हा...! पहले प्रकृतिभूत और विकारभूत आया था। आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु के अवलम्बन से जो शुद्धभाव हुआ, वह प्रकृतिभूत — स्वभावभूत (है)। प्रकृतिभूत अर्थात् स्वभावभूत। स्वभावभूत कार्य है, वह जीव का है और उसमें अनाकुल आनन्द का स्वाद आता है, वह जीव को (आता) है। आहा...हा...! आनन्द के स्वाद का कार्य भी जीव का है। आ...हा...! समझ में आया?

(शुभाशुभकर्म होता है) **उसका फल विकारभूत दुःख है, क्योंकि उसमें अनाकुलता नहीं,...** है। शुभाशुभभाव में आनन्द नहीं। आनन्द नहीं तो आकुलता — दुःख है। आहा...हा...! मुनि को चाहे तो पञ्च महाव्रत का परिणाम आता है... आहा...हा...! जितना तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणमन हुआ, वह शुद्धभावकर्म है और शुद्धभाव कार्य का फल आनन्द है। और व्रत, नियम, तप आदि का जितना विकल्प उठता है, वह शुभ है। वह शुभ (भाव) कर्म के निमित्त की उपाधि का भाव है। है आत्मा का किया हुआ, कर्म से किया हुआ नहीं, परन्तु उसका फल तो दुःख है। आहा...हा...! मुनियों को भी पञ्च महाव्रत का विकल्प उठता है, वह शुभभाव उपाधिवाला है। हाँ, वह जीव द्वारा किया है। आ...हा...! परन्तु उसका फल तो दुःख है। आ...हा...।

इस प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वरूप कहा गया। ●●

बाह्य प्रतिकूलताओं में भी सन्त सुखी

सन्तों को बाह्य प्रतिकूल संयोगों का दुःख नहीं है क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शी है, वह पर संयोग का स्पर्श नहीं करता; इसलिए उसको संयोग का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तरस्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है अर्थात् आनन्द का अनुभव हुआ है और तत्पश्चात् विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें परम आनन्द की वृत्ति बढ़ गई है। भगवान, वन में अकेले रहने के कारण दुःखी नहीं थे। भगवान तो अन्तर के चैतन्यवन में आनन्द की मौज करते थे। वस्तुतः तो भगवान वन में रहे ही नहीं थे, भगवान शरीर में भी नहीं रहे थे, पञ्च महाव्रत के विकल्प में भी भगवान नहीं रहे थे, भगवान तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १२५

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति -

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।। १२५।।

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा ज्ञातव्यः।। १२५।।

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात्। परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः। ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव। एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तः- प्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्टते।।१२५।।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति - **अप्पा परिणामप्पा** आत्मा भवति। कथंभूतः। परिणामात्मा परिणामस्वभावः। कस्मादिति चेत् `परिणामो सयमादा' इति पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात्। परिणामः कथ्यते - **परिणामो णाणकम्मफलभावी** परिणामो भवति। किंविशिष्टः। ज्ञानकर्मकर्मफलभावी; ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवितुं शील इत्यर्थः। **तम्हा** यस्मादेवं तस्मात्कारणात्। **णाणं** पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना। **कम्मं** तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना। **फलं च** पूर्वोक्तलक्षणफलचेतना च। **आदा मुणेदव्वो** इयं चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति। एतावता किमुक्तं भवति। त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा किं करोति। निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्षं साधयति, शुभाशुभाभ्यां पुनर्बन्धमिति।।१२५।।

अब, ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं —

परिणाम-आत्मक आत्मा है, ज्ञान-कर्म-रु फलरूप है।
इस हेतु से जीव ज्ञान-कर्म, अरु फलरूप प्रसिद्ध है॥

अन्वयार्थ - [आत्मा परिणामात्मा] आत्मा परिणामात्मक है; **[परिणामः]**

परिणाम [**ज्ञानकर्मफलभावी**] ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानं कर्म फलं च**] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [**आत्मा ज्ञातव्यः**] आत्मा है — ऐसा समझना।

टीका – प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है' ऐसा (११२ वीं गाथा में भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) स्वयं कहा है; तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होने के स्वभाववाला है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है। इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।

इस प्रकार वास्तव में शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य के सम्पर्क का (सम्बन्ध; संग) असम्भव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन[१] हो जाने से आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है॥ १२५॥

प्रवचन नं. १४० का शेष **दिनाङ्क २० जुलाई १९७९**

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मारूप से निश्चित करते हैं — वे आत्मा हैं — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! चाहे तो शुद्धरूप भाव हो, चाहे तो अशुभरूप भाव हो, चाहे तो शुभ (भाव) हो परन्तु वह आत्मा का परिणमन आत्मा का स्वभाव है। मूल पाठ आयेगा, हाँ! १२५ (गाथा)।

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो।।१२५।।

परिणाम-आत्मक आत्मा है, ज्ञान-कर्म-रु फलरूप है।
इस हेतु से जीव ज्ञान-कर्म, अरु फलरूप प्रसिद्ध है॥

आहा...हा...! है? **आदा मुणेदव्वो** है न? इसलिए कहा **आत्मा मुणेदव्वो** (अर्थात्) उसे आत्मा जानना। आ...हा...हा...! मूल पाठ में अन्तिम शब्द है न? शुभ

१. प्रलीन हो जाना = अत्यन्त लीन हो जाना; मग्न हो जाना; डूब जाना; अदृश्य हो जाना।

–अशुभभाव या शुद्धभाव आत्मा है। आ...हा...हा...! आत्मा का परिणाम है तो परिणामी का परिणाम (है वह) आत्मा है। आहा...हा...! शुभाशुभ भाव आस्रवपने परिणमते हैं परन्तु जीव का परिणाम है न? तो वह आत्मा है। आ...हा...हा...!

१२५ (गाथा) की टीका। **प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है,...** प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है। परिणामी त्रिकाली द्रव्य, वह पर्याय में परिणामस्वरूप ही आत्मा है। आहा...हा...! **क्योंकि परिणाम स्वयं आत्मा है।** शुभाशुभ और शुद्ध परिणाम स्वयं आत्मा में है और आत्मा है। आहा...हा...! **ऐसा (१२२ वीं गाथा में भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) स्वयें कहा है;...** समझ में आया? आहा...हा...!

अब, 'समयसार' में जब अधिकार चले, तब कहे कि पुण्य और पाप अजीव है। वह किस अपेक्षा से (कहते हैं)? कि जीव का जो स्वभाव है, वह उसमें नहीं उस अपेक्षा से अजीव कहा, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि यह परिणाम, जीव है। आ...हा...हा...! उसमें से निकल जाता है; इस कारण से उसे अजीव कहा परन्तु जब तक है, तब तक जीव का परिणाम जीवमयी है। आहा...हा...! समझ में आया?

धर्मी जीव (को) अपने स्वरूप का ज्ञान है तो वहाँ शुभ–अशुभभाव आता है तो छोड़कर चला जाता है। परन्तु है न? एक नगर में से दूसरे नगर में जाना हो (और) बीच में कोई गाँव आये, नगर आये तो छोड़ देते हैं। वैसे भगवानआत्मा! शुद्ध चैतन्यमूर्ति का पूर्ण परिणाम प्रगट करना है, वह ध्येय है, तो बीच में राग आदि आता है परन्तु छोड़ देते हैं, परन्तु है उसका परिणाम। आ...हा...हा...! समझ में आया?

तथा... अब यहाँ देखो! (क्या कहते हैं)? **परिणाम चेतनास्वरूप होने से...** शुभ–अशुभराग और शुद्ध (भाव) तीनों — चेतनास्वरूप ज्ञान, चेतनास्वरूप राग और शुद्ध परिणाम और चेतनास्वरूप कर्मफल... आहा...हा...! **होने के स्वभाववाला है,...** यहाँ भाषा देखो! (एक दिगम्बर के विद्वान के साथ) यह प्रश्न चला था न? (संवत्) २०१३ की साल में! विकार (होता) है, वह अपने परिणाम में अपना भाव है। वह अपना परिणाम अपने षट्कारक के परिणमन से हुआ है, कर्म से नहीं। यह बड़ी चर्चा (हुई थी)। (उसका) बहुत विरोध हुआ कि 'कर्म से न हो तो स्वभाव हो जायेगा।' परन्तु

वह पर्याय का स्वभाव ही है। यह देखो न! कठिन बात है, बापू! आ...हा...हा...! क्या कहा? देखो!

प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणामस्वरूप ही है,... परिणामस्वरूप है। अकेला कूटस्थ — नित्य नहीं है। परिणामी परिणामसहित है, नित्य परिणामी है। आहा...हा...! नित्य परिणामस्वभाववाला है। नित्य भी है और परिणाम — परिणमन स्वभाववाला भी है। आहा...हा...! **क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है'** आहा...हा...! शुभाशुभ परिणाम और धर्म का शुद्धभाव, आत्मा है।

यहाँ कहते हैं... आ...हा...हा...! क्या कहा? शुभ-अशुभपरिणाम और शुद्ध धर्म परिणाम, तीनों आत्मा है। आहा...हा...! **तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से...** परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलरूप **स्वभाववाला है,...** भाषा देखो! शुभाशुभ भाव कर्म और शुद्ध भाव, कर्मफल दुःख भाव और शुद्ध भाव का फल सुख (—ऐसे) स्वभाववाला है। (ऐसे) स्वभाववाला है। शुभाशुभभाव भी स्वभाववाला है — ऐसा कहना है। वह पर्याय का स्वभाव है, उसके कार्य का वह स्वभाव है। आहा...हा...!

(इसकी) बड़ी चर्चा हुई थी। दूसरे (विद्वान) भी थे (उन्होंने ऐसा कहा कि) 'वह तो अभेद की बात है।' हमने कहा, अभेद का अर्थ क्या? अपने परिणाम में विकार होता है, वह षट्कारक से अपने से होता है, (उसमें) पर कारक की अपेक्षा (नहीं है)। टीका देखो! शास्त्र की मूल टीका तो देखो! शास्त्र में क्या लिखा है? (संवत्) २०१३ की साल! २२ वर्ष (हुए)! यह क्या कहते हैं? (दूसरे विद्वान्) यहाँ आये थे, तब स्वीकार किया था, किन्तु वहाँ जाये तो फिर से फेरफार हो जाता है! बड़े पण्डित! यहाँ आये थे। उस दिन विरोध किया था। (फिर) यहाँ आकर कहा, बात सच्ची है।

'परसंग एव' (के अर्थ में) परसंग से (विकार) नहीं (हुआ) किन्तु 'परसंग एव' (अर्थात्) परसंग किया तो विकार हुआ परन्तु वह अपने से विकार हुआ है। परसंग से (अर्थात्) पर से नहीं (हुआ)। (ऐसा) श्लोक है। 'परसंग एव' है न? उसकी बड़ी चर्चा हुई थी। भाई! यहाँ यह तो कहा कि शुभ-अशुभभाव निमित्त की उपाधि में (युक्त होने से) अपने भाव से हुआ है, जीव के द्वारा शुभ-अशुभभाव हुआ है। उस शुभाशुभभाव को यहाँ

कर्मचेतना — कार्य कहना है और उसका फल दु:ख, दु:ख फल है परन्तु वह जीव के परिणाम में है और वह जीव का परिणाम जीवमयी है। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु – स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री – **स्वभाववाला** कहा है, वजन यहाँ है। दु:ख का फल भोगता है, वह अपना स्वभाव है। आनन्द का फल भोगे, वह भी अपना स्वभाव है। आहा...हा... ! 'स्पष्ट भवनं स्वभाव: ' अपनी स्वदशा में होता है; इसलिए स्वभाव कहने में आता है। आहा...हा... ! है ?

तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से... शुभ, अशुभ और शुद्ध – ये तीनों परिणाम आत्मा है और तीनों परिणाम **चेतनास्वरूप होने से...** चेतना है न ? ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना स्वभाववाला है। **क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है।** आहा...हा... ! शुद्ध धर्म(रूप) परिणाम में भी आत्मा तन्मय है और शुभाशुभ परिणाम में भी आत्मा पर्याय में तन्मय है। आहा...हा... !

पहले आ गया है। शुभ से परिणमता हुआ शुभ (है)। अशुभ से परिणमता हुआ अशुभ (है), शुद्ध से परिणमता हुआ शुद्ध (है)। तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि देखो ! शुभ (भावरूप) परिणमन होने से आत्मा भी शुभरूप हो गया, द्रव्य (शुभरूप हो गया) ! अरे... ! यहाँ द्रव्य की बात है नहीं। वह तो पर्याय में शुभ (भाव) हुआ तो पर्याय में शुभ (भाव) तन्मय है। यहाँ कहा न ? तन्मय कहा न ? **चेतना तन्मय होती है।** तन्मय (कहा तो तन्मय का अर्थ) पर्याय में तन्मय है, द्रव्य में (तन्मय) है नहीं। द्रव्य तो शुद्ध — त्रिकाली शुद्ध है। आहा...हा... !

यह चर्चा बहुत हुई थी कि जो शुभभाव और अशुभभाव है... इसमें (आया) है न ? यह 'प्रवचनसार' है। ९ (वीं गाथा) है। '**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो। सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥ ९॥**' ९ वीं गाथा ! **जीवो परिणमदि जदा** (अर्थात्) जीव जो परिणमता है, **जदा सुहेण** (अर्थात्) शुभ से, अशुभ से। **सुहो असुहो सुद्धेण** शुभ, अशुभ और शुद्ध तीन (भाव) लिये। आ...हा...हा... !

तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो। (अर्थात्) परिणामस्वभाव के कारण इन तीनों में तन्मय है, परन्तु तन्मय का अर्थ, पर्याय में तन्मय है; द्रव्य में ये हैं नहीं। यह तो परिणामस्वभाव में तन्मय है, ऐसा कहते हैं। (ऐसा पढ़कर लोग कहते हैं कि) देखो! जब शुभ (भाव) होता है, तब आत्मा शुभरूप हो जाता है, अशुभ (भाव) होता है, तब अशुभरूप (हो जाता है)। अरे... ! आत्मा तो त्रिकाल शुद्धरूप ही है। यह तो परिणाम की बात चलती है। समझ में आया? (अन्वयार्थ में लिखा है कि) **(शुद्धेन) और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है, तब शुद्ध होता है।** टीका में कहा है कि **शुभ या अशुभ रागभाव से परिणमित होता है, तब जवा कुसुम या तमास पुष्प के (लाल या काले) रंगरूप परिणमित स्फटिक की भाँति, परिणामस्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुभ या अशुभ है);...** यह पर्याय की बात है। आत्मा शुभ (या) अशुभ पर्याय में होता है, द्रव्य की बात नहीं। समझ में आया? (ऐसी) बात है, (इस विषय में) बहुत बात हो गई है।

यहाँ तो यह बात आयी न? कि **प्रथम तो आत्मा वास्तव में परिणाम...** नाम परिणमनस्वरूप ही है। परिणमन उसका स्वरूप है। त्रिकाल परिणामी — पारिणामिकभाव (है), वह तो कूटस्थ है परन्तु उसकी परिणति है, वह परिणामस्वरूप है। बदलने का — परिणमने का स्वभाववाला आत्मा है। **क्योंकि परिणाम स्वयं आत्मा है।** यह परिणति आत्मा की स्वयं की है। आहा...हा... ! समझ में आता है ? आ...हा... !

मुमुक्षु – स्पष्टीकरण बहुत आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह तो (इस विषय में) विरोध हुआ था न? तो विरोध करे तो उसका स्पष्टीकरण (होता है)। उस समय (दिगम्बर के विद्वान्) कहते थे कि 'विकार यदि कर्म के निमित्त बिना हो तो वह स्वभाव हो जाये।' स्वभाव ही है। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है। यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ ने जो कहा वह बात है (और यह बात) अन्दर से आती है। आहा...हा... !

(यहाँ) तीनों परिणाम की बात कही, हाँ! शुभ, शुद्ध (और) अशुभ। आहा...हा... ! मिथ्यात्वरूप अशुद्धपने परिणमे तो वह आत्मा परिणमित हुआ है, वह आत्मा है और

सम्यग्दर्शनपने परिणमता है तो कहते हैं कि वह आत्मा है, क्योंकि परिणमनस्वभाववाला है न? आहा...हा...! आ...हा...हा...! कितनी स्पष्टता! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' और 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने गजब काम किया है! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने भरतक्षेत्र में गणधर जैसा काम किया है और 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने तीर्थङ्कर जैसा (काम किया है)!! ओ...हो...हो...! एक एक बात को कितनी स्पष्ट (की है)! कितना स्पष्टीकरण! आ...हा...! जिस में कुछ भी गड़बडी न रहे। आहा...हा...!

परिणाम स्वयं आत्मा है... तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से... तीनों (परिणाम) चेतनास्वरूप होने से, हाँ! ज्ञानचेतना – शुद्ध उपयोग, रागचेतना–शुभ–अशुभ, अशुद्ध उपयोग। ये परिणाम चेतनास्वरूप होने से चेतना है। **ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होने के स्वभाववाला है,... परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होने के स्वभाववाला है,...** आ...हा...हा...! ऐसा नहीं कहा कि शुद्धपने परिणमता है (तो) स्वभाववाला है और शुभ–अशुभ का फल दुःख (है तो) स्वभाववाला नहीं है — ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? क्या कहा? कि आत्मा शुद्ध निर्मल वीतराग (भावपने) परिणमे तो वह स्वभाव है और पुण्य–पापपने परिणमे, वह स्वभाव नहीं — ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? आहा...हा...!

पर के साथ क्या सम्बन्ध है? शरीर, कर्म को तो आत्मा छूता तक नहीं। परद्रव्य को आत्मा छूता नहीं और परद्रव्य अपने को छूते नहीं। आ...हा...हा...! भगवान आत्मा कभी शरीर को छूआ ही नहीं है, छूता ही नहीं है। आ...हा...हा...हा...! फिर भी उसे सचेतन शरीर भी कहने में आता है। चेतन साथ में है न? (इसलिए सचेतन कहा)। (वैसे) शरीर है तो अचेतन परन्तु व्यवहार से — झूठी दृष्टि से सचेतन कहने में आता है, परन्तु यहाँ (जो कहा वह) झूठी दृष्टि नहीं (है)। पुण्य–पापरूप परिणमता है, वह झूठी (दृष्टि) नहीं, वह तो अपना परिणाम ही है। आहा...हा...! समझ में आया? जीव को शरीर कहना, यह तो झूठी दृष्टि है, झूठा — व्यवहारनय है, परन्तु ये जो शुभाशुभ(रूप) परिणमता है, वह व्यवहार झूठा नहीं। अशुभ और शुभपने परिणमता है, वह सच्चा व्यवहार है। सच्चा अर्थात् आत्मा का परिणाम है। आ...हा...हा...! अरे...! अरे...! ऐसी बात है।

जब मोक्षमार्ग की बात चलती हो.... यह तो आत्मद्रव्य-गुण-पर्याय की — ज्ञेय की बात चलती है (लेकिन) जब मोक्षमार्ग की बात चलती हो, तब शुद्धपरिणाम (है), वह धर्म है, वह मोक्ष का मार्ग है और शुभाशुभ (भाव) है, वह बंध का कारण है, वह मोक्षमार्ग नहीं (ऐसा कहे)। समझ में आया ? वह तो मोक्षमार्ग की जब व्याख्या होती है, तब ऐसे दो भाग पड़ते हैं — व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय। समझ में आया ? व्यवहाररत्नत्रय बंध का कारण है, वह अपने आत्मा के परिणाम में है नहीं। दृष्टि की अपेक्षा से (ऐसा कहा जाता है)। आ...हा...हा... ! एक पंक्ति में तो... ओ...हो...हो... ! (कितना भर दिया है) !!

तथा परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप... (अर्थात्) ज्ञान-कार्य, कर्म-कार्य (और) कर्म के फल(रूप) **होने के स्वभाववाला है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है।** आ...हा...हा...हा... ! चेतना, हाँ ! परिणाम (की बात है), द्रव्य नहीं। द्रव्य की चेतना परिणमन(रूप) जो दशा है, वह तीनों में तन्मय है। **इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।** आ...हा...हा... !

ज्ञेय का अधिकार है न ? और वास्तव में तो यह दर्शन — समकितदर्शन का अधिकार है। ९२ गाथा (तक) ज्ञान का अधिकार है (और) यह ज्ञेय का अधिकार समकितदर्शन का अधिकार है। 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका में ऐसा कहा कि यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। समझ में आया ? आहा...हा... !

सम्यग्दृष्टि भी, अपना शुद्धपरिणाम हुआ, वह भी मैं हूँ और शुभाशुभ (भाव) होता है, वह भी मैं हूँ — ऐसा सम्यग्दृष्टि जानते हैं। अरे... ! अरे... ! आ...हा...हा... ! एक ओर कहे कि शुभाशुभ परिणाम का कर्ता हो जाये तो मिथ्यादृष्टि है। (ज्ञानी) कर्ता (हैं) नहीं, परन्तु (शुभाशुभ) परिणमन होता है, वह करनेलायक है वह प्रश्न नहीं, परन्तु शुभाशुभ का परिणमन हुआ तो (ऐसा जानते हैं कि) मैं कर्ता हूँ। आ...हा...हा... !

आज ४७ नय आयेगी न ? (उसमें) कर्ता-भोक्ता (नय आती है)। विकार का कर्ता और विकार का भोक्ता मैं हूँ। आ...हा... ! आत्मा कैसा है ? ऐसा प्रश्न वहाँ चला है। आत्मा कैसा है ? (तो कहते हैं कि) आत्मा रागादि का कर्ता है और रागादि का भोक्ता है

— ऐसा है। शुद्ध (भाव का) कर्ता–भोक्ता तो है ही। (इस ग्रन्थ में) अन्त में आया है। ४७ नय चली है न? (वहाँ आता है कि) आत्मा कैसा है? कि आत्मा रागादि का कर्ता है, ऐसा है। रागादि का भोक्ता है, वह आत्मा है। उसकी पर्याय है न? करने योग्य है, वह प्रश्न नहीं। परन्तु परिणमन है तो कर्ता आत्मा है और आत्मा ऐसा है। यह आगे आयेगा। यहाँ ये कहते हैं (कि) **इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।** आ...हा...हा... !

इस प्रकार वास्तव में शुद्धद्रव्य के निरुपण में... शुद्धद्रव्य का अर्थ — परद्रव्य के सम्बन्ध बिना का, पुण्य, पाप और शुद्ध का (परिणमन) वह शुद्धद्रव्य का कथन है। आहा...हा... ! **वास्तव में शुद्धद्रव्य के निरुपण में परद्रव्य के सम्पर्क का (सम्बन्ध, संग) असम्भव होने से...** आ...हा...हा... ! शुभाशुभ परिणाम अपना है, यह शुद्धद्रव्य का कथन है। शुद्ध अर्थात् पर (द्रव्य के सम्बन्ध) बिना अपने परिणाम का द्रव्य–गुण–पर्याय (का कथन) यह शुद्धद्रव्य का कथन है। आहा...हा... !

वह (बात) विशेष आयेगी.... !

प्रवचन नं. १४१ **दिनाङ्क २१ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार', १२५ गाथा की टीका की अन्तिम दो पंक्तियाँ। **इस प्रकार...** क्या इस प्रकार? कि ज्ञानानन्द की अनुभवदशा होने पर, ज्ञानचेतना प्रगट होने पर वह ज्ञानचेतना स्वभाव की ओर मुड़ गई है। ज्ञानचेतना आत्मद्रव्य — स्वभावसन्मुख मुड़ गई है। **इस प्रकार वास्तव में शुद्धद्रव्य के...** कथन में अथवा शुद्धद्रव्य के अनुभव में **परद्रव्य के सम्पर्क का (सम्बन्ध, संग) असम्भव होने से...** क्या कहते हैं? स्वद्रव्य जो चैतन्य वस्तु (है), उसके अनुभव में पर्याय, द्रव्य की ओर झुक गई है, उस कारण से परद्रव्य का संग असम्भव है। उस कर्म का, परद्रव्य का संग (था), जो (उसके) वश था, वह वश रहा नहीं। अपने स्वभाव के वश हो गया। परद्रव्य से (वश) होता नहीं परन्तु परद्रव्य के संग में अपनी पर्याय में उपाधि थी, वह छूट गई। अपना स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप (है), उसमें पर्याय का अनुभव द्रव्य की ओर झुक गया तो पर (द्रव्य) का संग असम्भव (होने से) **और पर्यायें, द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से...** आहा...हा... ! पर्याय, द्रव्य के

भीतर (प्रलीन हो जाने से) अर्थात् द्रव्य-सन्मुख (हो जाने से)। आहा...हा...! है ?

पर्यायें... अर्थात् बहुवचन है। अनन्ती पर्यायें जो अनुभव में हैं, ये पर्यायें द्रव्य के भीतर — द्रव्य के सन्मुख होने से द्रव्य में लीन हो गई — ऐसा कहने में आता है। पर्याय, द्रव्य के भीतर घुस नहीं जाती। समझ में आया ? शुद्धपर्याय जो द्रव्य के अवलम्बन से हुई, वह पर्याय द्रव्य के भीतर हो गई (अर्थात्) अन्दर द्रव्य में लीन हो जाने से — अत्यन्त लीन हो जाने से। प्रलीन ! प्रलीन का अर्थ पर्याय नाश हुई और द्रव्य में मिल गई — ऐसा नहीं। जैसे व्यय होता है तो व्यय द्रव्य में मिल जाता है — ऐसा यहाँ नहीं (होता)। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' है तो (उसमें) जो व्यय होता है, वह तो अभाव होकर अन्दर द्रव्य में घूस जाता है। वैसे यह पर्याय जो उत्पन्न हुई वह द्रव्य के भीतर घुस नहीं जाती। समझ में आया ? प्रलीन = प्रत्यक्ष द्रव्य में लीन हो गई। आ...हा...हा...!

पर्यायें अर्थात् बहुवचन (है तो) जितनी अनन्ती पर्यायें (हैं, सभी पर्यायें) **द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से...** प्रलीन अर्थात् अत्यन्त लीन हो जाने से, मग्न हो जाने से। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान की एक ही पर्याय अन्तर में लीन हुई, ऐसा नहीं। सम्यग्दर्शन की पर्याय भूतार्थ के आश्रय (से) होती है, तब सब पर्यायें अन्दर में झुकी हुई है। एक सम्यग्दर्शन की पर्याय ही अन्दर झुक गई है — ऐसा नहीं। अनन्ती पर्यायें द्रव्य की ओर झुकी है अर्थात् द्रव्य की ओर लीन हो गई है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

दो बात कही। यहाँ निरुपण अर्थात् कथन (है)। शुद्ध (द्रव्य के) अनुभव के प्रसंग में... आ...हा...हा...! परद्रव्य का संग और परिचय का असम्भव (होने से) वर्तमान पर्याय द्रव्य में प्रलीन अर्थात् लीन हो गई। समझ में आया ? **आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है।** पर्याय में अनुभव में अकेला शुद्धद्रव्य ही रहता है। आ...हा...हा...! सूक्ष्म विषय है।

तत्त्व तो कर्म से, शरीर से भिन्न ही है, परन्तु निमित्त के अधीन होकर पर्याय में विकृतदशा थी, वह पर्याय — सारी पर्यायें अन्तर्मुख लीन हुई। जैसे पर के वश थी, वैसी वह पर्याय स्व के वश हुई। अत: प्रलीन अर्थात् वह द्रव्य में घुस नहीं गई है, परन्तु द्रव्य में अनन्ती पर्यायें लीन हो गई। समझ में आया ? द्रव्य में घुस जाये तो अनुभव का कार्य तो पर्याय में (होता) है। यह कार्य हुआ तो वह पर्यायरूपी कार्य द्रव्य में ऐकाकार होता है,

अन्तर्मुख होता है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? विषय, बापू! यह तो वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म (है)। सन्तों ने ऐसी शैली करके... आ...हा...हा...! जगत को जाहिर किया कि प्रभु! तू कितना है? पूर्णानन्द का नाथ, प्रभु! उस ओर तेरी दृष्टि झुकी तो अनन्ती पर्यायें (उसमें) लीन हो गई। पर्याय पर (में) लीन थी (वह) अन्तर में लीन हो गई। आ...हा...हा...! तो लीन (होने) में एक शुद्धद्रव्य ही दृष्टि में रहा।

द्रव्य ही रहता है। अनुभव में अकेला शुद्ध द्रव्य ही रहता है। आहा...हा...! एक सम्यग्दर्शन, ज्ञान की पर्याय जब अन्तर में झुकी तो अनन्ती पर्यायें अन्दर में झुकती हैं। एक पर्याय (अन्दर में) झुकी और दूसरी बाहर में रहती है, (ऐसा नहीं)। आहा...हा...! समझ में आया? यह मार्ग है, भाई!

द्रव्य जो वस्तु है, उसके अनन्त गुण हैं, उसकी एक समय में अनन्ती पर्यायें हैं। ये अनन्ती पर्यायें द्रव्य में लीन हो गई। इस ओर जो राग में लीन थी, वह द्रव्य में लीन हुई; लीन हुई तो अकेला शुद्धद्रव्य दृष्टि में रहा। आ...हा...! अनुभव में शुद्धद्रव्य ही रहा। है अनुभव पर्याय का, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। समझ में आया? 'अलिंगग्रहण' के बीसवें बोल में है न? कि प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा आत्मा — द्रव्य। उसको आलिंगन नहीं करती। द्रव्य को आलिंगन नहीं करती, ऐसी शुद्धपर्याय, आत्मा है। वेदन में आयी (ऐसी) पर्याय, आत्मा है। आ...हा...हा...! कठिन काम, भाई! अभी तो बात बैठनी कठिन पड़े। ऐसा प्रभु का मार्ग!

यहाँ कहते हैं कि पर का संग छूट गया तो राग छूट गया। अब, अपने संग में जहाँ पर्याय लीन हुई तो लक्ष्य में पर्याय भी न रही। लक्ष्य में — ध्येय में तो अकेला द्रव्य रहा, उसे शुद्धद्रव्य का अनुभव कहने में आता है। है तो अनुभव पर्याय का, द्रव्य का अनुभव तो है नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। **भीतर प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।** आ...हा...हा...! अनन्ती पर्यायें, द्रव्य की ओर लीन हुई तो एक शुद्धद्रव्य ही रहा। दृष्टि में — अनुभव में सारा शुद्धद्रव्य ही रहा। अनुभव तो पर्याय का है परन्तु उस ओर झुकने से, जो अनुभव की अनन्ती पर्यायें हैं, ये प्रलीन अर्थात् द्रव्य की ओर झुकने से एक द्रव्य ही रहा। दृष्टि में, ज्ञान की पर्याय में शुद्धद्रव्य ही ज्ञेयरूप रहा।

समझ में आया ? दृष्टि में और ज्ञान में एक पूर्ण शुद्ध ज्ञेय ही रहा। आहा...हा... ! पर्याय का भी ज्ञेय नहीं, पर्याय का ज्ञेय अकेला द्रव्य रहा। आ...हा...हा...हा... ! ऐसा मार्ग है। यह मूल चीज है। मूल से — प्रथम यह दशा होती है। स्वरूप में स्थिरता तो बाद में (होती है)। आहा...हा... !

(जब तक) पर्यायबुद्धि है, तब तक तो अवस्था में और राग में उसकी बुद्धि चली जाती है। परन्तु उस पर्याय का उस ओर झुकाव था, वह तो वहाँ रह गई। अब, बादवाली पर्याय, द्रव्य में से आती है और वह पर्याय, द्रव्य के सन्मुख होती है। ऐसी बात है, बापू ! अरे... ! वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ का यह मार्ग सम्यग्दर्शन का है। इसके बिना सब थोथा (-बेकार) है। क्रियाकाण्ड करके मर जाये तो भी द्रव्य हाथ में नहीं आयेगा। यह तो शुद्धपर्याय झुकी वहाँ द्रव्य हाथ में आ गया ! समझ में आया ! शुद्धद्रव्य की पकड़ आ गई। आ...हा...हा... ! ज्ञायकभाव जो पूर्णानन्द प्रभु ! उस ओर पर्याय झुकने से अकेला (द्रव्य) ही ज्ञान में ज्ञेय के रूप में रहा। पर्याय में — श्रद्धा की दृष्टि में अकेला ध्रुव ही रहा। पर्याय का अनुभव किया परन्तु पर्याय अन्तर्मुख हुई है तो अन्तर्मुख में सारा शुद्धद्रव्य ही रहा। पर्याय का लक्ष्य भी छूट गया। आहा...हा... ! ●●

मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो क्या आपत्ति है क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है ?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गई है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १२६

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धो शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति -

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।१२६।।

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम्।।१२६।।

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः। तथाहि-यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरञ्जि-तात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधि-प्रधावितोपरागरञ्जितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी, तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्। तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्। अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्। अहमेक एवोपरक्त-चित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्। अहमेक एव चोपरक्तचित्मपरिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यविपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम्। इदानी पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिक-कर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंस-विस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्ध-सहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः। इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति। इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि; अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि; अहमेक एव च सुविशुद्ध-चित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि; अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुललक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि। एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मा-नमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। परमाणुरिव भावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते। ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। कर्तकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते;

ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति।।१२६।।

एवं त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम्। अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनायाः शुद्धात्मप्राप्तिरूपं फलं दर्शयति - **कत्ता** स्वतन्त्रः स्वाधीनः कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि। स कः। **अप्प त्ति** आत्मेति। आत्मेति कोऽर्थः। अहमिति। कथंभूतः। एकः। कस्याः साधकः। निर्मलात्मानुभूतेः। किंविशिष्टः। निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणतः सन्। **करणं** अतिशयेन साधकं साधकतमं करणमुपकरणं करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि। कस्याः। साधकम्। सहजशुद्धपरमात्मानुभूतेः। केन कृत्वा। रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञान-परिणतिबलेन। **कम्मं** शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि। **फलं च** शुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावपरमात्मनः साध्यं निष्पाद्यं निजशुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूति-रूपाभेदरत्नत्रयात्मक-परमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फलं चास्मि। **णिच्छिदो** एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमतिः सन् **समणो** सुखदुःखजीवितमरणशत्रुमित्रादिसमता-भावनापरिणतः श्रमणः परममुनिः **परिणमदि णेव अण्णं** जदि परिणमति नैवान्यं रागादिपरिणामं यदि चेत्, **अप्पाणं लहदि सुद्धं** तदात्मानं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेन शुद्धं शुद्धबुद्धैक-स्वभावं लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवतां **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवानाम्**।।१२६।।

अब, इस प्रकार ज्ञेयपने[१] को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है; इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए — धन्यवाद देते हुए), द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं —

जीव ही करण, कर्ता, करम, फलरूप, यह निश्चय करी।
मुनि अन्यरूप न परिणमे, प्राप्ति करें शुद्धात्म की॥

अन्वयार्थ - [यदि] यदि **[श्रमणः]** श्रमण **[कर्ता करणं कर्म कर्मफलं च आत्मा]** 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' **[इति निश्चितः]** ऐसा निश्चयवाला होता हुआ **[अन्यत्]** अन्यरूप **[न एव परिणमति]** परिणमित ही नहीं हो, **[शुद्धं आत्मानं]** तो वह शुद्ध आत्मा को **[लभते]** उपलब्ध करता है।

---

१. 'कर्ता करण इत्यादि आत्मा ही है' ऐसा निश्चय होने पर दो बातें निश्चित हो जाती हैं। एक तो यह कि 'कर्ता, करण इत्यादि आत्मा ही है, पुद्गलादि नहीं अर्थात् आत्मा का परद्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है'; दूसरी — 'अभेद दृष्टि में कर्ता, करण इत्यादि भेद नहीं हैं, यह सब एक आत्मा ही है अर्थात् पर्यायें द्रव्य के भीतर लीन हो गई है।'

टीका – जो पुरुष इस प्रकार 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' यह निश्चय करके[१] वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, वही पुरुष, जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई हैं ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है; परन्तु अन्य कोई (पुरुष) ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता।

इसी को स्पष्टतया समझाते हैं —

''जब अनादिसिद्ध पौद्‌गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग[१] के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत, मलिन) थी ऐसा मैं — जवाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग से (लालिमा से) जिसकी स्वपरिणति रंजित (रँगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणि की भाँति — पर के द्वारा आरोपित[२] विकारवाला होने से, संसारी था, तब भी (अज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी (संबंधी) नहीं था। तब भी मैं अकेला ही कर्ता[३] था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था); मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था; और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला, 'दु:ख' नामक कर्मफल था — जो कि (फल) उपरक्त चैतन्यरूप (फल) परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता था।

और अब, अनादिसिद्ध पौद्‌गलिक कर्म की बंधनरूप उपाधि की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं — जवाकुसुम की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो ऐसे स्फटिकमणि की भाँति — जिसका पर के द्वारा आरोपित विकार रुक गया है ऐसा होने से

---

१. उपराग = किसी पदार्थ में, अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारी भाव; औपाधिक भाव; विकार; मलिनता।

२. आरोपित = (नवीन अर्थात् औपाधिकरूप से) किये गये। [विकार स्वभावभूत नहीं थे, किन्तु उपाधि के निमित्त से औपाधिकरूप से (नवीन) हुए थे।]

३. कर्ता, करण और कर्म के अर्थों के लिये १६ वीं गाथा का भावार्थ देखना चाहिए।

एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ; अभी भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है। अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र हूँ, (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य हूँ और मैं अकेला ही अनाकुलतालक्षणवाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ — जो कि (फल) सुविशुद्ध[१] चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है।''

— इस प्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है इस प्रकार भानेवाला[२] यह पुरुष परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख होने से, (अर्थात् एकत्व के भाने में तत्पर होने से), उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित् नहीं होती; और परमाणु की भाँति (जैसे, एकत्वभाव से परिणमित परमाणु पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार —), एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ संपृक्त[३] नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है। और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप[४] से भाता हुआ वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण (खंडित) नहीं होता; और इसलिए पर्यायों के द्वारा संकीर्ण न होने से सुविशुद्ध होता है॥ १२६॥

प्रवचन नं. १४१ का शेष **दिनाङ्क २१ जुलाई १९७९**

अब, इस प्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के... क्या कहा? देखो!

१. सुविशुद्धचैतन्यपरिणमनस्वभाव आत्मा का कर्म है, और वह कर्म अनाकुलतास्वरूप सुख को उत्पन्न करता है, इसलिए सुख वह कर्मफल है। सुख आत्मा की ही अवस्था होने से आत्मा ही कर्मफल है।

२. भाना = अनुभव करना; समझना; चिन्तवन करना ['किसी जीव का — अज्ञानी या ज्ञानी का — पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। बंधमार्ग में आत्मा स्वयं निज को निज से बाँधता था और निज को (अर्थात् अपने दुःखपर्यायरूप फल को) भोगता था। अब मोक्षमार्ग में आत्मा स्वयं निज से मुक्त करता है और निज को (अर्थात् अपने सुखपर्यायरूप फल को) भोगता है। — ऐसे एकत्व को सम्यग्दृष्टि जीव भाता है — अनुभव करता है — समझता है — चिन्तवन करता है। मिथ्यादृष्टि इससे विपरीतभावनावाला होता है।]

३. संपृक्त = सम्पर्कवाला; संबंधवाला; संगवाला।

४. सम्यग्दृष्टि जीव भेदों को न भाकर अभेद आत्मा को ही भाता - अनुभव करता है।

इस प्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त... आत्मा — ज्ञेय ज्ञान में आ गया। आहा...हा...! ज्ञान की पर्याय में सारा ज्ञेय आ गया। ज्ञेयभूत द्रव्य (आ गया)। है ? (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट दी है)। ***'(आत्मा) ज्ञानरूप भी (है) और ज्ञेयरूप भी है।'*** आ...हा...! स्वरूप तो ऐसा कहा न ? कि कर्म, ज्ञानचेतना आदि तो जीवस्वरूप ही है। यहाँ तो निर्मल ज्ञानचेतना लेनी है। आ...हा...! वह जीवस्वरूप है। जीवस्वरूप है तो उस प्रकार के जीवस्वरूप पर्याय है, उस पर्याय में ज्ञेय तो आत्मा रहा। ज्ञान भी रहा और ज्ञेय आत्मा रहा। आहा...हा...! ***(इस ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार में यहाँ द्रव्य सामान्य का निरुपण किया जा रहा है;...)*** सामान्य नाम अकेले आत्मा का कथन है। आगे से छः द्रव्य का कथन चलेगा। समझ में आया ? आहा...हा...! ***(उसमें आत्मा ज्ञेयभूतरूप से समाविष्ट हुआ है)।***

ज्ञेय अधिकार है न ? आहा...हा...! तो अपनी पर्याय में जब यह पर्याय अन्तर्मुख झुकी तो पर्याय में ज्ञेयभूत आत्मा, ज्ञान में आ गया। ज्ञान में वस्तु आ गई — ऐसा नहीं। ज्ञेय जो आत्मा है, उसका जितना सामर्थ्य है, वह सब ज्ञानपर्याय में ज्ञेय के रूप में आ गयी। आहा...हा...! ज्ञेय अधिकार है न ? और यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – ज्ञेय में ऐसे जाने बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री – सम्यग्दर्शन की पर्याय में सारा ज्ञेय जानने में आया। पर्याय भी नहीं। आहा...हा...! ज्ञेयतत्त्व है न ? ज्ञानतत्त्व में ज्ञान का अधिकार आया। अब, ज्ञान की पर्याय में पूर्ण ज्ञेय, ज्ञान में आ गया, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान है। आहा...हा...! भाई ! ऐसा सूक्ष्म अधिकार है। ऐसी सूक्ष्म बात है। आहा...हा...!

ज्ञेय तत्त्व है न ? तो आत्मा ज्ञान में ज्ञेय कब हुआ ? कि अपनी पर्याय स्व की ओर झुकी, तब पर्याय में वह ज्ञेय आया, तो ज्ञान भी वह और ज्ञेय भी वह। आहा...हा...! समझ में आया ? यह तो शान्ति से समझना है, बापू ! यह कोई कथा-वार्ता नहीं। आहा...हा...! यह भगवत्स्वरूप आत्मा, पर्याय में — श्रद्धा में और ज्ञान में ज्ञेयपने आया तो शुद्धद्रव्य ही रहा। पर्याय में शुद्धद्रव्य ही दृष्टि में रहा, वह ज्ञेय ज्ञान में आ गया। आ गया का अर्थ — ज्ञेय का ज्ञान आ गया। ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय चीज आती नहीं। आ...हा...हा...! ज्ञान की अवस्था में... अरे...! ऐसी बातें ! यह तो मुद्दे की रकम की बात है। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन के बिना अकेले व्रत, नियम और प्रतिमा लेकर (अज्ञानी) मर जाते हैं। अरे... ! क्या हो ? भाई !

ज्ञेय (अधिकार में) यह समकित अधिकार है। अत: अपनी पर्याय जब लीन अर्थात् स्व की ओर झुक गई, तब सारा ज्ञेय — भगवान (का) जितना स्वभाव — सामर्थ्य है, सब का पर्याय में ज्ञान आया और पर्याय में उसकी प्रतीत आई। ज्ञान होकर, ज्ञेय जो अनन्त गुणसम्पन्न वस्तु प्रभु ! उसका पर्याय में ज्ञेय होकर ज्ञान हुआ और ज्ञान में प्रतीति आई कि यह सारी चीज है। आहा...हा... ! समझ में आया ? 'प्रवचनसार', 'समयसार' 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के शास्त्र... आ...हा...हा... ! थोड़े शब्द में कितनी गम्भीरता भरी है !! आचार्यों की शैली तो देखो, प्रभु ! शैली ही यह है। तेरा स्वभाव ही ऐसा है — ऐसा कहते हैं।

जब ज्ञान की पर्याय में सारा द्रव्य देखने में आया, ज्ञान की पर्याय में सारे ज्ञेय का ज्ञान हुआ, तब द्रव्य की दृष्टि में रहा। यह दृष्टि हुई, उसका नाम समकित है। आहा...हा... ! ऐसा काम है। **अब, इस प्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से...** देखा ! ज्ञेयपने को प्राप्त पर्याय में निश्चय शुद्धता हुई। **ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर...** ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय का ज्ञान हुआ तो ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? सामने पाठ है न ? इसलिए तो (शास्त्र) रखते हैं।

ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से... आत्मा पूर्ण शुद्ध है, उसके निश्चय से — निर्णय से... आ...हा...हा... ! ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई। आ...हा... ! ज्ञान की पर्याय में ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई। सारा ज्ञेय जानने में आया तो ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई। ज्ञानतत्त्व में ज्ञेय जानने में आया तो ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई और ज्ञानतत्त्व में ज्ञेय आया तो अकेला शुद्ध द्रव्य ही रहा। ज्ञान की पर्याय का विषय शुद्ध द्रव्य ही रहा। आहा...हा... !

शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति) होती है;... समझ में आया ? जब अपनी निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई और उस ओर झुकी। जो पर्याय वर्तमान में राग की ओर झुकती थी, वह पर्याय वहाँ रह गई। बादवाली पर्याय, द्रव्य में से उत्पन्न हुई और उस ओर द्रव्य में लीन हो गई। आ...हा...हा... ! ऐसी वस्तुस्थिति !

अरे... ! देखो न! 'मोरबी' की बात कोई आया था न? कितने मुर्दे हाथ लगे, कुछ लोग तो, घर गिर गये उसके नीचे दब गये, कुछ मुर्दे तो पानी में मिलते नहीं, पानी में बह गये होंगे। आ...हा...हा... ! यह दशा... ! अब उसे वापस मोरबीपने होने में कितने वर्ष लग जायेंगे। आ...हा...हा... ! यहाँ तो कहते हैं कि एक समय में... आहा...हा... ! जो बिगड़ा हुआ तत्त्व है... आहा...हा... ! वह एक समय में पलटा खाता है ! आहा...हा... ! 'श्रीमद्' में भी आता है न ? एक समय में ज्ञान ज्ञानान्तर (जात्यान्तर) को प्राप्त होता है। ओ...हो...हो... !

इस प्रकार... बारम्बार आता है, वह तो भावना (के कारण आता है)। उसमें भिन्न–भिन्न कई अपेक्षाएँ आती हैं। **ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से...** भगवान पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध है, ऐसा पर्याय में निर्णय हुआ। इस निर्णय से **ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर...** ज्ञानतत्त्व की सिद्धि हुई। ज्ञान में सारा ज्ञेय जानने में आ गया। **शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभव, प्राप्ति)...** हुई। आ...हा...हा... ! तब उस शुद्ध त्रिकाली वस्तु का पर्याय में अनुभव हुआ। अनुभव तो हुआ पर्याय में, पर्याय का, परन्तु ये क्या चीज है, इतना ख्याल और इतनी प्रतीत आई तो आत्मा अनुभव में अया — ऐसा कहने में आया। आहा...हा... ! समझ में आया ? थोड़ा सूक्ष्म है, भाई ! लेकिन मार्ग तो यह है। आहा...हा... !

इसका अभी ज्ञान भी बराबर न करे तो वह अन्तर में झुकेगा कैसे ? आहा...हा... ! आहा...हा... ! और अन्तरात्मा कहा उसका अर्थ यह है कि आठ कर्म के बीच में अन्दर अन्तरात्मा भिन्न है। अन्तर (में) है, कर्म में नहीं। आठ कर्म जो बँधे हुए हैं... आहा...हा... ! उससे अन्तर में आत्मा — अन्तरात्मा — अन्तर में है, आठ कर्म से नहीं। आठ कर्म में नहीं, अन्तरात्मा अन्तर में (है)। आहा...हा... !

बहिरात्मा — राग और पुण्य को अपना माने, वह तो बहिरात्मा है परन्तु कर्म के मध्य में और विकार की दशा में भी अन्तरात्मा जो अन्दर भिन्न है, उसका ज्ञान करना और उसकी प्रतीत — निश्चय करना, वह शुद्ध (आत्मद्रव्य का) निश्चय हुआ और शुद्ध ज्ञानतत्त्व सिद्ध हुआ तो उसे आत्मा का अनुभव हुआ। बहुत संक्षेप में समा दिया है !

इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए... देखो! यहाँ लोग अभिनन्दन नहीं करते? (यहाँ) आचार्य कहते हैं कि ऐसी चीज जहाँ उत्पन्न हुई (तो हम) अभिनन्दन करते हैं। आ...हा...! अभिनन्दन! अभिनन्दन! तुझे धन्य है, प्रभु! आ...हा...हा...! तेरी ज्ञान की पर्याय में उसका ज्ञान ले लिया और तेरी पर्याय में सारे शुद्ध (तत्त्व का) निश्चय हो गया और द्रव्य में लीन हुआ (तुझे) धन्यवाद है! आ...हा...हा...! भाई! दो-पाँच-दस लाख कमाये तो धन्यवाद नहीं (देते)।

मुमुक्षु - पर्याय को धन्यवाद देते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री - धन्यवाद है, भाई! आ...हा...हा...! आचार्यों की पुकार है। हम अभिनन्दन देते हैं, प्रभु! आ...हा...हा...! अभिनन्दन की तख्ती देते हैं न? (यहाँ) आचार्य भगवान कहते हैं कि हम अभिनन्दन देते हैं! उसे हम अनुमोदन देते हैं। आ...हा...हा...! राग करते हैं और उसे कर्तापने माने, उसे हम अनुमोदन नहीं देते। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है। वर्तमान में दुर्लभ हो गया।

इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए...) देखो! आ...हा...हा...! पर्याय में सारे शुद्ध (द्रव्य का) निश्चय हुआ और पर्याय में सारे ज्ञेय का ज्ञान हुआ... आ...हा...हा...! उस पर्यायवान को अभिनन्दन... अभिनन्दन! टीकाकार आचार्य 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' कहते हैं कि हम अभिनन्दन देते हैं। भाई! आ...हा...हा...! बाकी बाहर की विशेष समझ हो न हो, परन्तु यह मूल चीज हाथ में आ गई तो अभिनन्दन देते हैं। (भले) उसे विशेष क्षयोपशम नहीं हो... आहा...हा...! सभा को रंजन करने की ताकत न हो, सभा में समझाने की ताकत भी न हो, उससे कोई (फर्क नहीं पड़ता)। आहा...हा...! भगवान की पर्याय-सभा में द्रव्य का ज्ञान हुआ, अनन्ती पर्याय में ज्ञान पर्याय में सारे ज्ञान तत्त्व का ज्ञान हुआ और श्रद्धा की पर्याय में सारे शुद्ध (द्रव्य का) निश्चय हुआ। आहा...हा...! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात है। अरे...! मूल बात पड़ी रही और लोग बाहर में भटक रहे हैं। ये पञ्च महाव्रत लिये, नग्न हुए और उसे यह हुआ...

मुमुक्षु - यह रास्ता देखा नहीं हो तो क्या करे।

पूज्य गुरुदेवश्री – नहीं देखा, क्या करें ? बात सच्ची है। देखने के लिये तो यह बात चलती है। आहा...हा... !

(शुद्धता के निर्णय की...) देखो! यह 'ज्ञेय अधिकार' (है), उसमें यह सम्यग्दर्शन का अधिकार आया। 'जयसेनाचार्यदेव' ने लिखा है न? भाई! कि यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है; और 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' भी कहते हैं। देखो! **निर्णय की प्रशंसा करते हुए...** ज्ञेयतत्त्व का निर्णय हुआ, इस सम्यग्दर्शन की सब प्रशंसा करते हैं। आ...हा...हा... ! ऐसा मार्ग !

(शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए — धन्यवाद देते हुए),... अभिननदन है न ? उस अभिनन्दन की व्याख्या की। **अभिनन्दन करते हुए...** उसका अर्थ क्या है ? कि **(आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुए...)** ऐसा (कहते हैं)। अभिनन्दन की व्याख्या क्या ? समझ में आया ? ऐसे सम्यग्दृष्टि को, जिसे शुद्ध (द्रव्य का) निर्णय हुआ, निर्विकल्पने शुद्धता का निर्णय हुआ और ज्ञान की पर्याय में सारे ज्ञेय का ज्ञान हुआ। निर्णय हुआ और पर्याय में सारे ज्ञेय का ज्ञान हुआ (तो आचार्य महाराज कहते हैं कि) अभिनन्दन... अभिनन्दन... ! आ...हा...हा... ! आचार्य कहते हैं कि हमारी ओर से तुझे अभिनन्दन!! आहा...हा... ! आहा...हा... ! भगवान ! तूने अपूर्व (कार्य) किया, हाँ, नाथ ! ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! अनन्त काल में नहीं किया, नाथ ! आहा...हा... ! तेरी पर्याय अन्तर में झुकी (तो) ज्ञान की पर्याय में सारा ज्ञेय का ज्ञान (हुआ) और श्रद्धा की पर्याय (में) सारे शुद्ध द्रव्य का निर्णय (हुआ)। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

भाई ! यह तो दुनिया प्रसन्न हो जाय और (लोगों को) रंजन (जो जाये), ऐसी यह बात नहीं है। यह तो आत्मा प्रसन्न कैसे हो, (उसकी बात है)। प्रसन्न अर्थात् आत्मा को आनन्द कैसे आवे ? (इसकी बात है)। आ...हा...हा... ! सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा का आनन्द आता नहीं। उसमें आत्मा राजी और खुशी है। बाहर में विकथाएँ सुने और हो... हो... रंजन हो जाये, बापू ! वह तो राग का रंजन है। राग के रसिकों को राग की बातें रुचे। आ...हा... ! परन्तु जिसे शुद्ध ज्ञायक द्रव्य दृष्टि में आया (उसे राग रुचता नहीं)।

एक बात याद आ गई। 'धवल' में है न ? कि 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् अशुद्धनय से कथन

है।' ऐसा पाठ है। एक बार बात हो गई थी। थोड़ी सूक्ष्म पड़ेगी (लेकिन) दिमाग में आ गई है। तत्त्वार्थश्रद्धानम्, वह अशुद्धनय का विषय है और तत्त्व की रुचि अशुद्धतर नय (है), अशुद्धतर नय! ऐसा है। थोड़ा सूक्ष्म पड़ेगा, हाँ! दिमाग में तो आ गया है। 'धवल' में है, 'धवल'!

'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' (आदि सब मिलाकर) ३५ पुस्तक हैं। एक -एक, दस-दस, बारह-बारह रुपये का! ३५ बड़े पुस्तक हैं। १६ 'धवल' के हैं, 'जयधवल' के आठ हैं! सात! सोलह और सात, तेईस और बारह दूसरे (हैं)। ३५ हैं। बहुभाग पढ़े हैं। जिसमें गिनती का विषय हो, उसे छोड़ दिया। माल हो वह (पढ़ा)। उसमें एक (बात) आई है। पहले बात हो गई है। वैसे 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शन' की पर्याय निश्चय है परन्तु यहाँ कहते हैं कि तत्त्वार्थ के भेद आये न? तो ये तत्त्वार्थ की भेद की श्रद्धा अशुद्धनय से कहने में आता है। आहा...हा...! और वस्तु है, उसकी रुचि हुई, रुचि! अभी अनुभव नहीं (हुआ है), परन्तु रुचि हुई, उसे अशुद्धतरनय से कहने में आता है। पहले एक बार बात हो गई थी। मालूम नहीं? व्याख्यान में बात हो गई है। पुस्तक है न? तीसरे (भाग में) है या बारहवें (भाग में) है। यहाँ नहीं है न? तीसरा भाग (कोई मुमुक्षु की ओर से) भेंट आया है। तीसरे भाग में शुरुआत में एक पन्ने पर (लिखा है कि) यहाँ ये है, यहाँ ये है। उसमें है — तीसरे भाग में है। 'धवल' का तीसरा भाग। बड़े ग्रन्थ! बारह-बारह रुपये का एक ग्रन्थ है! ऐसे ३५ ग्रन्थ! भाई! आप की किताब से ये सब बढ़े पुस्तक हैं। एक-एक, दस-दस (रुपये का)! ऐसे ३५ पुस्तक! 'समयसार' से अलग, हाँ! ये तो 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' के ३५ पुस्तक! दस-दस, बारह-बारह रुपये का एक पुस्तक! (ऐसे) ३५ (पुस्तक)! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि यह भगवान! यह तो शुद्धनय आया। अशुद्धतर और अशुद्धनय है न? यह तो शुद्धनय का विषय आया। आ...हा...हा...! भेद की अपेक्षा से, हाँ! बाकी 'तत्त्वार्थसूत्र' में जो 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' कहा वह तो निश्चयसम्यग्दर्शन (है)। वह तो जो शुद्धनय का विषय है, वही वह है। तत्त्वार्थ में भेदरूपी श्रद्धा (अशुद्धनय का विषय है) और 'उमास्वामी' में तो तत्त्वार्थश्रद्धान (कहा है), वह एकवचन है और ये नव तत्त्व की

जो भेदवाली श्रद्धा (है), वह एकवचन नहीं, बहु(वचन) आ गया; इसलिए अशुद्धनय कहने में आया। आ...हा...हा... !

यहाँ तो शुद्धनय है। पर्याय में सारे द्रव्य का निर्णय हुआ। निर्णय अर्थात् विकल्प से (निर्णय) नहीं। निर्विकल्प (अनुभव से) निर्णय हुआ और ज्ञान की पर्याय में सारे ज्ञेय का ज्ञान हुआ। आ...हा...हा... ! देखो ! यह धर्म की प्रथम भूमिका ! यहाँ से धर्म की सीढ़ी — शुरुआत होती है। आहा...हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म है, भगवान ! भाग्यशाली को सुनने मिले, बापू ! आ...हा...हा... !

(कोई कहते थे) कि पहले ऐसी चर्चा थी ही नहीं। 'मुम्बई' में कहा था न ? कोई बार दिमाग में (बात) रह जाती है। आ...हा... ! परन्तु इतना काम नहीं करता कि इस ग्रन्थ में यह बात है और उस ग्रन्थ में (वह बात है)। वह सब भूल जाते हैं, भाव याद रहते हैं। समझ में आया ? इसे देखो न ! द्रव्य में अनन्तगुने गुण हैं (वह बात) कहीं पर है (लेकिन) हाथ में नहीं आती। शास्त्र में है। 'धवल' में है। एक बार रात को प्रश्न हुआ था न ? परसों रात को (हुआ था)। द्रव्य में अनन्तगुने गुण हैं, वह कहाँ है ? भाई ने प्रश्न किया था, बराबर है। परसों रात को किसी ने किया था। रात को किसी भाई के प्रश्न थे। 'सिद्धान्त में है।' इतना कहा था, लेकिन कौन सी जगह है, वह हाथ नहीं आता। आ...हा...हा... !

(कोई मुमुक्षु) के साथ यह बात हुई थी। उनको इसका बहुत अभ्यास था। 'षट्खण्डागम' का, 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' का बहुत अभ्यास (था)। छोटी उम्र (में) बहुत अभ्यास (किया था), जवान आदमी ! लेकिन उसे क्षय हुआ था, (उसमें) देह छूट गया, साल-दो साल रोग में रहा, अब क्या करे ? किसी से मदद मिले (तो काम चले)। (किसी ने) कुछ दिया था। आपने दिया था लेकिन आप भूल गये। थोड़े पैसे वहाँ भेजे थे। एक (मुमुक्षु) थे। बहुत होशियार ! छोटी उम्र में बहुत वांचन ! 'धवल' का बहुत वांचन (था), ऐसा सुना था, हाँ ! आ...हा...हा... ! (इन्होंने) मदद की थी तब जाकर निभाव हुआ, क्योंकि नौकरी छूट गई और रोग लम्बा चला। क्षय हो गया। आहा...हा... ! फोड़ा हुआ था, उसमें से क्षय हो गया। आ...हा... ! (ऐसी) देह की दशा... ! वांचन बहुत ! विद्यार्थी थे, तब भी 'बड़ोदरा' से जब विद्यार्थियों का मण्डल आया था तो खुद यहाँ अकेले

(सबसे) अलग होकर दर्शन करने आये थे। तब से उसे अभ्यास बहुत (था)। विद्यार्थी थे तब भी 'धवल', 'जयधवल' का अभ्यास बहुत (था)। क्षयोपशम बहुत था। (मान्यता में) थोड़ा फर्क था न परन्तु बाद में फर्क निकल गया। कि द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों श्रद्धा का विषय है। ऐसा था, ख्याल है। थोड़ा (फर्क) था, शास्त्र का आधार देकर भी बताते थे, लेकिन कहा कि आप आधार देते हो वह विषय नहीं है। फिर, बदल गये थे। यह तो अगाध वस्तु, बापू! आ...हा...हा...!

सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों हैं, ऐसा आता है न? (हमने कहा कि) ऐसा नहीं है, भाई! वह तो ज्ञानप्रधान कथन आवे, तब ज्ञेय और ज्ञान की प्रतीति सम्यग्दर्शन है — ऐसा कहने में आवे। ज्ञानप्रधान से (वैसे कहा जाये) परन्तु श्रद्धा की प्रधानता में अकेली पूर्ण वस्तु (श्रद्धा का विषय है)। उसमें गुणभेद भी नहीं और पर्याय भी नहीं। यहाँ आया न? पर्यायें लीन हो गई। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। अरे...रे...! संसार में दो-पाँच लाख कमाने में कितना रुक जाता है। धूल में अकेले पाप बाँधता है। उसमें रुककर इसे समझने के लिये (इसमें) रुके नहीं, समय नहीं निकालता। जिसमें जीव का चौरासी (लाख) योनि में से छूटने का पंथ है, बापू! आहा...हा...!

प्रश्न - यह नया सीखने का?

समाधान - नया (क्या)? वस्तु तो अनादि की है। उसके लिये नया, अपूर्व लगे। समझ में आया? आहा...हा...!

इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए... आ...हा...हा...! **अथैवमात्मनो ज्ञेतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धो शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन्** 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' (की) संस्कृत (टीका में) है। **तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति** अभिनन्दन करके अब,... आ...हा...हा...! द्रव्यसामान्य का अधिकार पूर्ण करते हैं — ऐसा कहते हैं। आ...हा...! सामान्य अर्थात् यहाँ आत्मा की बात है। द्रव्यविशेष की व्याख्या १२७ (गाथा से) लेंगे। करने योग्य हो तो शुरुआत तो यह है। आहा...हा...!

अरे... भगवान! इतना महत्त्व तेरा है (कि) माहात्म्य(वान) भगवान है, उसकी

महत्ता पर्याय में आती है तो यह ज्ञानतत्त्व सिद्ध हुआ और पर्याय में इस महत् तत्त्व का निश्चय निर्विकल्पता से हुआ तो सम्यग्दर्शन हुआ। तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान की पर्याय को आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं... आ...हा...हा...! अभिनन्दन करते हुए द्रव्यसामान्य (अधिकार) का उपसंहार करते हैं।

आचार्य दिगम्बर मुनि! (जिन्हें) तीन कषाय का अभाव (है ऐसे) वीतराग मुनि! आ...हा...हा...! मुनि अर्थात् की वीतरागता की मूर्ति! (बहिनश्री के वचनामृत) में आता है न? पुत्र में बाप की झलक आती है, झलक! पिता का झलक पुत्र में आता है। उसका चेहरा बाप जैसा दिखे। अणसार को आप हिन्दी भाषा में (क्या कहते हैं)? झलक! हाँ, वह बराबर है, वह बराबर है। पिता की पुत्र में थोड़ी झलक होती है। हमारी भाषा में अणसार (कहते हैं)। आहा...हा...! वैसे झलक (मुनिराज में)... आ...हा...हा...! केवलज्ञानी वीतराग की झलक आती है। आ...हा...हा...! पाठ है, हाँ! सिद्धान्त सब देखा है। आ...हा...हा...! बहिन के शब्द में है — पिता की झलक — अणसार पुत्र में दिखती है। ऐसे अणसार मुनि में वीतराग परमात्मा की झलक — अणसार देखने में आता है। आ...हा... हा...हा...! चारित्रदशा है न?

यहाँ तो कहते हैं, जिसे... आ...हा...हा...! पूर्ण शुद्धद्रव्य का निर्विकल्प स्व का लक्ष्य करके निर्विकल्प प्रतीति हुई और ज्ञान की पर्याय में सारा ज्ञान का — ज्ञेयपना का सामर्थ्य आ गया (तो कहते हैं कि तुझे) अभिनन्दन! प्रभु! आ...हा...हा...! तूने आत्मा प्राप्त किया!! आ...हा...हा...! तूने लक्ष्मी प्राप्त की और कीर्ति प्राप्त की, वह तो सब निन्दा के योग्य है। आ...हा...हा...!

ओ...हो...हो...! क्या सन्तों की करुणा! वीतरागी सन्तों की निस्पृहता तो देखो! ऐसे पञ्चम काल में भी जिसे शुद्धद्रव्य का निर्णय और ज्ञान होता है, उसे — पञ्चम काल के श्रोता को भी अभिनन्दन देते हैं। तुझे बाहर के अभिनन्दन की क्या जरूरत है? आ...हा...हा...! हम सन्त आचार्य अभिनन्दन देते हैं!! आ...हा...हा...! कि अनन्त काल में नहीं (प्राप्त किया) ऐसा आत्मा तूने प्राप्त किया, प्रभु! तेरी पर्याय में आत्मा का ज्ञान — निर्णय किया और तेरी पर्याय में सारा शुद्ध द्रव्य जितना है — ऐसा निर्णय तूने किया,

निर्विकल्प वेदन किया! आ...हा...हा...! उसे हम अभिनन्दन देते हैं। पञ्च महाव्रत पाले और क्रियाकाण्ड करे और सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं हो, उसे अभिनन्दन नहीं देते — ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! संस्कृत में है, हाँ! **तमभिनन्दन्**! **और अभिनन्दन करते हुए द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं** — सामान्यरूप से अकेले आत्मा की मुख्यपने बात (की) उसका उपसंहार करते हैं। अब, १२६ (गाथा)

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।१२६।।

जीव ही करण, कर्ता, करम, फलरूप, यह निश्चय करी।
मुनि अन्यरूप न परिणमे, प्राप्ति करें शुद्धात्म की॥

आ...हा...हा...! **टीका — जो पुरुष इस प्रकार कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है...** आ...हा...हा...! समझ में आया? पुण्य परिणाम का कर्ता आत्मा और जो द्रव्य की दृष्टि हुई, शुद्ध परिणमन हुआ, उसका आत्मा कर्ता (है)... आ...हा...हा..! और उसका शुद्ध परिणमन कर्म (है), वह करण — साधन (है), उसमें आनन्द का फल। कर्ता, करण, कर्म — कर्म अर्थात् कार्य, करण और फल। (ये) चार बोल इस गाथा में लेंगे। आहा...हा...!

कर्ता अर्थात् करनेवाला; करण अर्थात् साधन; कर्म अर्थात् कार्य; कर्मफल अर्थात् उसका अनुभव, यह आत्मा ही है। **यह निश्चय करके...** आहा...हा...! (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में इसका अर्थ दिया है)। 'कर्ता, करण इत्यादि आत्मा ही है' ऐसा निश्चय होने पर दो बातें निश्चित होती हैं। एक तो यह कि 'कर्ता, करण इत्यादि आत्मा ही है, पुद्गलादि नहीं अर्थात् आत्मा का परद्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है;...' एक बात। 'दूसरी — अभेद दृष्टि में कर्ता। करण इत्यादि भेद नहीं है,...' आ...हा...हा...! 'यह सब एक आत्मा ही है...' कर्ता, कर्म, करण, (कर्म) फल का भी यहाँ भेद नहीं। आहा...हा...! पर के संग का तो अभाव (है), परन्तु अपने में कर्ता, कर्म, करण, (कर्म)फल का भी भेद नहीं। आ...हा...हा...! वही कर्ता, वही करण — वही साधन, वही फल, वही कार्य। आहा...हा...! १२६ गाथा!

ज्ञानी जब आत्मा के स्वभाव का कर्ता हुआ, तब विचार करता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ! उसका कर्ता, कर्म, करण, फल आया तो वह जीव विचार करता है। क्या (विचार करता है) ? देखो! **वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, वही पुरुष, जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया...** आ...हा...हा...! जड़ कर्म का सम्पर्क भी रुक गया, स्वभाव का सम्पर्क हुआ। आहा...हा...! जड़ कर्म का सम्पर्क — संग, संग छूट गया और आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु! सच्चिदानन्द स्वरूप का संग, प्रसंग हो गया, उसका सम्पर्क हुआ। आ...हा...हा...! है ?

और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई... आ...हा...हा...! परद्रव्य का संसर्ग रुक गया। आ...हा...हा...! **परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, वही पुरुष, जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई...** (अर्थात्) जिसकी पर्याय, द्रव्य के सन्मुख हो गई। लीन अर्थात् सन्मुख। **ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है;...** भगवान पूर्णानन्द का नाथ! सम्यग्दर्शन और ज्ञान में प्राप्त करता है। आ...हा...हा...!

परन्तु अन्य कोई (पुरुष) ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता। समझ में आया ? परद्रव्य — कर्म आदि की ओर का लक्ष्य है और रागादि का भाव करते हैं, उसे आत्मा की प्रतीति नहीं होती। आहा...हा...! उसे आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा...हा...! (धर्म की) प्रथम सीढ़ी! जो कोई परद्रव्य का संसर्ग — संग करे और संग से उत्पन्न होते विकार का कर्ता-कर्म(रूप) हो,... आहा...हा...! वह आत्मा को नहीं समझा, वह आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। **इसी को स्पष्टतया समझाते है —** बहुत अच्छी गाथा है!

जब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग के द्वारा... अब स्वयं विचार करते हैं कि अहो! मैं अनादि काल से **पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग...** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में उपराग का अर्थ दिया है)। 'किसी पदार्थ में, अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारी भाव; औपाधिक भाव; विकार;

मलिनता।' (इस) मलिनता के द्वारा **जिसकी स्वपरिणति...** अपनी पर्याय **रंजित (विकृत, मलिन) थी ऐसा मैं...** सम्यग्दर्शन पाया और अब विचार करते हैं। आहा...हा...! मैं अनादि काल (से) राग का संसर्ग और कर्म का संसर्ग करता था, तब मेरी पर्याय मलिन थी। पूर्व की बात याद करते हैं। उस वक्त मैं राग का स्वतन्त्र कर्ता था। समझ में आया? तब भी अज्ञानभाव से राग का स्वतन्त्र कर्ता था; राग का कर्म मेरा स्वतन्त्र था; राग का साधन मेरा स्वतन्त्र था; और राग का फल दुःख भी मेरी स्वतन्त्रता से हुआ था, पर के कारण से नहीं।

सम्यग्दर्शन में आत्मा का अनुभव हुआ वह विचार करता है कि मैं अनादि काल से परतन्त्र भी मेरे कारण से (हुआ था), पर के कारण से नहीं। मैं भूल में था तो भी मेरी स्वतन्त्रता से में भूल में था। मेरी भूल कोई दूसरे ने कराई है, कर्म से हुई है — ऐसी बात है नहीं। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! यात्रा करो, भक्ति करो, भगवान की पूजा करो (ऐसा सब) भटकने का समझाये। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि वह सब राग की क्रिया भटकने का कारण है, परिभ्रमण का कारण है। आहा...हा...! समझ में आया?

आ...हा...! **मैं – जवाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग से (लालिमा से) जिसकी स्वपरिणति रंजित (रंगी हुई) हो ऐसे स्फटिकमणि की भाँति...** स्फटिकमणि में स्वच्छता होने पर भी, जवाकुसुम का फूल — पुष्प की निकटता से (जिसकी स्वपरिणति रंजित हुई हो, ऐसे स्फटिकमणि की भाँति) **पर के द्वारा आरोपित विकारवाला होने से,...** (मूल ग्रन्थ में आरोपित का अर्थ फुटनोट में ऐसा है कि) (नवीन अर्थात् औपाधिकरूप से) किये गये। '(विकार स्वभावभूत नहीं थे, किन्तु उपाधि के निमित्त से औपाधिकरूप से (नवीन) हुए थे)।' अन्दर में नहीं था, वह उत्पन्न हुआ। ऐसा कहते हैं।

अनादि से मैं राग का कर्ता, दया, दान, व्रत, तप, यात्रा आदि के परिणाम का अनादि से मैं कर्ता था, तब मिथ्यादृष्टि था। आ...हा...! उस समय मैंने स्वतन्त्रपने मिथ्यात्व का सेवन किया। आ...हा...हा...! जैसे स्फटिकमणि (में) कुसुम के लाल-पीले फूल (की निकटता से) लाल-पीले फूल के रंग दिखते हैं, ऐसे मेरी चीज में कर्म के निमित्त के संग

से मेरे में पुण्य–पाप, राग, मलिनता दिखती है। उस समय भी मलिनता करनेवाला मैं स्वयं कर्ता हूँ। कर्म से मलिनता हुई है — ऐसा नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

देखो ! सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मलाभ हुआ तो पूर्व की स्वतन्त्रता से मैं भटकता था, यह निश्चय करते हैं। आ...हा...हा... ! मुझे कर्म ने भटकाया और कर्म का बहुत जोर हुआ तो परिभ्रमण में रहा — ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! अरे... ! ऐसी बातें ! दुनिया की होशियारी (की)। कहते हैं कि दुनिया की होशियारी की, वह भी मैंने अज्ञानभाव से स्वतन्त्रपने की है। किसी ने मुझे करवायी है — ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जैसे स्फटिक मणि में फूल के रंग की झलक — उपाधि दिखती है, ऐसे **पर के द्वारा आरोपित विकारवाला होने से,...** मेरे में भी निमित्त के संग से, विकार मेरे में — वस्तु में नहीं (परन्तु) पर्याय में आरोपित विकारवाला होने से। आ...हा...हा... ! मैं मिथ्यात्व और राग–द्वेष का आरोपित विकारवाला होने से। मेरे स्वभाव में नहीं, परन्तु मैं उस समय स्वतन्त्र विकार करता था। समझ में आया ? है ?

तब भी मैं अकेला ही कर्ता था,... उस विकार का मैं अकेला कर्ता था। आहा...हा... ! उस समय भी मैं स्वतन्त्र(पने) विकार का कर्ता हुआ हूँ। विकार कर्म ने करवाया या दूसरे ने करवाया — ऐसा है नहीं। उस समय भी मैं स्वतन्त्र **अकेला ही कर्ता था,...** आहा...हा... ! क्यों ? **क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र था...** कर्ता क्यों (था) ? **क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप...** मलिन परिणाम से **स्वतन्त्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था)...** मैंने स्वाधीनपने मिथ्यात्व और राग–द्वेष किया है। कोई दूसरे ने मुझे मिथ्यात्व और राग–द्वेष करवाया है — ऐसा है नहीं।

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. १४२ **दिनाङ्क २२ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार', १२६ वीं गाथा। धर्मी (जीव) धर्म प्राप्त करके विचार करता है। मैं वर्तमान राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यधातु, शुद्ध चैतन्य जिसने धारण कर रखा है — ऐसा

आत्मा अनुभव में लिया, वह स्वतन्त्र कर्तापने अनुभव की दशा प्रगट की। वे विचार करते हैं कि मैं पहले क्या था ? यह आया है।

(अज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं था। आहा...हा... ! अनादि अज्ञानदशा में भी किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं था। **तब भी मैं अकेला ही कर्ता था,...** मिथ्यात्व, राग-द्वेष और विकार को मैं अकेला करता था। कोई कुटुम्ब ने करवाया या पुत्र-पुत्री ने करवाया, कर्म ने करवाया, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! **मैं अकेला ही कर्ता था,...** स्वतन्त्रपने करता हो, वह कर्ता कहने में आता है। मिथ्या भ्रान्ति की, वह भी स्वतन्त्रपने अपनी पर्याय के स्वभाव के कारण विकार उत्पन्न किया। पर (के) कारण से नहीं। पर के कारण से बिलकुल नहीं (हुआ)। आहा...हा... ! है ?

क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त... मलिन परिणामरूप स्वभाव। देखो ! मलिन परिणामरूपी स्वभाव (कहा) । हाँ ! पर्याय का वह स्वभाव है। आहा...हा... ! अनादि के अज्ञान में भी मेरा मलिन; उपरक्त अर्थात् मलिन। मलिन **चैतन्यरूप स्वभाव...** भाषा देखो ! पर्याय का मलिन चैतन्यरूप स्वभाव **स्वतन्त्र था...** मैंने स्वाधीनपने मिथ्यात्व किया है। राग-द्वेष भी मैंने स्वाधीनपने (किया है), स्वतन्त्रपने कर्ता होकर किया है। आहा...हा... ! कर्म ने मुझे करवाया और मैं (संसार में) भटका — ऐसा नहीं। **(अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था);...** यह कर्ता की व्याख्या (है) । अज्ञानपने (में) भी मेरी मलिन चैतन्य पर्याय का स्वभाव का मैं स्वतन्त्रपने कर्ता था।

मैं अकेला ही करण था,... (करण अर्थात्) साधन। कोई दूसरा साधन था तो मुझे विकार हुआ — ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! **मैं अकेला ही...** (ऐसा कहा है) ! अकेला ही ! विकार का साधन मैं अकेला ही था। विकार मैंने किया — मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष मैंने अकेले (ने) स्वाधीनपने किया है। आहा...हा... ! स्वतन्त्रपने — स्वाधीनपने (किया है)। दृष्टान्त देंगे। **क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा...** यहाँ भी **स्वभाव** शब्द पड़ा है। आ...हा...हा... ! पर्याय में मैं अकेला विकार का साधक (था) । मेरी पर्याय के साधक स्वभाव से मैंने किया है। मेरे साधक में कोई दूसरा

मददगार था तो मैंने विकार किया — ऐसा नहीं। आहा...हा...! है न? **साधकतम (उत्कृष्टसाधन) था;...**

मैं अकेला ही कर्म था,... कार्य (था)। मिथ्यात्व, विकार के परिणाम (का मैं अकेला ही कर्म था)। आ...हा...हा...! निगोद में भी मैंने अकेले ने मिथ्यात्व का कार्य किया था। आ...हा...! समझ में आया? कोई कर्म के कारण मुझे मिथ्यात्व का कार्य हुआ — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! है? **अकेला ही कर्म था,...** कर्म अर्थात् कार्य। मेरा विकारी कार्य (होने) में मैं अकेला था। किसी की सहायता से — किसी की मदद से मैंने विकारीभाव किया — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! यह लड़कों के लिये किया और लड़कों ने करवाया — ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु - लड़कों को तैयार तो करना ही पड़े न!

पूज्य गुरुदेवश्री - धूल में भी तैयार किया नहीं। पाप स्वयं ने किया है। घर की बात करते हैं। भाई! क्या करें? हमारे यहाँ स्त्री-पुत्र ज्यादा हैं, वे कहें ऐसा हमें करना पड़े न! भ्रान्ति, राग-द्वेष करने पड़े न!

मुमुक्षु - कुएँ में गिरने को कहे तो कुएँ में गिरे?

पूज्य गुरुदेवश्री - उसका अर्थ ही यह है कि स्वयं ने विकार किया है। दूसरे गिरे तो स्वयं गिरे क्या?

यहाँ तो कहते हैं कि मेरा साधन और मेरा कार्य मैंने मेरे से किया है। मेरे साधन में, मेरे कार्य में किसी की मदद थी (— ऐसा नहीं)। (उसमें) निमित्त हो, किन्तु निमित्त (कुछ) करता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो अनादि की भूल मैंने मेरे से की है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' आहा...हा...! और 'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' — मैंने भूल की। मेरे कर्तापने, (मेरे) करण — साधनपने और कार्यपने वह क्रिया मैंने की है। किसी से किया नहीं, किसी के लिये किया है, वह तो प्रश्न है नहीं, परन्तु किसी (के द्वारा) क्रिया करवायी (है), किया (है) — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण... आ...हा...हा...! कार्य है न? मैं चैतन्यरूप परिणमित होने

के स्वभाव (के कारण) **चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था;...** आत्मा से वह कार्य प्राप्त (होने योग्य) था। आहा...हा...! पर से प्राप्त नहीं (हुआ) था। अरे...! ऐसी बात कहाँ (है) ? कर्म के लिये तो जैन में बड़ी गड़बड़ (चलती है)।

(संवत - १९७१) से यह झगड़ा चल रहा है। समझ में आया ? स्थानकवासी में थे तो (उन्होंने) झगड़ा उठाया, श्वेताम्बर में बात गई तो उन्होंने झगड़ा उठाया, दिगम्बर में दिगम्बर ने (झगड़ा) उठाया। १९७१ की साल! ६४ वर्ष हुए! पहले से हमने तो कहा कि अपने में विकार होता है, वह कर्म से नहीं। आहा...हा...! समझ में आया ? (तो किसी ने कहा कि) 'कर्म के बिना (होता) हो तो (विकार) स्वभाव हो जाये।' परन्तु पर्याय का स्वभाव है। चैतन्य(रूप) मलिन परिणाम का स्वभाव अपना है। आहा...हा...! त्रिकली स्वभाव की बात नहीं। ऐसी बात है, भाई! बड़ा झगड़ा उठा था। आ...हा...!

मैंने प्राप्त किया, कार्य मैंने किया है। विकारी पर्याय को मैंने प्राप्त की है। मैंने प्राप्त किया है, किसी ने प्राप्त करवाया है — ऐसा है नहीं। किन्तु ये लड़के कहें कि हमें पढ़ाईये, 'अमेरिका' ले जाओ। भाई! लो, इनका लड़का अभी 'अमेरिका' गया। लड़का कहे कि मुझे 'अमेरिका' भेजना पड़ेगा, तो करना पड़े या नहीं ? स्वयं, स्वयं के लिये विकार करता है, किसी के लिये नहीं (करता), किसी ने करवाया भी नहीं। आ...हा...हा...! कर्म आ गया, आ गया न ?

और मैं अकेला ही सुख से विपरीत... आ...हा...हा...! मेरा प्रभु आनन्दस्वरूप (है, फिर भी) **मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला 'दुःख' नामक कर्मफल था...** देखो! विकारी परिणाम का दुःखरूप कर्मफल मैंने किया है। आहा...हा...!

प्रश्न - पड़ोसी उसका कार्य करे या नहीं ?

समाधान - पड़ोसी-बड़ोसी कौन था ? आहा...हा...!

यहाँ तो भगवान 'अमृतचन्द्राचार्य' अपनी बात करते हैं और ज्ञानी की बात (करते हुए कहते हैं कि) ज्ञानी यह विचार करते हैं। मैं अनादि निगोद से लेकर नववीं ग्रैवेयक तक गया। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु! आहा...हा...! पञ्च महाव्रत पाले, अट्ठाईस

मूलगुण पाले, इस विकार का कार्य मैंने किया है। विकार दूसरे के लिये किया है — ऐसा है नहीं। अथवा दूसरे ने करवाया, इसलिए है — ऐसा (भी) नहीं। आहा...हा...!

दु:ख नाम का कर्मफल..! आ...हा...हा...! शुभाशुभभाव और मिथ्यात्वभाव (का) कार्य हुआ, मेरे साधन से हुआ। आ...हा...! मेरी स्वतन्त्रता से कर्तापने हुआ, मेरे साधकतम से हुआ, मेरा कार्य मेरे से हुआ और उसका फल भी मेरे से दु:खरूप हुआ। है? **जो कि (फल) उपरक्त चैतन्यरूप (फल) परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता था।** आ...हा...हा...हा...! दु:ख भी पर्याय में चैतन्यस्वभाव का विपरीत भाव (है)। वह चैतन्यस्वभाव का विपरीत भाव है। आनन्दस्वरूप भगवान पहले लिया न? वह तो लिया। **अकेला ही सुख से विपरीत...** ऐसा कहा न? भगवान आत्मा तो आनन्दस्वरूप प्रभु (है), परन्तु मैं अकेला आनन्दस्वरूप से विपरीत दु:ख के फल का वेदन मैंने किया, मेरे से किया है। किसी से किया नहीं। आहा...हा...! कर्म का उदय आया तो मुझे विकार करना पड़े, दु:ख (का) वेदन (भोगना) पड़े — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

देखो ने 'मोरबी' की कितनी नयी-नयी बातें आती हैं! कोई कहता था कि सात -सात घण्टे तक पति-पत्नी ऊपर बैठे रहे। भाई कहते थे न? उनकी पुत्री और जमाई। एक मकान के ऊपर सात घण्टे (रहे)। वहाँ पानी आया तो उससे बड़ा मकान था, वहाँ कूद गये, ग्यारह घण्टे वहाँ (रहे)! (बाढ़) तो एक घण्टे रही, परन्तु पानी उतरते-उतरते शंका पड़े कि (वापस) कब वेग आएगा (क्या मालूम)? आहा...हा...! उस समय भी जो विकल्प किया, वह मैंने मेरे से किया। आहा...हा...!

प्रश्न - पानी की बाढ़ के कारण नहीं?

समाधान - बिलकुल नहीं; पानी की बाढ़ के कारण नहीं। आहा...हा...! द्रव्य को पानी छूता ही नहीं। आत्मा के विकारीभाव को कर्म छूते नहीं, कर्म को आत्मा छूता नहीं। आत्मा, शरीर को कभी छूता ही नहीं, छुआ ही नहीं। अरे...रे...! ऐसी बात कैसे बैठे? इसमें (— शरीर में) रहा और कहे कि छूता नहीं! किन्तु प्रभु! छूता नहीं। आहा...हा...! क्योंकि परमाणु और आत्मा के बीच अत्यन्त अभावस्वभाव है। आहा...हा...! शरीर के परमाणु की पर्याय; यह तो पर्याय है न? और भगवानआत्मा की पर्याय — दोनों के बीच

में अत्यन्त (अभाव है) । आ...हा...हा... ! स्वरूप विपरीत है । आहा...हा... ! एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नहीं, तो आत्मा परमाणु को छूता नहीं और परमाणु आत्मा को छूता नहीं । मैं मेरे से मेरे राग-द्वेष (के) परिणाम करके दु:ख का फल मैंने भोगा । आहा...हा... !

और अब... यह विचार सम्यग्दृष्टि करते हैं । अज्ञानी को यह विचार होता नहीं । अज्ञानी तो मानता है कि पर से होता है... पर से होता है । कर्म का जोर है, इसलिए मुझे (विकार करना पड़ता है) । शास्त्र में ऐसे दृष्टान्त भी आते हैं । 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में (आता है कि) पानी की बाढ़ में आदमी चला जाता हो उस समय उसका (जोर) काम नहीं आता । पानी की बाढ़ कम हो तो काम आये । वहाँ ऐसा आता है । वह तो निमित्त का कथन है । ऐसे लेख बहुत आते हैं । आहा...हा... ! कर्म का क्षय हो तो केवलज्ञान होता है, घातिकर्म का उदय आये तब विकार होता है — वह सब निमित्त के कथन हैं परन्तु उससे होता है — ऐसा है नहीं । आहा...हा... ! ऐसी कर्तापने की स्वतन्त्रता (है) । कर्ता उसे कहें कि स्वतन्त्रपने करे, स्वाधीनपने करे उसे कर्ता (कहते हैं) ।

मुमुक्षु – व्याकरण में भी कर्ता की व्याख्या आती है ।

पूज्य गुरुदेवश्री – कर्ता की वही व्याख्या व्याकरण में भी (आयी है) । आहा...हा... ! इसमें सोलहवीं गाथा में आ गया है । सोलहवीं गाथा ! मिट्टी का दृष्टान्त देकर कर्ता, कर्म, करण (की बात आ गई है) । आहा...हा... ! (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में लिखा है कि १६ वीं गाथा का भावार्थ देख लेना ।) वहाँ से देख लेना ।

अब, अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की... भले अनादि पौद्गलिक कर्म निमित्त था (उसकी) **बन्धनरूप उपाधि की निकटता के नाश से...** मेरी पर्याय में उसका सम्बन्ध नहीं रहा । मैं मेरे स्वभावसन्मुख हुआ तो कर्म के सम्बन्ध का नाश हुआ । नाश हुआ उसके कारण से । परन्तु उस नाश की निकटता के सम्बन्ध में... आहा...हा... ! है ? **अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है...** आ...हा...हा... ! मेरी शुद्धस्वभावपरिणति (प्रगट हुई है) । जो त्रिकाल शुद्ध द्रव्य-गुण स्वभाव है (उसके आश्रय से शुद्ध परिणति प्रगट हुई है) ।

भाई ! गुण अनन्त... अनन्त (हैं), ऐसा हर जगह आता है परन्तु गुण की संख्या कहीं पर तो आनी चाहिए न ? जैसे आकाश के प्रदेश तीन काल के समय से अनन्तगुने (हैं ऐसा) कहा तो गुण की संख्या तो शास्त्र में आये कि नहीं ? समझ में आया ? 'जयधवल', 'महाधवल' (में कहीं पर आता है) किन्तु हाथ नहीं आता, क्योंकि अनन्त गुण हैं, परन्तु अनन्त गुण कितनी संख्या में (हैं) ? किसके साथ उसका मिलान करना ?

मुमुक्षु - ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद...

पूज्य गुरुदेवश्री - अविभाग प्रतिच्छेद नहीं। अविभाग प्रतिच्छेद तो एक-एक पर्याय में अनन्त हैं, वह नहीं। ये तो गुण की संख्या (की बात है)। वैसे तो 'पञ्चास्तिकाय' में अगुरुलघु अनन्त आता है, वह अगुरुलघु गुण नहीं है। वह अगुरुलघु की पर्याय है। 'पञ्चास्तिकाय' में पाठ है — अनन्ता अगुरुलघु गुण — ऐसा पाठ है, किन्तु वह गुण नहीं, पर्याय की बात है।

अनन्त की व्याख्या तो बहुत ठिकाने (आती है)। किन्तु बहुत साल पहले (एक मुमुक्षु के) साथ बात हुई थी। उसे 'षट्खण्डागम' का बहुत अभ्यास था, उसने बताया था। किन्तु इतने सारे पुस्तक में कहाँ देखने जाये ? शुरुआत में कुछ लिखा होगा ? गुण की संख्या कितनी ? जैसे आकाश के प्रदेश की संख्या, तीन काल के समय में अनन्तगुनी (हैं) कि जिसका अन्त नहीं, उसकी संख्या कितनी ? गुण तो यहाँ इतने क्षेत्र में हैं, परन्तु उसके भाव की — शक्ति की संख्या कितनी ? अनन्तगुनी संख्या की बात चलती थी। किसी ने पूछा (लेकिन) शास्त्र का आधार हाथ नहीं आता। बात है तो ऐसी ही। समझ में आया ? बाकी तो आकाश के प्रदेश से भी अनन्तगुने गुण की संख्या हैं। आहा...हा... ! 'जयधवल' या 'महाधवल' में होगा। बहुत ग्रन्थ पढ़े ! आहा...हा... ! इतना सारा याद कहाँ (रहता है) ? इस जगह है, ऐसा याद कहाँ रहता है ? आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **जिसकी सुविशुद्ध सहज...** परिणति — निर्मल स्वपरिणति। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति की (निर्मल परिणति), शान्ति अर्थात् चारित्र (की) **स्वपरिणति प्रगट हुई है...** आ...हा...हा...हा... ! अब मेरे **सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति...** शुद्ध परिणति - वीतरागी परिणति... आ...हा...हा... ! निर्दोष दशारूप

परिणति प्रगट हुई है। आ...हा...हा... ! देखो ! ये समकितदृष्टि स्वयं को जानते हैं, अनुभवते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि समकित हुआ या नहीं कैसे मालूम पड़े ? अरे... ! सुन तो सही। अन्धा है, अन्धा ? समझ में आया ?

यहाँ ये कहते हैं कि **जिसकी सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं...** ख्याल आया या नहीं ? ज्ञान में आया या नहीं ? **सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं...** प्रगट हुई है — ऐसा मैं हूँ। आहा...हा... ! कुछ लोग कहते हैं कि व्यवहार की बातें कीजिए, निश्चय समकित हुआ कि नहीं वह मालूम नहीं पड़ता। आ...हा... ! अर...र...र... ! बचाव करने के लिये क्या करता है तू ? आ...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि सुविशुद्ध स्व सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और शान्ति — स्वरूपाचरण (चारित्ररूप) ऐसी स्वपरिणति (प्रगट हुई)। विकार परिणति उपाधि (की) परिणति थी और यह स्वपरिणति — अपनी निर्मल परिणति है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति — स्वरूपाचरण चारित्र आदि स्वपरिणति — पर्याय (प्रगट हुई)। यहाँ पर्याय की बात है न ? प्रगट तो पर्याय होती है न ? गुण प्रगट होता है या द्रव्य प्रगट होता है, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! **(स्वाभाविक) स्वपरिणति...** ऐसा है न ? आ...हा...हा... ! सहज आनन्द की परिणति, सहज सम्यग्दर्शन की परिणति, सहज सम्यग्ज्ञान में से ज्ञान की परिणति। यहाँ शास्त्रज्ञान नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

स्वपरिणति प्रगट हुई है... आ...हा...हा... ! **ऐसा मैं...** प्रगट हुई है ऐसा मैं। यह सम्यग्दृष्टि जानते हैं। भाई ! लोग ऐसा कहते हैं कि वह जानने में नहीं आये। अरे... ! अन्धा है ? आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन प्रगट हो और जानने में नहीं आये, यह क्या बात कहते हो ? यहाँ क्या कहते हैं ? ओ...हो... !

मुमुक्षु – वह तो आचार्य की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री – आचार्य, समकिती जीव ऐसा विचार करते हैं, उसकी बात करते हैं। ऐसा कहते हैं न ? अपनी भी करते हैं और समकितदृष्टि अपने पूर्व के भाव में क्या था और वर्तमान में क्या है ? उसकी बात करते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... !

भाषा — टीका है न ? **जो पुरुष इस प्रकार ‘कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है’ यह निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता,...** देखो न! मात्र अपनी बात नहीं है। है ? टीका की पहली पंक्ति (है)। टीका। टीका... ! हिन्दी टीका की शुरुआत, संस्कृत टीका नहीं, हिन्दी (टीका का) पहला शब्द। **जो पुरुष...** १२६ गाथा के अन्वयार्थ के बाद टीका का पहला शब्द। **जो पुरुष इस प्रकार ‘कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है’ यह निश्चय करके,...** देखो! **वास्तव में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता,...** अकेले आचार्य की बात नहीं है, सब की बात है। आ...हा... ! **वही पुरुष,...** ऐसे आया न ? **जिसका परद्रव्य के साथ सम्पर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई है — ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है; परन्तु अन्य कोई (पुरुष) ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता। इसी को स्पष्टतया समझाते हैं —** ऐसे कहा। आ...हा... !

मैं अकेला ही अनादि से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, इतने शब्द नहीं है, यहाँ चार (कारक) ही लिये हैं। कर्ता, करण, कर्म, कर्मफल चार लिये हैं। सम्प्रदान, अधिकरण लिया नहीं। चार ही लिये हैं। समझ में आया ? षट्कारक में चार कारक लिये। आ...हा... !

कर्ता (अर्थात्) स्वतन्त्रपने मैंने विकारी पर्याय की (और) अभी मुझे स्वतन्त्रपने निर्विकारी परिणति प्रगट हुई है। आ...हा...हा... ! ये पञ्चम काल के सन्त तो कहते हैं, किन्तु जिसे समझाते हैं, (उसे) समझ में आया, वे कहते हैं। आ...हा...हा... ! है ? **स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं — जवाकुसुम की निकटता के नाश से...** स्फटिकमणि में जैसे फूल निकट था, उसका अभाव हुआ। **जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई...** स्फटिक की। **जैसे स्फटिकमणि की भाँति — जिसका पर के द्वारा आरोपित...** वास्तविक (दृष्टि से) मेरे द्रव्य-गुण में विकार है नहीं, परन्तु पर्याय में आरोपित विकार मेरे से हुआ है। यहाँ **आरोपित विकार रुक गया है...** पहले अनादि का उत्पन्न था। (अब) **आरोपित विकार रुक गया है...** आ...हा...हा... ! विकार रुक गया है, ऐसा भान हुआ — ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? भाई ! यह तो वीतरागमार्ग

है, बापू! सर्वज्ञ परमात्मा (का कहा हुआ है)। यह कोई पक्ष की बात नहीं है। आहा...हा...! उसकी दर्शनशुद्धि समझना, प्रगट करना, यह कोई अलौकिक चीज है! और इसके बिना सब त्याग, वैराग्य बिना अङ्क के शून्य हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि **स्फटिकमणि की भाँति...** स्फटिकमणि में लाल-पीले फूल का संयोग नहीं है, इसलिए स्फटिकमणि में लाल रंग अपने से नहीं है। ऐसे **आरोपित विकार रुक गया है — ऐसा होने से एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ;...** एकान्ततः मैं मुमुक्षु हूँ। आ...हा...हा...! मैं तो मात्र मोक्ष का अभिलाषी हूँ। आ...हा...हा...हा...! समझ में आया? मुमुक्षु नाम केवल मोक्षार्थी। मुझे तो बन्धन से रहित पूर्णानन्द की प्राप्ति का प्रयोज (है), ऐसा मैं मुमुक्षु हूँ। आहा...हा...! समझ में आया? अपने यहाँ मुमुक्षु मण्डल कहते हैं न? (यहाँ कहते हैं कि) मुमुक्षु ऐसे होते हैं! आहा...हा...! **(केवल मोक्षार्थी) हूँ;...** ऐसा अपने (आप) को अनुभव में कहते हैं। आहा...हा...!

अभी भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है। मेरी सम्यग्दर्शन, ज्ञान (की) परिणति हुई तो कोई कारण से (किसी से) मेरा सम्बन्ध नहीं। आ...हा...हा...! यहाँ तो काललब्धि पक गई, इसलिए हुआ — ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! भाषा तो देखो! आ...हा...हा...! **अभी भी (मुमुक्षुदशा में अर्थात् ज्ञानदशा में भी) वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है।** कर्म मेरा नहीं, कुटुम्ब मेरा नहीं, लड़का मेरा नहीं, शरीर मेरा नहीं, कोई चीज मेरी नहीं। आ...हा...!

अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ,... शुद्धपरिणति — धर्मपरिणति... आ...हा...हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान की धर्मपरिणति — पर्याय (का) **अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ...** सम्यग्दर्शन के परिणाम का मैं अकेला ही कर्ता हूँ। दर्शनमोह का अभाव हुआ तो मुझे समकित हुआ — ऐसी अपेक्षा मेरे में है नहीं। आ...हा...हा...हा...! समझ में आया? यह तो अन्दर की बातें हैं, भाई! आहा...हा...! वास्तव में किसी के कारण से मुझे सम्यग्दर्शन हुआ — ऐसा है नहीं। मैंने तो कर्ता होकर स्वतन्त्रता (से), स्वाधीनता से मेरी धर्मदशा प्रगट की है। आ...हा...हा...! आठ वर्ष की बालिका हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो ऐसा मानती है। आहा...हा...! उसे भी अन्दर में मालूम पड़ता है कि ओ...हो...! मेरी आनन्द

दशा प्रगट हुई, आनन्द का स्वाद आया तो मैंने मेरे से प्रगट किया है। आ...हा...! समझ में आया? ऐसा मार्ग, कठिन मार्ग!

दो कारण से कार्य हो, (ऐसा कोई कहे तो) यहाँ ना कहते हैं। भले निमित्तकारण हो परन्तु उससे होता है — ऐसा है नहीं। यहाँ तो यह कहा। समझ में आया? निमित्त का अभाव हुआ (तो भले) हो, परन्तु निमित्त का अभाव हुआ, उससे मुझे यह दशा (प्रगट) हुई है — ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! यह लक्ष्मी! सम्यग्दर्शन में आत्मलक्ष्मी प्रगट हुई और केवलज्ञान का अंश आया और आनन्द का वेदन आया तो कहते हैं कि मेरे में यह परिणति मैंने स्वतन्त्रपने कर्ता होकर की है, हाँ! पूर्व की पर्याय की मदद थी, इसलिए की है — ऐसा भी नहीं। देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त ने मदद की, (इसलिए हुई है) — ऐसा नहीं। आहा...हा...! तो शास्त्र में आता है न, निसर्ग (और) अधिगमात समकित? समकित दो प्रकार से (होता है)। एक निसर्गात होता है (और) एक अधिगमात (अर्थात्) गुरुगम से होता है। वह तो निमित्त क्या था? — उसका ज्ञान करवाया। उस समय हुआ तो है निसर्ग से। समझ में आया? आ...हा...हा...!

क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र हूँ,... आ...हा...हा...! पहले में (अज्ञानदशा में) ऐसा (कहा) था, स्वभाव से स्वतन्त्र (था)। मलिन **चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र था...** यहाँ (कहा) **अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र हूँ...** आ...हा...हा...! ऐसी बातें, बापू! वीतराग की गद्दी पर बैठकर वीतराग की बातें करनी, यह बहुत अलौकिक बात है, भाई! आ...हा...हा...!

राग की मन्दता की तो मुझे स्वतन्त्रपने विशुद्ध पर्याय हुई — ऐसा है नहीं। मेरी जो वर्तमान निर्मल पर्याय स्वतन्त्रपने हुई, (वह) मेरे स्वभाव से स्वाधीनपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई। आहा...हा...! अज्ञानभाव भी मैंने स्वाधीनपने किया, ज्ञानभाव भी स्वाधीन(पने) किया, पर की अपेक्षा नहीं, अज्ञान में नहीं और ज्ञान में भी नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? **(अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूँ);...**

मैं अकेला ही करण हूँ,... सम्यग्दर्शन, ज्ञानरूपी धर्म पर्याय में मैं अकेला ही साधन हूँ। आहा...हा...! क्योंकि मेरे में साधन नाम का गुण है तो इस गुण की परिणति में

साधकपना मेरे ही कारण से है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? पर्याय में भी साधकपना अपने से स्वतन्त्रपने (है)। भले साधक नाम का गुण है, परन्तु निश्चय से तो उस गुण की भी अपेक्षा नहीं। आहा...हा... ! धर्म की पर्याय मैंने स्वाधीनपने, साधकपने स्वतन्त्र पर्याय का कर्ता स्वाधीनपने होकर की है और वह साधकतम पर्याय मेरी है। मैंने साधकतम प्रगट किया है। आहा...हा... !

मैं... मैं आया वहाँ तो द्रव्य आ गया है। मेरी परिणति मेरे से उत्पन्न हुई है। ऐसी बातें कहाँ (सुनने मिले) ? अरे...रे... ! स्वतन्त्रता की मूल बात अभी सुनने मिले नहीं, वह समझे कब ? कठिन बात (है)। लोगों को यह करो... यह करो... यह करो... लोगों को सहाय (करो), एक-दूसरे साधर्मी को मदद करो तो आप को शान्ति रहेगी — ऐसी प्ररूपणा चलती है। आ...हा... ! अकेले को शान्ति नहीं रहेगी — ऐसा कहते हैं ! साथवाले को शान्ति दोगे, मदद करोगे तो आप को शान्ति रहेगी ! यहाँ कहते हैं कि मेरी शान्ति में कोई कारण है नहीं। मेरी शान्ति, स्वभाव की परिणति साधकतमपने मैंने ही की है। आहा...हा... ! उसका साधक मैं ही हूँ। स्वतन्त्रपने साधक हूँ, कर्तापने स्वतन्त्रपने कर्ता हूँ। आहा...हा... ! है ?

मैं अकेला ही कर्म हूँ,... विकाररहित निर्मलदशा मेरा कार्य (है), वह मैं अकेला ही हूँ। मेरे कार्य में दो जन हैं — निमित्त भी है और मैं भी हूँ — ऐसा नहीं। आहा...हा... ! निमित्त (भले) हो परन्तु निमित्त है और मैं भी हूँ, ऐसे दो मिलकर मेरा धर्म कार्य हुआ है — (ऐसा नहीं)। आहा...हा... ! **मैं अकेला ही कर्म हूँ,...** है ? (कर्म अर्थात्) कार्य।

क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण... उसमें भी पर्याय का विकारी स्वभाव आया (था)। (यहाँ) भी पर्याय के निर्विकारी स्वभाव के कारण **आत्मा से प्राप्य हूँ...** आत्मा से शुभकार्य को प्राप्त करता हूँ। शुभकार्य (अर्थात्) शुद्ध। वास्तव में तो शुद्ध को ही शुभ कहते हैं। मोक्ष अधिकार ! समझ में आया ? आहा...हा... ! शुद्धपरिणति को ही शुभ कहते हैं और शुभ-अशुभ दोनों परिणति को अशुभ कहते हैं। आहा...हा... ! 'समयसार' में 'मोक्ष(अधिकार) ' में आता है। मैं अकेला ही धर्म के शुद्ध निर्मल परिणाम को प्राप्त करता हूँ। वीतरागी सम्यग्दर्शन... सम्यग्दर्शन रागी होता ही नहीं। वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी स्व का ज्ञान, वीतरागी

स्वरूप की स्थिरता — ऐसा जो कार्य — कर्म (है), वह मैं प्राप्य करता हूँ। इस कार्य को मैं प्राप्त करता हूँ। आहा...हा...! ऐसी बात है।

अरे...रे...! चौरासी के अवतार (में) भटकते-भटकते वीतराग का मार्ग (मिला)। टीका में कहा है। अरे...रे...! आत्मा को मरणतुल्य कर दिया, प्रभु! मरणतुल्य किया! वह वीतराग तीर्थंकर की वाणी के अलावा भ्रान्ति नहीं मिटेगी। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ की वाणी का भाव समझे बिना भ्रान्ति नहीं मिटेगी। आ...हा...हा...! समझ में आया? वहाँ (आया) है न? 'कलशटीका' में है। 'कलशटीका' है न? उसमें है। आ...हा...हा...! किन्तु तीर्थंकर की वाणी मिली, फिर भी किया तो मैंने न! सम्यग्दर्शन की पर्याय का कर्ता, करण और आनन्द का फल तो मैंने (प्रगट) किया है न! निमित्त ने — भगवान की वाणी ने किया नहीं। आहा...हा...!

चौथा बोल। **और मैं अकेला ही अनाकुलतालक्षणवाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ...** आ...हा...हा...! मेरी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्दरूपी परिणति हुई, वह मेरे आत्मा का फल है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान की परिणति का कर्ता मैं, साधक मैं, कार्य को प्राप्त करता हूँ मैं; और उस समय सुख प्राप्त हुआ, उस फल में भी मैंने ही सुख प्राप्त किया है। आहा...हा...! अनाकुल फल भी मेरा है। सम्यग्दर्शन में मेरे से अनाकुल फल प्राप्त हुआ है। यहाँ तो (लोग माने कि) सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन। बस, सब जल्दी प्रतिमा ले लो! फिर भटको! अरे... प्रभु! क्या करता है? तेरे पन्थ की बातें...! आ...हा...हा...!

कहते हैं, सम्यग्दृष्टि अपने को वर्तमान में शुद्धपरिणति का कर्ता, शुद्धपरिणति का साधन, शुद्धपरिणति का कार्य और शुद्धपरिणति का अनाकुल फल (मानते हैं)। आहा...हा...! यहाँ चार बोल लिये हैं, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण नहीं लिये। ये चार लिये हैं। आहा...हा...! प्राप्त करता हूँ, उसमें कर्म आ गया। आ...हा...!

जो कि (फल) सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है। उस समय अनाकुल आनन्दरूपी फल मेरे से उत्पन्न किया है। **सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के...** कारण। सुविशुद्ध! आ...हा...हा...! है? (मूल ग्रन्थ में

नीचे फुटनोट में सुविशुद्ध अर्थ दिया है)। ***'सुविशुद्धचैतन्यपरिणमनस्वभाव आत्मा का कर्म है, और वह कर्म अनाकुलतास्वरूप सुख को उत्पन्न करता है, इसलिए सुख वह कर्मफल है। सुख आत्मा की ही अवस्था होने से आत्मा ही कर्मफल है।'*** आ...हा...हा...हा...! दु:ख भी आत्मा है — ऐसा कहते हैं और आनन्द भी आत्मा है। आहा...हा...! दु:ख भी अपनी पर्याय में किया था न? तो वह आत्मा मैं हूँ। यह (सुख) भी मेरी पर्याय में मैंने प्रगट किया तो (सुख) मेरा आत्मा ही है। आ...हा...! ऐसा मार्ग! स्वतन्त्रता का मार्ग लोगों ने परतन्त्र कर दिया। आ...हा...!

यह सुने तो सम्यग्दर्शन हो, यह बात यहाँ निकाल देते हैं। सुनने को मिला, इसलिए मुझे सम्यग्दर्शन हुआ। (तो कहते हैं) ना। मेरी शुद्धपरिणति से शुद्ध सम्यग्दर्शन (प्रगट हुआ)। आहा...हा...! इसके बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। प्रभु! आहा...हा...! देखो न ये 'मोरबी' की बातें सुनते हैं तो... आ...हा...हा...! कितना पानी आता है! पानी उतर गया हो तो भी एक घण्टे बाद क्या होगा? (ऐसा लोगों को भय लगता है)। आहा...हा...! इस आत्मा को चैतन्य की बाढ़ आई... आ...हा...हा...! समुद्र के किनारे जैसे बाढ़ आती है, वैसे पर्याय में सम्यग्दृष्टि को अनाकुल आनन्द की बाढ़ आती है!! चौथे गुणस्थान में, हाँ! आ...हा...हा...हा...! तो पाँचवें की तो क्या बात करनी!! उसे तो विशेष आनन्द है। मुनि की क्या बात करनी! उन्हें तो विशेष आनन्द, प्रचुर स्वसंवेदन है! सच्चे सन्त जिन्हें कहें, उन्हें तो आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन है।

प्रचुर (शब्द) 'समयसार' (की) पाँचवीं गाथा में है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं कि मैं प्रचुर स्वसंवेदन से यह 'समयसार' कहूँगा। मेरे वैभव से यह कहूँगा। मेरा वैभव यह (है)! पैसा, स्त्री, पुत्र मेरा वैभव तो धूल में गया। राग का वैभव भी जीव का नहीं। मेरी आनन्द की पर्याय प्रगट हुई... आ...हा...हा...! यह मेरा वैभव है! इस वैभव में रहकर मैं बात करूँगा। आ...हा...हा...! (पहली गाथा में) कहा है न? **वंदित्तु सव्वसिद्धे... वोच्छामि** वैभव से मैं कहूँगा। आ...हा...हा...! और वहाँ (पाँचवीं गाथा में) तो ऐसा कहा कि **एयत्तविहत्तं... एयत्तविहत्तं...** राग से विभक्त **दाएहं अप्पणो सविहवेण।** मेरे अन्तर से मैं कहूँगा। आहा...हा...! कहूँगा तो वाणी है, परन्तु मेरे अन्तर वैभव की भूमिका

में (से) यह वाणी निकलती है। समझ में आया? **जदि दाएज्ज...** फिर से लिया। **एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।** अपने वैभव से कहूँगा, प्रभु! आ...हा...हा...! लेकिन **जदि दाएज्ज...** प्रभु! कदाचित् कहने में आ गया (तो) प्रमाण करना। अनुभव करके प्रमाण करना। ढीली-कच्ची बात रखना नहीं। देखो! यह सन्तों की वाणी का जोर! आ...हा...हा...! श्रोता को ऐसा कहते हैं कि यदि मैं राग से भिन्न और स्वभाव से एकत्व तत्त्व दिखाऊँ तो प्रभु! तू स्वभाव का अनुभव करके प्रमाण करना!

आ...हा...! क्या दिगम्बर सन्तों की वाणी!! आ...हा...हा...! उनके पास सब भरे पानी! ऐसी अलौकिक बातें हैं!! जिसके एक-एक पद की गम्भीरता, आत्मा आनन्द में डूब जाये ऐसी बात है! आ...हा...! प्रमाण करना! प्रभु! लेकिन अभी हाँ तो कहने दो! यहाँ हाँ (करने) की बात नहीं। पहले विकल्प से निर्णय तो करने दो! वह भी नहीं। आ...हा...हा...! यदि तुझे दिखाऊँ तो अनुभव से प्रमाण करना, एक की बात (है)। आ...हा...हा...! क्या वीतराग की वाणी! अमृत के झरने झरते हैं!! आ...हा...हा...! दिगम्बर सन्तों अर्थात् अमृत की वाणी! आ...हा...! 'जो स्वरूप समज्या बिना, पाम्यो दु:ख अनन्त, समझाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवंत। गुणवंता रे ज्ञानी अमृत बरसा रे पञ्चम काल में....' हे नाथ! पञ्चम काल में तूने अमृत की वर्षा की!! आहा...हा...! राग की बातें, दया, दान, व्रत की (बातें) तो जहर की बातें हैं। आ...हा...! समझ में आया?

'वचनामृत वीतरागना परम शान्त रसमूण...' वाणी नहीं, वाणी में कहा हुआ भाव। 'वचनामृत वीतरागना...' अमृत वाणी! 'परमशान्त रसमूण, औषध जे भवरोगना, पण कायरने प्रतिकूण... गुणवंता रे ज्ञानी अमृत वरस्या रे पंचमकाल में...' यह पञ्चम काल है और ऐसा काल है, वह तुझे बाधारूप नहीं होगा, नाथ! आ...हा...हा...! ऐसा कहते हैं। पञ्चम काल में भी प्रभु! तू प्रमाण करना! क्या हमें मालूम नहीं है कि हम पञ्चम काल के साधु हैं और तू भी पञ्चम काल का श्रोता है? पञ्चम काल में बात नहीं बनती, वह बात मत करना। आहा...हा...!

सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित... है न? **होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है।**

— इस प्रकार बन्धमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है... आ...हा...हा... ! मिथ्यात्व के बन्धन में भी विकार का कर्ता अकेला है, किसी के साथ सम्बन्ध है नहीं। आ...हा...हा... ! देखो ! वीतराग तीन लोक के नाथ की पुकार तो देखो ! सन्तों आढतिया होकर जगत को बात करते हैं। आहा...हा... ! वे अनुभव करके बात करते हैं। आ...हा...हा... !

एक बार कहा था। दस साल की उम्र से पहले की बात है। ७९-८० साल पहले की बात है। हमारे पड़ोसी थे, 'भूंगली' (गाँव के) थे और हमारी माताजी का पीहर 'भूंगली' था। वे नौकर थे। हम उन्हें 'मूलजीमामा' कहते थे। पत्नी नहीं थी, अकेले रहते थे। वे नाहने बैठे तब बोलते। ये तो ७९ वर्ष की बात है। 'अनुभवीने एटलुं रे आनन्दमां रहेवुं, भजवा परिब्रह्म ने बीजूं कांई न कहेवुं रे...' आ..हा...हा... ! उस समय कहा था कि ये क्या बोलते हैं ? उन्हें भी कुछ मालूम नहीं, बोलते जाये। 'अनुभवीने...' समकितदृष्टि (को) आत्मा का अनुभव (हुआ), जिन्हें आनन्द का स्वाद आया... आ...हा...हा... ! जिन्होंने आनन्द के घूँट पीये, आ...हा...हा... ! जैसे सेरड़ी... सेरड़ी को क्या कहते हैं ? गन्ना ! गन्ने का रस जैसे गट... गट... पीये, वैसे समकिती आत्मा की ओर की एकाग्रता में (आनन्द का) अनुभव गट... गट... पीते हैं ! आ...हा...हा... !

यहाँ ये कहते हैं, मेरे बंधमार्ग में मैं अनादि से अकेला था और **मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है...** दोनों में अकेला ही है। आ...हा...हा... ! पर के सम्बन्ध का बन्ध मेरे में बिलकुल नहीं। पर के सम्बन्ध के कारण मुझे बन्ध और मोक्ष बिलकुल नहीं। आहा...हा... ! अरे...रे... ! मूल बात छोड़कर पेड़ के डाल-पत्ते तोड़े, किन्तु मूल ताजा (रह गया) तो मूल फिर पन्द्रह दिन में फैल जायेंगे। वैसे आत्मा के दर्शन बिना राग की मन्दता की क्रिया की सब बातें की। आहा...हा... ! परन्तु मिथ्यात्व के मूल का छेद नहीं किया है और समकितदर्शनरूपी पर्याय प्रगट नहीं की है, तब तक वह तोड़े हुए पत्ते फिर से आयेंगे। आहा...हा... ! द्रव्यलिंगी अट्ठाईस मूलगुण का पालन करे, प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाया हुआ चौके का आहार ले नहीं, पानी की बूँद ले नहीं, ऐसी क्रिया अनन्त बार की। आहा...हा... ! परन्तु सम्यग्दर्शन बिना भव का छेद हुआ नहीं। समझ में आया ?

यहाँ ये कहा। **इस प्रकार भानेवाला...** है ? (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में भाने का अर्थ दिया है)।'भाना = अनुभव करना; समझना; चिन्तवन करना। (किसी जीव का — अज्ञानी या ज्ञानी का — पर के साथ सम्बन्ध नहीं। बन्धमार्ग में आत्मा स्वयं निज को निज से बाँधता था और निज को (अर्थात् अपने दु:खपर्यायरूप फल को) भोगता था। अब मोक्षमार्ग में आत्मा स्वयं निज को निज से मुक्त करता है...)' आ...हा...हा...! बंधमार्ग में भी स्वयं निज को निज से बाँधता था और अभी आनन्द के फल में भी निज से निज को मुक्त करता है '(और निज को (अर्थात् अपने सुखपर्यायरूप फल को) भोगता है। — ऐसे एकत्व को सम्यग्दृष्टि जीव भाता है...)' आ...हा...हा...!' (अनुभव करता है — समझता है — चिन्तवन करता है। मिथ्यादृष्टि इस से विपरीत भावनावाला होता है)।' पर की सेवा करूँ, दया पालूँ, व्रत पालूँ, भक्ति करूँ — इन सब भावों की भावना अज्ञानी की है। ज्ञानी को रागभाव आता है परन्तु उसकी भावना नहीं है। आहा...हा...! उसका जाननेवाला रहकर आनन्द का अनुभव करे। राग के दु:ख को वेदते हैं परन्तु स्वपने से वेदते हैं — ऐसा नहीं। आहा...हा...!

(ऐसा) **भानेवाला यह पुरुष परमाणु की भाँति...** (अर्थात्) एक परमाणु (की भाँति) **एकत्वभावना में उन्मुख होने से, (अर्थात् एकत्व के भाने में तत्पर होने से),...** उन्मुख कहा है न? **उसे परद्रव्यरूप परिणति किञ्चित नहीं होती;...** आ...हा...हा...हा...! अपने स्वभाव के आश्रय से कर्ता, कर्म प्रगट किया — वीतरागी सम्यग्दर्शन (प्रगट किया) तो इस पुरुष को **परद्रव्यरूप परिणति किञ्चित् नहीं होती; और परमाणु की भाँति (जैसे एकत्वभाव से परिणमित परमाणु पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार —), एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ संपृक्त नहीं होता;** (संपृक्त का अर्थ) 'सम्पर्कवाला; सम्बन्धवाला; संगवाला' नहीं होता। **इसलिए परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है।** आ...हा...हा...!

और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ... है न? (आत्मारूप से अर्थात्) 'सम्यग्दृष्टि जीव भेदों को न भाकर अभेद आत्मा को भाता — अनुभव करता है।' चार भेद को भी नहीं (भाता) — ऐसा कहते हैं। आ...हा...! कर्ता,

करण, कर्म और कर्मफल — ये चार प्रकार भी नहीं (भाते) । अभेद को भाते हैं। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के अनुभव में ज्ञायक की भावना है। आहा...हा... ! **वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण न होने से सुविशुद्ध होता है।** बहुत (बढ़िया) गाथा (है) ! आहा...हा... !

मेरे अज्ञानभाव में भी स्वतन्त्र कर्ता (था) और ज्ञानभाव में भी स्वतन्त्र कर्ता (हूँ) । मुझे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आ...हा...हा... ! यह खाने-पीने की, पैसे की व्यवस्था हो तो धर्म कर सके, वह बात नहीं है ?

(विशेष आयेगा...)

इस दशा के बिना मुक्ति असम्भव

अन्तर में स्वरूप लीनता के आनन्द में रागादि का अभाव तथा बाह्य में वस्त्र के एक धागेमात्र का भी अभाव - ऐसी वीतरागी मुनिदशा होती है। यदि वस्त्र का एक धागा भी ग्रहण करने का लक्ष्य हो तो वह मुनिदशा में बाधक है।

चारित्रदशा में ऐसा उदासीनभाव प्रगट होता है कि मात्र देह के अतिरिक्त किसी परिग्रह पर लक्ष्य नहीं जाता और देह भी संयम के हेतु से और मूर्च्छारहितरूप से ही होती होने से वह परिग्रह नहीं है। जिनका जन्मोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया गया है, उन भगवान को भी अन्तरङ्ग में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता - ऐसा स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी आत्मा की राग-द्वेषरहित दशा हो और बाह्य में माता ने जैसा जन्म दिया, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो गयी हो - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हुआ होने पर भी, बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादिक का सम्बन्ध रहे - ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज (दीक्षाकल्याणक में) ऐसी दशा अङ्गीकार की है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

कलश - ७

(वसंततिलका छन्द)

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः।। ७।।

[अब, श्लोक द्वारा इसी आशय को व्यक्त करके शुद्धनय की महिमा करते हैं —]

अर्थ – जिसने अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा आत्मा को एक ओर हटा लिया है (अर्थात् परद्रव्यों से अलग दिखाया है) तथा जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में लीन किया है (अर्थात् समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा हुआ दिखाया है) — ऐसा जो यह, उद्धत मोह की लक्ष्मी को (ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला शुद्धनय है, उसने उत्कट विवेक के द्वारा तत्त्व को (आत्मस्वरूप को) विविक्त किया है।

प्रवचन नं. १४३ **दिनाङ्क २३ जुलाई १९७९**

'प्रवचनसार', कलश सातवाँ, सातवाँ कलश है।

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः।।

आहा...हा... ! **जिसने...** अर्थात् शुद्धनय ने। अपने पूर्ण स्वरूप की ओर की दृष्टि (की है) — ऐसा जो शुद्धनय। प्रतीति की अपेक्षा से यहाँ नय की अपेक्षा ली है। बाकी सम्यग्दर्शन की पर्याय कहो या शुद्धनय का विषय कहो। (ऐसे) शुद्धनय ने। **जिसने...** अर्थात् (गुजराती में) जेणे। **अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा...** आ...हा...हा... ! पर्याय में जो अन्य द्रव्य का लक्ष्य है, उसे शुद्धनय ने छुड़ा दिया। परद्रव्य का जो लक्ष्य है, उसे शुद्धनय ने छुड़ाया, छुड़ा दिया और **आत्मा को एक ओर हटा लिया...** आ...हा...हा... ! हमारी गुजराती भाषा में 'आत्मा को एक कोर खसेड लिया' (कहते हैं)। आहा...हा... !

भगवान आत्मा ! यह सम्यग्दर्शन की बात है। ऐसी बात है, भाई ! शुद्धनय कहो या श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की पर्याय (कहो)। 'शुद्धनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाणकी' अथवा **भूदत्थस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।** त्रिकाल (स्वभाव को) लक्ष्य में लेनेवाली शुद्धनय, इस शुद्धनय ने अन्य पदार्थ से अपने को भिन्न (किया), हटा लिया। आहा...हा... ! ऐसी बात है। पर्याय में शुद्धनय ने परद्रव्य से अपने को भिन्न — हटा लिया। अरे... अरे... ! अभी तो यह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की पद्धति यह है, (— ऐसा कहते हैं)। अरे... ! क्या हो ? भाई !

जिसने... अर्थात् शुद्धनय ने। **अन्य द्रव्य से भिन्नता...** (संस्कृत श्लोक में) **व्यतिकर** (शब्द) है न ? **व्यतिकर** (अर्थात्) भिन्न। पाठ में **व्यतिकर** है (अर्थात्) भिन्न कर दिया। **व्यतिकर** अर्थात् भिन्न। **द्रव्यान्तर** ऐसा है न ? **द्रव्यान्तर** (अर्थात्) अपने द्रव्य से अन्य द्रव्य (को) व्यतिकर अर्थात् भिन्न कर दिया। आहा...हा... ! **द्रव्यान्तरव्यतिकर** ये शब्द पड़ा है। अपना द्रव्य जो शुद्ध चैतन्यघन (है), उससे द्रव्यान्तर (अर्थात्) अन्य द्रव्य (है), उसे व्यतिकर अर्थात् भिन्न कर दिया। आहा...हा... ! शुद्धनय ने स्व का आश्रय लेने में परद्रव्य से अपने को भिन्न कर दिया। आहा...हा... ! देव, गुरु और शास्त्र भी परद्रव्य (हैं)। भाई ! वस्तु ऐसी है। सम्यग्दर्शन पाने की पद्धति अलौकिक है, भाई ! आहा...हा... !

जिसने... (अर्थात्) शुद्धनय ने। **द्रव्यान्तर** अर्थात् अपने द्रव्य से अन्य द्रव्य। **द्रव्यान्तर** पाठ है न ? **जिसने अन्य द्रव्य से...** इसका अर्थ किया। **द्रव्यान्तर** (है), फिर **व्यतिकर** (है)। जिसने अपनी पर्याय में द्रव्य ऊपर दृष्टि होने से परद्रव्य से अपने आत्मा

को हटा लिया। ऐसी बातें! दृष्टि में, लक्ष्य में जो परद्रव्य था, अपने द्रव्य का लक्ष्य नहीं था (तो) शुद्धनय ने पर — द्रव्यान्तर — अपने द्रव्य से अन्य द्रव्य (है), उससे अपने आत्मा को हटा लिया। गुजराती भाषा में — अन्य द्रव्यथी पोताना आत्मा ने वसेड़ी लीधो (— ऐसा कहते हैं)। यह गुजराती भाषा! समझ में आया? आहा...हा...! हिन्दी भी सादी भाषा है, ऐसी कोई (कठिन भाषा नहीं है)। आहा...हा...! समझ में आता है? क्या समझ में आता है?

जिसे अपने आत्मा का अनुभव करना हो अथवा शुद्धनय का विषय दृष्टि में लेना हो, तो शुद्धनय ने पहले तो अन्य द्रव्य से अपने को भिन्न (करके) हटा लिया। आहा...हा...! परद्रव्य का लक्ष्य था, वह लक्ष्य हटा लिया। अपने द्रव्य को अन्य द्रव्य से हटा लिया। आहा...हा...! **(अर्थात् परद्रव्यों से अलग दिखाया है)...** (ऐसी) भाषा है न? वह **व्यतिकर** (अर्थात्) भिन्नता का अर्थ है। **(परद्रव्यों से अलग दिखाया है)...** आहा...हा...! भगवान पूर्णानन्द प्रभु! चैतन्यघन! उसे शुद्धनय ने पर से भिन्न दिखाया। पर से एकत्व था, (उससे) भिन्न दिखाया। आहा...हा...! ऐसी बात! यह तो सभी सम्यग्दर्शन कौन सी पद्धति से प्राप्त हो, यह बात है। समझ में आया?

पर्याय में जो परलक्ष्य था, अपना लक्ष्य तो नहीं था, (उसे) शुद्धनय ने पर से हटा लिया। वह मेरी चीज में नहीं। एक बात। **तथा...** दूसरी बात। है? भाषा अलग, अभ्यास नहीं... आ...हा...हा...! धर्म — प्रथम सीढ़ी — धर्म की पहली सीढ़ी प्राप्त कैसे हो? कि अन्तर में पर का लक्ष्य (छोड़कर) शुद्धनय की दृष्टि हुई तो पर से तो अपने को हटा लिया, दूर कर दिया, पर से भिन्न दिखाया। आ...हा...हा...! एक बात।

जिसने... वह भी शुद्धनय। पहले **जिसने...** (आया) वह भी शुद्धनय। यहाँ **जिसने...** दूसरा क्या किया? आहा...हा...! **जिसने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में लीन किया...** आ...हा...हा...! पर्याय में परलक्ष्य से अपने को भिन्न किया। अब, पर्याय में जो भेद है... आहा...हा...! पर्याय में गुण की पर्यायों (का) जो भेद है, ये **समस्त विशेषों के...** समस्त पर्यायों के **समूह को...** आ...हा...हा...! अनन्त अनन्त पर्यायों का समूह जो हैं, एक समय की पर्याय में अनन्त पर्यायें हैं, इन अनन्त पर्यायों के

समूह को **सामान्य में लीन किया...** अभेद कर दिया, भेद छोड़ दिया। समझ में आया? पर्याय में पर से शुद्धनय ने तो दूर हटा लिया परन्तु पर्याय में पर्याय का जो भेद — विशेष था — कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान (आदि) सब भेद का लक्ष्य छूटा तो अभेद हो गया। अभेद में जाने से भेद का लक्ष्य छूट गया। आ...हा...हा...! भाषा तो सादी है परन्तु भाव बहुत ऊँचे हैं, बापू!

प्रभु! तेरी प्रभुता! तेरी प्रभुता का पता कैसे लगे? आ...हा...! कि पहले तो शुद्धनय से पर से (अपने आप को) हटा ले... आहा...हा...! और बाद में भेद को भी दूर कर दे, भेद को सामान्य में समा दे। आहा...हा...! भेद (का लक्ष्य छोड़कर) सामान्य में — अभेद में लक्ष्य कर दे। सब पर्याय का नहीं, परन्तु वर्तमान पर्याय में जो भेद है, उस पर्याय ने भेद को छुड़ा दिया। वर्तमान पर्याय भी अन्दर में एकाग्र हो गई — ऐसा नहीं। एकाग्र हुई (तो) सही, परन्तु सामान्य में वर्तमान पर्याय भी एकमेक हो गई — ऐसा नहीं। समझ में आया? पर्याय — शुद्धनय की निर्मल पर्याय ने... आहा...हा...! परद्रव्य से तो आत्मा को हटा लिया, परन्तु भेदों से हटकर अभेद में दृष्टि लगा दी। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है। ऐसी बहुत सूक्ष्म वस्तु है। लोग 'सोनगढ़' के नाम से भड़कते हैं! प्रभु! यह वस्तु ऐसी है, भाई! आहा...हा...! तुझे अभ्यास में न आवे, सुनने मिले नहीं; इसलिए सत्य चीज दूसरी हो जाये? आहा...हा...!

अरे...! अमर ऐसा भगवान आत्मा! जिसकी दृष्टि शुद्धनय (की) हुई और शुद्धनय ने आत्मा को पर से हटाकर और भेद से हटाकर, सामान्य में दृष्टि कर ली। आ...हा...हा...! समझ में आया? दूसरे प्रकार से कहें तो, पर से हटकर पर्याय ने द्रव्य के ध्येय में ध्यान लगा दिया। आहा...हा...! पर्याय का ध्यान, उसका ध्येय अभेद द्रव्य (है), उसमें लगा दिया। आ...हा...हा...! यह ध्यान की बात है। सामान्य में भेद को लीन किया, उसका अर्थ (यह है कि) वर्तमान पर्याय में ध्यान में ध्येय बना लिया। ध्यान ने त्रिकाली (को) ध्येय बनाया। आ...हा...हा...!

यह कोई शास्त्र का अभ्यास हो तो प्राप्त कर सके — ऐसी चीज नहीं है। बाह्य का त्याग करे तो ये प्राप्त कर सके — ऐसी यह चीज नहीं है। आहा...हा...! यह तो कहा न

कि बाह्य से तो शुद्धनय ने हटा लिया। बाह्य का त्याग-ग्रहण तो मेरे में है ही नहीं। आहा...हा... !

पहली पद्धति — सुख के पन्थ में जाना हो तो उसमें परद्रव्य से अपने को हटा लिया, दूर कर दिया। लक्ष्य में परद्रव्य था तो उस परद्रव्य से अपने को दूर कर दिया और भेद को भी सामान्य में लगा दिया अर्थात् भेद का लक्ष्य भी छूट गया। आहा...हा... ! समझ में आया ? थोड़ा श्लोक (है) लेकिन अद्‌भुत है ! यह तो साधक की बात है। बाद में श्लोक आयेगा (कि) ऐसी दृष्टि से पूर्ण मुक्त होगा। आहा...हा... !

ये तो धर्म की शुरुआत — धर्म की पद्धति की शुरुआत की रीति (और) पद्धति क्या है ? आ...हा... ! **जिसने...** अर्थात् शुद्धनय ने **समस्त विशेषों के समूह को...** विशेष समूह है — अनन्त पर्याये (हैं)। आ...हा... ! सामान्य के ऊपर अनन्त पर्याय समूह है **विशेषों के समूह को....** आहा...हा... ! एक विशेष नहीं है। आहा...हा... ! अनन्त पर्यायों में जो पर्याय का भेद है, उन विशेषों का लक्ष्य छुड़ा दिया। **सामान्य में लीन किया...** अथवा वहाँ से लक्ष्य छूटकर, अभेद परमात्मस्वरूप उसकी प्रभुता से भरा पड़ा है वहाँ दृष्टि जम गई। आ...हा...हा... ! वहाँ शुद्धनय ने अपने स्वभाव को — अभेद को पकड़ लिया। ऐसी बात कहाँ है ? भाई ! आ...हा... ! परम सत्य की पुकार है ! परम सत्य की ललकार है !! आहा...हा... !

प्रभु ! तुझे सुख के पन्थ पर जाना हो (तो यह बात है)। दु:ख के पन्थ पर तो प्रभु ! अनन्त काल से चल रहा है। आहा...हा... ! परद्रव्य की एकता और अभेदबुद्धि में तो अनन्त काल से चल रहा है, रुक गया है। वह तो संसार दु:ख-पन्थ है। जिसे आत्मा का सुख-पन्थ लेना हो... आ...हा...हा... ! (तो) एक समय में अभेद अखण्डानन्द प्रभु ! त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय (स्वरूप) पर दृष्टि जमा दे। ध्यान में दृष्टि वहाँ जम जाये।

(समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा हुआ...) इसका अर्थ कोई ऐसा भी ले ले कि वर्तमान पर्याय भी अन्दर डूब गई। (लेकिन) ऐसा नहीं है। समझ में आया ? शब्द तो ऐसा है **(समस्त पर्यायों को...)** परन्तु (जिस में) निर्णय होता है, वह भी पर्याय

है। वह पर्याय भी अन्दर घुस जाये तो निर्णय कौन करे? अनुभव कौन करे? आ...हा...हा...! अनुभव की पर्याय भी अन्दर चली जाये तो अनुभव करनेवाली पर्याय तो रही नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! जैन परमेश्वर ने जो तत्त्व देखा और उन्होंने जो पद्धति कही, वह जगत् से निराली है। आ...हा...हा...!

ऐसा जो यह,... ऐसा जो शुद्धनय। आहा...हा...! पर से हटाकर, पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर, सामान्य द्रव्य में दृष्टि दी... आहा...हा...! ऐसा जो यह शुद्धनय **उद्धत मोह की लक्ष्मी...** मिथ्यात्व की **(ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला...** (है)। मिथ्या भ्रान्ति की जो शोभा थी... आहा...हा...! उसे शुद्धनय ने लूट लिया है — नाश कर दिया। उसका अर्थ की मिथ्यात्व का नाश किया। मोह है न? **मोह** शब्द है। आ...हा...! **शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी** संस्कृत (श्लोक में) तीसरा पद है। **उद्धतमोहलक्ष्मी —** मिथ्यात्व की शोभा थी। आहा...हा...! मैं पर से संगवाला हूँ, मैं (एक) समय की पर्याय के अंश जितना हूँ, ऐसा जो मोह — मिथ्यात्व भाव। ऐसा जो मिथ्यात्व भाव (है), उसे शुद्धनय ने लूट लिया, उसकी शोभा लूट ली। अपनी शोभा बढ़ा दी। यह गाथा ऐसी आई है!

आबाल-गोपाल भगवान आत्मा! सभी को समझने जैसा है, प्रभु! यह चीज पण्डिताई की नहीं। आहा...हा...! अर्थात् कि सम्यग्दर्शन की पण्डिताई के अलावा दूसरी जानपने की पण्डिताई में यह चीज नहीं आयेगी। आहा...हा...! जानपने का कोई परलक्ष्यी विशेष ज्ञान हुआ हो, आहा...हा...! (और) उसमें मैंने कुछ किया है (— ऐसा मानना) मिथ्यात्व भाव है। शुद्धनय इस मिथ्यात्व का नाश करता है। मिथ्यात्व-मोह की शोभा जो एकत्वबुद्धि और भेद पर (दृष्टि थी)... आ...हा...हा...! उस मिथ्यात्व की शोभा को लूट लेता है, शुद्धनय लूट लेता है। उसकी शोभा अब रहती नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! यह तुम्हारे स्थानकवासी में कहाँ था? आहा...हा...!

ऐसी चीज... बापू! आहा...हा...! जिसकी धर्म की शुरुआत में धर्म कैसे हो? धर्म कहो या शुद्धनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो या सम्यग्दर्शन कहो।

प्रश्न - शुद्धनय और भूतार्थनय में क्या फर्क है?

समाधान – एक ही बात है। (फिर भी) दो बात है। एक तो ग्यारहवीं गाथा में तो भूतार्थ को शुद्धनय कहा और उसी में फिर तीसरे पद (में) फिर से लिया। **भूदत्थमस्सिदो खलु** अर्थात् त्रिकाली का आश्रय करनेवाली दृष्टि सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय का आश्रय कहो या सम्यग्दर्शन का भूतार्थ आश्रय कहो। आ...हा...हा...! यह ज्ञानप्रधान कथन है परन्तु है सम्यग्दर्शन की रीत। समझ में आया?

(समयसार की) चौदहवीं गाथा है, वह भी सम्यग्दर्शन की व्याख्या है, फिर भी है शुद्धनय का विषय। चौदहवीं (गाथा)! पन्द्रहवीं (गाथा में) ज्ञान की प्रधानता का विषय है और चौदहवीं (गाथा में) सम्यग्दर्शन (का विषय है) फिर भी शुद्धनय का कथन है। भाई! **जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥** ऐसा पाठ है। भाई! है तो सम्यग्दर्शन का विषय। समझ में आया? 'समयसार' (की) चौदहवीं गाथा है। वहाँ तो यह कहा। है तो सम्यग्दर्शन का विषय, परन्तु ध्येय — सम्यग्दर्शन का ध्येय द्रव्य कहा। फिर भी वहाँ ऐसा कहा कि जो कोई प्रभु अबद्ध — मुक्तस्वरूप भगवान का जो अनुभव करे, उसे जो देखे, वह शुद्धनय है। **जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥** उसे विशेषरूप से शुद्धनय जान। चौदहवीं (गाथा) में ऐसा है। है अधिकार सम्यग्दर्शन का, यह भी है तो सम्यग्दर्शन का (अधिकार), परन्तु शुद्धनय से कथन किया है। समझ में आया?

शुद्धनय है, वह ज्ञान का एक अवयव है। प्रमाण है, वह सारे ज्ञान का अवयवी है। उसमें निश्चय और व्यवहार एक अंश को लक्ष्य में लेनेवाला (अंश है)। अभेद को लक्ष्य में लेनेवाले नय को यहाँ शुद्धनय कहते हैं। शुद्धनय में स्वद्रव्य पूर्ण है, वह लक्ष्य मी आता है और प्रमाण में द्रव्य और पर्याय दोनों लक्ष्य में आता है, वह द्रव्य है। असद्भूत व्यवहार में अपना और पर का (दोनों का) ज्ञान होता है। उस समय है तो अपना ज्ञान, परन्तु पर का ज्ञान कहना, वह असद्भूत व्यवहार है। अरे...रे...!

वह तो ग्यारहवीं गाथा में कहा न? समस्त व्यवहार अभूतार्थ होने से। टीका है न? ग्यारहवीं गाथा! (पहले) चौदहवीं (गाथा की बात) कही। ग्यारहवीं (गाथा में ऐसा

कहा) सर्व व्यवहार अभूतार्थ (है)। सर्व अर्थात् चार (भेद)। अध्यात्म का व्यवहार, हाँ! आगम का व्यवहार भिन्न है। उसमें नैगम और संग्रहनय को भी कहे। यहाँ तो नैगम (और) संग्रह (की) सात नय भी व्यवहार में चली जाती हैं। अध्यात्म में सात नय व्यवहार में चली जाती है और 'तत्त्वार्थसूत्र' की दृष्टि से, ज्ञानप्रधान कथन में सात नय में चौथा नय (ऋजुसूत्रनय) पर्याय को विषय करनेवाली शुद्धनय पर्याय (है) परन्तु यहाँ तो दृष्टिप्रधान कथन में — द्रव्यप्रधान कथन में तो त्रिकाली द्रव्य जो है वह शुद्धनय (का विषय है)। उसमें नैगम, संग्रह (आदि) व्यवहार(नय) आता नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें!

'तत्त्वार्थसूत्र' में मिथ्यात्व, राग-द्वेष (को) जीव का स्वतत्त्व कहा। स्वतत्त्व कहा! 'उमास्वामी' (ने) जो 'तत्त्वार्थसूत्र' (बनाया)। दशलक्षण पर्व में हमेशा वाञ्चन में आता है। उसमें ऐसा कहा कि मिथ्यात्व और राग-द्वेष, विकारी पर्याय जीव का स्वतत्त्व है। जीव की पर्याय जीव में स्वतत्त्व है। आहा...हा...!

यहाँ तो दृष्टिप्रधान कथन में पर से तो भिन्न किया, विकार से तो भी भिन्न किया, किन्तु भेद से (भी) भिन्न किया! आ...हा...हा...! समझ में आया? मार्ग... मार्ग... मार्ग... बापू! आ...हा...हा...! अलौकिक है! लोगों को अभी प्रवृत्ति में लगा दिया। दृष्टि है नहीं, समकित (है नहीं) और उसके बिना प्रतिमा ले ली, प्रतिमा के अनुसार पालन करना और उसमें अच्छा आदर नहीं मिले तो खेद हो जाये (कि) हम इतना... इतना पालन करते हैं फिर भी सामने देखते नहीं, आदर करते नहीं! क्या पालन करता है? बापू! राग का पालन करता है। समझ में आया? आ...हा...हा...!

चैतन्य के प्रकाश का नूर प्रभु! अभेद एकरूप, अविनश्वर एकरूप, अखण्ड एकरूप! उसकी दृष्टि को यहाँ शुद्धनय कहते हैं। यह शुद्धनय पर से तो भिन्न बताती है परन्तु भेद से भी भिन्न बताती है! आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म पड़े, इसलिए लोग हट गये और बाद में तो यहाँ तक कहने लगे कि निश्चय सम्यक् अपने को है या नहीं यह मालूम नहीं पड़े, भगवान जाने! अरे... अरे...! प्रभु! क्या करता है तू? समझ में आया? व्यवहार करो, बस व्यवहार करो (इसमें लगा दिया)। आहा...हा...!

शुद्धनय (ने) अभेद पर दृष्टि की तो मोह की लक्ष्मी, मिथ्यात्व की शोभा लूट ली।

नाश कर दिया। पर से मुझे लाभ होता है, दया-दान की क्रिया से मुझे लाभ होता है — ऐसा मिथ्यात्व भाव शुद्धनय ने लूट लिया, उसने नाश कर दिया। ऐसे मिथ्यात्वभाव का नाश कर दिया। आहा...हा...! **मोह की लक्ष्मी** कहा, देखो!? मिथ्यात्व की शोभा है न? हम ऐसा करते हैं... हम ऐसा करते हैं... दूसरों की सेवा करते हैं!

उसमें तो आया न? 'तद्गुणलब्धये' (अर्थात्) भगवान आप के गुणों की स्तुति करते हुए आप के गुण मुझे मिले। उसका अर्थ ऐसा करते हैं कि यदि आप स्तुति का विकल्प करते हुए आप के गुण मुझे मिले। क्या है स्तुति? **मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥** आप के गुणों की प्राप्ति के लिये मैं स्तुति कर रहा हूँ। तो कोई कहे कि स्तुति से लाभ नहीं है, तो ये लाभ कहा न? भाई! उसमें ऐसा नहीं कहा है। वह तो व्यवहार का वचन है, प्रभु!

इसकी बड़ा विवाद (एक विद्वान के साथ हुई थी)। इमें 'तद्गुणलब्धये' कहा है और आप (कहते हो) पर से लाभ नहीं होता, तो इसमें तो ऐसा कहा है। वे ऐसा कहते थे। प्रभु... प्रभु...! क्या करें? आहा...हा...! उनके गुण की प्राप्ति तो पर है। जो उनके गुण हैं, वैसे मेरे गुण की मुझे प्राप्ति हो, ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसकी अपेक्षा से यह कथन है। समझ में आया? शास्त्र की भाषा में कौन सी अपेक्षा है?

'अमृतचन्द्राचार्य' ऐसा कहे कि इस शास्त्र की टीका करते हुए, मेरी पर्याय में अनादि की अशुद्धता है, (उसका नाश हो)। हैं तो मुनि, सम्यग्दृष्टि अनुभवी (हैं)। परन्तु अशुद्धता का अंश अनादि का है, गया नहीं, जाये तो तो केवल(ज्ञान) हो जाये। आहा...हा...! प्रभु! मेरी पर्याय में कलुषिता है। आहा...हा...! वे तो मुनि हैं। शुभभाव भी कलुषित है। आ...हा...हा...हा...! प्रभु! टीका करते हुए इस कलुषितता का नाश हो। टीका करना वह तो विकल्प है। पाठ तो ऐसा है 'एव' शब्द पड़ा है। भाई! 'एव' शब्द है। 'टीका से ही' ऐसा शब्द है, 'टीका से ही' ऐसा शब्द है। लेकिन उसका अर्थ क्या? भाई! (ऐसा) शब्द है, मालूम है। टीका (में) 'एव' शब्द है। टीका से ही मेरी मलिनता का नाश हो। टीका (करने का भाव) तो विकल्प है। आहा...हा...! परन्तु टीका के काल में मेरा जोर द्रव्य पर जाता है, उसमें अशुद्धता का नाश हो जायेगा। टीका करते-करते, करने के काल में मेरा जोर

द्रव्य पर जाएगा। आ...हा...हा...! मेरा आश्रय थोड़ा है, वह विशेष आश्रय होगा। आ...हा...हा...! इसलिए उस अशुद्धता का नाश होगा। शब्द के अर्थ की भी क्या पद्धति है, उसे समझे नहीं, भाई! विवाद करे! क्या हो? बापू! आहा...हा...! अरे...! प्रभु के तो विरह पड़ा, भगवान तो अभी रहे नहीं। आहा...हा...! उनकी कथन की रीति समझने के लिये प्रभु! मान छोड़ देना पड़ेगा। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **ऐसा जो यह,...** शुद्धनय। पहले आया था न? **जिसने** दूसरे पद में (आया) **जिसने,** तीसरे पद में (कहा) **'यह'** यह शुद्धनय, ऐसे। समझ में आया? स्वभाव की ओर की अभेद दृष्टि (हुई), वह शुद्धनय (है)। आ...हा...हा...! यह शुद्धनय **उद्धत मोह की लक्ष्मी को (ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला...** (है)। आहा...हा...! तीन विशेषण शुद्धनय में लिये। पहले (में) **जिसने** (कहकर) पर से भिन्न किया। (दूसरे में) **जिसने** भेद से भिन्न किया और तीसरा **यह** शुद्धनय (— ऐसा कहा)। आ...हा...हा...!

पूर्णानन्द के नाथ का समुद्र भरा है भगवान! आहा...हा...! कल स्तुति में नहीं आया था? वहाँ तो पर्याय की प्रगटता की व्याख्या है। परन्तु अनन्त गुण की पर्याय की प्रगटता हुई, इतने गुण प्रगट हुए कि प्रभु! अनन्त मुख करूँ, एक मुख में अनन्ती जीभ करूँ तो (भी) प्रभु! मैं इन गुणों की व्याख्या नहीं कर पाऊँगा! आ...हा...हा...हा...! एक मुख में अनन्त मुख और एक मुख में अनन्त जीभ!! प्रभु! क्या कहूँ? आहा...हा...! तो भी आप के गुण की दशा का वर्णन नहीं कर पाऊँगा। जितनी दशा हैं, उतने ही गुण हैं। पर्याय की जितनी निर्मलता प्रगट हुई हैं, उतने ही गुण हैं। गुण ध्रुव हैं और ये पर्यायें परिणमित हैं। आ...हा...हा...! उन्हें तो केवलज्ञान आदि अनन्त गुण की जो पर्याय प्रगट हुई हैं, उन्हें कहा कि प्रभु! आप के गुण को क्या कहूँ? आ...हा...हा...!

१५० में ऐसे आया कि प्रभु! आप के गुणों का (वर्णन करने के लिये) मैं पूरी धरती का कागज बनाऊँ और समुद्र के पानी को स्याही बनाऊँ... आ...हा...हा...हा...! और सारे तरुवर की कलम बनाऊँ! एक कलम टूट जाये तो दूसरी (कलम), ऐसे सब तरुवर आहा...हा..! (उससे भी) प्रभु! आपके गुण लिखे नहीं जाते!! आहा...हा...! है उसमें?

कहाँ है ? कल कहा था न ? 'स्तवनमंजरी... स्तवनमंजरी' ! उसका १८३ पन्ना और १५० (नम्बर का) पन्ना। १५० में समुद्र का दृष्टान्त (है) और १८३ में अनन्त मुख और जीभ का दृष्टान्त (है)। है, मालूम है। समझ में आया ? वह तो जब पढ़ा था, तब ही (लिखा था)। १८३ पन्ने पर लिखा है (कि) १५० (पन्ने पर) ऐसी बात है। बारम्बार सब का वाञ्चन कहाँ होता है ? हजारों शास्त्र (हैं), उसमें सार सार वहाँ लिख लिया हो। आहा...हा... !

शुद्धनय ने अभेद का आश्रय लिया तो उसकी शोभ बढ़ गई और मिथ्यात्व की शोभा लुट गई। शुद्धनय ने अभेद को विषय करने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आने से मेरी शोभा बढ़ गई... आ...हा...हा... ! और मिथ्यात्व की शोभा लुट गई। मिथ्यात्व दुःख की दशा थी — ऐसा कहते हैं। मेरे शुद्धनय के विषय से आनन्द प्रगट हुआ, उस आनन्द ने दुःख की दशा का नाश कर दिया। आ...हा...हा... ! यह तो अभी साधक की बात है, हाँ ! समझ में आता है ? **लूट लेनेवाला शुद्धनय...** आ...हा...हा... !

उसने... अब चौथा बोल आया। **उसने...** अर्थात् शुद्धनय ने **उत्कट विवेक के द्वारा...** आ...हा...हा... ! (अर्थात्) उत्कट भेदज्ञान द्वारा **तत्त्व को (आत्मस्वरूप को) विविक्त किया है।** आत्मस्वरूप को (विविक्त अर्थात्) शुद्ध, अकेला और अलग कर दिया है। आहा...हा... ! श्लोक बहुत (बढ़िया है) ! आ...हा...हा... ! **उसने...** (अर्थात्) शुद्धनय ने। मिथ्यात्व का, भ्रान्ति का तो नाश कर दिया। आ...हा...हा... ! और **उत्कट विवेक के द्वारा...** इसे प्रगट किया। इसका नाश किया और इसे प्रगट किया — ऐसा कहते हैं।

उत्कट विवेक के द्वारा... महा भेदज्ञान के द्वारा। ये विवेक(है)। लौकिक विवेक करता हो तो (कहे कि) ये मेरा विवेकी है। धूल में भी वहाँ (विवेक) नहीं है। यह विवेक (है)। जिसने **विवेक के द्वारा तत्त्व को...** भगवानस्वरूप को। विविक्त (अर्थात्) अलग कर दिया।

पहले (एक ओर) हटा लिया, ऐसा कहा, फिर भेद से दूर हुआ, फिर मोहलक्ष्मी को लूट लिया। आ...हा...हा... ! फिर अपने तत्त्व को पर से (अलग करके) पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... प्रगट किया। पूर्ण अर्थात् पूर्ण स्वरूप। पर्याय में प्रगट किया। पर्याय में पूर्णता

तो केवलज्ञान होता है तब। वह इसके बाद के श्लोक में कहेंगे। समझ में आया? आहा...हा... ! अरे.. ! (विविक्त का अर्थ मूल ग्रन्थ में फुटनोट में दिया है) । शुद्ध किया, अकेला कर दिया। अलग कर दिया। सो, एक श्लोक पौना घण्टा चला! आ...हा... ! क्या 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' की कथनपद्धति!! ओ...हो...हो... ! उसे स्पर्श करके काम लिया है — उसे स्पर्श कराने की बात है। आ...हा...हा... ! अभ्यास नहीं हो, इसलिए कठिन पड़े, परन्तु मार्ग कोई दूसरा हो जाता है? दूसरा असत् रास्ता हो जाये? आहा...हा... !

अरे...रे... ! जवान लड़कों को हार्ट-अटैक हो जाता है। बीस-बीस में, पन्द्रह साल में! अपने यहाँ बॉर्डिंग में एक लड़का था। बहुत साल पहले (की बात है)। जवान लड़का, हमारे पास आता था। पेशाब करने नीचे उतरा उतने में देह छूट गया! आ...हा... ! जवान! १६-१७-१८ वर्ष की उम्र होगी। बापू! वह देह जड़ है, भाई! उसके छूटने के काल में रखने पर भी रहे नहीं। आहा...हा... ! जवानी के काल में, वृद्धत्व के काल में प्रभु! तू यह (काम) कर ले। अभी नहीं... अभी नहीं... प्रभु! अभी नहीं (कहता रहेगा) तो अभी नहीं रहेगा। आ...हा...हा... ! पैसे की सब व्यवस्था हो जाये, लड़के की शादी हो जाये, लड़कियों को ठिकाने लगा दें, बाद में करेंगे। आहा...हा... !

मुमुक्षु - ऐसा भाव तो आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री - लेकिन ऐसा कैसा भाव? मुर्खाई का भाव है। आहा...हा... ! देखो न यहाँ 'मोरबी' में! आ...हा...हा... ! मुर्दे! हाथ में घड़ी! पुलिस की गाड़ी उस पर चले! उठाने कहाँ जाये? देखने जाये तो मुर्दे पर (चलकर जाये)। जाँच करते हैं न? जिस पर एक अग्नि का तिनका छू ले तो चिल्लाता था, उसके शरीर पर — मुर्दे पर गाड़ी चले! आहा...हा... ! बापू! वह तो परचीज है। वह पर है, अभी ही भिन्न है, लेकिन क्षेत्रान्तर (होने पर) क्षेत्र से भिन्न हो, तब उसे भिन्न दिखे। आहा...हा... ! परन्तु अभी ही भिन्न है, ऐसे देखा — ऐसा कहते हैं।

यहाँ शुद्धनय में यह कहा न? आहा...हा... ! वहाँ जवानी या लक्ष्मी बाधारूप नहीं होगी। उनसे तो तुझे भिन्न किया न, प्रभु! आहा...हा... ! लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र, पुत्री, भाई, देव-गुरु-शास्त्र उन परद्रव्यों से तो पहले ही धड़ाके में दूर कर दिया। आहा...हा... ! दूसरे

धड़ाके (में) भेद को दूर कर दिया। आहा...हा...! और (तीसरे धड़ाके में) मोह को लूटनेवाली नय जहाँ अन्दर में अनुभव में आयी तो मोह उत्पन्न हुआ ही नहीं, नाश हो गया। आहा...हा...! ध्रुव के आश्रय से शान्ति और आनन्द की दशा जहाँ उत्पन्न हुई, वहाँ मिथ्यात्व का व्यय हुआ — ऐसा कहना है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों सिद्ध करने हैं। समझ में आया?

ध्रुव के ध्येय में जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आनन्द प्रगट हुआ, उसे भी शुद्धनय कहते हैं। त्रिकाली के विषय को भी शुद्धनय कहते हैं। आता है न? भाई! चौदहवीं (गाथा में)! आत्मा का अनुभव शुद्धनय है। शुद्धनय भी अनुभव है। पर्याय का वेदन है, उसे शुद्धनय कहा। चौदहवीं गाथा में आता है। परिणमन शुद्ध हुआ, तब उसने शुद्धनय का विषय पकड़ा, तब उसे निर्मल परिणति प्रगट हुई, उसे भी शुद्धनय कहने में आता है। आहा...हा...!

वैसे तो बात हो गई है (कि) शुद्धनय की पूर्णता की प्राप्ति केवल(ज्ञान) में होती है। वह तो पर्याय (हुई), परन्तु आश्रय करना है न? वह पूर्ण आश्रय केवलज्ञान होता है तब आश्रय पूर्ण हो गया। फिर उसे आश्रय करना रहा नहीं; इसलिए शुद्धनय की पूर्ण प्राप्ति केवलज्ञान में है (ऐसा) इस अपेक्षा से (कहा)। बाकी, शुद्धनय की प्राप्ति का विषय तो वर्तमान काल में ही उसे है। ध्येय है वह (विषय है)। परन्तु पर्याय में पूर्णता हो तब शुद्धनय की पूर्णता हुई — ऐसा कहने में आया है। आहा...हा..! कितनी अपेक्षाएँ! तीन लोक के नाथ की पद्धति तो देखो! आ...हा...!

भेद को भी जहाँ उठा लेने हैं... आहा...हा...! वहाँ पर मेरे, स्त्री मेरी, पुत्र मेरे। पैसे मेरे... अरे...! प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? पागल है, पागल! मिथ्यात्व की शराब पीयी है। आहा...हा...! इस शुद्धनय का विषय लेने से उसे... आ...हा...हा...! मिथ्यात्व का नाश हो जाता है, लूट गया, व्यय हो गया। शुद्धनय का ध्येय पकड़ने से पर्याय में शुद्धनय की निर्मलता प्रगट हुई और इस निर्मलता ने मिथ्यात्व का व्यय किया। आहा...हा...!

एक ओर ऐसा कहे कि उत्पाद, व्यय की अपेक्षा रखता नहीं; व्यय, उत्पाद की अपेक्षा रखता नहीं। 'प्रवचनसार' (की) १०१ गाथा। समझ में आया? यह स्वतन्त्रता का

ढिंढोरा पीटा!! यहाँ उसे अपेक्षित बात करके, जो त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लिया, तब उसे शुद्ध पर्याय प्रगट हुई। नहीं तो वहाँ तो ऐसा कहा कि जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसे ध्रुव का भी आश्रय नहीं है। आहा...हा...! पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है, पर्याय को ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! इस अपेक्षा का अर्थ — द्रव्य पर लक्ष्य जाता है, इतनी अपेक्षा (है)। फिर भी वह पर्याय वर्तमान षट्कारक से परिणमन करती हुई उत्पन्न हो, उसमें पर्याय कर्ता है, वह स्वतन्त्रपने कर्ता होकर लक्ष्य करती है। आहा...हा...! समझ में आता है?

कलश - ८

(मंदाक्रांता छन्द)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव॥८॥

[अब, शुद्धनय के द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाले आत्मा की महिमा श्लोक द्वारा कहकर, द्रव्यसामान्य के वर्णन की पूर्णाहुति की जाती है :—]

अर्थ – इस प्रकार परपरिणति के उच्छेद से (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश से) तथा कर्ता, कर्म इत्यादि भेदों की भ्राँति के भी नाश से अन्त में जिसने शुद्ध आत्म-तत्त्व को उपलब्ध किया है — ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज में लीन होता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।

प्रवचन नं. १४३ का शेष दिनाङ्क २३ जुलाई १९७९

(अब, शुद्धनय के द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करनेवाले...) (अर्थात्) पूर्ण प्राप्त करनेवाले **(आत्मा की महिमा श्लोक द्वारा कहकर, द्रव्यसामान्य के वर्णन की...)** यह द्रव्यसामान्य की और जीव की व्याख्या (चलती थी)। अब, छह द्रव्य की व्याख्या करेंगे। **(द्रव्यसामान्य के वर्णन की पूर्णाहुति की जाती है —)** आठवाँ श्लोक —

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव।।

अब, सर्वथा मुक्त की व्याख्या करते हैं। आहा...हा...! **इस प्रकार...** (अर्थात्) पूर्व में कहा उस प्रकार। **परपरिणति के उच्छेद से (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश से)...** आ...हा...हा...! रागादि के भी नाश से। एकत्वबुद्धि हुई — स्वभाव में एकत्व हुआ तो राग का भी नाश हुआ। आ...हा...! **(परद्रव्यरूप परिणमन...)** (अर्थात्) राग — विकार के नाश से **तथा कर्ता, कर्म इत्यादि भेदों की भ्रान्ति...** आहा...हा...! लो, **भेदों की भ्रान्ति!** भाषा देखो! वस्तु तो अभेद है, उसमें तुझे भेद की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। आहा...हा...! अभेद की दृष्टि में भेद दिखता नहीं। भेद है सही। समझ में आया? अभेद की दृष्टि में भेद दिखता नहीं, इसलिए भेद को असत्यार्थ कहा। भेद नहीं है — ऐसा नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, ये **कर्ता, कर्म इत्यादि भेदों की भ्रान्ति...** आ...हा...हा...! मैं भेदस्वरूप हूँ, यह भ्रान्ति है, (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! रागस्वरूप हूँ, यह तो भ्रान्ति (है ही) परन्तु भेदस्वरूप हूँ, यह भी एक भ्रान्ति है। भगवान तो अभेदस्वरूप है। आहा...हा...! बात बहुत ऊँची! बहुत बात (ऊँची)!! परम सत्य की ललकार है! आ...हा...! **कर्ता, कर्म इत्यादि भेदों की भ्रान्ति...** आ...हा...हा...हा...! भगवान शुद्धनय

का विषय अभेद है और अभेद वस्तु है। वस्तु ही अभेद है, उसमें भेद की भ्रान्ति! आ...हा...हा...! उसके भी नाश से **अन्त में जिसने शुद्ध आत्मतत्त्व को उपलब्ध किया है...** अन्तत: उसका परिणाम ये आया कि जिसने शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव पूर्ण किया — **ऐसा यह आत्मा,...** (पिछले श्लोक में) शुद्धनय थी, यहाँ **यह आत्मा** (है)। **यह आत्मा...** (अर्थात्) क्या आत्मा? कि जिसने परपरिणति का उच्छेद किया और कर्ता -कर्म की भ्रान्ति का नाश किया — ऐसा आत्मा। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं!

भाई! यह लॉटरी अलग प्रकार की है। दृष्टि को अभेद में ले जा, उसमें जो पाक होगा वह अनन्त ज्ञान प्रगट होगा। आहा...हा...! प्रभु! तुझे अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होगी। आहा...हा...! और तू मुक्त होगा। यह लॉटरी है तेरी! पाँच करोड़ और दस करोड़ मिले, धूल में राख है, राख! यह तो चैतन्य अमृत का सागर प्रभु! जहाँ दृष्टि देने से आनन्द उछले, ऐसी जहाँ आनन्द की लॉटरी लगे, वहाँ जा न, प्रभु! आ...हा...हा...!

भेदों की भ्रान्ति... भाषा है? **कर्मादिभेदभ्रान्ति** मूल पाठ में है। आ...हा...हा...! क्योंकि अभेद चीज में भेद उठाना भ्रान्ति (है)। आ...हा...हा...! भेद द्वारा कभी प्राप्ति होती नहीं।

मुमुक्षु – प्राप्ति न हो लेकिन समझाने के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री – समझाने में आये वह अलग बात है। समझाने में भेद द्वारा समझाये, फिर भी उसका अनुसरण करना नहीं। वह तो आठवीं गाथा में नहीं आया? 'समयसार' (की) आठवीं गाथा! आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त हो, वह भेद से कहा। फिर भी कहा कि हमें और तुम्हें भेद का अनुसरण करना नहीं। है उसमें? टीका है? आठवीं गाथा! है, सब मालूम है। आहा...हा...! चाहे जितनी बुद्धिवाला हो, (कलश टीका में) पाँचवें श्लोक में 'साधिक' ऐसा शब्द है। चाहे जितनी बुद्धिवाला हो, फिर भी उसे संक्षेप में इतने भेद से तो समझाये बिना कोई चारा नहीं है। भेद आये बिना रहता नहीं। फिर भी भेद से समझाया, इसलिए वह भेद अनुसरण करनेयोग्य है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें! ऐसा उपदेश!

ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद् (निर्मल) तेज में लीन होता हुआ... (अर्थात्) अभेद में लीन होता हुआ। **चैतन्यभावरूप विशद (निर्मल) तेज...** त्रिकाल

तेज! चेतनस्वरूप तेज! आहा...हा...! (उस तेज में) **लीन होता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से...** अपनी स्वाभाविक पर्याय में महिमा (के) प्रकाश(मान)रूप से **सर्वदा मुक्त ही रहेगा।** केवल(ज्ञान) पाया और मुक्त हुआ तो सदा — सादि-अनन्त मुक्त रहेगा। आ...हा...हा...! अब वह फिर से सम्बन्ध में आ सके नहीं — ऐसी उसकी ताकत है! आ...हा...हा...! अप्रतिहत भाव बताया है! द्रव्य का आश्रय लेते-लेते तुझे पूर्ण की प्राप्ति होगी ही। आ...हा...हा...! दूज ऊगी तो पूर्णमास होगा ही। वैसे तूने पर से और भेद से भिन्न करके अभेद का अनुभव किया (तो) केवलज्ञान होगा ही। आश्रय करते... करते... करते... करते... (पूर्ण हो जायेगा)। आ...हा...हा...! है ? **महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।** विशेष कहेंगे....! ●●

यह है मुनिदशा का सहज मार्ग

संसार में गृहस्थदशा में रहते-रहते किसी को केवलज्ञान हो जाए अथवा मुनिदशा प्रगटे - ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। गृहस्थदशा में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावकदशा हो सकती है; तत्पश्चात् अन्तर स्वरूप में विशेष लीनता होने पर छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होने के समय तो बहुत राग-द्वेष छूट जाते हैं और बाह्य संयोग भी स्वयं छूट जाते हैं। आत्मा उन बाह्य संयोगों को नहीं छोड़ता है और वे न छूटें, ऐसा नहीं होता है - यही सहज मार्ग है। मोक्षमार्ग में ऐसी सहज मुनिदशा होती। कोई मुनिदशा का स्वरूप अन्य प्रकार से माने अथवा मनवावे तो वह मिथ्यादृष्टि है। अन्तर में-आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागता प्रगट हुए बिना अकेली बाह्य निर्ग्रन्थता में अथवा पञ्च महाव्रत में मुनिदशा नहीं है तथा अन्तर में भाव निर्ग्रन्थता प्रगटे अर्थात् सम्यग्दर्शन -ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगटे और बाह्य में वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थता न हो - ऐसा कभी नहीं होता। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

दानदाताओं की लिस्ट हेतु